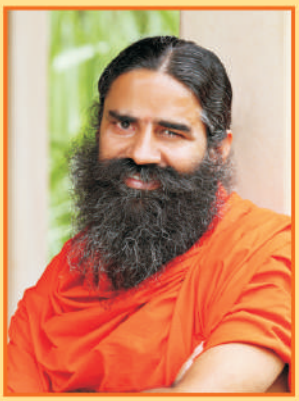
पुस्तक का स्वाध्याय कैसे करें?



वर्तमान युग के ऋषि-मुनि-पूर्णयोगी पूज्य स्वामी सोमानन्दजी महाराज के प्रस्तुत उपदेशों को गुरुदेव द्वारा संकलित पुस्तक से ऐसे पढ़ें जैसे संसार की सर्वाधिक मूल्यवान् दुर्लभ वस्तु को प्राप्त करने के लिए घनघोर पुरुषार्थ करते हैं और उसकी प्राप्ति होने पर एक गहरी संतुष्टि या तृप्ति की अनुभूति करते हैं। उससे भी अधिक उत्सुकता, अभीप्सा, लगन, भाव व चाव इस पुस्तक के स्वाध्याय में होना चाहिए क्योंकि ज्ञान से मूल्यवान् इस संसार में अन्य कुछ भी नहीं है। एक-एक उपदेश को ऐसे सुनें जैसे पूज्य स्वामीजी महाराज मुझे ही साक्षात् उपदेश दे रहे हैं और इन उपदेशों को पूरी ईमानदारी, पूर्ण-श्रद्धा, कृतज्ञता व पूर्ण पुरुषार्थ से अपने जीवन, वाणी, व्यवहार, आचरण, आवश्यकताओं व स्वभाव में उतारें। इन आप्तवचनों के अनुरूप ही कर्म, प्रवृत्ति, सेवा, पुरुषार्थ व तप करते हुए जीवन में पूर्ण सत्य की अनुभूति करें।

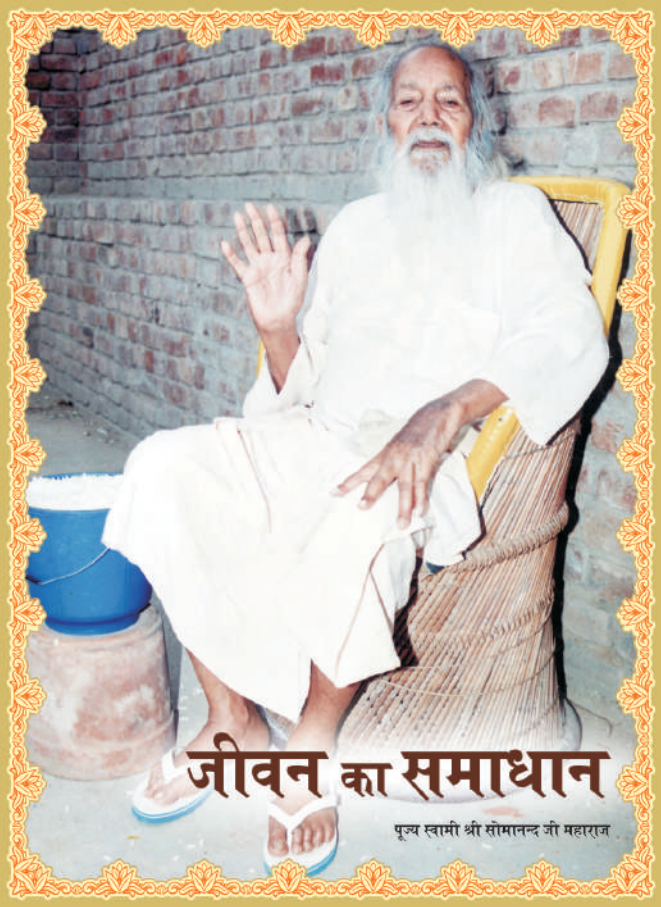
यूँ तो **जीवन का समाधान** पुस्तक का एक-एक वाक्य मानवीय समस्याओं का समाधान करने वाला है। परन्तु फिर भी जैसे मैंने अनुभव किया आप सबसे पहले शील का सौरभ व सोम उपनिषद् (पृष्ठ ६ से २० तक) मनमणि का कमठाण (पृष्ठ २८१ से २८६ तक) उपदेश नवनीत (पृष्ठ ३२० से ३२७ तक) व सहज उपदेश (पृष्ठ ३२८ से ३३४ तक) इन चार प्रकरणों को बहुत ही धीरे-धीरे पूर्ण शान्तचित्त होकर पूर्ण एकाग्रता व पूर्ण श्रद्धा से पढ़ना और वैसा ही जीना।

स्वाध्याय जानने व जीने के भेद को खत्म करने के लिए ही है। हर दिन प्रातः कम से कम आधा से एक घण्टा स्वाध्याय अवश्य करना किसी दिन अधिक समय मिले तो बहुत सौभाग्य की बात है। इसके बाद क्रमशः पूरी पुस्तक का अनेक बार जीवनभर स्वाध्याय करना व अन्यों को इस पुस्तक तथा साधना-पथ, गीतामृत, दर्शन, वेद, उपनिषद् आदि अन्य सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करने के लिए प्रेरित करना। उपरोक्त चार प्रकरणों के उपदेशरूपी कुछ अमृत वाक्यों को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, इनका पूर्ण शान्तचित्त होकर अध्ययन मनन व आचरण करके आपको एक अलौकिक व अद्भुद् आनन्द की अनुभूति होगी।

सर्वं शीलवता जितम्। संस्कृति विचारों की दासता से मुक्ति दिलाती है। प्रज्ञा ग्रन्थों की दासता से मुक्ति दिलाती है। माता पिता श्रद्धा और विश्वास के मूर्तरूप हैं। दूसरे के सुखों में सुखी होना प्रेम है। दूसरे के दुःखों में दुःखी होना करुणा है। श्रद्धा-विश्वास के बिना सब अनाथ। अन्तःप्रेरणा के बिना सब दिग्भ्रान्त। संतोष रूपी धन के बिना सब कंगाल। आत्मजागरण के बिना सब विकलाङ्ग। सत्य के बिना सब दिवान्ध। धरती पर दुःखी प्राणियों की सेवा के बिना सब अभिशप्त। जिसने कण को जान लिया वह धनवान् है। जिसने

क्रमशः पीछे...

जीवन का समाधान



जीवन का समाधान

पूज्य स्वामी श्री सोमानन्द जी महाराज

ऋषीणां चरितं सत्यम्



इस युग के दिव्य मानव, आप्त पुरुष, साधना व सेवा से पूर्ण योग को उपलब्ध हुए परम श्रद्धेय स्वामी सोमानन्द जी महाराज के दिव्य ज्ञानरूपी उपदेशामृत को पूज्य आचार्य श्री प्रद्युम्न जी महाराज ने संग्रहित करके मानवीय समस्याओं का सरल व व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करके मानव मात्र पर बड़ा उपकार किया है। पूज्य स्वामी जी महाराज बार-बार एक संकेत किया करते थे कि हमें ज्ञान का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए तथा **ऋषीणां चरितं सत्यम्** अपने पूर्वज ऋषियों के पवित्र चरित्र को प्रतिपल अपने सम्मुख रखकर वैसे ही अपने-अपने ज्ञान व जीवन को उन्नत बनाकर हमें भी ऋषि ही बनना चाहिए। हमारे ज्ञान व जीवन का स्तर ऋषियों जैसा ही अत्यन्त उन्नत होना चाहिए। ज्ञान के संदर्भ में यदि हम दो बातों पर पूर्ण श्रद्धा रखें तो हमारे जीवन की सभी समस्याओं का पूर्ण समाधान हो जाता है। **संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि॥ मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥** (वेद) **ऋषीणां चरितं सत्यम्॥**

प्रथमत: हम दृढ़ विश्वास के साथ यह निश्चय या संकल्प कर लें कि मैं सदा वेदानुकूल या आत्मानुकूल आचरण ही करूंगा। एक क्षण के लिये भी वेद विरुद्ध या आत्मा के विरुद्ध आचरण नहीं करूंगा। तथा मैं सदा सत्य ज्ञानमय जीवन जीऊंगा। फिर निश्चय करें कि मैं ऋषियों के मार्ग पर ही चलूंगा। मिथ्या ज्ञान, अज्ञान, अल्पज्ञान या भ्रान्त ज्ञान या भ्रान्तिमूलक अनुभवों के कारण चाहे कैसी भी परिस्थिति मेरे सामने क्यों न आये मैं बाहर व भीतर की किसी भी बाधा, भय या प्रलोभन के सामने समर्पण नहीं करूंगा। वेद व ऋषियों के मार्ग पर चलना ही धर्म है और इसी में जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान है। वेद व ऋषियों के अलावा जो कुछ भी है वह कुपथ व अधर्म है और उससे हमारी समस्याओं का कभी समाधान नहीं हो सकता बल्कि वेद व ऋषियों के विरूद्ध मार्ग ही सब समस्याओं की जड़ है। मुझे पूरा विश्वास है कि जीवन का समाधान पुस्तक के निरन्तर स्वाध्याय व तदनुसार आचरण से सभी पाठकों की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान अवश्य होगा।

आचार्य धनञ्जय

क्षण को पकड़ लिया वह विद्वान् है। अभ्यास के बिना सिद्धान्त एक विडम्बना है। मूर्खों की जयजयकार से सज्जनों की फटकार अच्छी। ऋषीणां चरितं सत्यम्। अपने से आगे चलने वाले पुण्यात्माओं के पीछे-पीछे चलते रहो।

वह खैंचे यह विलगता चल रही खैंचाताण।
जिन देशों की यह खिंचन मणमणि का कमठाण।।

प्रेमी तो कोई विरला है हेतुरहित अनुराग।
साधु तो कोई विरला है हिल-मिल रहे बेलाग।।

व्यक्ति भावना प्रधान होता है। बुद्धि की अपेक्षा हृदय सत्य के अधिक निकट होता है।

मानव आयो अवसर हाथ,
सर्वभूतहितरत रहने को धन्य दियो भवनाथ।
आहत आतुर संसृति सागर औषध बन जा तात,
जीवन पथ की पूर्णता में लेकर चलना साथ।
अमर ज्योति की अमिट किरण फिर क्यों अघतम आघात,
जीवित जीवन जीते रहना यह तेरा ऋजु पाथ।
धरा धाम पर रहना जब तक नहीं होवे कुशलात,
फिर अन्तिम वर माँग पथिक जग-जननी से नत माथ।

कबीर– शीलवन्त सबसे बड़ो सबै रतन की खान।
तीन लोक की सम्पदा रही शील में आन।।

ज्ञानी-ध्यानी संयमी दाता शूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं शीलवन्त कोई एक।।

इन्द्रियाँ नीरव होने से हम भगवान् को जान सकेंगे। मस्तिष्क नीरव होने से हम भगवान् को समझ सकेंगे। आवेग नीरव होने से हम भगवान् से प्रेम कर सकेंगे। इच्छायें नीरव होने से हम भगवान् को प्राप्त कर सकेंगे। जब हम हृदय में प्रवेश करेंगे तो यह सारी सृष्टि हमारी धर्म पुस्तक और इसके निवासी हमारे धर्म भाई दिखेंगे, ऊँच-नीच का भेद मिट जाएगा।

श्री महाराज ने जब नूरगढ़ में आश्रम आरम्भ किया तो अपने लिये चार नियम बनाये जिनको उन्होंने बड़े प्रेम व प्रामाणिकता से अन्त तक निभाया– १. किसी की बुराई नहीं करूँगा, २. दो व्यक्तियों का मुकाबला नहीं करूँगा, ३. किसी को अपनी तरफ से निमन्त्रण देकर नहीं बुलाऊँगा, ४. किसी की जाति नहीं पूछूँगा।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक के स्वाध्याय से आपको वेद, दर्शन, उपनिषद्, गीता व ऋषियों के सब शास्त्रों का सार या निचोड़ के रूप में दिव्य ज्ञान प्राप्त होगा और उससे जीवन की सभी समस्याओं का समाधान होगा। समाधान से आपके जीवन में पूर्ण सुख, शान्ति, संतुष्टि व तृप्ति मिलेगी और इसी जन्म में जीवन का पूर्ण सत्य घटित होगा।

।।ओ३म्।।

जीवन का समाधान

सन्तप्रवर पूज्यपाद श्री स्वामी सोमानन्द जी महाराज
(संस्थापक जय जीव सेवा-आश्रम, नूरगढ़, गुड़गाँव, हरियाणा)
के
सहज उपदेश

-: प्रस्तोता :-
आचार्य प्रद्युम्नः

दिव्य प्रकाशन
पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

संस्करण : द्वितीय (आश्विन मास, वि०सं० २०७१, वर्ष २०१४) प्रतियाँ - १०,०००
: तृतीय (मार्गशीर्ष मास, वि०सं० २०७१, वर्ष २०१४) प्रतियाँ - २०,०००

© सर्वाधिकार- प्रकाशकाधीन

प्रकाशक :

दिव्य प्रकाशन
दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट
कार्यालय - पतंजलि योगपीठ
महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली-हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग,
निकट बहादराबाद, हरिद्वार-२४६४०५ (उत्तराखण्ड)
दूरभाष : ०१३३४-२४०००८, २४६७३७, २४८८८८, २४८८६६
फैक्स : ०१३३४-२४४८०५, २४०६६४
ईमेल : divyayoga@rediffmail.com
वेबसाइट : www.divyayoga.com

प्राप्ति-स्थान :

१. पतञ्जलि योगपीठ,
महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली-हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग,
निकट बहादराबाद, हरिद्वार-२४६४०५, (उत्तराखण्ड)
२. आर्ष गुरुकुल खानपुर, पो०- मण्ढ़ाणा,
जिला- महेन्द्रगढ़, तहसील- नारनौल (हरियाणा)
दूरभाष : ०६४१६८-१८०६१, ०१२८२-२०५००३

मूल्य : जीवन का समाधान

मुद्रक :

ऋषि ऑफसैट प्रिन्टर्स
अशोका टाकीज के सामने, वेद मन्दिर,
ज्वालापुर, हरिद्वार-२४६४०७ (उत्तराखण्ड)
दूरभाष : ६७६०२८४५६७, ६८३७१२०३७५
ई-मेल : rishioffset@gmail.com

मननीय बिन्दु

- ऋत की सरस आर्द्र किरणें (**उस्रियाः**) सब ही दुधैल गौ हैं।
- वर्तमान के सदुपयोग में घने-थोड़े, अच्छे-बुरे का कोई प्रश्न नहीं उठता।
- अन्तर्ज्योति के उदय होने पर ही यह पता चलेगा कि हमारे घोषित उद्देश्यों में कितने प्रतिशत कुतथ्य हैं?
- जो हमारी रक्षा करे, पोषण दे और धारण करे वह अपना हृदय, अपनी प्रकृति- अपनी माँ।
- फल तुझे पहले से ही मिल चुका; बस कर्म करना शेष है।
- मौन वार्त्तालाप की श्रेष्ठ विधि है।
- श्रद्धा आत्मबल का लक्षण है।
- प्रत्याहार=विषयों से उपरति।
- काश! 'प्रकृति' मानव की शिक्षिका, 'मानवता' उसकी धर्मपुस्तक, और 'दैनिक-जीवन' पाठशाला हो।
- संस्कारी जीवों ने भी कहा है कि माँ हमें पूरा खेल (नरलीला) खेलने तक धरा-धाम पर ही रहने दो। जब हमें भूख लगेगी हम स्वयं आ जायेंगे।
- सरलता सुन्दरता की जननी है।
- संस्कारी जीव श्रद्धा-सम्बल लिए सत्त्व में उतरते हैं। सेवा के लिए अभिव्यक्त होते हैं। **द्वैतं भजनहेतवे।**
- वैभव का दान दुर्योधन के लिए और स्वयं का दान अर्जुन के लिए।
- तपोवन– शान्त रस का आधार।
- जिसको जानते हो उसको हृदय से मान लो और जिसको मानते हो उसको प्रज्ञा से जान लो।
- व्यक्ति का निज स्वभाव ही प्रकृति है, ध्यान है, समाधि है।'मैं हूँ' यह दिक्कालाद्यनवच्छिन्न है।
- अन्तर्मुखी मन 'निवृत्ति' है और बहिर्मुखी मन 'प्रवृत्ति'। विचार में दृश्य नहीं द्रष्टा ही है।
- व्यक्ति का वर्तमान क्षण सदा निर्दोष होता है, उसी में जीना चाहिए।
- बड़ी है राम नाम की ओट सरल-धाम–
  - (१) सरलता सिद्धि है।
  - (२) सरलता सहज पन्थ है।
  - (३) सरलता शिष्टाचार की जननी है।
  - (४) सरलता जीवन संबल है।
  - (५) सरलता की गुरुता में आकर्षण है।
  - (६) सरलता एक पावन प्रवाह है।
  - (७) सरलता भावगंग है।

ररररर

श्री महाराज के शब्दों में,
जय जीव सेवा-आश्रम का परिचय

- 'जय जीव सेवा आश्रम' नूरगढ़ का संस्कृति विहार है।
- यह सृष्टि के आदि उद्घोष 'जय जीव' की सेवा का संस्थान है।
- यह आश्रम देश-काल की परिस्थितियों तथा अपेक्षाओं से परे श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से भावित स्वयं-स्फूर्त सत्ता है।
- यह नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का समाधान है। इसके लिए आँखें साफ हों, हृदय पवित्र हो तथा बुद्धि में कृतज्ञता की भावना वाली दृष्टि हो।
- 'बहता पानी निर्मला' की भाँति इसका सहज पन्थ है।
- आकार से प्रकार अर्थात् शरीर से आत्मा की ओर इसका सहज प्रवाह है।
- सह-अस्तित्व इसका भाई-चारा है ।
- पुरातत्त्व तथा अतीत के प्रतीकों की परम्परायें इसकी आचार संहिता है।
- आश्रम क्या है? आत्म-जागरण अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदयाचल ।
- कार्य क्या है? जय-जीव अर्थात् सब जीवों की जय होती रहे।
- सार क्या है? बहती नवल नशीली धार (नशा उतरे ही नहीं), यह है मेरा जीवन सार, मेरी देहपुरी में राजा करो भेंट स्वीकार।

विषय-सूची

क्र.सं०	विषय	पृष्ठ सं०
(१)	**ऋषिदर्शन**	(१)
(२)	**साधक का समाधान**	(३)
(३)	**इदम् अकिञ्चनवित्ताय**	(६)
(४)	**आत्म-निवेदन**	(८)
१.	महाराज के श्रीमुख से	१
२.	शील का सौरभ व सोम-उपनिषद्	६
३.	मन की तीर्थयात्रा	२१
४.	ब्रह्मचर्य- सब रूपों में ब्रह्म की उपासना	३१
५.	सत्यमेव जयते	४२
६.	कर्म के उद्देश्य	४८
७.	सच्चे तीर्थ	५५
८.	तीव्र इच्छा	५८
९.	धीर की वाणी	६२
१०.	यज्ञ : सर्वोत्तम सेवा	७३
११.	संसार में कैसे रहें?	८७
१२.	मन मित्र या शत्रु?	९२
१३.	आश्रम में सर्जन-विसर्जन	१०१
१४.	साधक का आहार	१०७
१५.	सन्त के अतिथि	११४
१६.	आनन्द की सीढ़ियाँ	११६
१७.	अपनापन रखना प्रभो!	१३५
१८.	अरस्तु और सिकन्दर	१३७

१९.	बच्चों के प्रति विधायी दृष्टि	१४१
२०.	बलख का बादशाह	१४३
२१.	ब्राह्मण और बछिया	१४६
२२.	दीर्घजिह्वी वै देवानां हविरलेट्	१५४
२३.	दिन आथ्यो थाक्यो बलद	१५७
२४.	दो भिक्षु	१५९
२५.	दो गरीब भाई	१६१
२६.	दोहरी खेती दोहरी सफाई	१६३
२७.	लकड़हारा और चन्दन-वन	१६५
२८.	उदारता-निर्भयता-संयम	१६८
२९.	धर्म की आत्मा और शरीर	१७३
३०.	हजरत का क्षमा-न्याय	१७५
३१.	मर्त्यलोक में आगमन	१८१
३२.	हातिमताई गिर नहीं सकता	१८३
३३.	राजकुमार की रसोई	१८६
३४.	अहं का खूँटा	१८९
३५.	क्रोध पर विजय	१९४
३६.	लक्ष्मी का स्वयंवर	१९७
३७.	लोभ का परिणाम	२००
३८.	महापुरुषों की सच्ची पूजा	२०४
३९.	तीर्थाटन और सेवा	२०७
४०.	प्रकाश कहाँ से ?	२११
४१.	माया या भगवान्	२१४
४२.	मेरे मालिक! बहुत मीठा	२१७
४३.	मिथ्याज्ञान-बन्धन	२२१
४४.	पावन प्रतीक	२२३

४५.	परमात्मा को पत्र	२२८
४६.	अम्बरीष और दुर्वासा	२३०
४७.	सम्यक् व्यायाम	२३६
४८.	एक ही माँग 'मधु'	२३८
४९.	यूसुफ की दया	२४०
५०.	सन्त के साथ प्रश्नोत्तर	२४२
५१.	जगत् का रङ्गमञ्च	२४६
५२.	बुद्धि की साधना	२४९
५३.	नमोऽकिञ्चनवित्ताय	२५३
५४.	साधक को क्या प्रतिकूल?	२५७
५५.	गुरु-मन्त्र का सुपात्र	२६१
५६.	श्रीअरविन्द-योग	२६६
५७.	श्रद्धा	२६९
५८.	भगवान् का पूजन	२७५
५९.	दीक्षा और तप	२७८
६०.	मनमणि का कमठाण	२८१
६१.	तत्त्वमसि	२९०
६२.	निर्भयता और विनय	२९२
६३.	प्रेममयी माँ	२९५
६४.	श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज का सन्देश	२९७
६५.	जीवन यात्रा में ठीक दिशा का महत्त्व	२९८
६६.	भगवान् का सहारा	२९९
६७.	एकान्त में संयम	३००
६८.	दुर्ग का निर्माण	३०१
६९.	महापुरुष स्वरक्षित या सुरक्षित?	३०३
७०.	पवित्रेण शतायुषा	३०४

७१.	सरलता ही शिष्टाचार है	३०५
७२.	जीवन के सहारे	३०७
७३.	शिक्षा	३०८
७४.	चार आश्रम, उनकी निष्ठाएँ व भावनाएँ	३०९
७५.	क्षमा-मूर्त्ति सन्त तिरुवल्लुवर	३१२
७६.	अनुकूलताओं में वैराग्य	३१३
७७.	स्वधर्म परधर्म	३१५
७८.	जिसको छोड़ना है अन्दर से छोड़ना	३१८
७९.	यह कैसा अतिथि पूजन....	३१९
८०.	उपदेश नवनीत	३२०
८१.	वे दिव्य स्मृतियाँ....	३२८
८२.	सहज उपदेश	३२९
८३.	श्री महाराज के स्वरचित भजनों का संग्रह	३३५

ऋषिदर्शन

भारत की सनातन ऋषि-परम्परा के वर्तमान युग में जीवन्त प्रतिनिधि स्वरूप थे परम श्रद्धेय वन्दनीय पूज्यपाद स्वामी सोमानन्द जी महाराज।

स्वामी जी महाराज ने जीवन के प्रत्येक पहलू को पूर्ण पवित्रता से जिया। वे जैसा सहज पूर्णशान्त व पूर्णतृप्त जीवन जीते थे, उनके सान्निध्य में आने वाली आत्माओं को वैसा ही जीवन जीने का सहज प्रकाश व प्रेरणा उनसे मिलती थी। शास्त्रों में जिस शाश्वत सुख, शान्ति व आनन्द की प्राप्ति को जीवन का अन्तिम ध्येय कहा गया है, वह शाश्वत सुख, शान्ति व आनन्द स्वामी जी को प्राप्त हो चुका था। ऐसे महापुरुष का दर्शन करने का सौभाग्य मुझे अपने गुरुदेव श्रद्धेय आचार्य प्रद्युम्न जी महाराज के कारण मिला। सन् १९८७-८८ में पहली बार स्वामी जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उसके बाद कई बार श्रद्धेय स्वामी जी के दर्शन व मार्गदर्शन से धर्म व अध्यात्म का मर्म समझने का दिव्य अनुभव हुआ।

स्वामी जी आमभाषा और छोटी-छोटी बातों में जीवन, धर्म, दर्शन व अध्यात्म का मर्म, निष्कर्ष या निचोड़ बहुत ही सहजता के साथ कह दिया करते थे। वे जीवन के बारे में पूर्णतः निर्भ्रान्त व निर्द्वन्द्व थे।

स्वामी जी महाराज की कुछ सहज बातें आज भी, जब भी उनको याद करता हूँ तो सहज ही मेरी चेतना में गुंजायमान होने लगती हैं। स्वामी जी ने पहली बार हमसे कहा- भाई! एक दो घण्टा नहीं, २४ घण्टे भगवान् का ध्यान किया करो। समस्त रचनाओं में उसी रचयिता व नियन्ता का दर्शन किया करो। उनके आश्रम में हमने पहली बार बहुत प्रकार के पेड़-पौधे व फूल आदि देखे थे। प्रथमदृष्ट्या क्योंकि हम गाँव से आये थे, हमको लगा कि स्वामी जी को भी फूलों का शौक है, लेकिन बाद में हमें अनुभव हुआ कि पेड़-पौधे व फूलों से लेकर पशु, पक्षी व मनुष्य सहित समस्त जीवों व सम्पूर्ण सृष्टि या समष्टि में स्वामी जी भगवान् को जीवन्त रूप में अनुभव किया करते थे। उन्हीं से २४ घण्टे ब्रह्मभाव में जीने की समझ व अनुभव मुझे मिले।

वे सार्थक श्रम पर बल दिया करते थे। कर्म करते हुए स्वयं को भगवान् का यन्त्र अनुभव करना, सहज स्वभाव, सहज ध्यान, सहज योग अथवा सहज समाधि को ही वे भगवान् की पूजा कहते थे तथा स्वयं भी वैसा ही जीवन जीते थे। वे कभी भी अपना अधिमूल्यन वा अवमूल्यन नहीं करते थे। एक तरफ उनमें ऋषि-महर्षियों व महायोगियों जैसी महानता थी तो दूसरी तरफ छोटे-से-छोटे बच्चे का भी आदर, चींटी से लेकर सभी जीवों के प्रति पूर्ण करुणा व कृतज्ञता। वे कभी भी किन्हीं दो व्यक्तियों की तुलना नहीं करते थे। कभी किसी के बारे में अन्तिम निर्णय नहीं देते थे। स्वयं को सुधारक की अपेक्षा सेवक समझने में गौरव अनुभव करते थे। उनका बैठना, उनका चलना धीरता-गम्भीरता व शान्ति से परिपूर्ण होता था। उनकी दृष्टि में स्नेह, प्रेम व करुणा उमड़ती रहती थी। पवित्रता व

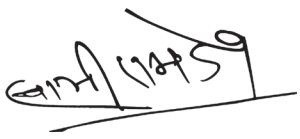
पुरुषार्थ से अर्जित अन्न व धन को वे बहुत अधिक महत्त्व दिया करते थे। उनका आहार पर सहज नियन्त्रण था। कितना भी स्वादिष्ट खाना या आहार क्यों न हो, वे थोड़ा-सा ही स्वीकार किया करते थे। कई वर्षों तक उन्होंने मात्र एक मुट्ठी भर चावल व मूँग की खिचड़ी खाई! आहार पर उनकी यह पूर्ण विजय थी। शरीर, इन्द्रियों, मन व विचारों पर पूर्ण विजय कैसी होती है, यह उनके जीवन को देखकर सहज ही अनुभव में आता था।

वे भीतर की सभी पराधीनताओं, दुर्बलताओं या कमजोरियों से पूर्णतः मुक्त तथा पूर्णतः तृप्त थे। जीवन में उन्होंने पूर्णता को प्राप्त किया था। मुझे स्वयं पर गर्व होता है व श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य श्री प्रद्युम्न जी महाराज के प्रति पूर्ण कृतज्ञता के भाव का अनुभव होता है जिनकी कृपा से ऐसे महान् ऋषि के इन आँखों से दर्शन किये। स्वामी जी बार-बार कहते थे- 'भाई दिया हुआ खाओ तथा मानकर चलो, सदा सुखी रहोगे'। माता, पत्नी, बहन आदि से जैसा जितना जो भी मिले उसे पूर्ण कृतज्ञ भाव से ग्रहण करो तथा बड़ों, आप्त पुरुषों, समर्थ गुरुओं की बात को प्रमाण मानकर उसके अनुरूप जीओ।

जीवन, जगत्, भगवान्, ब्रह्माण्ड व अध्यात्म के विभिन्न पहलुओं पर श्रद्धेय स्वामी जी ने जो उपदेश अनेक प्रसंगों में दिये, उनका संकलन करके श्रद्धेय गुरुदेव ने सब पर बहुत बड़ा उपकार किया है। गुरुदेव के अनुग्रह से एक ऋषि का उपदेशामृत उनके महाप्रयाण या निर्वाण के बाद भी हमें इतने सुन्दर रूप में उपलब्ध हो रहा है कि पुस्तक का वाचन करते समय ऐसा अनुभव होता है जैसे एक-एक अक्षर आज भी स्वामी जी के मुख से निःसृत हो रहा है और उनकी आकाशवाणी, आप्तवाणी, अमरवाणी हमारे कानों में गूँज रही है। ऐसी दिव्य श्रुति की अनुभूति कराने के लिए गुरुदेव को कोटिशः प्रणाम!

स्वामी जी की इस दिव्य वाणी का प्रकाशन 'योग सन्देश' पत्रिका में भी श्रद्धेय गुरुदेव के अनुग्रह से हो रहा है। भगवान् या पूर्णता के पथ पर चलने वाले निःश्रेयस के पथिक साधकों के लिए तथा जीवन को समझ, सम्बन्ध व निरन्तर सुख-पूर्वक जीने के इच्छुक सभी मनुष्यों के लिए श्री स्वामी जी के उपदेश अनमोल हैं। जीवन के एक-एक सत्य का अनुभव करने में न जाने कितनी कीमत चुकानी पड़ती है, कितना समय लग जाता है तथा कितनी बाधाओं व चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

एक ही पुस्तक में हमारी सभी समस्याओं व जीवन के सभी सत्यों का समावेश व समाधान प्रस्तुत करके गुरुदेव ने हम पर बहुत ही अनुग्रह किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक का अध्ययन करके अनेक आत्माओं का जीवन प्रकाशित होगा और सहस्रों आत्मायें जीवन में पूर्णता व दिव्यता को प्राप्त करेंगी।



फाल्गुन पूर्णिमा, सं०२०७०
दिनांक : १६ मार्च, २०१४

प्राणिमात्र के कल्याण का आकांक्षी

साधक का समाधन

'साधना-भक्ति' जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य है। साधना-भक्ति में समस्त धर्म आ जाते हैं, समस्त कर्त्तव्य आ जाते हैं। साधना-भक्ति मनुष्य जीवन में किया जाने वाला पवित्रतम कार्य है। यह आत्म-साधना है, यही योग-साधना है। इसी में परम कल्याण है। कम से कम श्रम में अधिक से अधिक उपलब्धि का उपाय आत्म-साधना है। किन्तु जन-सामान्य को 'साधना' कठिन प्रतीत होती है। इसी दृष्टि में यह सबसे अन्त में किया जाने वाला कार्य है। इतना होते हुए भी जन-सामान्य में साधना के प्रति कौतुक-विस्मय-श्रद्धा का भाव भी है। साधना के प्रति संशय-आशंका भी बहुत रहते हैं। जनता इसे दिव्य व अलौकिक मानते हुए इसके बारे में जानना भी चाहती है। व्यक्ति साधना समुद्र से डरते हुए उसका थोड़ा-थोड़ा अनुभव भी करना चाहता है, अपने चरण समुद्र के अल्प जल में प्रविष्ट भी करा देता है, किन्तु गहन समुद्र में उतरने से कतराता है, अज्ञात अनिष्ट की आशंका उसे घेरे रहती है।

साधना का पथ कैसा है? उसमें क्या-क्या करना होता है? एक साधक क्या-क्या विचारता है? कैसे-कैसे विषयों पर ध्यान केन्द्रित करता है? एक साधक के अन्तस्तल में क्या-क्या चलता रहता है? साधक का संसार के प्रति क्या दृष्टिकोण होता है? इस तरह की उत्सुकताओं का पर्याप्त शमन इस पुस्तक के पढ़ने से होगा। जो साधना-पथ पर चल रहे हैं, उन्हें साधना के अनेक पहलू इसमें मिलेंगे। साधना के विभिन्न रंग-रूपों की झलकियाँ इसमें देखने को मिलेंगी, जो कि साधक को साधना की गहराई में ले जाने में सक्षम हैं। जो साधना-पथ पर चल नहीं रहे हैं, इसमें मात्र उत्सुकता रखते हैं, उन्हें भी इसे पढ़कर आनन्द आयेगा और वे अनजाने ही धीरे से इस पर चलने लगेंगे।

ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, वानप्रस्थी हों या संन्यासी, पुरुष हों या स्त्री, निर्धन हों या धनवान्, विद्वान् हों या अविद्वान् सभी को इस पुस्तक से सीखने-समझने के लिए बहुत सामग्री मिलेगी, वे अपनी-अपनी रुचि व पृष्ठभूमि के अनुसार अनेक विषयों पर चिंतन करने के लिए विवश होंगे।

साधना ज्ञान-प्रधान भी होती है व भाव-प्रधान भी, ध्यान-उपासना प्रधान भी होती है व सेवा-कर्म प्रधान भी। विभिन्न साधक अपनी-अपनी प्रकृति-स्वभाव-संस्कार के अनुरूप साधना के किसी एक ओर झुकाव रखते हैं। श्री स्वामी सोमानन्द जी महाराज भाव-प्रधान व सेवा-कर्म-प्रधान साधना के पथ पर चले हैं। पुस्तक के लेखक आचार्य श्री प्रद्युम्न जी भी इसी धारा की साधना के पथिक हैं। यद्यपि दोनों का शास्त्र व ज्ञान पक्ष विस्तृत और गंभीर है, विशेषकर आचार्य प्रद्युम्न जी का जीवन तो शास्त्र व ज्ञान में ही अधिक लगा है, पुनरपि साधना की दृष्टि से दोनों में भाव-सेवा-कर्म की प्रधानता है। इस प्रकृति वाले पाठकों को यह पुस्तक अति रुचिकर लगेगी। ज्ञान व ध्यान-साधना प्रधान प्रकृति वाले पाठकों को भी यह पुस्तक रुचिकर लगेगी, क्योंकि उन्हें दूसरी धारा को जानने समझने का अवसर मिलेगा और वे स्पष्टतः जान पायेंगे कि दोनों ही धाराओं के बहुत से विषय समान ही हैं। निश्चय ही दूसरी धारा को समझने से साधक को अपनी अनेक न्यूनताओं का बोध होता है।

यह पुस्तक जहाँ रुचिकर है, वहाँ अति गम्भीर भी है। इसके अनेक छोटे-छोटे प्रकरण व्यापक प्रभाव डालने वाले हैं, उनसे व्यक्ति में व्यापक परिवर्तन घटित हो सकता है। इसमें साधना को जीवन के साथ जोड़ते हुए प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण-दृष्टान्त-कथाएँ प्रभावकारी हैं, कई हृदय को छूती हैं, मार्मिक भी हैं। विषय को हृदयंगम कराने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पाठक इन उदाहरणों दृष्टान्तों-कथाओं के भाव को ग्रहण करने तक ही सीमित रहे तो उन्हें इनका पर्याप्त आनन्द/लाभ मिलेगा। यदि वे इनकी तार्किक-शास्त्रीय-सैद्धान्तिक विवेचना में पड़ गये तो दिशा व संदेश बदल सकते हैं।

अनेक तत्त्व/सिद्धान्त जानने-समझने व व्यवहार में लाने के प्रयास के बाद भी मन-मस्तिष्क में उतने प्रभावी नहीं बन पाते, जितने छोटे से लौकिक दृष्टान्त से बन जाते हैं। यह पुस्तक ऐसे दृष्टान्तों से समृद्ध है। पुस्तक में जहाँ लोकभाषा का प्रयोग है, वहीं साहित्यिक उदाहरण भी हैं। **पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि यह धर्म-साधना का स्वरूप सर्वत्र विद्यमान है और वह सब से सीखा जा सकता है।** शास्त्र और स्वाध्याय में रुचि रखने वाले अधिकांश विद्वानों का यह स्वभाव बन जाता है कि वे धर्म को पाने के लिए इन्हीं में ही लगे रहते हैं। धर्म किसी अन्य से भी प्राप्त हो सकता है, यह भाव उनमें प्रायः नहीं रहता। महर्षि दयानन्द का एक छोटा सरल सा किन्तु प्रेरक वाक्य यहाँ स्मरण आता है- वे व्यवहारभानु में लिखते हैं- ''सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो सम्भव ही नहीं परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है''। अतः धर्म के तत्त्व को समझने के लिए अविद्वान् किन्तु धार्मिक व्यक्ति के जीवन व विचार भी उपयोगी होते हैं। धर्म के अनेक तत्त्वों को वहाँ से भी पकड़ा जा सकता है। इस पुस्तक के आधार श्री स्वामी सोमानन्द जी महाराज और लेखक आचार्य श्री प्रद्युम्न जी दोनों ही जहाँ एक ओर श्रेष्ठतम शास्त्र वेद व अन्य शास्त्रों की बातों को सहजता से प्रस्तुत करते हैं वहीं दूसरी ओर ठेठ ग्रामीण-अशिक्षित व्यक्तियों में भी बार-बार विचरण कराते हैं। दोनों ही छोरों से वे धर्म/सत्य/अध्यात्म के तत्त्वों को पकड़-पकड़ कर दिखाते जाते हैं।

पुस्तक में ढेर सारी बहूमुल्य सूक्तियाँ भी हैं। इनमें शास्त्रीय बातों को सरलता व सौन्दर्य के साथ मौलिकरूप से प्रस्तुत किया गया है। बहुत सी सूक्तियाँ अनुभवजन्य सहज स्फूर्त हैं, वहाँ भी मौलिकता के दर्शन होते हैं। अल्प शब्दों में या मात्र एक शब्द में भी अनेकत्र विशेष प्रभाव उत्पन्न होता है। पुस्तक में जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए छोटे-छोटे उपाय व सूत्र, औषधि के छोटे-छोटे नुस्खों-टोटकों की तरह प्रभावकारी प्रतीत होते हैं।

आत्म-साधना में रुचि रखने वालों को यह पुस्तक बड़े उपहार की तरह प्रिय लगेगी, उनका साधना मार्ग प्रशस्त होगा, आत्म-साधना के पथ पर चलने में हो रहे संकोच, भय, आशंका, अस्पष्टता कम होंगे। प्रभु की कृपा से साधक-गण परस्पर एक दूसरे को पुष्ट करते रहें, यह अत्यधिक आनन्द व संतोष देता है।

लगभग १५ वर्ष पूर्व मुझे भी स्वामी सोमानन्द जी महाराज के वचनों का लाभ एक बार

मिला। जब मैं आचार्य श्री प्रद्युम्न जी से आर्षगुरुकुल खानपुर में व्याकरण पढ़ रहा था, तब आचार्य जी अपने स्वभाववश कुलवासियों को नूरगढ़ आश्रम में ले गये थे। श्री स्वामी जी व उनके आश्रम को सुनने-देखने में बड़ी उत्सुकता रही।

आचार्य श्री ने विशेष कृपा करके इस पुस्तक की रचना में बहुत समय-श्रम लगाया, इसे श्री स्वामी जी महाराज के भावानुरूप विस्तार दिया, भाषा को भी सुन्दर रूप दिया, अनेक शास्त्रीय उद्धरणों से इसे अलंकृत किया। इस पुस्तक में आचार्य श्री का आध्यात्मिक दृष्टि कोण भी प्रायः हर पृष्ठ पर परिलक्षित होता है। परिमार्जित स्वरूप में इसे पूरा पढ़ने का अवसर आचार्य श्री की कृपा से मिला, एतदर्थ उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

दिनांक : ०१.०८.०१४
महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान,
अजमेर (राज०)

निवेदक

सत्यजित्

सत्यजित्

ᘐᘐᘐ

- ☞ प्रेम की भाषा है संगीत और गति है नृत्य। प्रेम= संगीत+नृत्य।
- ☞ सरलता एक सिद्धि है जिसमें सारे शिष्टाचार शामिल हैं।
- ☞ आत्म-तादात्म्य की भाषा है मौन। मौन अन्तर्वाणी है, परावाक् है।
- ☞ सेवा, साधना ऐसी हो कि जब चाहे तब अपने को समेट सकें।
- ☞ 'भूमा' अनेकों में एकत्व लाने वाली अनुभूति।
- ☞ प्रतिकूलताओं में तो अनुकूलता और अनुकूलताओं में वैराग्य।
- ☞ आत्म-ज्ञान में ही सब समस्याओं का समाधान।
- ☞ शरीर से हम सामाजिक हैं; मूल में आध्यात्मिक।
- ☞ **एक बार श्री महाराज ने अपने एक प्रिय शिष्य से गुरु के माहात्म्य के बारे में कहा कि गुरु शिष्य के पहले वाले स्वरूप को नष्ट कर दूसरे ही रूप में बदल देता है मानो कि जैसे दूध का दही बना दिया हो पर शर्त यह है दूध फटा हुआ न हो। यदि दूध फटा हुआ होता है तो वह फिर दही में परिणत नहीं होता। इसी प्रकार उसी शिष्य का गुरु के द्वारा रूपान्तर साधित होता है जो ग्रहणशील हो, विभक्त न हो, साबुत हो।**

ᘐᘐᘐ

इदम् अकिञ्चनवित्ताय

मेरा सौभाग्य है कि मुझे दो विद्वान् मित्ररूप में उपलब्ध हैं- आचार्य वागीश जी और आचार्य प्रद्युम्न जी। यह सौभाग्य इस वर्ष अत्यन्त बढ़ गया जब मैंने आचार्य प्रद्युम्न जी की शिष्यता प्राप्त करके अष्टाध्यायी-व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ किया। आचार्य जी ने मुझे और सौभाग्य प्रदान करते हुए इस पुस्तक की पाण्डुलिपि पढ़ने का दायित्व सौंपा और कुछ विचार-विनिमय भी किया। आचार्य प्रद्युम्न जी के साथ मैंने एक बार नूरगढ़ जाकर श्री स्वामी सोमानन्द जी महाराज के दर्शन किये थे और पुस्तक में पृष्ठ ३२३ पर आया 'स्वयं को सीखतड़ समझने' का दृष्टान्त उसी समय का है।

ईश्वर, जीव और मूल प्रकृति, ये तीनों तत्त्व बुद्धि-तत्त्व से सूक्ष्म हैं। इस प्रकार त्रैतवाद का सिद्धान्त अत्यन्त सूक्ष्म हुआ। इस सिद्धान्त को विज्ञानवत् स्पष्ट करके लिखना ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त कहीं-कहीं मिलता है, पठनीय साहित्य में भी सर्वत्र नहीं। वस्तुतः ज्ञान, कर्म और उपासना एक-दूसरे से अविरुद्ध हैं और तीनों मिलकर पूर्ण बनते हैं। पुस्तक में इस निष्कर्ष को विद्वान् लेखक द्वारा प्रेम एवं प्रवीणता पूर्वक निबद्ध किया गया है।

जीवन का समाधान क्या है? मनुष्य सुख चाहता है। वह मिल जाए तो अधिक पाने का लोभ और न मिले तो असन्तोष, ये दोनों समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को धर्म करने और अधर्म से बचने का यत्न करना चाहिए। धर्म करने वाले को भी अन्य कारणों से दुःख मिलता है और अधर्म से बचने का यत्न करने वाला भी जीवन में एक-दो बार अधर्म में गिर ही सकता है। ये समस्याएँ भी निरन्तर सामने रहती हैं। सत्य के ग्राहक कम होते हैं और असत्य से पतन होता ही होता है। इन सब समस्याओं का समाधान ही 'जीवन का समाधान' है।

पुस्तक मेरे मन के बहुत करीब है। मेरे मन में भ्रमण करती भावनाएँ किसी अन्य ने मुझसे हूबहू व्यक्त नहीं की थीं; यथा-(१) सहने की कोई सीमा नहीं बनानी चाहिए; (२) स्वयं को विशेष नहीं समझना चाहिए, न बड़ा बनकर, न अपने को छोटा सिद्ध करके; (३) ईश्वर, मनुष्य मात्र, प्राणिमात्र, सत्य, न्याय, राष्ट्र आदि को समर्पित कर्म करने चाहिएँ, अहंतृप्ति या धन-मात्र के लिए नहीं; (४) ईश्वर से प्राप्त प्रेरणाओं को समझना और सर्वोच्च रखना चाहिए; (५) नारी-जाति के प्रति मन-वचन-कर्म से सदा अंहिसक रहना चाहिए; इत्यादि।

जैसा ईश्वर सत्य, ज्ञान, दया, न्याय, सुख, प्रेम एवं कल्याण-स्वरूप है, ऐसी ही उसकी प्रेरणा होती है। जिस कर्म को करने की प्रेरणा हो, उसे पूर्ण शक्ति से करने का प्रयत्न करें। जिसे न करने की प्रेरणा हो, उसे किसी हालत में न करें। जिस कर्म के लिए 'हाँ या ना' की प्रेरणा न हो, उसे साथियों और बड़ों के परामर्शानुसार करना चाहिए। ईश्वर की प्रेरणा 'ईश्वर की शिक्षा या आज्ञा' होती है, जिसके पालन बिना उसकी उपासना पूर्ण नहीं होती।

मुझे ऐसा लग रहा है कि साधना-मार्ग पर मुझ बालक को जो धूप-छाँव, फूल और काँटे

आज दिखाई दे रहे हैं, उन्हें ठीक से देखते हुए पुस्तक का वृद्ध राहगीर आगे-आगे गुजरा है। मन को शुद्ध, विशाल, शान्त और एकाग्र करने वाले साधकों को पुस्तक कुछ मील या कुछ इंच अवश्य आगे बढ़ाये। ईश्वर इस प्रार्थना को कृपया पूर्ण करे।

(सम्प्रति)
वैदिक गुरुकुलम्
पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार।
दिनांक : २७ फरवरी, २०१४

ऋषीणामनुचरः
रूपचन्द्र दीपक
डॉ० रूपचन्द्र 'दीपक'

❋ श्री महाराज का स्वरचित प्रिय भजन ❋

अवधूत जोग जुगत से करना।
निर्भय चारों कूंट विचरना।। अवधूत------
कार्य वचन निर्मल मन रहना, सँभल-सँभल कर पग धरना।
सब पर करुणा मुदिता मैत्री, ब्रह्म विहार विहरना।। अवधूत-----
आदत आतुर संसृति सागर, पर-दुःख देख पिघलना।
परहित रमण मरण सब जगहित, ऐसी साध सुमरना।। अवधूत-----
अहंकार की तापत मिथ्या, अपने सम्मुख धरना।
समदृष्टि दीपक ले कर में, जन मन ज्योति भरना।। अवधूत-----
जीव जगत् के पाप निगलकर, तरुवत् छाया करना।
उमड़-उमड़ कर हृदय गगन में, धरम मेघ बन झरना।। अवधूत-----
आत्म गंग तन तीर तरङ्गित हृदय धार उतरना।
हो अभिषिक्त आत्महवि लेकर, जग जननी के शरणा।। अवधूत-----

आत्म-निवेदन

प्रस्तुत प्रबन्ध मैंने स्वान्तःसुखाय लिखा है। जिस दिव्य पुरुष की शिक्षाओं या जीवन-दृष्टि को यहाँ उपनिबद्ध किया गया है, वे एक सत्य में स्थित, अन्तर्ज्योति से परिपूर्ण, करुणा-भक्ति-प्रेम व सेवा के साक्षात् अवतार, हजारों लोगों को जीवन की सच्ची राह दिखाने वाले 'मार्गदर्शक-गुरु', दूसरों के लिए फूलों से भी कोमल किन्तु अपने लिए वज्र से भी कठोर, सब प्रकार से सहज, प्राचीन संन्यास-धर्म के आदर्श जीवन्त संवाहक, ऋषियों की तरह तपःपूत, वाणी रूपी विभूति से सुसम्पन्न, बालक जैसे सरल और ज्ञानियों जैसे अनुभवसिद्ध, मधुग्राही, अहङ्कारमुक्त, शारीर और मानस उभयविध रोगों के श्रेष्ठ चिकित्सक, ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित और साथ में पूर्ण जिम्मेदार, एक ही साथ माता के समग्र प्रेम और गुरु के अनन्त धैर्य व ज्ञान से आलोकित महान् देव हैं।

मैं उनके लिए सप्रयोजन 'थे' शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। उन्हीं ने धीर-गम्भीर और प्रेमपूर्ण वाणी से अनेक बार हमको समझाया है कि **'न गुरु मरता है और न शिष्य रोता है'**। इसी आदर्श को हृदयङ्गम कर सम्पूर्ण प्रबन्ध में भूतकाल की क्रियाओं का प्रयोग न करके वर्तमानकालिक क्रियाओं का ही प्रयोग किया गया है क्योंकि सत्य सदा वर्तमान ही है। कितनी ही बार उन्होंने अपनी शान्त वाणी से यह बात कही है कि शरीर के रूप में जो यह दिख रहा है वह गुरु नहीं है, गुरु तो ज्ञान, करुणा, प्रेम, आनन्द, शक्ति, बल इत्यादि समस्त दिव्य भावों का समुच्चय स्वरूप एक अतीन्द्रिय तत्त्व है जो कि आकाश, प्रकाश और हवाओं की तरह व्यापक है। जब भी हम ग्रहणशील होते हैं, वह हमारे अन्दर ही हमें उपलब्ध है। लौकिक गुरु के देहत्याग पर जो शिष्य रो पड़ा और फिर कुछ दिन बाद भूल ही गया तो ऐसे उस शिष्य को धिक्कार है! शरीर तो नित्य, शाश्वत, कालातीत ज्ञान, बल, आनन्द, प्रेम, शान्ति, शाश्वत प्रेरणाओं के प्राकट्य का मात्र एक कालगत माध्यम है।

ये देवपुरुष अपने गुरुदेव श्री पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज जिनके श्रीचरणों में रहकर इन्होंने शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की, अपने जीवन को सँभाला-सँवारा-सजाया, उनके बारे में बड़े भाव-विभोर होकर एक बात कहा करते हैं कि महापुरुषों के जीवन के अनन्त पहलू होते हैं, उनके सान्निध्य में रहते हुए अपनी सीमित दृष्टि से उनके जिन पहलुओं को देखा, उतने से ही हम तो निहाल हो गए। ठीक यही बात मेरे हृदय से अपने गुरु के बारे में निकल रही है, निकलती रहती है कि जो कुछ सोम-कण उनके संग से सञ्चय करने को मिले हैं, बल्कि ज्यादा ठीक-ठीक शब्दों में कहा जाए तो उन्होंने ही मेरी अन्तःकरणरूपी बंजर भूमि को अपनी अनन्त कृपा व प्रेम से जोता, उसको उर्वर बनाया, उसमें जो दिव्य बीज डाले, वे समय पाकर अब फलेग्रहि (पुष्पित व पल्लवित) हो रहे हैं।

उनसे उपलब्ध हो रहे वे सोमकण इतने आकर्षक हैं, इतने निर्भ्रान्त हैं, इतने दृष्टि को निखार देने वाले हैं, इतना अधिक जीवन को उलझन-रहित बना देने वाले हैं, जीवन को इतना समाधान से परिपूर्ण कर देने वाले हैं, जीवन की तुच्छताओं से हम जिज्ञासुओं को इतना ऊपर उठा देने वाले हैं,

अहंता और हीनता दोनों से मुक्ति दिलाने वाले हैं, जीवन को समता-सहजता-सरलता-सौम्यता-शालीनता से ओत-प्रोत कर देने वाले हैं, जीवन को इतना निर्भय बना देने वाले हैं, जीवन को इतनी स्वतन्त्रता-स्वाधीनता से परिपूर्ण कर देने वाले हैं कि इसको शब्दों में कैसे कहा जाए, इसको शब्दों के माध्यम से कैसे व्याख्यायित किया जाए? ये सोमकण हमको 'सब मेरे, मैं सबका' के दिव्य सन्देश से जोड़ देने वाले हैं, 'जीवन के बाँटने में ही जीवन की धन्यता छिपी है' इस रहस्य का उद्‌घाटन करने वाले हैं! यज्ञ का वास्तविक अर्थ क्या है, सेवा क्या है, साधना क्या है, सत्य क्या है, धर्म क्या है, बन्ध और मोक्ष क्या हैं, अहङ्कार और उसके विनाशकारी परिणाम क्या हैं, श्रद्धा-भक्ति-प्रेम-दीक्षा व तप क्या हैं और जीवन की परिपूर्णता के लिए इनकी क्या आवश्यकता है? यह सब समझाने या सिखाने वाले हैं।

हृदय क्या है, कर्म क्या है, कर्म का प्रेरक हेतु क्या है, भगवत्-पूजन क्या है, जीवन के लिए सर्वोत्तम चीज क्या है, कौन लोग धन्य हैं, मन को मित्र समझें या शत्रु, संसार में कैसे जीएँ, जीवन आनन्दमय कैसे हो? इस प्रकार की अनेक समस्याओं का समाधान इन सोमकणों से मुझे तो प्राप्त हो ही रहा है किन्तु मेरी जैसी अभीप्सा वाले अन्य सह-यात्रियों को भी यह प्रकाश, यह आलोक, यह तृप्ति प्राप्त हो, इस हेतु से इस लेख-माला को पुस्तक रूप में सबके समक्ष लाने का उपक्रम किया गया है। क्योंकि श्री महाराज ने हमको कई बार समझाया है कि जो कुछ भी सच्चे अर्थों में स्वान्तःसुखाय होता है वह सर्वान्तःसुखाय भी होता ही है। (**'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** मीमांसा का यह न्याय तो अवश्य यहाँ प्रयोज्य है।) वे कहते हैं- श्रोताओं का उद्‌धार अवश्य होगा क्योंकि गायक का उद्‌धार हो चुका है।

यहाँ एक विशेष बिन्दु की ओर अपने आत्मीय पाठकों का ध्यान अवश्य दिलाना चाहूँगा। प्रत्येक ग्रन्थ में प्रायः दो तरह के तथ्य उपलब्ध होते हैं- एक कालगत, दूसरे कालातीत। कालगत केवल माध्यम होते हैं कालातीत को प्रकट करने का। कालगत घटनाएँ मूर्त्त होती हैं, उनकी अपनी एक सीमा होती है; एक बार में ही या ज्यादा से ज्यादा दो बार में अविकल रूप से बुद्धि में या स्मृति में बैठ जाती हैं। किन्तु उनके द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, उसे आत्मसात् करने के लिए पूरा जीवन चाहिए, अर्थात् क्षण-क्षण में व्यक्ति जो जीवन जीता है वहाँ उस ज्ञान को बनाए रख कर अभ्यास करना होता है। हम इसको यों भी कह सकते हैं- कालगत घटना-चक्र को प्रतीक बनाकर, उस प्रतीक के माध्यम से प्रत्यायनीय (बोधनीय) तक पहुँचना होता है।

यहाँ इस सम्पूर्ण प्रबन्ध में पाठकों को ऐसी अनेक घटनाएँ पढ़ने को मिलेंगी, जैसे कहीं भक्त अम्बरीष का पावन प्रसंग तो कहीं यूसुफ और इब्राहिम का; कहीं वृद्ध सन्त के साथ प्रश्नोत्तर, कहीं हातिमताई की घटना; कहीं हजरत उमर का क्षमा-न्याय, कहीं राजकुमार की रसोई; कहीं अरस्तु व सिकन्दर, कहीं बलख का बादशाह; कहीं दीन लकड़हारा और चन्दन का वन, कहीं श्रीअरविन्द योग; कहीं हजरत मूसा का मृत्युलोक में आगमन, कहीं महापुरुषों की सच्ची पूजा, कहीं तीर्थाटन और सेवा, कहीं ब्राह्मण और बछिया; कहीं गुरुमन्त्र का सुपात्र, कहीं सन्त के अतिथि; कहीं दो भिक्षु, कहीं दो

गरीब भाई; कहीं दोहरी खेती, लोभ का परिणाम, मेरे मालिक बहुत मीठा, मिथ्याज्ञान-बन्धन, मनुष्य की चाहत माया या भगवान् इत्यादि।

ये सब-की-सब घटनाएँ हमें ऐसा व्यापक सन्देश देती हैं जो जाति-मजहब-वर्ग-देश (यूरोप-एशिया)-काल-ऊँच-नीच-स्त्री-पुरुष-धनी-निर्धन-गृहस्थ या संन्यासियों के भेद से सर्वथा मुक्त है। हिन्दु-मुस्लिम-जैन-बौद्ध-ईसाई-पौराणिक-आर्यसमाजी कोई भी जो अपने जीवन को आनन्द-प्रेम-करुणा-शान्ति व प्रज्ञा (सही-समझ) से परिपूर्ण करना चाहते हैं, जो चातक की तरह अमृत के प्यासे हैं, अनवरत भोगों की हो रही वृष्टि के बीच खड़े हुए भी केवल मात्र स्वाति नक्षत्र से आने वाली बूँद से ही अपनी प्यास बुझाने के लिए संकल्पित हैं, ऐसी अभीप्सा वाले जीवन्त लोगों के लिए ही सचमुच यह सोम-पान है।

माया-मुग्ध लोग जैसे सोने के टुकड़ों से, तथाकथित राजनेता जैसे सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान से, कोई कला-प्रेमी कला से, खिलाड़ी जैसे खेल से, विद्वान् विद्या से सतत प्रेम करता है, इसी प्रकार जो जीवन को भागवत तत्त्वों से ओत-प्रोत देखना चाहते हैं, जीवन को खण्डों में विभाजित करके नहीं बल्कि समग्रता में देखना चाहते हैं, जो अपने हृदय को शुद्ध करना चाहते हैं, जो पूर्ण सहज जीवन जीना चाहते हैं, अहङ्कार को समझकर उसकी विकृतियों से मुक्त होना चाहते हैं, उन सबके लिए आदि से अन्त तक यहाँ सोम का मधुमय उत्स फूट पड़ा है। वह नित्य-नूतन है, शाश्वत (Eternal) है, भूत-भविष्यत्-वर्तमान रूप काल (Time) के प्रभाव से मुक्त है। आने वाली उषाओं की तरह साधक के हृदय को नये प्रकाश से, नये उत्साह से, नये जीवन से भर देने वाला है। मेरा अपना अनुभव है जब-जब मैं इस निबन्धमाला का स्वाध्याय करता हूँ, इसमें पुरानापन जैसा कुछ लगता ही नहीं। नित्य नई रोशनी मिलती रहती है।

पाठकों से एक विनम्र निवेदन अवश्य है कि कृपया इन अमृतवचनों को किन्हीं कहानी-किस्सों की तरह या अखबार की तरह न पढ़ें। धीरे-धीरे पढ़ें और बीच-बीच में मौन हो जाएँ। जो सत्य, जो ज्ञानज्योति अन्दर पहुँचे उसे अपना काम करने दें। ऐसा करने से स्वतः ही इन वचनों का या इन शिक्षाओं का गुप्त रहस्य प्रकट होता चला जाएगा।

श्री महाराज के द्वारा ही इस प्रबन्ध का नाम दिया गया है- 'जीवन का समाधान'। यद्यपि 'जीवन का समाधान' शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता है। जितने भी शब्द बोले जाते हैं या बोले जायेंगे वे किसी अदृश्य तत्त्व के वाहक होते हुए भी आखिर हैं तो कालगत प्रतीक-स्वरूप (Symbol) ही, और सत्य तो निश्चय ही एक कालातीत तत्त्व है, एकरस है, अपरिवर्तनीय है, अनश्वर है, तो भी शब्द उस कालातीत तत्त्व का रहस्योद्घाटन तो करते ही हैं, उसकी तरफ संकेत तो करते ही हैं। प्रतिक्षण हमारे समक्ष समस्याएँ (Challenges) उपस्थित होती रहती हैं। उनका हम अपनी प्राप्त दृष्टि के अनुसार प्रत्युत्तर (Response) देते हैं। यदि हमारे अन्दर वह यथार्थ प्रज्ञा विकसित हो गई है तो हर क्षण उदय होने वाली नई समस्या का ठीक-ठीक समाधानात्मक प्रत्युत्तर दिया जा सकता है।

लिखित पुस्तकों को पढ़कर उनकी युक्तियुक्त व्याख्या करना या स्वयं किसी विषय पर नया

लेखन करना, इसके साथ प्रज्ञा का कुछ सम्बन्ध नहीं है बल्कि यह प्रज्ञा वह वस्तु है जो हमें जीवन में उलझने से बचाती है, हमें भरा-पूरा रखती है, सहज रखती है, अहङ्कार को सक्रिय नहीं होने देती, हमें अपने केन्द्र से जोड़े रखती है, करुणा-प्रेम इसका सहज स्वभाव होता है, राग-द्वेष व भय-भ्रान्ति से मुक्त रखती है, एक शब्द में कहें तो प्रज्ञा मनुष्य जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए महाभारत के सनत्सुजात ऋषि ने चार उपाय बताये हैं। शास्त्र, गुरु, उत्साह और काल रूप इन चार उपायों में शास्त्र (श्रुत-शब्द) का भी अपना अन्यतम स्थान है।

यद्यपि यह सत्य है कि हमारे पूर्वज मार्गदर्शक ऋषियों ने सच्चे जीवन को खोजा है, जीवन को समझा व समझाया है, जीवन-दाता की खोज की है, परस्परता में मनुष्य के कर्त्तव्यों की खोज की है, सृष्टि-नियमों (ऋत-नियमों) को खोजा है; जन्म, पुनर्जन्म, कर्म, कर्मफल और कर्म-संस्कार से सम्बद्ध सिद्धान्तों को खोजा है किन्तु उन सब सिद्धान्तों की शब्दों के द्वारा उपलब्ध जानकारी मात्र से मनुष्य की सब समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का अनादिकाल से चला आ रहा कर्माशय संस्कार प्रारब्ध तथा इस जन्म का माता-पिता का जीवन, प्रशिक्षण, समग्र परिवेश, पुरुषार्थ, सामर्थ्य, व स्वभाव आदत या अभ्यास सबका एक जैसा नहीं होता अतः प्रत्येक पीढ़ी को उन सब नियमों को अपने लिए नये सिरे से खोजना पड़ता है। पदार्थ और क्रिया के जगत् में तो ये खोजें बहुत कारगर सिद्ध हुई हैं किन्तु आन्तरिक ज्ञान के क्षेत्र में, चेतना के क्षेत्र में एक की खोजें दूसरे के लिए उतनी फलप्रद नहीं होतीं क्योंकि शब्द सामान्य अर्थ में ही संकेतित व परिभाषित होता है। शब्द कभी भी पदार्थ के विशेष स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता। 'हमारे अस्तित्व के मूल में सच्चिदानन्द का वास है' यह सुन लेने पर भी या भगवान् की महिमा शब्दों में जान लेने पर भी उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तो भी शब्दों का सहयोग अपरिहार्य है। शब्दों के बिना हम अपने को एक गहन अन्धकार में खड़ा पाते हैं।

एक और भी कारण है जो कि शब्दों से उपलब्ध ज्ञानमात्र से मानवीय समस्याओं का या जीवन-जात समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं हो पाता। वह यह है कि जीवन अर्थात् जीव को उपलब्ध करण (अन्तःकरण-बाह्यकरण) और उन करणों से उपलब्ध ज्ञान सब कुछ त्रिगुणात्मक है, चल-स्वभाव है, कोई स्थिर चीज नहीं है। जिन जड़-चेतन पदार्थों से जीव के ये करण सम्बद्ध होते हैं वे भी चल-स्वभाव हैं। इसलिए प्रकाश-क्रिया-स्थिति स्वभाव वाले इन समस्त भौतिक पदार्थों में तथा जीव के मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा इन्द्रियों में सतत परिवर्तन चल रहा है। त्रिगुणों के परस्पर अभिभाव्य-अभिभावक स्वभाव के कारण अर्थात् विशेषतः अन्तःकरण में प्रतिक्षण जो गुणों का परिवर्तन चल रहा है, उसके कारण एक बार 'प्रकाश' (ज्ञान) का आधिक्य होता है, दूसरे समय 'क्रिया' का, तीसरे समय प्रकाश और क्रिया के रोधक 'स्थिति' रूप तमस् का। इन सबके चलते ज्ञान परिवर्तित होता रहता है, एक रस अखण्ड नहीं बना रहता।

जितने समय मन-बुद्धि में प्रकाश का प्राबल्य रहता है, उतने समय व्यक्ति सुख-सन्तोष-संयम-

समाधान-सदाचार की स्थिति में बना रहता है। मन-बुद्धि में क्रिया बढ़ जाए अथवा तमस् अर्थात् प्रकाश और क्रिया का आवरक गुण बढ़ जाए तो व्यक्ति क्रमशः दुःख और मोहयुक्त स्थिति में पहुँच जाता है। यही तो चित्त की अशुद्धि है कि चित्त स्वरूपतः प्रकाश-बहुल तत्त्व होते हुए भी उसमें क्रिया और तमस् की वृद्धि हो जाना। जिन उपायों से चित्त की अशुद्धि को कम किया जाता है और अन्ततः समाप्त किया जाता है उनके ही ये भिन्न-भिन्न नाम हैं- निष्काम सेवा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, असंगता, विचार, ईश्वर-प्रणिधान, योग-साधन, महान् पुरुषों का संग इत्यादि। इस प्रबन्ध में चित्त की अशुद्धि को धो डालने के लिए प्रसंगतः पर्याप्त चर्चा की गई है।

यह गुरु प्रसाद या भागवत प्रसाद, स्वान्तःसुखाय से सर्वान्तःसुखाय तक पहुँच रहा है। इसके लिए जिनकी प्रेरणा से, जिनकी शक्ति से, जिनके ज्ञान से यह कार्य सम्पन्न हुआ है, उन्हीं अन्तर्वासी अपने मूल प्रेरणास्रोत परमेश्वर को सर्वप्रथम कोटिशः प्रणाम करता हूँ। जिनके ऋत नियमों का अनुसरण करती हुई आँखें देख पाती हैं, वाणी शब्दों का उच्चारण कर पाती है, कान सुन पाते हैं, नासिका सूँघ पाती है, मन विचार कर पाता है, बुद्धि उचित-अनुचित का निर्णय ले पाती है, प्राण अपना कार्य कर पाते हैं। इस भौतिक शरीर के अन्दर जाएँ तो कहना होगा जिनकी शक्ति से हृदय धड़क रहा है, फेफड़े रक्त को शुद्ध कर रहे हैं, लिवर अपना काम कर रहा है, मस्तिष्क सतत कार्यरत है, पैंक्रियाज इंसुलिन बना रहा है, स्प्लीन अपना काम कर रही है, किडनियां शोधन की क्रिया में जुटी हुई हैं, एक-एक कोशिका में सूक्ष्म दहन क्रिया चल रही है, इंटेस्टाइन भोजन से रस ग्रहण कर रही हैं, निरन्तर ऊपर से नीचे तक सारे शरीर में खून बह रहा है, कहीं हड्डियाँ बन रही हैं, कहीं रस-रक्त आदि का सतत परिपाक चल रहा है।

ये सब एक-से-एक विचित्र क्रियाएँ उस ब्रह्म की महिमा से हमारे शरीरों के अन्दर चल रही हैं। आधिदैविक जगत् को देखते हैं तो जिसके तेज से सूर्य प्रदीप्त हो रहा है, चन्द्रमा ओषधियों में रस पहुँचा रहा है, पृथिवी सतत घूम रही है, पृथिवी के चारों ओर सुरक्षा-कवच पृथिवीस्थ प्राणियों को सुरक्षा दे रहा है। बादल बन रहे हैं, हिमपात हो रहा है, नदियाँ सतत प्रवाहित हैं, भूमि अन्न-फल-फूल-ओषधियों को उत्पन्न कर रही है, वायु प्रवहमाण है, आधिभौतिक जगत् में विभिन्न योनियों में जीवगण पैदा हो रहे हैं। जिनकी कृपा से ऋषि, मेधासम्पन्न-ब्रह्मचारी, ज्ञानी, भक्त, वीर-योद्धा, श्री महाराज के शब्दों में कहें तो इस पुण्य धरा की शोभा बढ़ाने वाले 'श्रमिक-जन जीवित पीर-फकीर', सबके लिए अन्न-फल पैदा करने वाले धरतीपुत्र कृषक, वस्तु उत्पादन में लगे हुए वस्तुओं के अभाव को पूरा करने वाले वैश्य, सब के सब अपने-अपने काम में जुटे हुए हैं।

ऐसे कृपानिधान, मंगलमूल, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के आधार, ज्ञानमय, प्रेममय, सर्वसुहृत्, क्लेश-ताप-पापविनाशक, शान्तिप्रद, आत्म-ज्ञान के दाता, बलप्रदाता, सबके आत्मस्वरूप उस परमप्रभु का धन्यवाद, पूजन, अर्चन मैं वैसे ही कर रहा हूँ जैसे लोक में गंगा जी का पूजन गंगा जी के ही जल से कोई कर रहा हो। **'गंगा पूजे गंगारजले'** यह लोकोक्ति लोक में प्रचलित है।

श्री महाराज के सशरीर रहते हुए ही यह प्रबन्ध लिख दिया गया था। मैं उस समय आर्ष गुरुकुल खानपुर (नारनौल) हरियाणा में आचार्य के रूप में सेवा दे रहा था। जून १९८२ से २००२ तक मैं सतत उनके सम्पर्क में रहा। जब भी उनके पास जाता था- यदि रात को रुकना हो जाता तो कुल मिलाकर ६ से ९ घण्टे उनकी दिव्य वाणी सुनने को मिलती थी। इस बीस वर्ष की लम्बी अवधि में उन्होंने बहुत कुछ समझाया, पर उस समय मैं उनकी शिक्षाओं को थोड़ा ही आचरण में ला पाता था। कितनी सारी बातें तो ऐसी थीं जिनके बारे में साफ निर्देश होने पर भी उनका पालन नहीं किया। जैसे वे मुझे कहते थे कि जो तुम्हारे पास है उसको बाँटो और किसी से कुछ भी माँगो मत, अपने आप जो मिलता है उसी में अपना काम चलाओ। हर बात में वे अपना उदाहरण देते थे कि देखो! यहाँ कोई किसी प्रकार की अपील नहीं की जाती, किसी दान-दाता के नाम का पत्थर नहीं लगाया जाता, सभा में किसी के नाम की घोषणा नहीं की जाती, फिर भी सब काम चल रहा है। औषधालय का सेवा-कार्य भी चलता रहता है, निर्माण आदि का कार्य भी होता ही रहता है। यहाँ आश्रम में केवल एक बार मैंने लोगों के सामने अपना विचार रखा था कि 'कुछ काम करना चाहते हैं- आप सब लोग अपने सामर्थ्य के अनुसार कुछ अपना अंशदान आश्रम के लिए निकालें।' लोगों ने बड़े खुश होकर दिया भी, पर उसी रात को अन्तःप्रेरणा हुई कि यह तो ठीक नहीं किया। प्रातःकाल होते ही जिसने जो दिया था वह उसके घर वापस भिजवा दिया।

मैं अपने को बहुत कमजोर पाता था, बिना माँगे गुरुकुल का काम कैसे चलेगा? गायें कैसे रखी जा सकेंगी? गायें नहीं तो दूध-घी कहाँ से मिलेगा? बिना माँगे मकान कैसे बनेंगे? व्यवस्था कैसे चलेगी? आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो स्पष्ट दिखता है कि मैं वही काम करता रहा जो मेरी प्रकृति के प्रतिकूल था। व्याकरण भाष्यकार पतंजलि मुनि ने इस स्थिति का वर्णन **'तत्कारी च भवान् तद्द्वेषी'** इन सारभूत शब्दों में किया है, किन्तु मेरा कोई ऐसा प्रारब्ध था जिसका इसी तरह निपटारा होना था। इस अनुभव में से गुजरने के बाद ही आँखें खुलनी थीं।

कभी-कभी मैं एक वर्ष बाद आश्रम पहुँचा तो एक बार भी श्री महाराज ने यह नहीं कहा कि इस बार बहुत दिन में आये। तुरन्त प्रेम के साथ चर्चा शुरु कर देते। शरीर छोड़ने से लगभग एक वर्ष पहले एक बार मैं रात को आश्रम में ठहरा हुआ था। प्रायः रात को दस बजे तक संवाद चलता रहता था। डॉ० भूदेव जी व मा० चेतन जी महाराजश्री के समीप सोते थे। मैं दूसरे कमरे में सो रहा था। रात को लगभग १ बजे भूदेव जी ने आकर मुझे जगाया कि स्वामी जी आपको बुला रहे हैं। मैं गया तो महाराजश्री ने कहा कि मैं तुम्हें दीक्षा दे रहा हूँ, एक ऐसी चीज दे रहा हूँ जिससे तुम इस संसार सागर से पार हो जाओगे। यह प्रचार की चीज नहीं है, बस इसमें जीना है। आज देखता हूँ तो ऐसा लग रहा है- केवल इसकी तैयारी में ही १२ वर्ष बीत गये।

इस प्रबन्ध को लिखने के बाद मैंने इसको एक तरफ रख दिया था। लिखते समय अवश्य ही अच्छी स्थिति रही, किन्तु जैसा कि मैंने कहा, महाराज की इन शिक्षाओं को पूर्णरूप से मैं क्रियारूप

नहीं दे पा रहा था। मुझे ऐसा लगता था कि एक बार तो तू महाराज को पकड़ता है, फिर छोड़ देता है। बहुत बार तो इसी कारण उनसे मिलने नहीं जाता कि वे कहेंगे– इतना सुनता है, करता कुछ नहीं है। हम किसी की बात को सुनें तो, पर उस पर चलें नहीं तो खिन्नता का होना स्वाभाविक है। फिर भी मेरी प्रकृति में कोई ऐसी चीज थी जिसने तमाम उत्थान-पतन के चक्र में से गुजरते हुए भी मुझे महाराज को छोड़ने नहीं दिया। मनुष्य का प्रारब्ध, संस्कार, स्वभाव, सामर्थ्य, दृष्टिकोण, समझ, अहङ्कार, मनुष्य की समस्त कामनाएँ, इच्छाएँ, चाहे फिर वे किसी भी स्तर पर हों, पूर्ण समर्पण में कितनी बाधा डालती हैं, इसको मैंने अपने आप को ही उदाहरण बनाकर बहुत नजदीक से देखा है। अज्ञान अहङ्कार को जन्म देता है। फिर वह अहङ्कार अज्ञान को पुष्ट करता जाता है और ये दोनों राग-द्वेष-भय-भ्रान्ति-संशय की एक लम्बी शृंखला को चालू कर देते हैं। ये ऐसे विचित्र सलाहकार हैं कि अपने से बड़ी शक्ति पर श्रद्धा या विश्वास नहीं होने देते। अज्ञान या अहङ्कार को बस अपनी लुढ़कती-पुढ़कती समझ पर ही एक मात्र भरोसा होता है। ये कभी भी ज्ञान, शान्ति, आनन्द, रस, प्रेम और करुणा, एक शब्द में कहें तो, दिव्यता के उपासक नहीं होते। ये उपासक होते हैं- इन्द्रिय सुख के, शक्ति के, दिखावे भरे सम्मान के, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए संघर्ष के, बलवान् से डरना और दूसरों को डराना इत्यादि भावों के। इस खेल को मैंने जमकर खेला- आश्चर्य इस बात का होता है कि एक महान् पुरुष का अपने आप को शिष्य मानते हुए भी।

जैसे कोई विशेष रोग से ग्रसित व्यक्ति उस रोग का एक उत्तम वैद्य हो जाता है। मैं स्वयं दो वर्ष तक कमर-दर्द से पीड़ित रहा तो मुझे अब इसका पूरा अनुभव है कि इस रोग के कारण क्या हैं? इसके लिए क्या उपचार करना होता है? कौन-कौन सी सावधानियाँ रखनी होती हैं? इत्यादि। इसी प्रकार शास्त्रज्ञान होते हुए भी अज्ञान और अहङ्कार के इस भयानक रोग से लम्बे समय तक पीड़ित रहने के कारण और इससे मिलने वाले महादुःख से सुपरिचित होने के कारण, मनुष्यजाति के कलङ्कभूत इस कष्टदायक रोग से और इस रोग के बढ़ाने वाले कारणों से अब मेरा अच्छा-खासा परिचय हो गया है। अब लगभग तीन दशकों के बाद यह समझ आ गई है कि सच्चा सुख या वास्तविक सुख क्या है, दिव्यता क्या है, प्रेम व करुणा क्या है, सहज जीवन क्या है, और इस स्थिति में जीने के लिए किन उपायों का सहारा लेना पड़ता है। **महाराज से जो सुना है, उसने अपना काम प्रारम्भ कर दिया है। गुरु ने मुझको कस कर पकड़ लिया है। ऐसी स्थिति आ गई है कि मैं चाहूँ तो भी छूट कर भाग नहीं सकता।** पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु कोई शरीर नहीं है- गुरु तो एक ज्ञान है, प्रकाश है, प्रेम है। किसी ने उनसे पूछा था कि आपको यह स्थिति कैसे मिली ? उनका उत्तर था- **'मैं तो भाई पकड़ में आ गया'**। वही बात आज मेरे अन्दर से निकल रही है- 'खूब इधर से उधर उछल-कूद मचाई, आखिर तो पकड़ में आ ही गया'। इस स्थिति में सब कुछ कितना अच्छा लग रहा है!

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे लिए अब पाप और पुण्य ने अपना अस्तित्व खो दिया है। सृष्टि का एक-एक रजःकण प्रेम व सौन्दर्य से भरा-पूरा नजर आ रहा है। अव्यवस्था की जगह व्यवस्था

ने अपना स्थान ग्रहण कर लिया है। विधि-निषेध के संघर्ष का अन्त हो गया है। सब कुछ सहजता में बदला हुआ प्रतीत हो रहा है। भगवान् की विजय हुई, सक्रिय अहङ्कार गिर गया। राम-रावण के इस महासंग्राम में रावण कितना भी अपरिमित बल वाला हो, आखिर तो उसे मरना ही होता है। इसी समय की प्रतीक्षा थी कि कब मेरे जीवन का उत्तरायण आरम्भ हो, कब मैं दिव्य जीवन पथ पर आरूढ़ होऊँ, कब मैं सबके साथ मिलकर इस प्रबन्ध को पढ़ूँ और अपनी चेतना के सूक्ष्म स्तरों को समझ सकूँ अर्थात् अहङ्कार के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम क्षेत्रों (Regions) पर कार्य कर सकूँ।

सेवा आश्रम, नूरगढ़ के सेवा-कार्य में अहर्निश निरत 'शारदा बुआ जी' का आभार, जिनकी मौन-प्रेरणाओं ने सम्पूर्ण आश्रम के वातावरण को सुरभित किया हुआ है। श्री महाराज की अपनी भावनाओं के अनुरूप आश्रम के सेवा-कार्यों को सतत गतिशील रखने के लिए एक ऐसे ही तपःपूत व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जैसा कि महाराज ने दिव्य शिल्पी बनकर अपने दिव्य हाथों से इनको घड़ा। बुआजी को शतशः नमन; उनकी सद्भावनाओं के ही परिणामस्वरूप यह वाणीरूपी अमृत-फल जनता-जनार्दन के हाथों में पहुँच रहा है।

'पतञ्जलि योगपीठ' के तेजस्वी अध्यक्ष विश्वविश्रुत श्री स्वामी रामदेव जी व पतञ्जलि योगपीठ के विविध प्रकल्पों के कुशल संचालक, महामन्त्री श्री आचार्य बालकृष्ण जी के स्नेह व सहयोग से मैं निर्विघ्न अपनी प्रकृति के अनुसार सेवा-स्वाध्याय-साधना में निरत हूँ। एतदर्थ इन दोनों महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता। इनके अतिरिक्त पतञ्जलि योगपीठ के सम्मानित कोषाध्यक्ष श्री स्वामी मुक्तानन्दजी व प्रिय डॉ० यशदेव जी शास्त्री का भी धन्यवाद प्रकट कर रहा हूँ।

मेरे अत्यन्तप्रिय द्वितीयमिव हृदयम् माननीय आचार्य श्री सत्यजित् जी (आचार्य, आर्ष गुरुकुल ऋषि उद्यान, पुष्कर रोड़, अजमेर) ने इस पुस्तक का अन्तिम प्रूफ संशोधन करके पुस्तक के बारे में अपनी दिव्य सम्मति भी भिजवायी, तदर्थ बहुत-बहुत आभार, उनके प्रेम व उदारता के लिए अनुगृहीत हूँ। आचार्य श्री का ऐसा जीवन है कि सांसारिक बोलचाल की भाषा में उनका आचार्य भी किसी अंश में उनसे शिक्षा ग्रहण करता है वस्तुतः ऐसे शिष्य का जीवन धन्य है।

इस भगवत्-प्रसाद को सुन्दरतम रूप देने में अपने प्रिय सुहृद् आदरणीय डा० श्री रूपचन्द्र जी 'दीपक' का भी बहुत आभार प्रकट कर रहा हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि को पढ़ा और बहुत सारे उपयोगी सुझाव भी दिये।

प्रो० डॉ० विजयपाल जी 'प्रचेताः' जो संस्कृत भाषा के महाविद्वान् हैं, पतञ्जलि योगपीठ में ही शोधकार्य में संलग्न हैं; उन्होंने 'मनमणि का कमठाण' नाम वाली श्री महाराज की अद्भुत रचना का सरल शब्दों में भावार्थ प्रकट किया। इस सहयोग के लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

वैदिक कन्या गुरुकुल (पतञ्जलि योगपीठ) की विदुषी आचार्या सविता जी तथा वैदिक गुरुकुल पतंजलि योगपीठ के आशा व ऊर्जा से भरे हुए छात्रों को भी हार्दिक प्रेम व आशीर्वाद जिन्होंने इस पुस्तक को सुन्दर रूप देने में अपना अविस्मरणीय सहयोग दिया इसके लिए उनको शुभाषीः। इस प्रबन्ध में

महाभारत के कुछ प्रसङ्ग डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'भारत-सावित्री' से लिये गये हैं। तदर्थ उनका आभार।

प्रिय डॉ० यशदेवजी शास्त्री (ऋषि ऑफसैट प्रिन्टर्स) तथा उनके कार्य को सुचारु रूप से सम्भालने वाले ऋषिदेव जी का भी धन्यवाद। जिन्होंने इस पुस्तक के सुन्दरतम प्रकाशन में मनोयोगपूर्ण सहयोग दिया।

श्री महाराज की सेवा में लम्बे समय तक रहने वाले डॉ० भूदेव जी का भी आभार है, जिन्होंने महाराज जी की हस्तलिखित डायरी उपलब्ध कराई। जिससे हम सब को महाराज के अनुभव-प्रसूत वचनों का रसास्वादन करने को मिल रहा है।

श्री विजय प्रसाद (टाईपिस्ट) ने पूर्ण मनोयोग से इस कार्य में अपना सहयोग दिया, तदर्थ उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए शुभ कामनायें!

अन्त में, श्रीमहाराज के श्रीमुख से उनके पास दर्शनार्थ सत्संग के लिए आने वाले लोगों के लिए सदा 'धन्यवाद' शब्द निःसरित होता रहता था। अतः इस प्रबन्ध का स्वाध्याय करने वाले जिज्ञासुओं के लिए श्रीमहाराज की तरफ से धन्यवाद।

प्रस्तोता

सन्त कुटीर,
पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार,
पिन कोड : २४६ ४०५
दिनांक : २१ फरवरी, २०१४



आचार्य प्रद्युम्नः

१. महाराज के श्रीमुख से

महाराज के श्रीमुख से सुनी हुई अनेक विचित्र किन्तु सच्ची घटनाएँ इस भाव से पाठकों के सम्मुख रखी जा रही हैं कि पाठक भी उनके महनीय गुणों को आत्मसात् करने का प्रयत्न कर सकें।

श्री महाराज का बाल्यकाल का नाम मुरलीधर था। उस पुराने समय में आठवीं कक्षा तक फारसी की पढ़ाई करने के बाद श्री मुरलीधर पटौदी तहसील के 'नानु कलाँ' गाँव में अध्यापक लग गये। उस समय पढ़ाई का चलन कम ही था, अतः आठवीं कक्षा उत्तीर्ण लोगों को भी आसानी से अध्यापन सेवा कार्य मिल जाता था। गाँव में मुरलीधर का बड़ा सम्मान था, कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। किन्तु अन्दर संस्कृत पढ़ने के लिए उचाट होने लगी। किसी से पता चला- लाहौर में संस्कृत विद्यालय है। बस सर्विस छोड़कर पहुँच गये लाहौर। पहले वहाँ एक सनातन धर्म विद्यालय में पहुँचे। श्री मुरलीधर की उम्र कुछ बड़ी देखकर वहाँ के अधिकारियों ने आर्योपदेशक महाविद्यालय का पता बता दिया।

वहाँ गये तो श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के दिव्य व्यक्तित्व को देखकर श्री मुरलीधर अभिभूत हो गए। श्री स्वामीजी ने नवागन्तुक ब्रह्मचारी को विद्यालय की नियमावली पढ़ने को कहा और पूछा कि क्या आप अपने को इन नियमों के अनुकूल पाते हो? ब्रह्मचारी ने कहा- नहीं। विद्यालय के आचार्य श्री स्वामी जी ने कहा- देख लो भाई! फिर तो कैसे रखें? ब्रह्मचारी ने कहा- आप मुझे अपनी शरण में ले लीजिए, किसी वृक्ष के नीचे या जीने के नीचे- जहाँ भी आप कहेंगे वहीं रह जाऊँगा।

आचार्य स्वामी जी ब्रह्मचारी की करुण पुकार को सुनकर ऊपर से नीचे तक देखने लगे और कहा- अच्छा हम आपको रहने के लिए आवास दे सकते हैं, भोजन का प्रबन्ध तो आपको अपना स्वयं ही करना होगा। ब्रह्मचारी तो बहुत खुश हो गया। आश्रम में ही रहने लगा, मेधा सम्पन्न तो था ही, साथ में लगन भी बहुत प्रचण्ड थी, अपने आचार्य के सतत प्रियाचरण के द्वारा उनका ध्यान आकृष्ट करने लगा। आचार्य के साथ हुए पणबन्ध के अनुसार भोजन करने के लिए बाहर होटल पर चला जाता। तीन पैसे में एक बार का भोजन पूरा हो जाता। इस प्रकार चलते-चलते लगभग २० दिन बीत गये।

एक दिन ब्रह्मचारी अपने कमरे में बची हुई राशि सँभाल रहा था कि दैवयोग से उसी समय आचार्य स्वामी जी का आना हो गया। स्वामी जी ने पूछा कि ब्रह्मचारी क्या कर रहे हो? ब्रह्मचारी थोड़े संकोच के साथ कहने लगा- जी, देख रहा था कि कितने दिन तक भोजन का काम और चलेगा। करुणा के साक्षात् मूर्त्तरूप आचार्य स्वामी जी ने ब्रह्मचारी से उस राशि को अपने हाथ में लेते हुए कहा- लाओ यह तो मुझे दे दो और अब आगे से यहीं भोजन किया करो। इस प्रकार ब्रह्मचारी मुरलीधर ने आखिर अपने आचार्य का हृदय जीत ही लिया। प्यास सच्ची हो तो उसके समक्ष सम्पूर्ण प्रकृति झुक जाती है। ऐसा कोई अवरोध है ही नहीं कि प्यास के मार्ग को रोक सके।

यह कहानी यहीं समाप्त नहीं हुई आचार्य ने ब्रह्मचारी को सच्चे अर्थों में अपना अन्तेवासी बना लिया और ब्रह्मचारी की प्रकृति को देखते हुए उसको मुरलीधर से सोमदेव नाम दे दिया। आचार्य स्वामी

जी ने व्रत लिया हुआ था कि मैं विद्यालय में सेवा तो करूँगा पर विद्यालय से किसी प्रकार का कोई सहयोग नहीं लूँगा। यहाँ तक कि पाकशाला में बना हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करूँगा। प्रतिदिन कोई एक ब्रह्मचारी भिक्षा लाने के लिए नगर में जाता था और अपने आचार्य के लिए भिक्षा माँगकर ले आता था।

आगे चलकर लगभग ४ वर्ष तक आचार्य स्वामी जी के लिए भिक्षाचरण के इस पुण्य कार्य का निर्वहन ब्रह्मचारी सोमदेव ही करता रहा। इसके अतिरिक्त अपने आचार्य के कक्ष की सफाई, वस्त्रादि की स्वच्छता का सब दायित्व ब्रह्मचारी सोमदेव का ही था। आचार्य स्वामी जी ने एक दिन शीत ऋतु में ब्रह्मचारी को एक चद्दर में ठिठुरते देखा तो पास बुलाया और कहा– सोम! एक बार यह कम्बल ओढ़ना, ब्रह्मचारी जैसे ही कम्बल ओढ़ता है– आचार्य स्वामी जी कहते हैं– यह तो बहुत अच्छा लग रहा है, अच्छा तुम ही ओढ़ो। ब्रह्मचारी कहता है– और फिर आप? आचार्य स्वामी जी ने क्या ही अद्‌भुत उत्तर दिया– देखते ही बनता है। उन्होंने कहा– 'जिसने तुम्हें दिया है, वही मुझे भी देगा।'

आचार्यों के द्वारा दिये गए नामदान के विषय में श्री महाराज कहते हैं- नाम कोई सम्बोधन नहीं है, यह तो संसार सागर को पार करने के लिए अवलम्बन है, सहारा है, नौका है। नाम वह शक्तिशाली तत्त्व है जिसमें सम्पूर्ण शक्ति गुप्त रूप से निहित होती है। केवल मात्र शिष्य को अपनी मनःसमाधि को उसके साथ जोड़ना होता है, शेष तो जो कुछ करना है वह नाम को ही करना है। गुरु आचार्यों से प्राप्त नाम ने श्री महाराज की नैय्या को पार लगा दिया। वैदिक साहित्य सोम की गाथा से भरा पड़ा है। सोम का अर्थ है शान्ति, सोम का अर्थ है अमृत, सोम का अर्थ है शुद्ध ज्ञान, शुद्ध भक्ति, शुद्ध प्रेम, शुद्ध करुणा, शुद्ध रस। श्री महाराज इन सबके मूर्त्तरूप ही तो बन गये।

एक बार गुरुकुल में अध्ययन करते हुए ब्रह्मचारी सोमदेव को किसी प्रासंगिक घटना के कारण कुछ कष्ट हुआ। सायं काल के समय प्रतिदिन गुरुदेव स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज विद्यालय के प्रांगण में तख्त पर अकेले बैठ जाते थे, सो ब्रह्मचारी जी एकान्त पाकर अपनी समस्या लेकर गुरुदेव के पास पहुँचे। ब्रह्मचारी से गुरुदेव ने पूछा हाँ! सोम कैसे आना हुआ? ब्रह्मचारी ने कहा- कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। गुरुदेव भाँप गये कि ब्रह्मचारी को क्या समस्या है? उन्होंने कहा- यह विद्यालय भी संसार का एक भाग है, इसे संसार का ही एक हिस्सा समझिए और अब कहिए क्या कहना चाहते हैं? ब्रह्मचारी जी ने कहा- 'अब तो कहने के लिए कुछ बचा नहीं' और यह कहकर वापस लौट आये।

श्री महाराज यज्ञोपवीत धारण करते ही थे। एक दिन अकस्मात् हाथ में उलझकर यज्ञोपवीत टूट गया। महाराज के मुख से सहसा निकला कि क्या 'गुरुदेव' नहीं रहे और वास्तव में उसी दिन उनका निर्वाण हुआ था।

नूरगढ़ आश्रम के निकटवर्ती ग्राम 'चौकी नं०-१' के एक श्रद्धालु भक्त श्री सत्यवीर जी ने चित्तौड़गढ़ की एक विशिष्ट घटना लेखक को सुनाई- महाराज को किसी ने बताया कि चित्तौड़गढ़ किले के उस पार जंगल में कभी-कभी शेर भी देखने को मिलता है। महाराज अपने एक साथी को साथ लेकर जंगल की तरफ चल दिये। वहाँ एक स्थान पर उनको शेर के पंजों के निशान दिखाई दिये। महाराज

के साथी ने कहा- मैं तो आगे नहीं जाऊँगा।

अब महाराज अकेले ही चलते गये। कुछ दूर ही चले थे कि सचमुच ही शेर उपस्थित हो गया, दोनों एक-दूसरे को नजदीक से देखते रहे। लगभग १०-१५ सेकेण्ड बाद शेर जंगल में चला गया, महाराज वापस आ गये। श्री सत्यवीर जी ने महाराज से पूछा- आपको डर नहीं लगा? महाराज का उत्तर था- भाई! डर तो विचार के साथ जुड़ा हुआ है। जब भी कभी हम किसी अदृश्य कृपा के संरक्षण में अपने आप को पाते हैं, तब डर नहीं लगता।

एक घटना श्री सत्यवीर जी ने ही इस प्रकार सुनाई- चित्र में शिवजी के गले में लिपटे सर्प को देखकर महाराज के मन में एक संकल्प आया कि क्या तू भी उन्हीं की तरह गले में सर्प को धारण कर सकता है? अगले दिन महाराज अपनी झोंपड़ी में खड़े थे, ऊपर से एक सर्प महाराज के गले में आकर गिर पड़ा और गले में दो-तीन मिनट लिपटा रहा। फिर अपने आप ही नीचे उतरकर चल दिया।

ऐसी ही घटना एक अन्य समय भी घटी। पानी की मोरी में कुछ सामान फँसा हुआ था। महाराज ने जैसे ही उसे साफ करने के लिए हाथ डाला, एक साँप महाराज के हाथ से लिपट गया। महाराज ने उसे बाहर लाकर छोड़ दिया।

श्री सत्यवीर जी ने महाराज से कहा कि मुझे सर्विस के लिए घर से दूर रहना होता है, क्या करूँ? अपने माता-पिता की तो सेवा कर ही नहीं पाता। महाराज ने पूछा- जब कोई किसी के पास मनी-आर्डर करता है, तो पोस्ट आफिस में जो पैसे जमा कराये जाते हैं क्या वे ही पैसे उसे मिलते हैं? नहीं! वे तो नहीं मिलते; उनके बदले में दूसरे पैसे मिलते हैं। महाराज ने समझाया- जैसे पैसों का हस्तान्तरण हो जाता है, उसी प्रकार सेवा का भी हस्तान्तरण होता है। पोस्ट आफिस की व्यवस्था को तो हम जानते हैं, क्योंकि उसको हम अपनी आँखों से प्रतिदिन देखते हैं। ईश्वरीय व्यवस्था तो और भी सुसंगति से युक्त है। यदि हम इस भाव के साथ किसी दुःखी-दरिद्र की सेवा करते हैं कि यह सेवा मेरे माता-पिता को प्राप्त हो जाए तो वह भी उन्हें अवश्य मिल जाती है।

महाराज राजस्थान में चित्तौड़गढ़ गुरुकुल में ठहरे हुए थे। गुरुकुल से कुछ दूरी पर गम्भीरी नाम की नदी बहती है। महाराज प्रतिदिन उस नदी के पास ध्यान-भजन के लिए जाते थे। एक दिन प्रातःकाल ऐसी घटना घटी जिसने महाराज को यह विचार करने के लिए बाध्य कर दिया कि जिसने हमको जीवन दिया है, उसकी इच्छा है तो हम सदा सुरक्षित ही रहते हैं। घटना इस रूप में घटी कि प्रातःकाल के कुछ-कुछ उजाले में महाराज को नदी में किनारे पर एक बड़ा-सा लक्कड़ पड़ा दिखाई दिया। महाराज जैसे ही उधर बढ़ने लगे तो नदी के किनारे से पैर फिसल गया और तत्काल अपने आप ही किनारे पर लटकती हुई कोई जड़ उनके हाथ में आ गईं अब महाराज उस लक्कड़ की तरफ थोड़ा ध्यान से देखने लगे तो उन्होंने देखा कि यह तो लक्कड़ नहीं बल्कि 'मगर' है। महाराज कहने लगे- यदि मेरा पैर नहीं फिसलता तो मैं तो उस पर बैठकर ध्यान-भजन करने के लिए ही नदी में घुस रहा था।

महाराज अपने हृदय में किसी के उत्तम से उत्तम चित्र को ही खींच कर रखने की सलाह देते

हैं। हमें किसी का उत्तम कोटि का चित्र मिल जाए, किन्तु बाद में उससे अवर कोटि का चित्र कोई हमको दिखाने लगे या स्वयं दिख जाए तो अपने उस पहले वाले उत्कृष्ट चित्र को ही पास रखना चाहिए। हाँ! यदि उस पूर्व चित्र से उत्कृष्ट चित्र मिल जाता है तो अपने उस पूर्व वाले चित्र को अवश्य ही सदा-सदा के लिए हटा देना चाहिए। कभी उत्कृष्ट कभी अनुत्कृष्ट से राग-द्वेष की शृंखला सतत चालू रहती है; मन में खिन्नता आती है।

श्री महाराज ने लेखक को बताया कि रिवाड़ी शहर में रहते हुए एक बार शास्त्रार्थ-महारथी पं० रामचन्द्र जी देहलवी को एक सप्ताह के लिए प्रवचन करने हेतु बुलाया। चलने लगे तो रेलवे स्टेशन पर बातें करते रहे, श्री देहलवी जी महाराज से कहने लगे- देखो! मैंने तुम्हारी प्रकृति को पढ़ लिया है, तुम इस समाज के प्रपञ्च में सेट नहीं हो पाओगे। अतः भले वक्त अपने लिए एक घोंसला तैयार कर लेना, जहाँ कोई बाह्य हस्तक्षेप न हो। इसी मूल प्रेरणा से प्रेरित होकर महाराज ने आगे चलकर अपने पिताश्री से आश्रम के लिए भूमि हेतु निवेदन किया और झोंपड़ी डालकर बैठ गये। धीरे-धीरे सब बनता गया। एक बात का विशेष ध्यान रखा कि किसी को भी निमन्त्रण देकर बुलाया नहीं और कोई अपने आप आ गया तो उसको भगवान् का भेजा हुआ समझकर स्वागत करते रहे। आश्रम में बैठने पर पचासों वर्ष किसी के पास पत्र भी नहीं लिखा।

डॉ० भूदेव जी, जो अन्तिम समय तक महाराज के साथ ही रहे, लेखक ने उनसे महाराज के अन्तिम समय का संस्मरण सुनना चाहा। भूदेव जी ने कहा- दो दिन पहले ही श्री स्वामी जी ने अपना स्थान सुनिश्चित करके बता दिया था। जब हमने पूछा कि समाधि देनी है या दाह-संस्कार करना है तो बताया— दाह-संस्कार ही करना है। लेखक ने पूछा उनके चेहरे की क्या स्थिति थी, इसके उत्तर में एक बहुत ही अद्भुत बात कही— जैसे वे प्रसन्न रहते थे उसी स्थिति में रहे। आगे भूदेव जी कहते हैं— उन्होंने हमको पहले ही कह दिया था— **'भाई! यदि मृत्यु के समय थोड़ा भी चेहरा मुर्झा जाए, कुछ अलग दिखाई देने लगे तो समझ लेना— यह बहुत बड़ा ढोंगी था, केवल बात-ही-बात करता था।'**

गुरुदेव श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने श्री महाराज को निर्देश दिया था कि मैं आपको ये गेरुवे वस्त्र देता हूँ। इन्हें अपने पास रखे रहना। श्वेत वस्त्रों में ही अपनी साधना करते रहना। जब पैर उखड़ जाएँ अर्थात् जैसे नदी के तीव्र प्रवाह में पैर जमीन पर टिकते ही नहीं, वैसे ही वैराग्य का तीव्र वेग अपने भीतर उमड़ता हुआ देखो तो किसी भी संन्यासी की उपस्थिति में यज्ञ करना और ये गेरुवे वस्त्र धारण कर लेना। श्री महाराज ने गुरुदेव के निर्देशों का यथायथ पालन किया, श्री स्वामी सन्तोषानन्दजी को बुलाकर यज्ञ किया और गेरुवे वस्त्र पहन लिए।

'गरीबी में उदारता क्या है' इसका एक अद्भुत उदाहरण श्री महाराज को अपनी राजस्थान मेवाड़ यात्रा के समय देखने को मिला। चित्तौड़गढ़ के समीप पहाड़ों के बीच महाराज ने एक ऐसा बाँध देखा, जो बहुत ही मजबूत था और उसके समीप ही एक छोटी सी मँढी बनी हुई थी। महाराज उत्सुकतावश किसी से पूछने लगे- यह मँढी इतनी छोटी क्यों बनायी गयी है? थोड़ी बड़ी क्यों नहीं बनायी? महाराज

को बताया गया कि यहाँ इस जंगल में एक ८५ वर्ष की बूढ़ी गूजरी गायें चरा रही थी। सम्पूर्ण जीवन भर ही वह गायें चराती रही थी। अकस्मात् वह एक दिन एक टीले पर खड़ी थी कि उसके सामने ही टीले (राजस्थानी भाषा में ढीया) का एक बड़ा भाग टूटकर गिर पड़ा। वहाँ उसे एक टोकणी दिखायी दी, जो कि स्वर्णमुद्राओं से भरी हुई थी। थोड़ा सा भी उसके मन में लोभ नहीं आया, तत्काल ही उसने ग्राम व नगरवासियों को सूचित किया। आस-पास सब जगह यह समाचार फैल गया, अब तो इस आश्चर्यमय समाचार को सुनकर बहुत लोग इकट्ठे हो गये। पूछने लगे बूढ़ी माँ! बताइये आपकी क्या इच्छा है? ये पैसे किस काम में खर्च किये जायें? बुढ़िया ने कहा- इस पहाड़ से उस पहाड़ तक जो यह खाली जगह है, यहाँ एक बाँध बनवा दिया जाये। यहाँ जंगल में पानी का अभाव है, बाँध बाँधने पर सभी के पशुओं के लिए पानी की समस्या का समाधान हो जायेगा। बाँध का प्रस्ताव तो सबने तत्काल ही सहर्ष स्वीकार कर लिया, पर वृद्धा से कहने लगे- हम आपकी स्मृति में भी कुछ बनाना चाहते हैं- बताइये क्या बनाया जाये। वृद्धा ने कहा- अच्छा एक बार मैं घर होकर आती हूँ। बुढ़िया ने अपने सम्पूर्ण जीवन काल में अब तक २४ रुपये इकट्ठे किये थे, वे सौंपते हुए कहने लगी- इन पैसों में जो कुछ बने बना दीजिये- इससे अधिक खर्च न कीजिये। यह है 'गरीबी में उदारता' टोकणी भी दे दी और जो उसके पास था वह भी दे दिया।

महाराज इसी प्रकार का एक उदाहरण और भी देते हैं- नूरगढ़ आश्रम में ईंटें बनाने के लिए भट्ठा लगाना था। एक गरीब माता से उपले लिये, उनकी राशि का हिसाब लगाकर ८०/- रुपये भिजवा दिये। माता ने यह कहकर इस राशि को वापस कर दिया कि आश्रम में कुछ अंशदान हमारा भी तो लगना चाहिए।

प्रसङ्गतः एक बार लेखक को श्री महाराज ने बड़े भाव-विभोर होकर बताया- 'मैं यह चाहता हूँ- आनन्द की जो सतत वर्षा मुझ पर हो रही है, वह सब पर हो।' ऐसे हैं सबको सोम बाँटने वाले श्री स्वामी सोमानन्द जी महाराज!

*****

☞ आकाशवाणी हुई कि इन पापियों को डुबोने के लिए क्या नौका को डुबो दें (पलट दें)? तो सन्त ने कहा कि नहीं देव! यदि पलटना ही है तो इनकी बुद्धि पलट दो।

☞ 'मैं शरीर हूँ' की भ्रान्त धारणा का त्याग ही शरीर त्याग है।

☞ प्रकृति शेरनी माँ का दूध कोई शिशु शावक बनकर ही पी सकता है।

☞ थोड़े में मन की ऐसी दशा होती है जैसे थोड़े पानी में मछली की दशा।
अतः भाव-लोक गहन गम्भीर होना चाहिए। यद् वै भूमा तदमृतम्। यदल्पं तन्मर्त्यम्।

☞ सारे शास्त्रों का प्रयोजन केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने मूल स्रोत की ओर वापस लौटे। स्वयं को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जायेगा।

२. शील का सौरभ व सोम-उपनिषद्

(समस्त दिव्य गुणों का मूल शील तथा पूज्य गुरुदेव स्वामी सोमानन्द जी महाराज के उपदेशों का साररूप अमृत सन्देश)

शीलमास्थाय वर्त्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः। स्थानाद्यानीव कार्याणि प्रतिष्ठाय वसुन्धराम्।।
सर्वं शीलवता जितम्। (विदुर नीति), यश्च शीलवतां गन्धः वाति देवेषु उत्तरः। (धम्मपद)
वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि।। (यजुः० ६.१४)
मनस्तऽआप्यायतां वाक् तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायतां श्रोत्रं तऽआप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। (यजुः० ६.१५)
मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन्।। (यजुः० ६.३१)

फूलों में जो स्थान सुगन्ध का और फलों या भोजन में जो स्थान मिठास का है, जीवन में वही स्थान शील का है। शील के बिना जीवन फीका, नीरस, सौरभ-रहित है, अतः व्यर्थ है। शीलवन्त यदि विद्वान् न हो तो कोई बात नहीं, लेकिन विद्वान् यदि शीलवन्त न हो तो निन्दा का पात्र बन जाता है।

महाभारत 'शान्ति पर्व' (१२४ वें अध्याय) में वर्णित एक उत्तम कथा का श्री महाराज बहुत हृदयग्राही शब्दों में वर्णन किया करते हैं। कथा में शील का महत्त्व प्रख्यापित हुआ है। युधिष्ठिर भीष्म पितामह से पूछते हैं कि संसार के सब मनुष्य शील की प्रशंसा करते हैं, वही आपसे सुनना चाहता हूँ। पितामह कहते हैं- जब तुमने इन्द्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ किया तो तुम्हारे बढ़े हुए ऐश्वर्य को देखकर दुर्योधन अन्दर-ही-अन्दर संतप्त हुआ और धृतराष्ट्र से अपनी सारी मनोव्यथा कह सुनाई कि मैं भी वैसा ही ऐश्वर्यशाली बनना चाहता हूँ। उस समय धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को एक अद्भुत बात कही जो स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक है- पुत्र! यदि तुम युधिष्ठिर जैसी सम्पत्ति चाहते हो तो शीलवान् बनो **(शीलवान् भव पुत्रक)**। शीलवान् तीनों लोकों को जीत लेता है। उसके लिए इस धरती पर कुछ भी असाध्य नहीं है। धृतराष्ट्र ने 'शील कैसे प्राप्त किया जाता है', इस बारे में दुर्योधन को एक इतिहास सुनाया जो कि मूलतः नारद जी के द्वारा शील के प्रसङ्ग में कहा गया था।

दैत्यराज प्रह्लाद ने शील का आश्रय लेकर महामना इन्द्र का राज्य हर लिया। अब इन्द्र बृहस्पति के पास पहुँचकर उनसे अपने कल्याण का उपाय पूछते हैं। बृहस्पति ने, जो कुछ वे जानते थे, सब कह दिया, फिर भी इन्द्र ने उनसे पुनः पूछा कि क्या कुछ और भी इससे विशेष वस्तु है **(को विशेषो भवेदिति)**? बृहस्पति ने कहा- हे तात! इससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण वस्तु का ज्ञान महात्मा शुक्राचार्य जी को है। अब इन्द्र महामति शुक्राचार्य के पास जाते हैं और अपने कल्याण के लिए उपदेश ग्रहण करते

हैं। शुक्राचार्य जी के द्वारा सम्पूर्ण उपदेश दिये जा चुकने पर इन्द्र पूछते हैं कि क्या इससे भी विशेष श्रेय है **(श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः)**? शुक्राचार्य जी इन्द्र से कहते हैं कि हाँ! महात्मा प्रह्लाद को इससे भी विशेष श्रेय का ज्ञान है। उनके इस कथन से प्रसन्न होकर अब इन्द्र ब्राह्मणवेश में प्रह्लाद के पास पहुँच जाते हैं। ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र के व्यवहार से प्रसन्न होकर प्रह्लाद भी उन्हें उपदेश देने के लिए तैयार हो जाते हैं। अन्त में ब्राह्मण की गुरु-भक्ति से तृप्त होकर प्रह्लाद उनसे कहते हैं- हे ब्राह्मण! मैं तुम्हारे द्वारा की गई गुरु-सेवा से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो! तुम कोई वर माँगो। पहले तो ब्राह्मण यही कहता है कि आपने मेरी सब अभिलाषाएँ पूर्ण कर दीं, माँगने के लिए कुछ बचा ही नहीं। पर प्रह्लाद ब्राह्मण की इस विनयपूर्ण वाणी को सुनकर पुनः आग्रह करते हैं- नहीं! 'कोई वर अवश्य माँगिए।'

ब्राह्मण कहने लगा- राजन्! यदि आप प्रसन्न हैं और मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे आपका शील प्राप्त करने की इच्छा है, यही मेरा वर है।

प्रह्लाद ब्राह्मण के इस वचन को सुनकर विचार करने लगे- यह कोई साधारण तेज वाला पुरुष नहीं है जो कि राज्य, वैभव आदि किसी भी भौतिक ऐश्वर्य को न माँगकर मेरे शील की माँग कर रहा है। इस प्रकार प्रह्लाद प्रसन्न तो हुए, पर ब्राह्मण को जैसे ही **'तथाऽस्तु'** कहकर उनका माँगा वर दे दिया तो उनको दुःख ने घेर लिया। वर प्राप्त कर ब्राह्मण तो चला गया। इधर प्रह्लाद ने क्या देखा कि उनके शरीर से कोई परम कान्तिमान् छायामय तेज मूर्तिमान् होकर निकल रहा है। प्रह्लाद ने उस विशालकाय पुरुष से पूछा- 'आप कौन हैं?' उसने उत्तर दिया- **'मैं शील हूँ।'** तुमने मुझे त्याग दिया है, इसलिए मैं जा रहा हूँ। राजन्! अब मैं उस अनिन्दित श्रेष्ठ ब्राह्मण के शरीर में निवास करूँगा, जो प्रतिदिन तुम्हारा शिष्य बनकर यहाँ बड़ी सावधानी के साथ रहता था। यह कहकर शील अदृश्य हो गया तथा इन्द्र के शरीर में समा गया। उस तेज के चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से दूसरा वैसा ही तेज प्रकट हुआ। प्रह्लाद ने पूछा- आप कौन हैं? उसने उत्तर दिया- प्रह्लाद! मुझे **'धर्म'** समझो। जहाँ वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है, मैं वहीं जाऊँगा। दैत्यराज! जहाँ शील होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ।

तदनन्तर महात्मा प्रह्लाद के शरीर से एक तीसरा पुरुष प्रकट हुआ जो अपने तेज से प्रज्वलित हो रहा था। पूछा- आप कौन हैं? उस महातेजस्वी का उत्तर था- मुझे **'सत्य'** समझो। मैं अब धर्म के पीछे-पीछे जाऊँगा। सत्य के चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से एक और महापुरुष प्रकट हुआ। पूछने पर कहा- मुझे **'सदाचार'** समझो। जहाँ सत्य होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ। उसके भी चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से महान् शब्द करता हुआ पुनः एक पुरुष प्रकट हुआ। उसने पूछने पर बताया- मुझे **'बल'** समझो। जहाँ सदाचार होता है, वहीं मेरा भी स्थान है। ऐसा कहकर बल सदाचार के पीछे चला गया। तत्पश्चात् प्रह्लाद के शरीर से एक प्रभामयी देवी प्रकट हुईं दैत्यराज ने उससे पूछा- 'आप कौन हैं?' वह बोली- मैं **'लक्ष्मी'** हूँ। मैं स्वयं ही आकर, तुम्हारे शरीर में निवास करती थी, परन्तु अब

तुमने मुझको त्याग दिया, इसलिए चली जा रही हूँ; क्योंकि मैं बल की अनुगामिनी हूँ। सम्पूर्ण जगत् की परमेश्वरी उस सत्यव्रता देवी ने आगे कहा- **महाप्राज्ञ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी) हम सब सदा शील के ही आधार पर रहते हैं।** शील ही हम सबकी जड़ है; इसमें संशय नहीं है।

इस कथा को सुनकर दुर्योधन ने पुनः अपने पिता से पूछा- हे कौरवनन्दन! मैं शील का तत्त्व जानना चाहता हूँ। शील जिस तरह से प्राप्त हो, वह उपाय भी मुझे बताइए। धृतराष्ट्र ने कहा- पुत्र! शील का स्वरूप और उसे पाने का उपाय, ये दोनों बातें महात्मा प्रह्लाद ने पहले ही बताई हैं। सो मैं तुम्हें बता रहा हूँ। उसमें ही उसका स्वरूप भी अन्तर्निहित समझा जा सकता है। यहाँ महर्षि वेदव्यास की मनःसमाधि से निकले शब्दों में शील के स्वरूप पर जो प्रकाश डाला गया, वह ध्यान देने योग्य है-

• मन, वाणी या क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, सब पर दया करना और यथाशक्ति दान देना **'शील'** कहलाता है।

• अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरों के लिए हितकर न हो अथवा जिसे करने में संकोच अनुभव होता हो, उसे किसी तरह भी नहीं करना चाहिए।

• जो भी कर्म जिस प्रकार करने से भरी सभा में मनुष्य की प्रशंसा हो, उसे उसी प्रकार करना चाहिए।

• यद्यपि कभी-कभी शीलहीन मनुष्य भी श्री को प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकाल तक उसका उपभोग नहीं कर पाते और जड़-मूल सहित नष्ट हो जाते हैं।

अन्त में धृतराष्ट्र अपने पुत्र से वही बात दोहराते हैं- यदि तुम युधिष्ठिर से भी अधिक श्री-सम्पन्न होना चाहते हो तो **'शीलवान् भव पुत्रक'।** शील के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने भी नीतिशतक में इसी प्रकार के ओजस्वी उद्गार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं- ऐश्वर्य की परीक्षा सज्जनता से, बहादुरी की परख शरीर से नहीं बल्कि वाक्संयम से, ज्ञान की सफलता विषयेच्छा-निवृत्ति से, विद्या की परीक्षा विनय से, धन की सफलता सत्पात्र को दान देने से, तप का साफल्य अक्रोध से, ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति की परीक्षा क्षमा से तथा धर्म की सफलता निष्कपटता से है। अर्थात् सुजनता, वाक्संयम, उपशम, विनय, सत्पात्र में दान, अक्रोध, क्षमा, निर्व्याजता इत्यादि जीवन के जो पृथक्-पृथक् सन्दर्भों में आवश्यक भूषण-स्वरूप गुण हैं, वे जिस एक को पकड़ लेने से सब पकड़ लिये जाते हैं, वह परम आभूषण 'शील' है। अथवा यों कहें कि भूषण-स्वरूप इन सभी महान् सद्गुणों का कुल योग 'शील' है।

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्।। (नीति० ८३)

श्री महाराज के अनुसार समस्त उत्तम गुणों के सञ्चय का नाम ही शील है, अर्थात् मन की समाधि के लिए जो पूर्व तैय्यारी है उसका नाम ही शील है। **'शीलनात् उपधारणात् समाधानाद्वा शीलम्' (शील**

उपधारणे, शील समाधौ)। जैसे खेत में पड़े हुए दानों को शिला चुगने वाले एक-एक करके इकट्ठा करते जाते हैं, ठीक वैसा ही है यह 'शील'।

और भी देखिए! शील वस्त्र को ओढ़ने का चमत्कार, कुम्भकर्ण रावण से कहता है- आप तो मनचाहा रूप धारण करने की विद्या में पारङ्गत हैं। क्यों न आप राम का ही रूप धारण कर सीता के समक्ष उपस्थित होवें? सीता आप को साक्षात् राम ही समझकर स्वीकार कर लेगी। कुम्भकर्ण के इस प्रस्ताव का रावण ने जो उत्तर दिया, उससे सहज ही शील का महत्त्व प्रकाशित होता है। रावण कहने लगा- तुम ऐसा सोचते हो कि मैंने यह उपाय नहीं अपनाया। नहीं, ऐसा नहीं है। पर कठिनता तो यह है कि ज्यों ही मैं राम का रूप धारण करता हूँ, संसार की सब स्त्रियाँ मुझे माता-बहनें दिखाई देने लगती हैं। मैं अपने अन्दर दुष्ट मनोभाव को लेकर राम का रूप धारण कर सीता के समक्ष उपस्थित हो ही नहीं सकता। शील की महत्ता को बताने वाला क्या कोई इससे तेजस्वी दृष्टान्त मिल सकता है?

शिवाजी के सैनिक किसी मुस्लिम **स्त्री** को पकड़ कर जब शिवाजी के समक्ष प्रस्तुत करते हैं तो शिवाजी उसे देखते ही एक बहुत शालीन बात कहते हैं– 'अहा! मेरा जन्म आप जैसी सुन्दरी देवी के गर्भ से होता तो मैं ऐसा कुरूप न होता।' आगे शिवा कहते हैं– माँ! मेरे सैनिकों ने आपके साथ कुछ अशिष्ट व्यवहार तो नहीं किया? कोई अभद्र बात बोली हो तो मुझे बताओ, मैं अभी इनकी जीभ काट देता हूँ। इस प्रकार अपने सैनिकों को फटकारते हुए ससम्मान उसे वापस छोड़ आने के लिए आदेश देते हैं। वह स्त्री जब मुस्लिम खेमे में पहुँचती है तो बोलने लगती है– 'शिवाजी की तो जय हो चुकी है।' सो कैसे, यह पूछने पर कहने लगती है– कहीं उनकी कन्या आपके यहाँ आ जाती तो कल्पना की जा सकती है उसके साथ कैसा दुर्व्यवहार किया जाता? सब-के-सब आश्चर्यचकित होकर शिवाजी की शालीनता के गीत गाने लगते हैं। जरा ध्यान से देखें तो पता चलता है कि मनुष्य का जीवन समुद्र के समान है, जिसमें पता नहीं क्या-क्या भरा हुआ है? अमृत भी है, जहर भी है। पर जीवन या जगत् को ठहराते हुए कोई चीज है तो वह है– शील। क्रान्तदर्शी कवियों ने शीलोदक, शीलवस्त्र, शीलतट, शीलसौरभ, अमृत, आबेहयात इत्यादि शब्दों का प्रयोग विशेष अर्थ को अभिलक्ष्य कर प्रतीकात्मक भाषा में शील के महत्त्व को समझाने के लिए ही किया है।

श्री महाराज एक बात बहुत प्रसन्न होकर सुनाया करते हैं कि संसार में शील की ऐसी सुगन्ध है जो उलटी दिशा में भी बहती है। शील से अतिरिक्त जितनी सुगन्ध हैं, वे वायु के साथ-साथ चलती हैं, किन्तु शील की सुगन्ध पर वायु के बहाव का कुछ असर नहीं होता। शीलवान् व्यक्ति के मित्र भी प्रशंसक होते हैं और शत्रु भी। युद्ध में मेघनाद मारा जाता है तो रावण उसकी पत्नी सुलोचना से कहते हैं कि तुम राम के पास जाकर अपने पति का सिर माँग लाओ; 'मुझे उन पर विश्वास है'। यह है शील की सुगन्ध का चमत्कार! ऊपर शिवाजी के दृष्टान्त में भी मुस्लिम पक्षवाले लोगों की तरफ से शिवाजी के चरित्र की प्रशंसा करना शील-सौरभ का विपरीत दिशा में बहना ही तो प्रदर्शित हुआ है।

श्री महाराज के सम्पर्क में जो लोग हैं और उनकी विचार-सरणी, दृष्टि आदि से परिचित

होने का जिन्हें थोड़ा-सा भी मौका मिला है, वे जानते हैं कि श्री महाराज प्रतीकों को बहुत अधिक मूल्य देते हैं। प्रतीक में ऐसी शक्ति निहित रहती है कि वह व्यक्ति में प्रत्यायनीय की (जिस अर्थ का वह प्रतीक है उसकी) सतत स्मृति बनाए रखता है। कहना अनावश्यक है कि जिस व्यक्ति की सदा शुभ स्मृति बनी रहती है, समझना चाहिए कि उसको अब लक्ष्य प्राप्त हो ही गया है। योगभाष्यकार व्यास ने **'स्मृत्युपस्थान'** (योग १.२०) शब्द का प्रयोग कर इसी सत्य को प्रकट किया है। योगसूत्रकार पतञ्जलि भी कहते हैं- मनःसमाधि के लिए 'स्मृति' पूर्ववर्ती साधन है। स्मृति के उपस्थित होने पर मन का समाहित होना अवश्यंभावी है। जीवन की यही तो एक समस्या है कि प्रतिकूल दृश्य या परिस्थिति के आने पर शुभ स्मृति विलुप्त हो जाती है। स्मृति के लुप्त होने पर मन चञ्चल हो उठता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति कार्य-अकार्य का विवेक खो बैठता है। मन की दो ही तो स्थितियाँ रहती हैं- या तो शुभ स्मृति या अशुभ। शुभ स्मृति नहीं रहती, इसका अर्थ यह होता है कि उसका स्थान अशुभ स्मृति ने ले लिया। सो अशुभ स्मृति से मन को बचाए रखने के लिए साधक लोग अपने-अपने ढंग से विभिन्न साधनाएँ करते हैं। उसी शृंखला में प्रतीक-उपासना (उपनिषदों में जिसकी बहुत चर्चा है) प्रत्यायनीय की स्मृति सदा बनाए रखने के लिए विकसित हुई है।

प्रतीकों का चुनाव साधक लोग अपनी-अपनी रुचि व प्रकृति के अनुसार करते हैं। कुछ साधक 'शब्दों' को प्रतीक बनाते हैं तो दूसरे किन्हीं विशिष्ट दृश्यों या आकृतियों को। 'ओ३म्' शब्द सच्चिदानन्द का प्रतीक ही तो है। किसी को इस क्लेशमय संसार में रहते हुए भी उससे सदा निर्लिप्त रहने की इच्छा है, उसने कमल के फूल को अपना प्रतीक चुना। एक अन्य साधक को करुणा अति प्रिय है; उसने करुणा को मूर्त्तरूप दे रही बुद्ध की मूर्त्ति को अपना प्रतीक चुन लिया। एक और साधक है जो सदा अनन्त शान्ति में डूबा रहना चाहता है; उसने महर्षि कपिल की शान्त मूर्त्ति को अपना प्रतीक बनाया। वैदिक संस्कृति में जल को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का प्रतीक माना गया है। स्वयं श्री महाराज लक्ष्य के प्रति सततगामिता के रूप में जल को प्रतीक रूप में देखते हैं। प्राचीन वैदिक ऋषियों ने बच्चों का उपनयन संस्कार करते हुए आचार्यों को सन्देश दिया कि वे उपनीयमान बालकों के मन में सूर्य व अग्नि को प्रतीक रूप में बिठा दें जिससे वे बालक सूर्य या अग्नि की विशेषताओं से अपने जीवन को सुभूषित करते हुए गुरुकुल से स्नातक बनकर निकलें। किसी का प्रतीक नदी है तो किसी का वृक्ष, किसी का सतत प्रवहमाण वायु, किसी का व्यापक आकाश, किसी का भूमि, किसी का अथाह सागर, किसी का चातक पक्षी, किसी का हंस, किसी का कछुआ, किसी का पतङ्ग, किसी का कल्पवृक्ष, किसी का चिन्तामणि; इस सूची को कितना भी लम्बा किया जा सकता है।

श्री महाराज सम्पूर्ण आश्रम को ही एक प्रतीक के रूप में देखते हैं। प्रतीक के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह होती है कि चाहे प्रतीक का कोई भी रूप क्यों न हो, वह सदा प्रकट होता है, सरलता से दिखाई दे रहा होता है, आँखों के सामने होता है, प्रतीक कभी भी कोई गुप्त वस्तु नहीं होती। हाँ! जिसका वह प्रतीक है, वह अर्थ अवश्य ही रहस्यमय होता है, छिपा हुआ होता है, पर्दे

के पीछे होता है। सो महाराज ने आश्रम को मनुष्य-जीवन के प्रतीक के रूप में कल्पित कर एक विशिष्ट आदर्श का मूर्त्त रूप दिया है। महाराज का देखना है कि जैसा यह आश्रम है, वैसा ही हमारा जीवन हो। आश्रम में जिधर देखें उधर ही सौन्दर्य बिखर रहा है। सब कुछ हँस रहा है, गा रहा है, नृत्य कर रहा है। केवल मयूर ही नहीं जिनकी आश्रम में बहुतायत है, बल्कि पुष्प, लताएँ, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, सब कुछ। शरीर व मन से रुग्ण व्यक्ति रोते हुए यहाँ आते हैं और जब लौटते हैं तो मुस्करा रहे होते हैं। विविध रोग-शोक से मुरझाये हुए चेहरे आश्रम की परिधि में आते ही खिल उठते हैं। पुष्पों की सुगन्ध ने जैसे आश्रम के भौतिक परिसर को सुवासित किया हुआ है, वैसे ही महाराज के तप-त्याग-संयम-करुणा-प्रेम-स्निग्ध दृष्टि व मातृहृदय से उठती हुई सौरभ की तरङ्गों ने आश्रम के अणु-अणु को सुगन्धमय बना दिया है। बस, जीवन भी ठीक आश्रम की तरह हँसता-खेलता, गीत गाता, मुस्कुराता, सुगन्ध बिखेरता हुआ होना चाहिए। जो-जो दिव्य भाव व रूप आश्रम में दिखाई दें, उनको अपना आदर्श मानते हुए जीवन को भी तदनुरूप गढ़ लेना चाहिए।

प्रिय पाठकगण! आश्रम में और क्या है, क्या नहीं है, जरा ध्यान से देखते चलिए। यहाँ अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह-शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान-दया-दान जो कि 'शील' की ही व्याख्याएं हैं, शील का ही विस्तार हैं, उनके पालन के लिए किसी पर भी किसी प्रकार के नियम-व्यवस्थादि का दबाव नहीं है, फिर भी सब कुछ नियमित व व्यवस्थित है। शासन न होने पर भी पहले दर्जे का अनुशासन है। और फिर शासन न होने से शासित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। न कोई किसी को भय देता है और न किसी से भयभीत होता है। यहाँ किसी प्रकार के भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है; बल्कि सहज योग है। या यों कहें कि अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग के स्थान में सदा समयोग प्रतिष्ठित है; **और सशक्त शब्दों में कहें तो यहाँ का सम्पूर्ण जीवन ही योग है।**

यहाँ निरन्तर श्रम है- इसीलिए तो यह 'आश्रम' है। जैसे किसी योगी के चित्त में पड़ी हुई वासनाएँ योग-साधना के द्वारा सदा-सदा के लिए दग्धबीज भाव को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही महाराज की उग्र तपश्चर्या से यहाँ आलस्य, जो मनुष्य का घोर शत्रु है, जलकर भस्म हो गया है। महाभारत के ऋषि सनत्सुजात के द्वारा की गयी महत्त्वपूर्ण उद्घोषणा कि 'मृत्यु है ही नहीं' **(नास्ति मृत्युः)** आश्रम को देखकर ऐसा लगता है मानो चरितार्थ हो उठी है। पक्षी उड़ रहे हैं, मयूर नाच रहे हैं, कोयल अपनी मीठी वाणी से आगन्तुकों का स्वागत कर रही है, सब कुछ क्रियाशील है। कोई झाड़ू लगा रहा है, कोई पौधों में पानी दे रहा है, कोई वृक्षों से फल तोड़कर बाँट रहा है। हर कोई कितना प्रसन्न है- देखते ही बनता है। एक शाश्वत अमृत का झरना-सा बहता दिखाई देता है।

श्रम का महत्त्व सिखाने के लिए यहाँ कला अपना मूक भाषण दे रही है। श्री महाराज के निर्देश से शिल्पिगण सदा नव निर्माण में लगे रहते हैं। उधर अपने-अपने स्थान पर समाहित होकर विभिन्न शिलालेख किसी मौन योगी की तरह मनुष्यों के अन्तरात्मा में छिपे अन्धकार को दूर करते

रहते हैं। आश्रम के हृदय के रूप में यहाँ एक सरोवर है, जिसमें दिव्य भावों का अमृत जल भरा रहता है। **इस सरोवर में प्रवेश के लिए चार घाट बने हुए हैं, जिनके नाम हैं- शील, सन्तोष, श्रद्धा व समता। इस अद्‌भुत सरोवर में हंस मोती चुग रहे हैं और अपने अनुपम सौन्दर्य से इसकी शोभा को बढ़ा रहे हैं।** इसके चारों ओर मौलश्री, अशोक इत्यादि के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष श्रान्त पथिकों को शीतल छाया प्रदान कर उपदेश दे रहे हैं- तुम भी हमारी तरह सहिष्णु बनो, जिससे तुम्हारे निकट पहुँचे हुए दुःखित प्राणियों को राहत मिल सके। एक ओर लताओं पर खिलते हुए फूल अपनी तरह खिलते रहने का सन्देश देते हैं तो दूसरी ओर सैकड़ों प्रकार के सुन्दर पौधे अपने-अपने स्थान पर अडिग रहते हुए श्रद्धालु आगन्तुकों को सिखाते रहते हैं कि तुम भी अपने आप में हमारी तरह ही पूर्ण हो। बस, अपनी उस अन्तर्निहित पूर्णता को पहचानो, अपने आप को असहाय, दीन-हीन, खोखला समझकर किसी की नकल करने के लिए मत ललचाओ। अपनी उस छिपी हुई पूर्णता को विकसित करो। सदा धीर, स्थिर, शान्त बने रहो। डाँवाडोल मत होओ। प्रकृति माँ ने प्रत्येक को उसके लिए वह सब कुछ दिया है, जो उसे चाहिए, केवल इस सत्य को पहचानो।

काम-क्रोधादि निषेध वर्ग के लिए यहाँ कोई स्थान है ही नहीं; पूर्णरूप से विधि का बोल-बाला है। अखण्ड रस है, न कि बीच-बीच में टूटता खण्डित स्वाद। विषय-सुख की गन्ध नहीं है; बल्कि अमृत सुख की दिव्य महक है। पूर्ण संयम है। वासनाओं और कामनाओं का शील व सन्तोष रूपी शीलोदक से निरन्तर प्रक्षालन होता रहता है। आश्रम में हर जड़-चेतन ने, वृक्ष-पादप-लता-पक्षी-देवियाँ-पुरुष-कलाकृतियाँ, सबने मानो शीलवस्त्र ओढ़ा हुआ है। आश्रमवासी ही नहीं बल्कि आगन्तुक भी **'विनीतवेषेण खलु प्रवेष्टव्यमाश्रमपदं नाम'** इस चली आ रही प्राचीन मर्यादा को हृदयगत करते हुए आश्रम में अपना चरण रखने से पहले अपने ग्राम्य या नागरिक परिधान को उतारकर आश्रमपदोचित शीलवस्त्र को धारण करके ही आश्रम में प्रवेश कर रहे हैं। यहाँ कामनाओं की लू से किसी को तपना नहीं पड़ता, बल्कि शील सरोवर से उठती लहरों के मन्द-मन्द शीतल स्पर्श से स्वर्गिक सुख का स्मरण हो आता है। आश्रम में स्थित इस अनुपम सरोवर के शीतल तट पर जैसे ही व्यक्ति खड़ा होता है, अपने समस्त दुःख-दैन्य को भूलकर मानो दिव्य अमृत पान करने लगता है।

जिस जीवन में ये सब प्रतीक मुखरित हो उठे हैं, उस जीवन में कितना ओज-तेज-सौन्दर्य-सरलता का समावेश हो सकता है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। हम देखते हैं, श्री महाराज का जीवन आश्रम-स्थित सभी प्रतीकों की जीती-जागती सरल व्याख्या है। एक-दूसरे के साथ ये इतने सुसंवादी हो गए हैं जैसे कि शब्द और उसके अर्थ का एक अविभाज्य घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, या जैसे निर्गुण और सगुण एक-दूसरे में गुँथे हुए होते हैं।

हाँ! तो हमने देखा, आश्रम में विविध प्रतीकों की भरमार है जो अनेक प्रकार से जीवन की व्याख्या कर रहे हैं। उसी दृष्टि से उनके स्रष्टा ने उनको कल्पित किया है। **श्री महाराज जीवन की व्याख्या कुल मिलाकर तीन रूपों में करते हैं-**

नैतिक	**सांस्कृतिक (=धार्मिक)**	**आध्यात्मिक**
शरीर+वाणी	हृदय (=मन)	आत्मा
धराधाम	अन्तरिक्षधाम	परमधाम
आदिनाथ	विश्वनाथ	अमरनाथ
सगुण साकार	सगुण निराकार	निर्गुण निराकार
मूर्त्त ब्रह्म	तरङ्गित ब्रह्म	प्रशान्त ब्रह्म
(विचार व प्राणलोक)	(भावलोक)	(ज्ञानलोक)
प्रकट सत्य	गहन सत्य	परम सत्य
सत्यम्	शिवम्	सुन्दरम्
भूः	भुवः	स्वः
सत्	चित्	आनन्द (=रस)
अग्नि	सरस्वती	इन्द्र

'नैतिक' का सम्बन्ध शरीर से या भौतिक जीवन से है जो प्रातः से सायं तक व्यवहार में आता है। जो व्यक्ति सेवा के द्वारा सहयोग-परायण होते हैं उन्हें इस स्तर से आगे बढ़ने में बहुत सौविध्य प्राप्त हो जाता है। वे लोग शीघ्र ही श्रद्धा रूपी गंगा के मूल स्रोत 'हृदय' की गंगोत्री के दर्शन करने में समर्थ हो पाते हैं। अहरहः नित्य आचरित इस गङ्गा स्नान के द्वारा सब पुरातन पाप-कल्मष धुल जाते हैं व नये उत्पन्न नहीं होते। इस सेवा के द्वारा **'सगुण साकार लोक'** जिसका क्षेत्र नैतिकता है उससे ऊपर उठकर व्यक्ति **'सगुण निराकार लोक'** में पहुँच जाता है, जो कि 'भाव लोक' है। इस भाव लोक की शुद्धि का आधार इससे पहला 'विचार लोक' व 'प्राण लोक' है। पहले धरती पर जब हम अच्छी प्रकार एक-दूसरे के साथ रहना सीख लेते हैं, एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते हुए नहीं, बल्कि एक-दूसरे का सम्मान व सहयोग करते हुए, तो हमारे हृदय के क्षुद्रभाव (=स्वार्थभाव) नष्ट होने लगते हैं। 'अपने को पहल देना' यही तो स्वार्थ-भाव का रूप है।**'काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेष'** और इस प्रकार के समस्त भाव ही उस स्वार्थ-भाव या अहङ्कार की सन्तान हैं। जब व्यक्ति अपने को पहल न देकर दूसरे को पहल देना प्रारम्भ कर देता है तो यहीं से, इस भाव से, उसके अन्दर सेवा का जन्म होता है। इस प्रकार सेवा अहंभाव या अहङ्कार को विगलित करने का श्री महाराज के अनुसार सबसे बड़ा साधन है।

हृदय यदि अहङ्कार से मुक्त है तो उसका सीमाकरण बन्धन **(मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ)** न होने से वह महान् हो जाता है। हृदय के लिए एक ही प्रार्थना है, मेरा हृदय महान् हो, विशाल हो **(ओम् महः पुनातु हृदये)**। महाराज कहा करते हैं **'मैं' और 'हूँ' के बीच में जो कुछ आ जाता है, वही अहङ्कार या माया है; जैसे 'मैं धनी हूँ' 'मैं बलवान् हूँ' 'मैं कुछ हूँ' इत्यादि। 'मैं हूँ' यह भूमा (Absolute) का स्वरूप है जो कि पूर्ण है, अनन्त (Measureless) है।** यहाँ केवल अपने अस्तित्व की अनुभूति मात्र है। यह पूर्ण निर्दोष स्थिति है। सांख्य शास्त्र में इसी स्थिति के लिए

'महत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'मैं हूँ' इस स्थिति में व्यक्ति अपने आपका दूसरों से कुछ विशेष अर्थात् भेद अनुभव नहीं करता। यह एक ऐसी पूर्णता है जो निर्विशेष है। अपूर्णता में ही व्यक्ति बाहर से अपने लिए कुछ खींचना चाहेगा; पर जो पूर्ण है, वह क्यों खींचेगा? **'मैं विद्वान् हूँ'** या **'मैं योगी हूँ'** इत्यादि कहते ही व्यक्ति 'विशेष' से युक्त हो जाता है। विशेष का अर्थ है– भेद। यही अहङ्कार का रूप है। इसीलिए उस 'विशेष' से युक्त होकर अब वह उसकी सीमा को अधिकाधिक बढ़ाना चाहता है। जो उस सीमा-वृद्धि में सहयोगी होते हैं उनको **'अपना'** तथा जो विरोधी या असहयोगी होते हैं- उन्हें **'पराया'** समझकर उनके साथ वैसा ही व्यवहार प्रारम्भ कर देता है।

अब अपनों के सुख में सुखी तथा दुःख में दुःखी होता है, पर परायों के सुख में ईर्ष्या तथा दुःख में निष्ठुर हर्ष पैदा होने लगता है, यही हृदय की अशुद्धि है। क्योंकि इस अशुद्धि का मूल अहङ्कार है, अतः उसकी जड़ों को काटने के लिए अपने को निर्विशेष समझते हुए दुःखियों पर करुणा और सुखी लोगों से प्रेम करना आरम्भ किया जाता है। समष्टि के साथ इसी रूप में जुड़कर कोई व्यक्ति हृदय की क्षुद्रता से ऊपर उठ सकता है। अहङ्कार से युक्त होने पर व्यक्ति चाहे जो करे, प्रकटतः उसका कार्य कितना भी विशाल रूप लिये हुए हो, उसके 'स्व' (false-self) को ही बढ़ाने वाला होगा, सेवा नहीं होगी। सेवा के लिए अहङ्कार-रहित होना प्रथम शर्त है। अहङ्कार आते ही हृदय क्षुद्र (अल्प) हो जाता है। 'भूमा' भाव से कटकर सीमित व विभक्त हो जाता है। अपने को समष्टि से या भूमा भाव से पृथक् हुआ देखने के कारण अपने लिए स्वतन्त्र कामनाएँ करने लगता है। इस प्रकार इस **'मैं'** से ही **'मेरा'** का जन्म हो जाता है। बस, फिर यहीं से **'अपने को पहल'** और **'दूसरों की उपेक्षा'** राग-द्वेष का सिलसिला चालू हो जाता है, जिसकी चरम परिणति समस्त संसार को अपने सुख के लिए समझने में होती है। सेवा के द्वारा **'दूसरों की उपेक्षा'** के स्थान में **'सहानुभूति'** का भाव विकसित होता है। **'साथ-साथ अनुभूति'** ही तो सहानुभूति है (सह+अनुभूति)।

दूसरों के सुख में सुख की तथा दुःख में दुःख की अनुभूति होने का भाव विकसित होने पर व्यक्ति दूसरों को अपने 'मैं' की सन्तुष्टि के लिए प्रयोग नहीं करता, बल्कि अपने आप को ही दूसरों के लिए समझने लगता है। दूसरों के दुःख में दुःख की अनुभूति से व्यक्ति में 'करुणा' का विकास होता है, जिससे दूसरों की दुःख-निवृत्ति के लिए सहयोग का भाव जागरित होता जाता है और दूसरों के सुख में सुख की अनुभूति से प्रेम-भाव के विकसित होने से दूसरे लोगों को सुखी देखकर ईर्ष्या-डाह-असूयादि के रूप में पैदा होने वाले दुर्भाव समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार सेवा हृदय-शुद्धि का अमोघ साधन बन जाती है।

शरीर व हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य ही तो **'शील'** का रूप है। शरीर सेवा में अपने को खपाते हुए हृदय को विशाल बनने में मदद देता रहे तथा हृदय ऐसा तरङ्गित रहे कि उससे शरीर में थकावट न आए। इस शील का अवश्यंभावी परिणाम मन की समाधि (मन की शान्ति) है जिसकी परिणति 'प्रज्ञा' में होती है। इसके उपलब्ध होने पर माया अपना नृत्य करना बन्द कर देती है, व्यक्ति को ऐसी सहज स्वरूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जहाँ राग-द्वेष (प्रियता-अप्रियता) काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहङ्कार सर्वथा

तिरोहित हो जाते हैं। यही जीवन की पूर्ण आनन्दमयी अवस्था है। इस स्थिति को बताने के लिए ही **'निर्गुण निराकार पुरुष में स्थिति'** इस विशिष्ट अर्थगर्भित शब्दावली का प्रयोग होता है- प्रकृति या माया से मुक्त कोरा आत्मभाव। यही है उस सहज ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था, जिसके आलोक में निषेध वर्ग सर्वथा विलीन हो जाता है। रूपक की भाषा में यों कह सकते हैं कि बोधिसत्त्व रूपी एक वृक्ष है। **यह बोधिसत्त्व श्रद्धा ही है जिसमें भक्ति रूपी फल लगे हुए हैं, प्रेम रूपी मिठास आ रहा है, शील रूपी सौरभ बिखर रहा है।**

आश्रम के इस भाग को **'संस्कृति विहार'** नाम से जाना जाता है। यहाँ संस्कृति-रूप महान् धर्म को प्रणाम करके **(नमो धर्माय महते) सद्धर्मपुण्डरीक** (सत्यधर्म का कमल) नामक स्तूप के रूप में निर्मित प्रतीक के द्वारा कुछ वाक्यों में धर्म का रहस्य प्रकट किया गया है। प्रिय पाठक गण! कृपया उन महार्घ-रत्न-स्वरूप-वाक्य-रूपी मोतियों की माला का एक बार ध्यान से अवलोकन करते चलिए-**'श्रद्धा धर्म का शरीर है। भक्ति धर्म का हृदय है। प्रेम धर्म की आत्मा है। शील धर्म की महक है। सेवा धर्म का प्राण है। संस्कृति धर्म का संस्थान (Structure) है।'**

इतना ही नहीं, धर्म की व्याख्या करने वाली इस सूची ने (ऐसा लगता है) **'सोम-उपनिषद्'** का ही रूप धारण कर लिया है। सो महाराज की अनुभव रूपी छेनी से संस्कृति के जो प्रतीक उभरकर ऊपर आ गए हैं, उन पर भी दृष्टिपात करते चलिए-

- संस्कृति विचारों की दासता से मुक्त करती है।
  प्रज्ञा पन्थों की दासता से मुक्त करती है।
  कला यन्त्रों की दासता से मुक्त करती है।
  सभ्यता रूढ़ियों की दासता से मुक्त करती है।
- माता-पिता श्रद्धा और विश्वास के मूर्त्तरूप हैं।
  दूसरों के सुखों से सुखी होना प्रेम है।
  दूसरों के दुःखों से दुःखी होना करुणा है।
- श्रद्धा-विश्वास के बिना सब अनाथ।
  अन्तःप्रेरणा के बिना सब दिग्भ्रान्त।
  पवित्र हृदय के बिना सब निर्वासित।
  सन्तोष रूपी धन के बिना सब कंगाल।
  परानुराग के बिना सब रोग-ग्रस्त।
  आत्म-जागरण के बिना सब विकलाङ्ग।
  तपोमूलक सुख के बिना सब कुछ कुपथ्य।
  कर्त्तव्य के बिना अधिकार-प्राप्ति में सब तस्कर।
  सत्य के बिना सब दिवान्ध।
  धरती पर दुःखी प्राणियों की सेवा के बिना सब अभिशप्त।

- जिसने कण को जान लिया वह धनवान् है।
  जिसने क्षण को पकड़ लिया वह विद्वान् है।
  जिसने मन को समझ लिया वह भाग्यवान् है।
  जिसने इन तीनों को उपयोग में ले लिया वह पुण्यवान् है।
- धरती हमारी माँ है, इसका विधान हमारी धर्मपुस्तक है, इसके निवासी हमारे धर्मभाई हैं। सह-अस्तित्व हमारा भाई-चारा है। सेवा स्वधर्माचरण का पावन प्रवाह है। अतः यहाँ वैष्णव पूजन है।
  वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर परायी जाने रे।
- अभ्यास के बिना सिद्धान्त एक विडम्बना है।
  समर्पण के बिना भजन-पूजन एक विडम्बना है।
  हेतु-रहित अनुराग के बिना मेल-मिलाप एक विडम्बना है।
  सरलता के बिना धार्मिकता एक विडम्बना है।
  शालीनता के बिना नैतिकता एक विडम्बना है।
- मूर्खों की जय-जय कार से सज्जनों की फटकार अच्छी।
  अन्धेरे की अमीरी से चाँदने की कंगाली अच्छी।
  मुर्दा जीवन से जीवित मृत्यु अच्छी।
  धुँआधार लम्बे जीवन से थोड़ी-सी उज्ज्वल जीवनी अच्छी।
  मनमौजी तीर्थाटनों से निकटतम किसी दुःखी प्राणी की सेवा अच्छी।
- **ऋषीणां चरितं सत्यम्। सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।**
  सत्येनोत्तभिता भूमिः। सत्य सलिल मन मीन।
  उपासना के लिए सत्य ईश्वर है। आचरण के लिए सत्य धर्म है।
  देखने के लिए सत्य आँख है। जीने के लिए सत्य सम्बल है।
  चलने के लिए सत्य मार्ग है। समस्या के लिए सत्य न्याय है।
  सुनने के लिए सत्य कान है। बोलने के लिए सत्य वाणी है।
  आरोहण के लिए सत्य सीढ़ी है। भूख के लिए सत्य भोजन है।
  प्यास के लिए सत्य पानी है। लक्ष्य और अभिप्राय की पूर्ति के लिए सत्य जीवन है।
- श्रद्धा महाबोधिवृक्ष की छाया में भय, मरण, व्याधि, त्रास नहीं हैं। प्राण की सीमा, मन की निराशा आदि नहीं हैं।
- पावन त्रिवेणी नाम है। स्वर्गीय धन ध्रुव धाम है।
  अध्यात्ममय विश्राम है। मल तापत्रय को धो चुके हैं। हम सहज हैं, बस ओम् के हम हो चुके हैं।
- जीवन्मुक्त का भाषण ही शास्त्र है, आचरण ही धर्म है और जीवन का पावन प्रवाह ही धरती पर ज्ञानगङ्गा की त्रिवेणी है।
- **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**

- श्रद्धा-भक्ति-प्रेम यह धरती पर मन की त्रिवेणी है।
- श्रद्धाप्रसूत 'सेवा' बोधिवृक्ष है, 'भक्ति' फल है और 'प्रेम' इसका रस है; यह धरती पर शीलगङ्गा की त्रिवेणी है।
- धरती पर 'साधना, सेवा और समर्पण' भक्तियोग की त्रिवेणी है।
- सत्य करुणा और प्रेम, सरलता सौम्यता और शालीनता, यह धरती पर आत्मा की त्रिवेणी है।
- मनसा-वाचा-कर्मणा आँखें साफ हों, हृदय पवित्र हो और बुद्धि में कृतज्ञता की भावना हो, यह धरती पर कर्मयोग की त्रिवेणी है।
- शरीर से कर्म की नरलीला, हृदय से भक्ति भाव की सहजलीला, और आत्मा से ज्ञानमार्ग की रासलीला, यह धरती पर जीवन-खेल की त्रिवेणी है।
- सत्य, प्रेम और करुणा भगवान् का धरती पर अवतरण है।
- शील, सन्तोष व संयम धरती पर देवताओं का आशीर्वाद है।
- सरलता, सेवा व शालीनता धरती पर ऋषि-मुनियों का वरदान है।
- मन-वचन-कर्म की एकता धरती पर पावन त्रिवेणी संगम है।
- धन्य हैं वे विकलाङ्ग जो विकारों की मृग-मरीचिका को देखने में अन्ध; अहित-श्रवण में बधिर और पर-अपवाद में मूक हैं। वे उज्ज्वल कीर्तिमय अङ्गधारी होंगे।
- धन्य हैं वे जिज्ञासु जिनको महामहिम गुरु आचार्यों से जीवन-धन के केन्द्रीय कोष की कुञ्जी मिल गयी है, उन पर दिव्य रहस्य खुलेंगे।
- धन्य है जीवन-सरिता का वह पावन प्रवाह जो प्राणिमात्र के दाह, ताप व तृषा को हरते हुए उस अनन्त प्रशान्त अर्णव की ओर अविरल रूप से गतिमान् है, उनके लिए ध्येय की पहुँच सुनिश्चित है।
- धन्य हैं वे शिशु-बालक जो मानकर चलते हैं, युवा-बालक जो मिलकर चलते हैं, वृद्ध-बालक जो सहज समझ से चलते हैं, वे शताधिक कीर्तिमय जीवन पायेंगे।
- धन्य हैं वे पापी, जिन्होंने मान लिया है कि हम गुनहगार हैं।
- धन्य हैं वे, जिनकी आँखें साफ हैं, बुद्धि में कृतज्ञता का भाव है तथा हृदय पवित्र है।
- धन्य हैं वे, जिनके पास श्रद्धा-भक्ति-प्रेम रूपी टकसाल है जिससे देरी-दूरी-मजबूरी समाप्त हो जातीं हैं।
- धन्य हैं वे अपङ्ग जिन्होंने अपनी विकलाङ्गता के कारण का पता लगा लिया है, वे सर्वाङ्गीण सुन्दरता के प्रतीक बनेंगे।
- धन्य हैं वे आने वाले उषा-काल के कामी, जो विपदाओं के घने अन्धेरे में अडिग खड़े हैं, उन्हें आने वाली उषा का आशीर्वाद मिलेगा।
- धन्य हैं वे निराहार, जो दूसरों को खिलाते-खिलाते अपनी भूख भूल गए हैं, उनको जीवन्त पोषण मिलेगा।
- धन्य हैं वे उदार निर्धन, जो अपने ही दुःखी भाइयों को पहल देकर उनसे भी अधिक निर्धन हो गए हैं, उन्हें अपार धन मिलेगा।

- धन्य है वह नेत्रहीनता, जिसने आन्तरिक प्रकाश की प्रज्ञामणि से विश्व में नेत्र वालों को सही दृष्टि दी है।
- धन्य हैं वे जो सारग्राही हैं, उनका हृदय मधु से भरा अक्षय पात्र है, वे विश्व को दयामय करेंगे।
- धन्य हैं वे जिनका अस्तित्व अज्ञात है, वे हीरे-मोती के समान बनेंगे।
- धन्य हैं वे श्रद्धापूर्वक श्रमनिष्ठ तापस, उनका निरन्तर बहता पसीना बेहयाई के लिखन्त को धोएगा।
- धन्य हैं वे याचक-चातक, जिनकी जीभ को स्वाति नक्षत्र की बूँद मिल गई है।
- धन्य हैं वे, जिनके मस्तक पर अनन्त के वामनरूप धूल का कण लग गया है, उन्हें शाश्वत शरण मिलेगी।
- धन्य हैं वे सर्वभूतहितरत श्रद्धालु जीवनयज्ञ, जो लेते हैं सहस्रगुणा देने के लिए, खाते हैं जीने के लिए, और जीते हैं परहित व भगवान् की आज्ञा पालन के लिए, वे धरती के सच्चे पुत्र कहलायेंगे।
- धन्य हैं वे तापस महाभाग जो यज्ञ से सृष्टि-संस्था, दान से समाज-संस्था और तप से शरीर-संस्था को पवित्र करते हुए उनमें अपना शील सौरभ भर रहे हैं, उनकी ऋण-मुक्ति हो चुकी है।
- धन्य हैं वे सहजपन्थी जीवन साधक, जिन्होंने निकटतम दुःखी जीव-सृष्टि की सेवा-साधना द्वारा अपना हृदय पवित्र किया है, ऐसा पवित्र हृदय प्रभु-मिलन का खुला महाद्वार है।
- धन्य हैं वे मनसा, वाचा, कर्मणा त्रिवेणी संगम में नहाए स्नातक, जो सृष्टि-संस्था के आधि, व्याधि और उपाधि रूपी कालुष्य को धोते हैं, उनको सब तीर्थों के स्नान का फल मिल चुका है।
- धन्य हैं वे जो सर्वभूतहितेरताः हैं; उन्हें श्रद्धा, भक्ति और प्रेमरूपी योगक्षेम मिलेगा।
- धन्य हैं वे धीर गम्भीर जो गरीबी में उदार, एकान्त में संयमी और संकट में निर्भय हैं।
- धन्य हैं वे तपोधन जिनकी जीवन सम्पदा का अर्घ्य दरिद्र-नारायण की सेवा में अर्पित रहता है।
- धन्य हैं वे पावनव्रती जिनका एक ही धर्म एक व्रत नेमा **'हरना भव की पीर'।**
- धन्य हैं वे सेवा स्वाति नक्षत्र की बूँद के प्यासे चातक! जो औरों की सेवा करके अपने को धन्य मानते हैं।
- धन्य हैं वे हेतुरहित अनुराग से भरे देहधारी सरवर तरवर सन्तजन महाभाग! निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसे।
- धन्य हैं वे श्रद्धा, भक्ति और प्रेमरूपी पावन त्रिवेणी संगम में नहाए स्नातक! वे विश्व को पवित्र करेंगे। **मद्भक्तियुतो भुवनं पुनाति।**
- धन्य हैं वे साधु – जो हिल मिल रहें बेलाग! धन्य हैं वे सेवक – जो आठों प्रहर रहें जाग!
  धन्य हैं वे प्रेमी – जो हेतु रहित अनुराग! धन्य हैं वे दाता – जो जीवन धन महाभाग!
  धन्य हैं वे वीर – परहित खेलें फाग! धन्य हैं वे जती सती – चित्तभूम बेदाग!
  धन्य हैं वे विरले परमहंस - जीवन पट बेदाग।
- धन्य हैं वे वर्धमान धैर्य वाले उत्तरापथ के यात्री जो असत् से सत्, तम से ज्योति और मृत्यु से अमरता की ओर प्रयाणशील हैं।
- धन्य हैं आत्मजित्, सर्वजित् वे अकिञ्चन! जिनके जीवन का अन्तिम जयघोष है– **त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।**

- धन्य हैं वे पतित जिन्होंने मान लिया है कि हम किसी पतित से भी जो पतित हैं उनसे भी ऊँचे नहीं हैं, वे पतित पावन बनेंगे।
- धन्य हैं वे सर्वभूतहृदय अपरिग्रही दिगम्बर परमहंस, उन पर जीवन का लक्ष्य और अभिप्राय प्रकट होगा।
- धन्य है वह हितार्थ एकमात्र आर्तनाद! जिसने अन्तर्यामी को कारुण्य-वृष्टि के लिए बाध्य कर दिया।
- धन्य हैं श्रद्धालु तापसों के वे धूलि-धूसर अङ्ग! जीवन जिनका बना पसीना, नित्य बहे जिमि गंग!
- धन्य हैं श्रमिक जन जीवित पीर फकीर। जीवन जिनका बना पसीना, जैसे सुर सरिता का नीर।
- धन्य है बाँस की बाँसुरी जिसने अपने तन को छिदवाकर भी आत्मा के तरंगित निःश्वास को सुरीले-रसीले रस से अभिषिक्त कर अवनी-अम्बर को रस से भर दिया।
- धन्य हैं तथाकथित वे दुःखी! जिन्होंने जीवन भर अर्जित की हुई सुख सामग्री को दुःखियों पर वार दिया है।
- धन्य हैं वे तापस जो कर्म करते हैं यज्ञ-दान-तप के लिए। जिनका यज्ञ-शेष मात्र ही है खाने के लिए, खाते हैं जीने मात्र के लिए और जीते हैं सर्वभूतहित में रत रहने के लिए।
- धन्य हैं श्रद्धा-सम्बल से भरे वे अमीर, जो जीवनभर प्राणिमात्र का आतिथ्य करते-करते गरीब हो गए हैं।
- धन्य हैं वे धरती पुत्र! जो बाल सुलभ भोलेपन से तम, सहज सरल गति से रज और सहज समझ से सत्त्व की रक्षा करते हैं।
- धन्य हैं वे जो इस आलोक सागर के विकसित अनन्त आकारों के सुरभित तट से उस अदृश्य मधु के रस और सुरभित सौम्य स्पर्श से पुलकित हुए हैं।
- धन्य हैं वे जो अपने हृदय के पावन घाट से आनन्द और ज्ञानमयी अमर सुर सरिता का नित्य नूतन रसपान करते हैं।
- धन्य हैं वे जो सम्पूर्ण अस्तित्व वस्तु-व्यक्ति-जड़-चेतन-जीव-जगत् रूपी समष्टि को भगवान् की देन मानते हुए उसके अनुग्रह को मूर्त्त रूप में अनुभव करते हुए उसके प्रति सहअस्तित्त्व के दिव्य भाव से प्रेम, कृतज्ञता, समझदारी व जिम्मेदारीपूर्वक जीते हैं।
- धन्य है सर्वहारे अकिञ्चन की बलवती पुकार! जिसको परिस्थितियों ने जीवन-धन की सम्पदाओं से सर्वथा वंचित कर दिया है, उसको भगवत्-कृपारूपी कल्पवृक्ष का सन्तोषरूपी अमर फल मिलेगा।
- धन्य हैं वे जीवन यात्रा के सहज पन्थी जिनका सारथ्य (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्यावस्था में) स्वयं भगवान् कर रहे हैं। वे जीवन के लक्ष्य और अभिप्राय तक पहुँचेंगे।
- आत्यन्तिक सत्ता का प्रत्यक्ष ही साक्षात्कार है- अन्तःकरण का दिव्य अनुभव।
- संसार के सब मनुष्यों के सभी प्रकार के दुःखों का कारण अज्ञान ही है।
- जिस ज्ञान से अपने अज्ञान का ज्ञान हो वह ज्ञान भगवत्कृपा है।
- मुक्ति चित्त की एक विशेष अवस्था है, स्थान नहीं।
- आयु का सम्बन्ध शरीर से है और जीवन का आत्मा से। जीवन एक अविनाशी प्रवहमाण सत्ता है।

- जीवन की महती चालिका शक्ति 'श्रद्धा' है, न कि 'विचार'।
- क्रियाओं की मूल्यता का मापदण्ड है भावना।
- महापुरुषों ने हमें सुख में संयम और दुःख में धीरज से रहना सिखाया है।
- आओ! अपने निकटतम दुःखी जीव-सृष्टि की सेवा-साधना द्वारा अपने हृदय को पवित्र करें। यह पवित्र हृदय प्रभु मिलन का खुला महाद्वार है।
- बच्चों के लिए माँ अथाह है; शिष्यों के लिए गुरु अथाह है; भक्तों के लिए भगवान् अथाह है; प्रत्येक चीज को भगवान् की देन समझो।
- अपने से आगे चलने वाले पुण्यात्माओं के पीछे-पीछे चलते रहो।
- कौन जन्म मैंने भूल न कीन्ही? कौन जन्म तूने क्षमा न कीजी?
- स्थूल भौतिक दृष्टि से सब कुछ स्थूल भूत संसार दिखाई देगा।
- सूक्ष्म मनोमय दृष्टि से सब सूक्ष्म मनोमय लोक दिखाई देगा।
- सम्पूर्ण सृष्टि स्वयं में अनुशासित है। महापुरूष ज्ञान, कर्म व उपासना के द्वारा मनुष्य को इस सृष्टि के विधाता भगवान् के दिव्य अनुशासन में ढालने के लिए दिव्य पुरुषार्थ कर रहे हैं।
- जैसे एक वैज्ञानिक पूर्ण शान्तचित्त होकर सृष्टि की सूक्ष्मताओं में प्रवेश करके नया अनुसंधान करता है और संसार में भौतिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाता है वैसे ही एक योगी पूर्ण शान्तचित्त होकर चित्त व समष्टि की अदृश्य सत्ता का अनुभव करके अतीन्द्रिय आध्यामिक शाश्वत सुख-शान्ति का अनुभव करता है व अन्य जीवों को इस दिव्य सुख की ओर ले जाता है।
- गहनगंग = शालीनता! सहजगंग = कुलीनता! परमगंग = तल्लीनता! **अणुगंग = महद्!**
- निर्वाण= वाण या गति जिसमें न हो, जन्म मरण का चक्कर न हो, वासना की गन्ध न हो। निर्वाण= उष्ण वासनाओं का बुझना, शान्त होना।
- **बुद्धेः फलमनाग्रहः।** बुद्धि का फल है, जिद्दी न हो।
- ज्ञान= जानना मात्र! विज्ञान= अनुभव!
- जब मन इन्द्रियोन्मुख होता है तब मन कहलाता है और जब आत्मोन्मुख होता है तब बुद्धि।
- श्रद्धा= सत्त्व की भाव धारा का अजस्र तरङ्गित प्रवाह!
- आध्यात्मिकता! **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'।** भौतिक पक्ष से सब के लिए सब प्यारे नहीं हैं; बल्कि आत्मपक्ष की ओर से, आत्म-तादात्म्य की दृष्टि से, अपने की दृष्टि से सब प्यारे हैं।
- आध्यात्मिकता! किसी देवी से वार्त्तालाप करते समय ऐसा अनुभव न हो कि मैं पुरुष हूँ। देवी भी किसी पुरुष से वार्त्तालाप करते समय यह अनुभव न करे कि वह स्त्री है।

३. मन की तीर्थयात्रा

{मनरूपी तीर्थयात्री की आदिनाथ (शरीर) विश्वनाथ (हृदय) अमरनाथ (आत्मा) की यात्रा}
पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत।। (ऋग्० ९.८३.१)
अश्मा भवतु नस्तनूः।। (यजु० २९.४९)
यन्मे चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।। (यजु० ३६.२)
परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः।। (अथर्व० ६.४५.१)
यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात्पात्वंहसः।। (अथर्व० ६.४५.२)
मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।। (यजु० ३९.४)
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।। (यजु० ४०.७)

इधर तीर्थयात्री के वास्तविक स्वरूप का निरूपण करता हुआ एक दिव्य स्तूप खड़ा है। महाराज मानव-मन को एक तीर्थयात्री के रूप में देखते हैं, पर उसके साथ उन्होंने तरङ्गित विशेषण जोड़कर विशेष अर्थ भर दिया है। तीर्थ-यात्री सदा तरङ्गित अवस्था में रहते हैं। लेखक ने भी हिमालय पर गंगोत्री से गोमुख के लिए पैदल जाते हुए ऐसे कितने ही वृद्धों, जवानों, बच्चों और देवियों को देखा है जिनके मुख- मण्डल पर अद्‌भुत चमक होती है। उनकी प्रसन्नता, उनका उत्साह देखते ही बनता है। उनका दिल-दिमाग भूतकाल की कष्टप्रद यादों तथा भविष्य की रोमाञ्चकारी कल्पनाओं व चिन्ताओं से सर्वथा भारमुक्त होता है। वे सब-के-सब एक विशेष भावमय अवस्था में होते हैं कि हम अपने इष्ट के दर्शन के लिए जा रहे हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेषादि जो जीवन को नीरस और बोझिल बनाये हुए होते हैं, एक सच्चा तीर्थयात्री उन सब विकृतिकारी अवस्थाओं से सर्वथा मुक्त रहता है। ध्यान से देखा जाए तो उस समय जीवन का सच्चा स्वरूप मुखरित हो उठता है। प्रकृति देवी भी कदम-से-कदम मिलाती हुई उसका साथ देती है। कहीं बहते हुए पानी के शीतल झरने जीवन को सतत गतिशील रखने का सन्देश देते हैं तो दूसरी ओर आकाश को छूते हुए देवदारु के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष मनुष्य को ऊँचा उठने का मीठा गीत सुनाते हैं। हिम-मण्डित पर्वतों की चोटियाँ अपने अनुपम सौन्दर्य को प्रकट करती हुई मानव-मन को भी उसी साँचे में ढालने का अथक प्रयास करती हैं।

निकट ही बहती हुई तीव्रगामी नदी मानो श्रोताओं को अपना प्रवचन सुना रही होती है कि मुझे मेरे लक्ष्य तक पहुँचने से संसार की कोई शक्ति नहीं रोक सकती और न ही मैं स्वयं, जब तक मुझे

मेरा अभीष्ट प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक एक क्षण के लिए भी विश्राम करने की नहीं सोच सकती हूँ। वह मानो दिव्य प्रज्ञा से युक्त होकर सेवा का यह अनुपम सन्देश देती है कि ओ मेरे सधर्मा भाई-बहनों! किञ्चित् मुझे ध्यान से देखो– सभी के प्रति मेरी कैसी समान दृष्टि है! जो भी मुझसे मेरी सेवायें ग्रहण करना चाहे, उसके लिए मैं किस प्रकार रात-दिन आठों याम जागती रहती हूँ। न मुझे किसी से वैर है, न आसक्ति। बस! ऊपर से मेरे लिए निर्दिष्ट अपने काम को किये चली जाती हूँ। इसी प्रकार विविध पुष्पों की सुगन्ध जीवन को सुवासित बनाए रखने के लिए ग्रहणशील आत्माओं के समक्ष मैत्री का हाथ बढ़ा रही होती है। इस समस्त स्वर्गिक वायुमण्डल में से गुजरता हुआ वह तीर्थयात्री जीवन को बोझिल बनाने वाली सब चीजों से अपने को मुक्त अनुभव करता है। महाराज का यही कहना है कि तुम्हारा मन इस संसार में रहते हुए उस तीर्थयात्री का अनुगमन कर सके तो इससे बढ़कर तुम्हारे लिए और कोई सौभाग्य की बात न होगी। अतः जो एक तीर्थयात्री का पावन तरङ्गित रूप होता है, वह अवस्था तुम्हारे मन की होनी चाहिए।

तीर्थयात्री का अपना कोई-न-कोई निर्दिष्ट बिन्दु होता है तथा एक लक्ष्य होता है, जहाँ उसे यात्रा हेतु प्रस्थान करना है। इस विषय में महाराज का कहना है-'यद्यपि तुमने अपनी तीर्थयात्रा का अन्तिम लक्ष्य अमरनाथ (आत्मा) को बनाया है, पर उससे पहले अवश्यंभावी रूप से तुम्हें आदिनाथ (शरीर+वाणी) व विश्वनाथ (हृदय/मन) के दर्शन करने होंगे, तभी तुम्हें तीर्थ दर्शन के सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो सकेगी'। इस तीर्थयात्रा में अर्थात् इन तीनों धामों के दर्शन में क्रम का अपना विशेष महत्त्व है, उसे समझना होगा। उसको न समझकर केवल सीधे अमरनाथ पहुँचना चाहोगे, तो यह तुम्हारे लक्ष्य में बाधक होगा क्योंकि अमरनाथ का कहना है कि पहले विश्वनाथ का दर्शन करो फिर मेरे पास आओ और इसी प्रकार विश्वनाथ का कहना है कि आदिनाथ के दर्शन के बाद ही मैं तुम्हें दर्शन दूँगा। इस प्रकार आदिनाथ-विश्वनाथ-अमरनाथ, इसी क्रम में दर्शन करने के बिना और कोई उपाय नहीं है।

महाराज कहते हैं- ये तीन धाम और कुछ नहीं, हमारे शरीर-हृदय-आत्मा, इन तीनों के क्रमशः तीन प्रतीक हैं। मनरूपी तीर्थयात्री का प्रथम धाम आदिनाथ यह "शरीर" है, इस पावन तरङ्गित मन को, जो हमारे अन्दर तीर्थयात्री के रूप में अवस्थित है, सबसे पहले उसको शरीर की प्रकृति, स्वरूपादि के विषय में समझना होगा। इस शरीर रूपी आदिनाथ के दर्शन का अर्थ है- शरीर के स्वरूप को देखना-समझना। इसका आधार क्या है? किस प्रकार यह स्वस्थ, बलवान् व दीर्घायु हो सकता है? वे कौन-से उपाय हैं जिनका आचरण न करने से यह रोगी, निर्बल व अल्पायु हो जाता है? इसका प्रयोजन क्या है अर्थात् इसका उद्देश्य क्या है? इत्यादि प्रश्नों की गम्भीर मीमांसा करना ही इस प्रथम तीर्थधाम के दर्शन करना है। आइए! थोड़ा इसी पर दृष्टिपात करते हैं-

आयुर्वेद के आचार्यों ने शरीर के सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूचना दी है। यदि उसे समझ लिया जाए तो मानो आदिनाथ के दर्शन हो गए। वे कहते हैं- शरीर को यदि एक भवन के रूप में कल्पित किया जाए तो जिन खम्भों पर यह भवन खड़ा हुआ है, वे इसके

आधार-स्तम्भ कहलायेंगे। वे चार हैं- **आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य-श्रम।** 'आहार' विषय पर हम इस पुस्तक में स्वतन्त्र रूप से विचार कर रहे हैं, फिर भी चार मुख्य बातों पर पाठकों का पूर्व-ध्यान दिलाया जा रहा है- समय (Time), मात्रा (Quantity), गुणवत्ता (Quality) तथा शरीर व ऋतु की अनुकूलता। अच्छा हो यदि दो समय ही आहार ग्रहण किया जाए। दूसरी बात है– एक समय किया हुआ भोजन दूसरे समय तक पूर्ण रूप से पच जाए, जीर्ण हो जाए (जिसकी पहचान भूख के द्वारा की जा सकती है), वह आहार की उचित मात्रा कही जाती है। एक अन्य तरीके से भी मात्रा को पहचाना जा सकता है। भोजन करने के पश्चात् यदि शरीर पहले से अधिक स्फूर्तिमान् हो उठे, आलस्य का आक्रमण न हो, तो समझना चाहिए कि आहार की मात्रा सर्वथा उचित है। महाभारत में कहा है– कायिक उपद्रवों (मूल रोग के उत्पन्न होने पर जो उत्पन्न होते हैं उनको) तथा मूलरोगों को जीर्ण होने के बाद कृत, हितकारी तथा परिमित आहार के द्वारा दूर करना चाहिए **(उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्)** (शान्ति० २७४.८)। गुणवत्ता का अभिप्राय है– शुद्ध सात्त्विक आहार।

शरीर-भवन का **दूसरा खम्भा है- निद्रा।** उचित निद्रा (न अधिक, न कम, सामान्य रूप से ५-६ घण्टे) से शरीर स्वस्थ रहता है, विपरीत होने पर गिरता चला जाता है। निद्रा के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रातःकाल देर तक सोना तथा दिन में सोना दोनों ही स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं।

योगी लोग आहार-संयम तथा निद्रा-संयम के प्रति विशेष जागरूक होते हैं। निद्रा-वृत्ति का निरोध करने के लिए सर्वप्रथम शरीर को स्थिर रखने का अभ्यास करते हैं। इसके द्वारा शरीर की क्षय-जनित-प्रतिक्रिया रूप निद्रा की आवश्यकता कम होती है। शरीर स्थिर रहने पर भी मस्तिष्क की शान्ति के लिए 'एकाग्रता' अथवा 'ध्रुवा स्मृति' आवश्यक है। निद्रारोध के लिए यही प्रधान साधन है। इसको सत्त्वसंसेवन (**सत्त्वसंसेवनान्निद्राम्।** महाभा० शान्ति० २४०.६) कहते हैं। निरन्तर जिज्ञासा या ज्ञानेच्छा अथवा 'अपने को भूलूँगा नहीं' ऐसा संप्रजन्यरूप (पूर्ण होशरूप) ज्ञानाभ्यास ही इसका साधन है (**ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम्।** शान्ति पर्व २१६.३), दिन-रात इस साधना में स्थिर होने पर निद्रा वश में आती है और ऐसी एकाग्रभूमि होने पर संप्रज्ञात योग होता है।

शरीर रूपी भवन का **तीसरा आधार स्तम्भ है- ब्रह्मचर्य** भोजन से प्राप्त ऊर्जा का शरीर में ही अङ्ग बनकर रहना ब्रह्मचर्य है। सामान्यतः चक्षुरादि पाँचों इन्द्रियों में से किसी एक के भी असंयम से और विशेष रूप से चक्षु व स्पर्शेन्द्रिय की स्वल्पातिस्वल्प आसक्ति से भी वह उत्पन्न ऊर्जा शरीर में स्थिर नहीं रह पाती। योगसूत्रकार पतञ्जलि व योगभाष्यकार व्यास मुनि दोनों ने ही ब्रह्मचर्य सिद्धि को शौच सिद्धि के साथ जोड़ दिया है। आन्तर व बाह्य भेद से शौच दो प्रकार का है। राग-द्वेषादि मलों का आक्षालन ही आन्तर शौच है तथा मृज्जलादि के द्वारा शरीर को स्वच्छ रखना बाह्य शौच है। नित्य शौच (शुद्धि) करते रहने पर भी जब शरीर की स्वाभाविक अशुचिता समाप्त नहीं होती तो बुद्धिमान् व्यक्ति विचारता है- यह पाञ्चभौतिक शरीर सर्वथा अपवित्र है, इसको किसलिए स्पर्श करना? शरीर के प्रति निरन्तर अपवित्र भावना से किसी के भी मन का शरीर के प्रति अनासक्त होना स्वाभाविक है। शरीर

के प्रति किसी भी प्रकार के सौन्दर्य का आकर्षण ही तो स्पर्श के लिए खींच कर ले जाता है। लेकिन एक बार बुद्धि से समझने पर उक्त भाव मन में स्थायी रूप से नहीं बैठ पाता। अतः भावना के सातत्य द्वारा इस विचार को स्थिर करने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

स्मरण, कीर्तन (वाणी से पीठ पीछे चर्चा करना), वासनामय क्रीड़ा (केलि), प्रेक्षण, गुह्य भाषण (एकान्त में वार्त्तालाप), संकल्प, निश्चय, इनमें से चाहे कोई बात क्यों न हो, वह मनुष्य के मन को चञ्चल कर देती है। मन में उत्पन्न इस अब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचार को शरीर तत्काल विद्युत् की गति से ग्रहण करता है और बस यही है ब्रह्मचर्य नाश। इस प्रकार मन की उस शान्त अवस्था का नाम ब्रह्मचर्य हुआ जब अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-संवत्सर के सततगामी काल चक्र में एक क्षण के लिए भी मन उपर्युक्त किसी भी प्रकार के विषय-सुख से प्रभावित नहीं होता। यह निषेधात्मक भाषा (NegativeApproach) में ब्रह्मचर्य की व्याख्या हुई विधेयात्मक भाषा (PositiveApproach) में समझना हो तो कहना होगा कि सदा सर्वदा सम्पूर्ण समष्टि व भगवान् के प्रति अनन्त कृतज्ञता व धन्यवाद के भाव से निरन्तर हृदय का भरे रहना ही ब्रह्मचर्य है। पिण्ड व ब्रह्माण्ड रूप सम्पूर्ण अस्तित्त्व के प्रति अहर्निश प्रतिपल ब्रह्म भाव रखना यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य का भक्तिमय रूप है। ब्रह्मचर्य का एक ज्ञानमय रूप भी है– सर्वथा सर्वदा सर्वत्र प्रतिपल अपनी आत्मा में, कोरे आत्म भाव में, निर्गुण स्वरूप में अवस्थित रहना। यह स्थिति प्राकृत-भोगों व पदार्थों से हटे बिना उपलब्ध नहीं हो सकती। अतः शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों का त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' शब्द से कह दिया जाता है।

शारीरिक बल की दृष्टि से तो ब्रह्मचर्य आवश्यक है ही– आध्यात्मिक दृष्टि से भी इसका अपरिमित महत्त्व है। श्रुति कहती है- अब्रह्मचारी को आत्म-साक्षात्कार नहीं होता- **'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'** (मु० ३.१.५)

ब्रह्मचर्य-साधक को मिताहार तथा मितनिद्रा के द्वारा शरीर को कुछ क्लिष्ट रखते हुए अब्रह्मचर्य के संकल्प का सर्वथा त्याग करना होता है। महाभारत में कहा है-

काम जानामि ते मूलं संकल्पादधि जायसे।
संकल्पं नैव करिष्यामि कुतस्त्वं प्रभविष्यसि।। (म.भा. शान्ति पर्व १७७.२५)
कामं संकल्पवर्जनात्।।

व्यास जी ने मङ्कि ऋषि के मुख से कहलवाया है कि हे काम! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ, तुम संकल्प से पैदा होते हो। जब मैं संकल्प ही नहीं करूँगा तो तुम कहाँ से पैदा होओगे? अर्थात् संकल्प के त्याग से ही काम को विजित किया जाता है।

शरीर को जड़वत् करके (बैठकर अथवा लेटकर) दिन में अनेक बार जब भी अवसर मिले, तभी शान्त भाव से आत्म-सम्प्रेषण (Auto Suggestion) के द्वारा कामरूप संकल्प के त्याग करने में सहयोग लिया जा सकता है। आत्म-सम्प्रेषण के लिए कुछ वाक्यों का मन-ही-मन श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना होता है- 'मुझे किसी प्रकार का वैषयिक सुख किञ्चित् भी नहीं चाहिए। मेरे मन ने अब इस सुख की व्यर्थता

को पूर्णरूप से समझ लिया है। मैं तो केवल भगवान् के दिव्य अमृत रस का पान करना चाहता हूँ। विषयों की क्षणिक गन्ध तत्काल दुर्गन्ध में परिणत हो जाती है, अतः मुझे अब वैसी सुगन्ध नहीं चाहिए। मैंने विचारपूर्वक एकतरफा निर्णय ले लिया है। केवल उस अनन्त शान्ति में ही मैं सदा-सदा के लिए डूबा रहना चाहता हूँ।' इत्यादि रूप में मन को बार-बार सुझाव देने से मन उस सत्य को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। यह क्रिया एक बार में दो-तीन मिनट के लिए की जाती है। दिन में अनेक बार उसी रूप में पुनरावृत्ति करनी होती है। पर इस क्रिया को करते समय उतनी देर के लिए शरीर व प्राण अत्यन्त सुस्थिर (प्रस्तरवत्) रहने चाहिएँ तथा पूर्ण अवधान के साथ मन-ही-मन उपर्युक्त वाक्यों को स्वयं के द्वारा स्वयं को सुनाना चाहिए।

बात चली थी मन-रूपी-तीर्थयात्री जैसे ही अपनी यात्रा पर निकलता है, इसे सबसे पहले आदिनाथ (प्रथम-धाम 'शरीर') का 'दर्शन' करना होता है। शरीर दर्शन का अर्थ है- 'आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य व श्रम' जिन चार खम्भों पर यह शरीर-भवन टिका हुआ है, विशेष रूप से उनका दर्शन। आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य के विषय में आवश्यक चर्चा हुई **चतुर्थ खम्भा** शेष रहता है- **श्रम**। श्रम का उद्देश्य है- सेवा। हाथ, पैर या वाणी, किसी भी शरीर-घटक का आश्रय करके सेवा की जा सकती है, वही श्रम का रूप है। सो श्रम में ही शरीर की चरितार्थता व पूर्णता निहित है और स्थिति भी। श्रम के द्वारा शरीर स्वस्थ व सुदृढ़ बना रहता है तथा उसका होना इसी श्रम के द्वारा सफल होता है।

शरीर से यदि श्रम न किया जाए तो भौतिक व आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से यह व्यक्ति के लिए दुःखद हो जाता है। शरीर का यह स्वभाव कहना चाहिए कि श्रम के बिना यह स्वस्थ, नीरोग व दीर्घायु नहीं रह सकता। पाचन-संस्थान का ठीक से क्रिया करना पूर्ण रूप से श्रम पर निर्भर करता है। देखा भी जाता है, जो परिश्रमी होते हैं उनका स्वास्थ्य रूखा-सूखा खाकर भी अच्छा होता है, दूसरी ओर जिन्हें बहुत अच्छा भोजन उपलब्ध है, पर शरीर से श्रम नहीं करते, वे सदा रुग्ण बने रहते हैं। जो स्वयं रोगी है, वह दूसरों की क्या सेवा करेगा, उसे तो स्वयं ही दूसरों की सेवा की आवश्यकता होगी। रुग्ण को सुख भी कहाँ! श्रम का महत्त्व बताते हुए भारतकार ने बहुत ही सुन्दर कहा है- **'अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।'** जिनके पास हाथ हैं, उनके पास सब कुछ है, केवल उन्हें हिलाने की आवश्यकता है। इस समस्त जीवन और जगत् को अन्दर और बाहर दोनों तरफ से सौन्दर्य में बदल देने के लिए श्रम ही एकमात्र साधन है। आन्तरिक सौन्दर्य के लिए चित्त का भगीरथ-कर्म चाहिए तो बाह्य सौन्दर्य के लिए शरीर का। यह सब शरीर के कर्म का ही तो प्रकट रूप है जो भौतिक विकास, समृद्धि व ऐश्वर्य के नाम पर दिखाई दे रहा है।

मनुष्य आज श्रम के बल पर कहाँ से कहाँ पहुँच गया है, यह तथ्य हम सबके सामने है। जहाँ श्रम व पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ इसका स्थान आलस्य ने लिया हुआ है। आलस्य मनुष्य का कितना बड़ा शत्रु है, यह किसी आलसी व्यक्ति को देखकर ही ठीक से समझा जा सकता है। जहाँ किञ्चित् भी आलस्य नहीं है, वहाँ आन्तर बाह्य अपूर्णता ठहर ही नहीं सकती। जो कोई कलाकार, डॉक्टर,

इञ्जीनियर, वकील, लेखक, प्रवक्ता आदि हैं, जिनका कर्मक्षेत्र या कर्मसाधना शरीर न होकर वाणी व लेखनी है, उन्हें भी अपने लिए शरीर-कर्म ढूँढ लेना चाहिए। जो प्रकृति के साथ जुड़ सकते हैं अर्थात् जिनको वैसी सुविधा उपलब्ध है, वे भूमि खोदना, पौधे-लतादि लगाना, गायों की सेवा, झाड़ू लगाना इत्यादि शरीर के कर्म करें। पर नागरिक जीवन में जिनके द्वारा वैसा कर पाना अशक्य हो तो वे भी भ्रमण, दौड़, खेल-कूद, आसन इत्यादि को अपनी जीवनचर्या का अङ्ग अवश्य बनायें। अन्यथा शरीर की जड़ता और अशुद्धि निरन्तर बढ़ती चली जायेगी। सो इस प्रकार श्रम से शरीर की परिपूर्णता को साधित कर आदिनाथ के इस चतुर्थ पाद को समझना होता है। उत्पादक श्रम सर्वश्रेष्ठ है, अतः जब भी अवसर मिले उससे वंचित नहीं रहना चाहिए। श्री महाराज उत्पादक श्रम को सेवा का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हैं। अन्त में पुनः कहा जा रहा है, शरीर आदिनाथ है जो कि चतुष्पाद् है— आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य व श्रम। आदिनाथ के दर्शन का रहस्य इसी में छिपा हुआ है कि शरीर को शुद्ध-पवित्र रखना, जो कि इन चारों साधनों से ही सम्भव है।

आदिनाथ का दर्शन करने के पश्चात् जिस धाम के लिए प्रस्थान करना होता है, वह है विश्वनाथ (हृदय)। महाराज के दर्शन के अनुसार विश्वनाथ हृदय का प्रतीक है। हृदय के विषय में महाराज की दिव्य वाणी को ध्यान देकर सुनिये- **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।** (यजु०: ३२.८), जिस बिन्दु से फिर कोई सूक्ष्म बिन्दु न हो, सर्वसूक्ष्म, इसी बिन्दु की संज्ञा हृदय है। **एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म** (बृ० ५.३.१)। दार्शनिक भाषा में यही हृदय 'कारण' कहलाता है। प्रकृत-लक्षण वाले इसी हृदय को वैदिक अध्यात्म भाषा में अन्तर्यामी कहा गया है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में रहने वाला तत्त्व जो वस्तुस्वरूप का यथातथ नियन्त्रण करता रहता है— अन्तर्यामी है। इसका व्यापार ही नियति की चर्या है। इस तरह सब अपने नियति ब्रह्म की चर्या से आक्रान्त हैं। सबकी प्रतिष्ठा हृदय है, परन्तु हृदय की प्रतिष्ठा हृदय ही है।

यह हृदय-लोक अपना घर है, आत्मसंस्थान है, पूर्ण कुम्भ है, अक्षय पात्र है, यहाँ वर्तमान काल है, ब्राह्ममुहूर्त है, नित्य उषा है, सरल गति है, अपरिग्रह है, सेवा यहाँ होने वाली वस्तु है, करना चाहिए अथवा करना पड़ेगा, इस प्रकार के भाव यहाँ नहीं हैं, सेवा में अनुक्रम है (एक के बाद एक चलते रहना)। यहाँ देश-काल-जाति-समयाऽनवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं। यहाँ स्वधर्म है, धर्म की जड़ें मजबूती से जड़ी हुई हैं, पारदर्शिता है, भाषा मौन है, बाह्य साधन मायावत् हैं, चित्त स्फटिकवत् है, केन्द्र है, धुरी है, उक्थ है, उत्स है, नाभि है, गुहा है, परम तीर्थ है। यहाँ शासनमुक्ति है, दण्ड नहीं यम है, शासन नहीं अनुशासन है, अधिकार नहीं कर्त्तव्य हैं, भेद नहीं विविधता है, शब्द नहीं भाव हैं, सेवा का मूककेन्द्र है। यहाँ नित्य सम योग है, महान् चुम्बकीय केन्द्र है, निरपेक्ष है, अनिरुक्त है, सर्वोच्च न्यायालय है, पुण्यपर्व है, आत्मदर्शन का खुला महाद्वार है। यहाँ ऋणमुक्ति है, परम उषा का उदयाचल है, शीलतट है, सहजगति है, सद्गुणों की समष्टि का बीजकोष है, शाश्वत गुरु है, मानव व्यक्तित्व को निखार देने वाला सत्य सेतु है, समन्वय केन्द्र है, समत्व= मुक्त पुरुष का प्रतिष्ठान है,

सत्यं शिवं सुन्दरम् है। सन्तोष रूपी फल युक्त झुकी डाल वाला कल्पवृक्ष है।

हृदय शुद्धि के लिए भगवती माँ से महाराज की प्रार्थना सुनते चलिए- ''हे विश्व की पवित्र तथा विशाल न्याय और नियमों की आदि स्रोत अदिति माँ! पूर्ण ब्रह्म की आज्ञा-पालन के लिए हम श्रद्धापूर्वक सहज भाव से निकटस्थ दुःखी जीव-सृष्टि की सेवा-साधना द्वारा अपना हृदय शुद्ध करें"। यह 'हृदय शुद्धि' एक व्रत है, तप है, सब ऋणों से अनृण होना है। आस्तिकता तथा प्रभुमिलन का खुला महाद्वार है। शुद्ध हृदय होने पर जब अन्तर्ज्योति=परमज्योति का पूर्ण प्रकाश उभरने लगता है तो ये अवर भेदात्मक ज्योतियाँ ऐसे विलीन हो जाती हैं जैसे सूर्योदय से रात्रि के प्रकाश घटक। और जब उस अखण्ड परमानन्द का महान् प्रवाह सहज भाव से हृदय में उभार लेने लगता है तो यह अवर सुख-राशि उसमें ऐसे विलय हो जाती है जैसे किसी गहन कूप या जलाशय के अजस्र प्रवाह के उभार से ऊपर के जलस्रोत।

शुद्ध हृदय की अवस्था में और देखते चलिए क्या-क्या होता है? जब निस्सीम प्रेम अर्णव करुणामयी माँ अपने भक्त शिशु को दया की तरङ्गों में ले लेती है, तो ये सांसारिक प्रेम (मौत) एक उपहास की वस्तु दीखने लगती है। जब शाश्वत अमर वाणी का आवाहन एक बार अन्तःकरण से सुन लिया जाता है, तो इन बाह्य शब्दों की इयत्ता और अस्थायित्व ऐसे सिद्ध हो उठता है जैसे दिनभर के हारे-थके-भूखे शिशु को स्तन्यपान कराने वाली करुणामयी माँ के आवाहन सुन लेने पर अपने ही हाथ से बनाये घरौंदों (घर घुल्लों) की मूल्यता। शुद्ध हृदय से निकली महाराज की प्रार्थना है- हे मेरे अमृतधाम! तेरा स्तन्य होठों से स्पर्श होते ही सब **बाह्य** पेय एक आंशिक रस सिद्ध हुए। मेरे जीवन! क्या यह सब तेरी लीला थी या मेरे लिए एक खेल? हे करुणामय! तू कितना दयालु है! ओ मेरे प्रसुप्त ब्रह्म! निद्रालीन माँ! प्रशान्त अर्णव! मैं तेरी तरङ्ग हूँ, फड़कन हूँ, स्फुरण हूँ, उल्लास हूँ, जागरण हूँ। अन्तर्यामिन्! तू मेरा उद्देश्य है और तू ही मेरी पूर्णता है। मैं तेरा विगतकाल और तू मेरा भविष्य है। मैं पृथिवी पर तेरा मूल हूँ और तू आकाश में मेरा फल है।

मेरे सर्वस्व! तू क्या है और कितना है? हाँ! तू मेरा सब कुछ है। तू मेरी उच्चता, महत्ता और विस्तार है। आदि, मध्य और अवसान है। मेरे जीवन सत्य! तू मेरा वह जीवन है जिस से मैं जीवित हूँ। तू हमारा वह पथ है जिस से हम तुझ तक पहुँचते हैं। तू वह सत्य है, जिस से हम तुझ सत्य तक पहुँचते हैं। हे मेरे सत्येश्वर! तू ही मेरा वह धर्म है जिसको मैं और सब भक्त आचरण में लाते हैं। तू आत्मा है जिसे हम प्रत्यक्ष कर सकें और तू ही वह सत्य ईश्वर है जिसकी हम उपासना कर सकें। प्रभो! तू क्या है और मुझ भूखे शिशु के लिए क्या नहीं है! तूने ही दूध से भरी ऊधस् वाली रम्भा नाद करती हुई जङ्गल से लौटी गाय की भाँति मुझ भूखे वत्स के मुँह में अमृत उडेला। हे माँ! तू मुझ जन्म-जन्मान्तरों से हारे-थके-भूखे यात्री के मार्ग में मीठे पके फलों से झुकी डाल बनकर मिली। और तू मुझ प्यासे पथिक के मार्ग में मरुस्थली की प्याऊ बनी। तू वह सुशर्माण कल्याणमयी नौका है जिससे हम भवसागर पार कर सकें।

विश्वनाथ! तू क्या है? हाँ! तू मेरा सब कुछ है। अन्तर्यामिन्! मैं जिस देश, काल या परिस्थितियों

में हूँ, अपने को केन्द्र में अनुभव कर रहा हूँ और वहीं से इस सारी सृष्टि को विचित्र नवीनताओं से लहराते सागर के समान अनुभव कर रहा हूँ। ओ विभूतिमय! मेरे कल्याण! तू क्या है? मेरे निर्माता, मैं चकित हूँ। मुझे यही सुध-बुध नहीं कि मैं भोजन तुझे अर्पण कर रहा हूँ या करुणामयी माँ के रूप में तू मुझे खिला रही है। जगन्निवास! प्रार्थनाओं के बहुत शुष्क अन्तराल पार करके मुझे अब अनुभव हुआ कि जिस जिह्वा से प्रार्थना करते-करते थककर मैंने मौन धारण किया, उसी जिह्वा के मूल में तू मेरी सम्पूर्ण यात्रा का पावन पाथेय लिये बैठा है। ओ मेरे जीवन उत्स! तू क्या है? ओ मेरे पवित्र तथा विशाल न्याय और नियमों के आदि स्रोत! मैंने अन्तर्दृष्टि से तुझे तब देखा जब तूने चुपके-से अपने करुणा भरे हाथों से मेरे बाह्य नेत्र बन्द करके पूछा- बता वत्स! मैं कौन हूँ? करुणामयी जग जननी माँ! तू कितनी उदार है!

एक प्रसङ्ग में महाराज ने हृदय शुद्धि का निम्न उपाय बतलाया है— अहं से छुटकारा पाने और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए उपाय है— श्रद्धापूर्वक आहार, श्रम और तप का अनुष्ठान— जिसका फल है हृदय-शुद्धि, पर और अवर को देखने की दृष्टि, हृदयग्रन्थि विमोक, कर्मजन्य फल त्याग, समर्पण। शरीर यात्रा के लिए प्रसाद-रूप में प्राप्त फल पर भी अधिकार न समझते हुए जो कुछ शरीर रक्षार्थ समाज-संस्था से मिले, मात्र उतना ही उपकृत और अनन्त कृतज्ञता की भावना से भगवान् की आज्ञापालनार्थ नतमस्तक होकर ग्रहण किया जाए। साथ में सेवा, भक्ति और त्याग से जीवन-यात्रा चलती रहे और इस पर भी अपने जीवन के सूत्रधार को धन्यवाद देते रहें कि हमें यह खेल खेलने और लीला देखने का इतना अवसर तो मिला। आदिनाथ को सगुण साकार कहें तो विश्वनाथ सगुण निराकार कहा जायेगा। जैसा कि हमने ऊपर देखा, यह हृदय की श्रद्धा व भक्ति से परिपूर्ण एक अवस्था विशेष है। यहाँ हृदय किसी भी महत् तत्त्व के प्रति भक्ति से भरा हुआ होता है। इसलिए भक्त और भगवान् का द्वैत इसी अवस्था में हुआ करता है। इस तथ्य को ऊपर दिखाया ही गया है। इस प्रकार मनरूपी तीर्थ-यात्री के द्वारा हृदय के स्वरूप, उसकी प्रकृति व कार्य-प्रणाली को समझना ही विश्वनाथ का दर्शन करना है।

मन रूपी तीर्थयात्री का अन्तिम लक्ष्य है— अमरनाथ (आत्मा)। विश्वनाथ यदि सगुण-निराकार हृदय तत्त्व है तो अमरनाथ होगा निर्गुण निराकार आत्मतत्त्व। आत्मा का चिन्मयरूप सदा विराजमान है। गहन मौन है, स्वरूपस्थिति है, आत्मबोध है। हलन-चलन, संशय, प्रमाद, अविद्या, अज्ञान का सर्वथा अन्त है। अखण्ड ज्ञान की प्रशान्त ज्योति सतत प्रज्वलित है। पूर्ण रस है, दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है, ध्येय की सम्प्राप्ति है। सब कुछ सहज है, प्रयासहीन है, शाश्वत जीवन की उपलब्धि है, कृतकृत्यता है। जीवन का पूर्ण रूपान्तरण है। संस्कार दग्धबीजभावापन्न हैं। न आवेग है, न निराशा, न पुकार, न कोई चाह, न राग, न द्वेष। एक शब्द में, निषेध वर्ग का पूर्ण अन्त है। साधक-साधना-साध्य रूप त्रिपुटी नहीं है। ध्याता-ध्यान-ध्येय की समाप्ति है। भक्त और भगवान् का अभेद है। परम धाम है। गति न तो मन्द है, न तीर्व लहर नहीं है, अखण्ड एकरस शान्ति है। ऐसा लगता है यही अमरनाथ है। मन रूपी तीर्थयात्री का यह अन्तिम दर्शन है। उस प्रकाश को पाकर अब यह सदा अथाह शान्ति में

डूबा हुआ इस सम्पूर्ण जीवन और जगत् पर भी उसे उडेलता रहता है। ऐसे प्रज्ञावान् पुरुष को पाकर सम्पूर्ण समष्टि धन्य हो उठती है।

सृष्टि के सब रूपों को ही ब्रह्म के रूप में कल्पित करें तो यह कहना होगा– हमारा शरीर है मूर्त्त ब्रह्म। हृदय व मन है तरङ्गित ब्रह्म या द्रवित ब्रह्म। आत्मा है प्रशान्त ब्रह्म। सगुण साकार 'ब्रह्म का मूर्त्त रूप' है। यहाँ त्रैत है– शरीर, मन व आत्मा। तीनों का एक विशेष संघटन है। आत्मतत्त्व है, पर वह छिपा हुआ है। यहाँ नैतिक नियमों की प्रमुखता है। सेवा इस स्तर का सुगमतम साधन है। सेवक-सेव्य के मध्य प्रेम का सम्बन्ध है। इसी के द्वारा जीवगण का विकास होते-होते द्वितीय स्तर पर आरोहण होता है।

सगुण निराकार 'ब्रह्म का मूर्त्तामूर्त्त उभयविध रूप' है। यहाँ द्वैत है। उपास्य-उपासक भाव है। हृद्गत श्रद्धा इस क्षेत्र का प्रमुख आलम्बन है। भावों का सतत प्रवाह है। सब कुछ तरङ्गायमाण है। प्रेममय भगवान् से मिलने की उत्कट चाह है। सम्पूर्ण विश्व को अपना ही रूप समझने की विशालता है।

निर्गुण-निराकार 'ब्रह्म का अमूर्त्त रूप' है। यहाँ अद्वैत है। सर्वविध भावों से अतीत पूर्ण प्रशान्ति है। समस्त प्रपञ्च से उपरामता है। यहाँ ब्रह्म का परात्पर रूप विराजमान है।

यह है महाराज के प्रतीक रूप इस विशिष्ट स्तूप की व्याख्या। इस आरोहण में हमने एक क्रम विशेष को पाया- आदिनाथ व विश्वनाथ को देख व समझ कर ही अन्तिम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया जा सकता है। जिनका शरीर रोगी, दुर्बल, असमर्थ है, जो दीन-हीन-कान्तिविहीन हैं उन्हें प्रथम आदिनाथ का दर्शन करना होगा अर्थात् प्रथम देह को देवालय बनाना होगा, फिर विश्वनाथ के दर्शन हेतु प्रस्थान की पात्रता अर्जित होगी। जिनका हृदय स्वार्थ से, वासनाओं से, छल-कपट से, अहङ्कार की कुत्सित माँगों से, ऐन्द्रियिक तृष्णाओं से, लोभ से, मोह से, दम्भ से, और इसी प्रकार के अशुभ तत्त्वों से भरा है, उन्हें पहले हृदय-शुद्धि का उपाय करना चाहिए। सीधे आत्मदर्शन की तरफ लपकने से कुछ लाभ नहीं होगा।

इसलिए महाराज से जब कोई प्रश्न पूछता है कि सन्ध्या में या भजन में मन नहीं लगता तो महाराज उसे चित्त-शुद्धि का हेतु 'सेवा' रूप साधन का निर्देश करते हैं। हृदय से उठने वाली अन्तःप्रेरणाओं को जानने-समझने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। बालक जैसी सरल चित्त की अवस्था में रहने का सुझाव देते हैं। किसी पर अटूट विश्वास करके मानकर चलने की सलाह देते हैं। व्यावहारिक जीवन दूसरों के लिए किसी भी रूप में कष्टप्रद न हो, 'जितना बन सके सुख ही पहुँचाओ' ऐसा आग्रहपूर्वक कहते हैं। दूसरों के दोषदर्शन के बजाए गुणदर्शन करते हुए सारग्राही बने रहने पर बल देते हैं। भौतिकता की चमक से अपनी आँखों को चुँधियाने से बचाये रखने के लिए प्रेरणा करते हैं। महाराज का कहना है– शरीर, हृदय और आत्मा, इन तीनों में भी अच्छा खेल खेलने के लिए हृदय का महत्त्व सबसे अधिक है। शरीर यदि पुष्ट भी है, पर हृदय अशुद्ध हो तो अध्यात्म की दृष्टि से उस पुष्ट शरीर का कुछ लाभ नहीं मिल सकेगा। आत्मा तो सबका नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ही है। केवल मात्र मन, प्राण व हृदय की शुद्धि-अशुद्धि के आधार पर व्यावहारिक धरातल पर आत्मा को भी शुद्ध-अशुद्ध कह दिया जाता है।

तत्त्वतः तो वह सदा शुद्ध ही है।

असंगोऽयं पुरुष इति।। (सां० १.१५)

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते।। (सां० १.१६)

सो मुख्य रूप से जिसकी शुद्धि करनी है, वह हृदय ही है, जिसको वेद में समुद्र कहकर पुकारा गया है। जिस प्रकार समुद्र में दोनों प्रकार की चीजें होती हैं– रत्न भी और मगर आदि भी, तद्वत् मनुष्य के हृदय-समुद्र में भी भागवत और अभागवत दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। हम सचेतन होकर जिसको भी पुनः-पुनः चाहते हैं, वही ऊपर आ जाता है और फिर वह अपने प्रतिद्वन्द्वी का रूपान्तरण कर डालता है। इस प्रकार भागवत तत्त्वों को चाहने पर वे सतह पर आकर या तो अभागवत तत्त्वों को सदा के लिए नष्ट कर देते हैं या उन्हें भागवत स्वरूप में ही बदल जाने के लिए बाध्य करते हैं। तीव्र अभीप्सा, अटूट व अविचल श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, ध्येय के प्रति पूर्ण समर्पण व सेवा, ये ही वे मूलभूत आवश्यकतायें हैं– जिनकी हृदय परिवर्तन के लिए किसी भी साधक से अपेक्षा की जा सकती है।

आदिनाथ विश्वनाथ और अमरनाथ की ठीक इसी महान् तीर्थयात्रा का वर्णन शब्दान्तर से हमें यजुर्वेद के एक मन्त्र (१७.६७) में भी देखने को मिलता है। मन्त्र है---

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्।।

अर्थात् मैंने अपने पार्थिव जीवन को सुसम्पन्न करके यहाँ से अन्तरिक्ष में आरोहण किया है, अन्तरिक्ष से द्युलोक जो कि पूर्ण आनन्द, पूर्ण प्रकाश का धाम है उस परम ज्योतिः को मैं प्राप्त हो गया हूँ। पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के क्रमशः शरीर, हृदय व प्रज्ञा-ज्योति के रूप में वर्णन से वैदिक वाङ्मय भरा पड़ा है। यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि 'आरुहम्' 'अगाम्' क्रमशः लङ् व लुङ् भूतकाल की क्रियाएँ मन्त्र में प्रयुक्त हुई हैं किन्तु वर्तमान काल और भविष्यत् काल अर्थ भी ऐसे प्रसंगों में **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः** (अ० ३.४.६) के नियम से ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् मैं पृथ्वी से अन्तरिक्ष की ओर प्रयाण कर रहा हूँ अथवा करूँगा, यह अर्थ भी प्रकट हो रहा है।

❋❋❋❋❋

- ☞ अहंकार सब व्याधियों की जड़ है। अहंकार के स्रोत को खोजने से अहंकार नष्ट हो जाता है और जो फिर शेष रहता है, वही है आत्मा।
- ☞ दूसरों के प्रति गुणदृष्टि; अपने प्रति दोषदृष्टि- आत्मनिरीक्षण द्वारा आत्मोद्धार।
- ☞ दूसरों के लिए उदारता, अपने लिए कंजूसी- अपरिग्रह।
- ☞ अपने मत का प्रचार करने का सर्वोत्तम साधन है- 'आचार', उच्चारण नहीं! जैसे सूर्य और नदी का प्रवाह! घर का दीपक! आचरण के द्वारा सूर्य की प्रचारक शक्ति कितनी प्रबल है यह स्पष्ट है! प्रचार= जीवन का बाँटना!

४. ब्रह्मचर्य– सब रूपों में ब्रह्म की उपासना

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। (गीता ७.१९)
द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। (मुण्डक० ३.१.१, या ऋक्० १.१६४.२०)
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।। (मुण्डक० २.२.११)
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्।। (मुण्डक० १.१.७)

श्री महाराज समस्त जीवन और विश्व को दो भागों में बाँटकर देखते हैं- पुरुष व प्रकृति, निर्गुण व सगुण। चेतन तत्त्व के साथ जो कुछ भी हम अपनी पाँचों इन्द्रियों से अनुभव कर रहे हैं, वह सब ब्रह्म का सगुण रूप है। सांख्य शास्त्र में उसे प्रकृति नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद में यही आम्भृणी वाक् है। निर्गुण चेतन पिता है तो उस चेतन के साथ इस सगुण प्रकृति ने साक्षात् माँ का ही रूप धारण किया हुआ है। जीव की उत्पत्ति-वृद्धि-पालन-पोषण, जैसे माता-पिता मिलकर करते हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि का प्रत्येक घटक पालित-पोषित-वर्धित हो रहा है। महाराज का कहना है- 'माँ का तो केवल स्तन्यपान किया जाता है। माँ कभी भी भोग्या नहीं होती। किसी में यदि यह दृष्टि विकसित हो जाए तो फिर अब्रह्मचर्य के लिए अवकाश ही कहाँ रह सकता है? फिर तो 'माँ का दूध पीओ और अपना खेल खेलो' बात यहाँ आकर टिक जाती है। जैसे सन्त तुलसीदास को एक समय यह समस्त चराचर जगत् 'सियाराममय' दिखाई देने लगा था, तद्वत् महाराज को भी यह जगत् भगवान् का ही रूप दिखाई दे रहा है। वे कहते हैं कि निर्गुण ने सगुण का चोगा पहन रखा है। इसके अन्दर तो पिता बैठा है तथा बाहर जो दिखाई दे रहा है वह माँ का रूप है। जिस-जिस रूप को मैं देख रहा हूँ, स्पर्श कर रहा हूँ, सुन रहा हूँ, सूँघ रहा हूँ, मन में विचार कर रहा हूँ, इस सब क्रिया-कलाप के द्वारा यदि मुझे पोषण मिल रहा है तो समझना चाहिए कि मैं माँ का दूध पी रहा हूँ। इसके विपरीत यदि ये सब क्रियायें परिणाम में विषाद को जन्म दे रही हैं तो उसका अर्थ होगा कि मैं प्रकृति माँ के साथ भोगासक्त हो गया हूँ। उस अवस्था में यह मेरे लिए कितनी लज्जा की बात होगी, माँ और भोग्या! इस अर्थ की जब कल्पना भी डरावनी है तो क्रिया रूप देने में तो साक्षात् महाविनाश का ही चित्र सामने आकर उपस्थित हो जाए!

महाराज ब्रह्मचर्य विषय को समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया करते हैं। एक बार पार्वती का पुत्र कार्तिकेय अपनी माँ की पीठ को देखकर कहने लगा– माँ! यह आपकी पीठ पर जो निशान पड़ा है, किसने मारा है? पार्वती ने उत्तर दिया– बेटा! यह अभी-अभी तुमने ही तो चाबुक मारी थी,

इतनी जल्दी भूल गये? कार्तिकेय ने पूछा– माँ! मेरा नाम क्यों लगा रही हो? मैंने तो ऐसा कभी नहीं किया, न कर सकता हूँ; करना तो दूर, सोच भी नहीं सकता। माँ ने समझाया कि देखो! सुनो बेटा! अभी-अभी कुछ देर पहले तुमने उस बिल्ली को मारा था या नहीं? कार्तिकेय ने कहा- हाँ! उसको तो मारा था। माँ ने कहा– तो बस, यह समस्त स्त्री जाति मेरा ही तो रूप है। कहते हैं माँ की इस बात को सुनकर कार्तिकेय ने उसी समय सदा-सदा के लिए ब्रह्मचारी रहने का निश्चय कर लिया। सो इस प्रकार प्रकृति को माँ रूप में देखने वाले व्यक्ति के जीवन में अब्रह्मचर्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

महाराज किसी प्रसङ्ग में बुद्ध के द्वारा की गयी ब्रह्मचर्य की अति रोचक व्याख्या भी सुनाया करते हैं। भगवान् बुद्ध का कोई शिष्य घूमता हुआ कहीं जा रहा था। उसके तेजस्वी मुखमण्डल को देखकर सारिपुत्र और मौद्गलायन नाम वाले दो साथी उससे पूछने लगे- भिक्षो! यह तेज कहाँ लुट रहा है? भिक्षु ने उत्तर दिया– सरावस्ती नगरी के समीप जेतवन विहार में। दोनों साथी घर पर माता-पिता को सूचित किये बिना ही सीधे भगवान् बुद्ध के पास पहुँच जाते हैं। सायंकाल का समय है। दोनों ही भगवान् से प्रार्थना करने लगते हैं– भगवन्! प्रव्रज्या! भगवान् बुद्ध उनसे कहते हैं– ठीक है। प्रव्रज्या यही है कि ऐसा जीवन जीओ जो आदि में भी सुन्दर, अन्त में भी सुन्दर तथा मध्य में भी सुन्दर हो। दोनों बोले कि भगवन्! और स्पष्ट कीजिए। भगवान् कहते हैं– सम्पूर्ण सर्वाङ्ग सुन्दर जीवन। फिर भी पूछा, भगवन् और भी स्पष्ट कीजिए। भगवान् ने उत्तर दिया– ब्रह्मचर्यं

और यह उत्तर देकर मौन हो गये। भगवान् बुद्ध के द्वारा की गयी इस संक्षिप्त व्याख्या से ब्रह्मचर्य को समझने के लिए एक अच्छी दृष्टि मिल जाती है। कुछ कर्म आदि व मध्य में तो अच्छे सुखद प्रतीत होते हैं, पर परिणाम सदा विषाद-जनक होता है। समस्त ऐन्द्रियिक सुख इसी श्रेणी में बैठते हैं। ऊपर प्रकृति रूपी माँ के स्तन्यपान की चर्चा हुई वह कभी भी परिणाम में विषाद को जन्म देने वाला नहीं होता। केवल मात्र भोग में ही विषाद है, इसलिए वही अब्रह्मचर्य की अवस्था है।

महाराज इस सन्दर्भ में एक अतीव महत्त्वपूर्ण बात कहा करते हैं- ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध श्रद्धा से है और श्रद्धा हृदय की चीज है। विचार के द्वारा या यों कहें बुद्धि के द्वारा इसका महत्त्व समझने मात्र से इस विषय में कुछ भी लाभ नहीं मिलता। ब्रह्मचर्य भाव-लोक की वस्तु है, विचार या प्राण-लोक से इसका किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। यह ठीक है कि भाव विचारों के ही फलरूप होते हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि सदा ही विचारों को भावों में परिणत होना चाहिए। यदि विचार श्रद्धा में परिणत न होकर विचार मात्र के रूप में रह जाते हैं तो उस स्थिति में उत्कृष्ट विचार भी ब्रह्मचर्य में कुछ सहायक न होंगे। 'भाव' उस स्थिति का नाम है जब विचार के द्वारा सम्प्रेषित अर्थ शरीर के रोम-रोम, अन्तर्बाह्य सम्पूर्ण अस्तित्व, मन, प्राण, भौतिक शरीर एवं वह अव्यक्त केन्द्र जिसे हृदय कहते हैं, उन सब तक पहुँचकर समस्त को ही अपने अनुरूप ढाल देता है, उस समय संकल्पित विषय श्रद्धा से ओत-प्रोत हो उठता है।

ब्रह्मचर्य का गौरव गान करने वाले महाभारत के कुछ पावन प्रसङ्गों में देवव्रत भीष्म का नाम इतिहास के पन्नों पर सदा अंकित रहेगा। घटना-चक्र इस रूप में घूमता है- गङ्गा पुत्र देवव्रत

निषादराज की पुत्री सत्यवती के साथ अपने पिता **शान्तनु की** विवाहेच्छा को लेकर सत्यवती के पिता के समक्ष यह घोषणा कर देते हैं कि- हे दाशराज! मेरा वचन सुनो। पिता के लिए जो मैं कहता हूँ, सब राजा भी उसे सुनें। राज्य तो मैंने पहले ही त्याग दिया है, सन्तान के विषय में भी अब मैं यह निश्चय करता हूँ:

अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति।

अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया इति।। (आदि० १४.८८)

आज से मैं ब्रह्मचर्य धारण करूँगा। बिना पुत्र के भी मुझे अक्षय लोकों की प्राप्ति होगी। उसकी यह प्रतिज्ञा सुनकर दाशराज रोमांचित हो उठे और बोले, 'मैं अपनी कन्या राजा के लिए देता हूँ'। उसी दिन से वह कुमार अपनी भीष्म प्रतिज्ञा के कारण लोक में भीष्म कहा जाने लगा। सत्यवती का **शान्तनु** से विवाह हो गया। उनके गर्भ से दो पुत्र हुए- चित्रांगद व विचित्रवीर्यं चित्रांगद अत्यन्त वीर और शक्तिशाली राजकुमार था, पर वह गन्धर्वराज के साथ युद्ध करते हुए मारा गया। भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्य का राजा के पद पर अभिषेक करके स्वयं सत्यवती की आज्ञा से राज्य का पालन करने लगा।

विचित्रवीर्य के युवा होने पर भीष्म ने काशिराज की दो कन्याओं अम्बिका व अम्बालिका के साथ अपने भाई का विवाह कर दिया। पर दुर्दैव के करारे हाथों ने विचित्रवीर्य को भी शीघ्र ही अपने समीप ले लिया। अब तो बड़ा धर्मसंकट उपस्थित हो गया। सत्यवती ने बहुत दीन व दयनीय दशा को प्राप्त होकर धर्माचार, पितृवंश, मातृवंश, इन सबकी आवश्यकताओं को सोचकर गांगेय भीष्म से यह कहने का साहस किया, 'यशस्वी **शान्तनु** का पिण्ड, कीर्ति और सन्तान अब तुम पर निर्भर है। जिस प्रकार शुभ कार्य करने से स्वर्ग प्राप्ति ध्रुव है, जिस प्रकार प्राणियों की आयु ध्रुव है, वैसे ही सत्यात्मा तुम में धर्म की स्थिति ध्रुव है।

हे धर्मज्ञ! समास (संक्षेप) और विस्तार से तुम धर्मों को जानते हो, विविध श्रुतियों को जानते हो और सब वेदों को भी जानते हो। धर्म में तुम्हारी स्थिति और अपने कुल के आचार को मैं देखती हूँ तथा यह भी सोचती हूँ कि कठिन स्थिति में भी तुम शुक्राचार्य व बृहस्पति के समान उपाय करने में समर्थ हो। इसलिए अपने मन को धीरज देकर तुमसे कुछ कहती हूँ। सुनकर उसे ग्रहण करना। मेरा पुत्र और तुम्हारा भाई अपुत्र ही स्वर्ग चला गया। ये दोनों रानियाँ रूप-यौवन से सम्पन्न हैं और पुत्र के लिए सकामा हैं। हे भारत! हमारे कुल के लिए इनमें अपत्य उत्पन्न करो। हे महाभाग! मेरा वचन मानकर तुम इस धर्म में प्रवृत्त होओ। राज्य में अपने आपको अभिषिक्त करो और भरतों की रक्षा करो।'

सत्यवती के ये वचन सुनकर धर्मात्मा भीष्म ने जो शब्द कहे, वे अपने ओज व तेज में बेजोड़ हैं। ऐसा लगता है, इस प्रकार के दृढ़व्रती महान् आत्माओं ने ही असंख्य मनुष्यों के लिए मार्ग स्तम्भ का काम किया है। भीष्म ने अपनी माता से कहा- 'हे माता! निःसन्देह तुमने धर्म की बात की है, किन्तु सन्तान के सम्बन्ध में तुम मेरी उस परम प्रतिज्ञा को जानती हो। तुम यह भी जानती हो कि तुम्हारे विवाह के पूर्व तुम्हारे पिता ने क्या शुल्क माँगा था और उस समय क्या घटना घटी थी? हे सत्यवती! आज मैं तुम्हारे सामने वही सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं त्रिलोकी को चाहे छोड़ दूँ, देवों का राज्य भी

त्याग दूँ अथवा इन दोनों से अधिक भी किसी वस्तु को त्याग दूँ, किन्तु सत्य को कभी नहीं छोड़ूँगा। चाहे पृथिवी अपनी गन्ध छोड़ दे, वायु स्पर्श गुण छोड़ दे, सूर्य अपनी प्रभा छोड़ दे, अग्नि उष्णता छोड़ दे, आकाश शब्द गुण छोड़ दे, सोम शीतल रश्मियाँ छोड़ दे, इन्द्र पराक्रम छोड़ दे, किन्तु मैं सत्य को कभी नहीं छोड़ सकता'। क्या इनसे अधिक उदात्त, इनसे अधिक गम्भीर, इनसे अधिक सत्य-निष्ठा से भरे हुए शब्द कहीं अन्यत्र मिल सकेंगे?

दूसरा जो इससे मिलता-जुलता अपने ढंग का अद्‌भुत, रोचक, सदा पठनीय, श्रवणीय, कथा-प्रसङ्ग है, वह है कच व देवयानी का। महाभारत में ययाति के चरित्र-वर्णन के प्रसङ्ग में एक सरस लघु कथा बृहस्पति के युवा पुत्र ब्रह्मचारी कच और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की है। एक बार देवता और असुरों में ऐश्वर्य के लिए बड़ा संघर्ष हुआ। उस दैवासुर संग्राम में विजय पाने की इच्छा से देवों ने बृहस्पति को अपना पुरोहित बनाया और असुरों ने उशना कवि को। दोनों पुरोहितों में लागडाँट थी। देवता जिन दानवों को युद्ध में मारते, उशना अपनी संजीवनी विद्या के बल से उन्हें पुनः जीवित कर देते थे। बृहस्पति के पास संजीवनी विद्या न थी। इससे देवता दुःखी हुए। उन्होंने बृहस्पति के ज्येष्ठ पुत्र कच से कहा, 'हे कच! तुम हमारी सहायता करो। असुरों के गुरु शुक्राचार्य ब्राह्मण के पास जो विद्या है, उसे शीघ्र सीखकर आओ। तुम्हीं अपने शील, दाक्षिण्य, माधुर्य, आचार और इन्द्रिय-निग्रह से कवि उशना को और उसकी पुत्री देवयानी को भी अपने अनुकूल बना सकोगे।'

कच ने यह बात स्वीकार की और शीघ्र ही वृषपर्वा असुर की राजधानी में जाकर शुक्राचार्य से निवेदन किया, 'मैं अंगिरा ऋषि का पौत्र और बृहस्पति का पुत्र हूँ। मेरा नाम कच है। आप कृपया मुझे अपना शिष्य स्वीकार करें। आपको गुरु मानकर मैं ब्रह्मचर्य व्रत धारण करूँगा। कृपया अनुमति दें'। कच की स्पष्टवादिता से प्रसन्न हो शुक्राचार्य ने उत्तर दिया, 'हे कच! तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ। तुम अर्चनीय हो, मैं तुम्हारी अर्चना करूँगा। तुम्हारे द्वारा बृहस्पति भी मुझसे अर्चित हों'। इस प्रकार कच ने भृगु पुत्र शुक्राचार्य के पास व्रत धारण किया। अपने उपाध्याय तथा उनकी कन्या देवयानी को प्रसन्न करते हुए वह रहने लगे। देवयानी प्राप्तयौवना थी। कच गीत, नृत्य और वाद्यों से एवं पुष्प, फल आदि से देवयानी को प्रसन्न करते तथा देवयानी भी ब्रह्मचर्य आश्रम के नियम और व्रतों का पालन करने वाले उस विप्र युवक के साथ गाती-बजाती और एकान्त में परिचर्या करती थी।

इस प्रकार रहते हुए कच को पाँच वर्ष बीत गये। अब दानवों को किसी प्रकार कच का पता लग गया। उन्होंने उसे जंगल में अकेला पाकर संजीवनी विद्या की रक्षा के लिए अपनी तरफ से तो मार ही डाला। गायें अकेली जंगल से घर आयीं। कच को वापस न आया देखकर देवयानी ने पिता से कहा, 'हे तात! अवश्य ही कच को असुरों ने मार डाला है। मैं उसके बिना जीवित न रह सकूँगी'। इतना सुनकर शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या के बल से उसे जीवित कर दिया। दूसरी बार पुनः असुरों ने वही किया और फिर उसी प्रकार शुक्राचार्य ने उसे जीवन दान दिया। शुक्राचार्य कच की भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए और संजीवनी विद्या का वरदान दिया।

इस प्रकार गुरु से विद्या सीखकर कच ब्रह्मचर्य व्रत का समावर्त्तन करके लौटने के लिए तैयार हुआ। उसी समय देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया। कच ने कहा, हे सुन्दरी! मेरे लिए जैसे तुम्हारे पिता पूज्य एवं मान्य हैं, वैसे ही तुम भी पूजनीया हो। तुम भार्गव शुक्राचार्य के लिए प्राणों के समान प्रिय हो और गुरु-पुत्री होने के कारण मेरे लिए भी धर्मतः पूज्या हो। हे देवयानी! तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं। इस पर देवयानी ने सौहार्द, अनुराग व उत्तम भक्ति का स्मरण दिलाते हुए कहा, 'तुम मेरे पिता के पुत्र नहीं हो, उनके गुरु अंगिरा के पुत्र के पुत्र हो। अतः तुम्हारे साथ सम्बन्ध होने से मुझे कुछ अनुचित नहीं जान पड़ता'। किन्तु कच ने यही कहा, 'तुम मेरी धर्म की बहन हो, मैं तुम्हारे यहाँ बहुत सुख से रहा, मुझे विदा दो और मेरी मंगल कामना करो। कभी-कभी मेरा स्मरण करती रहना और प्रमाद रहित होकर मेरे गुरु की सेवा करना'। किन्तु देवयानी इतने से मानने वाली नहीं थी। उसने कहा, 'हे कच, धर्मानुमोदित काम के विषय में मेरी बात न मानोगे तो मेरे पिता से प्राप्त की हुई यह विद्या तुम्हें फलदायी न होगी'।

यह सुनकर कच ने अपने आप को उसी प्रकार शान्त रखते हुए कहा, 'तुम मेरे गुरु की पुत्री हो। उलटकर मैं तुम्हारे लिए कोई बुरी बात नहीं कहता। हे देवयानी। मैं ऋषियों से अनुमोदित धर्म की बात तुमसे कहता था, फिर भी तुमने मुझे शाप दिया। इस शाप का हेतु काम है, धर्म नहीं। तुम्हारा जो मनोरथ है, वह मुझसे तो पूरा नहीं होगा, और भी कोई ऋषिपुत्र तुम्हारा पाणिग्रहण न करेगा। और जो तुमने यह कहा कि यह संजीवनी विद्या मुझे न फलेगी तो इसे मैं किसी दूसरे को सिखा दूँगा, उसे यह फलदायी हो जायेगी।' यह कहकर कच देवताओं के पास लौट आया। कच की यह कथा प्राचीन आश्रमों में अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियों के शुभ आचारों का चमकता हुआ हीरा है।

और भी एक अति निर्मल जीवन की चरम सम्भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाला, आदर्श चरित्र का साक्षात् मूर्त्त रूप, देवों को भी दुर्लभ पावन प्रसङ्ग है, जो महाराज को अत्यन्त प्रिय है। वनवास काल में अर्जुन अपने पिता इन्द्र के पास अस्त्र-विद्या सीखने के लिए स्वर्ग में पहुँचता है। अस्त्र-विद्या के साथ-साथ इन्द्र की प्रेरणा से गन्धर्वराज चित्रसेन से गीत-वाद्य व नृत्य-कला भी सीख लेता है। अर्जुन जब इन्द्र के पास पहुँचा तो उसके शुभागमन पर एक उत्सव का आयोजन किया गया। वहाँ देव-अप्सरा उर्वशी जब नृत्य कर रही थी, तो अर्जुन उसी की तरफ देखता रह गया। इन्द्र ने इस घटना को उर्वशी के प्रति अर्जुन की आसक्ति समझकर एकान्त में चित्रसेन को बुलाया और कहा- मेरी तरफ से तुम अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी के पास जाकर उसे पुत्र प्राप्ति की इच्छा लेकर अर्जुन की सेवा में उपस्थित होने के लिए कहो।

चित्रसेन ने जब इन्द्र का सन्देश उर्वशी को सुनाया तो वह बहुत खुश हुई सन्ध्या समय चन्द्रोदय होने पर जब चारों ओर चाँदनी छिटक गयी, तब वह अप्सरा अपने भवन से निकलकर अर्जुन के निवास-स्थान की ओर चली। वह उस समय अल्प सुरापान से, तुष्टि की कामना से, काम से और नाना प्रकार की विलास भंगिमाओं से युक्त होने के कारण अत्यन्त दर्शनीय हो रही थी। अर्जुन के महल के द्वार पर पहुँचकर वह ठहर गयी। उस समय द्वारपालों ने अर्जुन को उसके आगमन की

सूचना दी। तब सुन्दर नेत्रों वाली उर्वशी रात्रि में अर्जुन के अत्यन्त मनोहर तथा उज्ज्वल भवन में प्रविष्ट हुईं अर्जुन सशङ्क हृदय से उसके सामने पहुँचा। उर्वशी को आया देखकर अर्जुन के नेत्र लज्जा से नत हो गये। उस समय उसने उर्वशी के चरणों में प्रणाम करके उसका गुरुजनोचित सत्कार किया। अर्जुन ने उर्वशी से कहा– हे देवि! श्रेष्ठ अप्सराओं में भी तुम्हारा स्थान सबसे ऊँचा है। मैं तुम्हारे चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। बताओ, मेरे लिए क्या आज्ञा है? मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम्हारी आज्ञा-पालन करने के लिए उपस्थित हूँ।

अर्जुन की यह बात सुनकर उर्वशी के होश-हवाश गुम हो गये। उस समय उसने गन्धर्वराज चित्रसेन की कही हुई सारी बातें कह सुनायीं। उर्वशी ने कहा- कुरुनन्दन पार्थ! देवराज इन्द्र के इस मनोरम निवास-स्थान में तुम्हारे शुभ आगमन के उपलक्ष्य में जो महान् उत्सव का आयोजन किया गया था, स्वर्ग-लोक के उस सबसे बड़े उत्सव में उस समय गन्धर्वों द्वारा अनेक वीणायें बजायी जा रही थीं, दिव्य मनोरम संगीत छिड़ा हुआ था और सभी प्रमुख अप्सरायें नाच रही थीं। हे विशाल नेत्र वाले इन्द्र कुमार! उस समय तुम मेरी ओर निर्निमेष नयनों से निहार रहे थे। अनघ! शत्रुनाशक! तदनन्तर चित्रसेन और तुम्हारे पिता देवराज इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य करके मैं यहाँ उपस्थित हुई हूँ। तुम्हारे गुणों ने मेरे चित्त को अपनी ओर खींच लिया है। मैं कामदेव के वश में हो गयी हूँ। हे वीर! मेरे हृदय में चिरकाल से यह मनोरथ चला आ रहा था।

स्वर्गलोक में उर्वशी की यह बात सुनकर अर्जुन अत्यन्त लज्जा से गड़ गया और हाथों से दोनों कान मूँदकर बोला- हे सौभाग्यशीले! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिए बड़े दुःख की बात है। निश्चय ही तुम मेरे लिए गुरुपत्नियों के समान पूजनीय हो। शुभे! मैंने उस समय सभा में तुम्हारी ओर एकटक दृष्टि से देखा था, उसका एक विशेष कारण यह था, उसे बताता हूँ, सुनो! तुम आनन्दमयी उर्वशी ही पुरुवंश की जननी हो, ऐसा जानकर मेरे नेत्र खिल उठे और इसी पूजा-भाव को लेकर मैंने तुम्हें वहाँ एकटक देखा था। हे अनघे! मेरी दृष्टि में कुन्ती, माद्री और शची का जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पुरुवंश की जननी होने के कारण आज भी मेरे लिए परम सौभाग्यमयी हो। हे वरवर्णिनि! मैं तुम्हारे चरणों में मस्तक रखकर तुम्हारी शरण में प्रणत हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टि में तुम माता के समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्र के समान मेरी रक्षा करनी चाहिए।

अर्जुन के ऐसा कहने पर उर्वशी क्रोध से व्याकुल हो उठी। उसका शरीर काँपने लगा और भौंहें टेढ़ी हो गईं। वह अर्जुन को नपुंसक-नपुंसक जैसा कटु शब्द कहती हुई वापस चली आईं **(कामात्क्रोधोऽभिजायते) काम पूरा हो जाए तो लोभ में परिवर्तित हो जाता है, 'और-और' की टेक लगाना शुरु कर देता है और यदि पूरा न हो तो क्रोध का रूप धारण कर लेता है। काम के ये दो ही परिणाम हैं,** इसलिए श्रेष्ठ अर्जुन ने उर्वशी के द्वारा प्रतिक्रिया रूप में उगले कटु वचनों को सहर्ष सहन कर लिया। जिन्हें यह सत्य दृष्टि प्राप्त नहीं है वे या तो काम से उत्पन्न लोभ के सागर में डूब जाते हैं या फिर उनके मार्ग में कोई आन्तरिक या बाह्य बाधा उपस्थित हो जाए तो क्रोध की पराकाष्ठा,

आत्महत्या जैसा क्रूर-निर्दय-निर्मम-मूर्खतापूर्ण कृत्य करने पर उतारू हो जाते हैं। इस विशाल विश्व में प्रतिदिन हजारों की संख्या में ये घटनायें घट रही हैं।

काम को शास्त्रकारों ने आलंकारिक भाषा में नमुचि (**न मुञ्चति कमपि**) कहा है। यह ऐसा राक्षस है कि जिसकी चपेट में बहुत थोड़े-से अपवादों को छोड़कर एक बार तो सब को ही आना पड़ता है। बाद में सँभल जाएँ, वह एक अलग बात है। यह भयंकर नमुचि रूपी बाज, जो इसके सामने आ जाए, उसे ही अपने सशक्त पंजों में लेकर उड़ पड़ता है। भर्तृहरि ने इस सच्चाई को अपनी काव्यमयी भाषा में इस प्रकार प्रकट किया है ''मदमस्त चिंघाड़ते हुए हाथियों के मस्तक को फोड़ देने वाले शूरवीर इस धरती पर बहुत मिल जायेंगे। प्रचण्ड मृगराज (सिंह) के जबड़ों को पकड़कर चीर डालने वाले पराक्रमी भी मिल सकते हैं। किन्तु मैं उन बलशाली वीरों के समक्ष एक बात कहता हूँ कि काम की नाजुक घड़ी के उपस्थित होने पर भी कितने हैं जिनका मन पूर्ण शान्त बना रहता है? उर्वशी-अर्जुन घटना-प्रसङ्ग में ऐसे ही एक अद्भुत वीर के दर्शन करने को मिलते हैं। महाभारत में कहा है-

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः।।

अर्थात् 'तप' नाम से अभिप्रेत वस्तु ब्रह्मचर्य ही है। इससे अतिरिक्त तप का और क्या रूप हो सकता है? ऊर्ध्वरेता कोई मनुष्य नहीं बल्कि साक्षात् देवता ही है।

रोदिन ने इस सारी विषयवस्तु को एक मूर्त्ति कलाकृति में प्रस्तुत किया है, जिसका नाम 'शाश्वत-प्रतिमा' (Eternal Idol) है। ''इसमें एक देवी घुटनों के बल बैठी है। वह पीछे की ओर झुकी हुई है, परन्तु उसका शरीर आगे की ओर बढ़ा हुआ है, और उसकी बाँहें ढीली-ढाली झूल रही हैं। वह अपने उरोजों के बीच एक पुरुष के दढ़ियल मुख को सँभाल रही है जो उसके मुख की तरफ देखता हुआ चाटुकारितापूर्ण लालसा युक्त मुद्रा में उसके सम्मुख घुटनों के बल बैठा हुआ है। लाखों में मुश्किल से कोई एक आदमी ऐसा होगा जो अपनी प्रेम-पात्र स्त्री को पाने के लिए अपने सब आदर्शों, अपनी उच्चतम दृष्टि और उस प्रत्येक वस्तु को, जो उसके लिए परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती है, त्याग न दे"। इंजील में कहा गया है- ''यदि व्यक्ति संसार पर विजय पाना चाहता है तो **स्वैच्छिक** दारिद्र्य व्रत को धारण करे, शरीर पर विजय के लिए ब्रह्मचर्य तथा शैतान को जीतने के लिए आज्ञापालन को स्वीकार करे"। किसी भी दृश्य से एक क्षण के लिए भी भावनाओं का यह घोड़ा न बिदके, यह कल्पना से भी परे की चीज लगती है। पर इस विशाल संसार में जैसे और अनेक आश्चर्यमय घटनायें घटती हुई देखी जाती हैं, जिन पर विश्वास करना पड़ता है, वैसे ही इस असम्भव कार्य को भी सम्भव कर दिखाने वाले, उन्हें अद्भुत वीर कहो चाहे प्रशान्त ज्ञानी, संख्या में बेशक थोड़े ही सही, पर मिल अवश्य जाते हैं।

काम के इस भयावह रूप को, बल्कि काम ही नहीं उसके सभी साथी गण क्रोध-लोभ-मोह-अहङ्कार-ईर्ष्या-द्वेषादि सबके इस समस्त त्रिलोकी को हिला देने वाले, कँपा देने वाले, झकझोर देने

वाले रूप को, उसके नमुचि रूप को, किसी को भी न बख्शने वाले प्रचण्ड रूप को हमने निकट से देखने-समझने का प्रयास किया। पर पाठकों को महान् आश्चर्य होगा, श्री महाराज का इस विषय में अलग ही दृष्टिकोण है। होना भी यही चाहिए। घटना एक है, पर देखने वाले अपनी-अपनी दृष्टि से उसे देख रहे हैं। अनन्त की ओर आरोहण करते हुए प्रत्येक यात्री के देश और काल का बिन्दु पृथक् होने से घटना का पृथक् दिखाई देना स्वाभाविक ही है। कोई एक व्यक्ति घटना से हजारों मील दूर है, कोई अत्यन्त पास खड़ा है, कोई उसे पार कर इतना आगे निकल गया है कि पीछे छूटी हुई घटना सर्वथा अदृश्य हो गयी, कोई उससे इतनी दूर खड़ा है कि अभी उसका धुँधला चित्र भी नहीं बन पा रहा। सो इस प्रकार सब द्रष्टाओं के दर्शन पृथक् ही होते हैं। जो शिखर पर पहुँच गया है उसका, और जो अभी पर्वत की उपत्यका के भी समीप नहीं पहुँच पाया है उसका, उन दोनों का एक ही दर्शन कैसे हो सकता है? स्त्री रूपी घटना एक ही है, उसके पति को वह सुखकर; सपत्नी को दुःखकर; तीसरे उस व्यक्ति को जो उसे नहीं प्राप्त कर सकता है, उसके लिए मोहकर; तत्त्व ज्ञानी को न सुखकर, न दुःखकर, न मोहकर ही प्रतीत होती है।

तत्त्वज्ञानियों में भी एक उसको माता के रूप में देखता है जैसे कि हमारे श्री महाराज प्रकृति माँ के ही प्रतीक रूप में देखते हैं, जो कि मनुष्य रूप में गुह्य ब्रह्म (आत्मा) को जन्म देने वाली जगज्जननी है। दूसरे को केवल हाड़-मांस का एक विशिष्ट ढाँचा मात्र परमाणुओं का पुञ्ज दिखाई देता है। सो काम-क्रोधादि के विषय में महाराज की दृष्टि यह नहीं है कि ये प्रचण्ड वेगवती शक्तियाँ हमारे विरोध में खड़ी होकर हमारे रास्ते को रोक रही हैं, बल्कि उनका कहना है कि उनका अस्तित्व ही नहीं है। शक्ति की कल्पना तो तभी होगी जब पहले 'है' कहकर स्वीकृति दी जाए। महाराज के दर्शन के अनुसार जिन चीजों का निराकरण हो जाए उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। समस्त निषेध वर्ग का यही स्वरूप है। जैसे अन्धकार कहने के लिए है, पर वस्तुतः वह है ही नहीं, क्योंकि प्रकाश के द्वारा वह निराकृत हो जाता है। दूसरी ओर प्रकाश का कभी निराकरण नहीं किया जा सकता, केवल किसी चीज के बीच में आने से अन्धकार प्रतीत होने लगता है, पर प्रकाश तो उस अवस्था में भी बना रहता है। इसी प्रकार सब गन्दगी, कूड़ा-करकट भी अन्ततः हटा दिया जाता है, स्वच्छता स्वतः सिद्ध है, केवल गन्दगी से ढक मात्र जाती है।

इसी प्रकार महाराज एक और उदाहरण देते हैं- जैसे जल का स्वभाव शीतलता है, पर बाह्य हेतु से उसमें उष्णता आ जाती है; या जैसे जल का स्वभाव निम्न स्थान में बहना या रहना है, पर शक्ति प्रयोग से ऊँचे स्थान पर भी चढ़ जाता है, तद्वत् मनुष्य का स्वभाव तो मूलतः शान्त स्वरूप, ज्ञान, प्रकाश, प्रेम, करुणा, दया, अमृतत्व, ब्रह्मचर्य आदि ही है, पर प्रमाद वश काम-क्रोधादि भाव गन्दगी की तरह बीच में आ जाते हैं और हम अज्ञानवश समझ लेते हैं कि वे हमारे अस्तित्व के ही भाग हैं। यदि हम अपने हृदय रूपी घर के अन्तरतम भाग में प्रवेश कर ध्यान से देखें तो पता चलेगा, वहाँ कोई विकार नहीं है, केवल परम शान्ति है। महाराज ने एक बार लेखक को सुनाया कि बहुत पहले एक बार मैं आचार्य अभयदेव जी की 'ब्रह्मचर्य गीत' पुस्तक की भूमिका पढ़ रहा था। उसमें एक

वाक्य पर मेरी दृष्टि पड़ी, तत्काल उसे लेकर मैं श्री आचार्य जी से मिलने के लिए पहुँचा। आचार्य जी के समक्ष मैं अपनी बात रखता हुआ पूछने लगा कि क्या 'मन की पूर्ण निर्विकार अवस्था ही सहज है, स्वाभाविक है' इस अभिप्राय से आपने यह वाक्य लिखा है? आचार्य जी का उत्तर था- जाओ! तुम्हारा उद्धार हो गया। इसी वाक्य ने मेरा भी उद्धार कर दिया था। पाठक पूछना चाहेंगे, ऐसा वह कौन-सा वाक्य था? यही कि **यदि हम अपनी उच्च प्रकृति से देखें तो पता चलेगा 'ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक है'।**

ऐसे में अब इस तथ्य को इस रूप में समझा जा सकता है, मनुष्य की दो प्रकृतियाँ हैं– एक उच्च प्रकृति (Higher Nature), दूसरी निम्न प्रकृति (Lower Nature)। उच्च प्रकृति व निम्न प्रकृति के सत्य अवश्य ही पृथक् होंगे। सांख्यीय दृष्टि से विचार किया जाए तो हमारे चित्त की दो स्थितियाँ हैं- पहली 'ज्ञानरूप' जिसको सांख्याचार्यों ने अपने पारिभाषिक शब्द 'विवेकख्याति' के द्वारा कहा है और दूसरी 'अज्ञानरूप'- यह भोग की स्थिति है। अज्ञान की स्थिति में अब्रह्मचर्य स्वाभाविक है, पर यदि किसी को सच्चा ज्ञान हो जाता है और वह सुप्रतिष्ठ भी हो जाता है, शब्दों में नहीं, बल्कि अनुभव के स्तर पर कि 'मैं अलग हूँ, शरीर अलग', 'शरीर और मैं एक नहीं हैं', तो यही कहा जाएगा कि उस अवस्था में ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक है और काम-क्रोधादि का वहाँ कोई अस्तित्व ही नहीं है। महाभारत के ऋषि सनत्सुजात का भी यही दर्शन है– **'नास्ति मृत्युः'।** यहाँ मृत्यु समस्त नकारात्मक भावों का एक उपलक्षण (प्रतीक) मात्र है। महाराज जब यह कहते हैं कि काम-क्रोधादि हैं ही नहीं, तो उस समय पाठकों को यही समझना होगा कि वे ज्ञान की उच्च भूमि में स्थित होने के कारण वैसा कह रहे हैं। ठीक भी है, यदि कोई व्यक्ति सदा स्वास्थ्य की स्थिति में रहता है तो वह यही कहेगा कि रोग है ही नहीं। **महाराज का कहना है- तुम यह देखो कि प्रकाश व अन्धकार की लड़ाई में शेष कौन रहता है? जो शेष रह जाए वह सत्य तथा जो हट जाए वह असत्य। इस सूत्र को समक्ष रखते हुए, अपने असली रूप को पकड़ लेना चाहिए।**

यदि कोई व्यक्ति निम्न प्रकृति, भोग, अज्ञान की स्थिति में खड़ा हो तो उसे शनैः शनैः निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति में, भोग से अपवर्ग में, अज्ञान से ज्ञान में, असत्य से सत्य में, मृत्यु से अमृत में आरोहण करने के लिए कृतसंकल्प होना होगा। सचेतन रूप से अपने अन्दर यह इच्छा जागरित करनी होगी कि अब मुझे यह खण्डित-खण्डित होकर प्राप्त होने वाला विषय-रस नहीं चाहिए जो परिणाम में सदा विषाद को ले आता है। यह इच्छा जितनी बलवती होगी उतना ही अज्ञान, असत्य या भोगमय जीवन (जिसके कि काम-क्रोधादि विविध रूप हैं) को अस्वीकार करने में सरलता व सहजता होती जाएगी। जैसे अन्धकार को हटाने के लिए प्रकाश अनिवार्य है, उसी प्रकार काम-क्रोधादि रूप अज्ञानमय जीवन को त्यागने के लिए ज्ञान रूप साधना की अत्यन्त आवश्यकता है। उसके बिना और कोई उपाय नहीं है।

केवल ब्रह्मचर्य की प्रशंसा सुनने मात्र से ब्रह्मचर्य में स्थिति कभी नहीं हो सकती, जब तक अब्रह्मचर्य के दुःखों व कष्टों को व्यक्ति स्वयं अनुभव न कर ले। प्राचीन शब्दावली में इसको अभ्यास

व वैराग्य का नाम दिया गया है। विषयों को महादुःखदायी समझकर उधर से सदा के लिए मुख मोड़ लेने का नाम वैराग्य है। दुःखदर्शन से ही वैराग्य का जन्म होता है। जैसे व्यक्ति को जब पता चल जाता है कि यह काला सर्प है तो वहाँ से सहज ही तत्क्षण हट जाता है, उसी प्रकार विषयों का यथार्थ स्वरूप जब व्यक्ति के मन में स्पष्ट हो जाता है, तो उससे हटने के लिए संघर्ष की आवश्यकता नहीं रही, वहाँ तो यह सजगता काम देती है।

विषय और विष परिणाम में एक समान होते हुए भी विषय प्रारम्भ में दुःखदायी नहीं प्रतीत होते। प्रमादवश या भ्रान्तिवश व्यक्ति उन्हें सुखकर समझकर उनके साथ जुड़ जाता है और जब होश आता है तब तक तो उन्होंने अपना काम कर दिया होता है। बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा- व्यक्ति प्रकटतः जाग रहा दिखाई देते हुए भी स्वप्नवत् (अर्धसुषुप्ति) अवस्था में होता है। जैसे स्वप्न में व्यक्ति के समक्ष जो दृश्य उपस्थित होते हैं, उनके साथ सहज रूप में जुड़ना होता रहता है। उस समय ज्ञान, शक्ति या विवेक का कुछ भी दखल नहीं होता, उसी प्रकार कहने के लिए भले ही व्यक्ति की यह जागरित अवस्था हो, पर तात्त्विक दृष्टि से स्वप्नावस्था के साथ इसका पूर्ण साधर्म्य होता है। या फिर जैसे कोई पागलपन की अवस्था में सर्प की कोमलता से प्रभावित होकर उसे पकड़ने लगे और उसके द्वारा डसा जाए, ठीक यही अवस्था व्यक्ति की विषयों के संग होती है।

महाराज का कहना है कि ब्रह्मचर्य-सिद्धि के लिए इस बेहोशी को हटाने की आवश्यकता है। ज्ञान-शक्ति यदि तिरोहित है तो व्यक्ति को विषय-सुख की आपात-रमणीय मोहकता तो अवश्य दिखाई देने लगती है, पर सदा ही उसके भीतर मौजूद रहने वाली जो पर्यन्तपरितापिता (परिणाम में खेद देने वाली अवस्था) है, वह उस की दृष्टि से ओझल रहती है। इसी कारण इसकी स्वप्नावस्था या बेहोशी के साथ तुलना करना ठीक बैठता है और जब यह निर्णय हो गया कि जागते हुए भी व्यक्ति बेहोशी या स्वप्न जैसी अवस्था में ही रहता है तो वहाँ, संघर्ष के द्वारा क्या मदद मिल सकती है? किसी उपाय से बेहोशी टूटे और जब वह टूट जाए तो अब आगे के लिए व्यक्ति पूर्ण सजग हो जाए, पुनः उसी स्वप्न-लोक में या बेहोशी या प्रमाद की अवस्था में न जाए तो स्पष्ट है फिर इस विकार रूपी मगर से व्यक्ति का बचाव हो सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में संघर्ष से यत् किञ्चित् थोड़ा-बहुत सहयोग मिलने की सम्भावना तो है, पर वह केवल मूर्छा के टूटने पर ही सम्भव है। जो विषयों के प्रहार से मूर्छित होकर पड़ा हुआ है, उस अवस्था में तो संघर्ष की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना ही तो संघर्ष का रूप है, पर जब तक व्यक्ति को विषयों में रस दिखाई दे रहा है तो उसके विरोध में इच्छा-शक्ति कहाँ से जुटायी जाए?

इसलिए कहा जाता है कि जैसे सर्प से काटे हुए व्यक्ति को नीम कड़वा लगना बन्द हो जाता है, क्योंकि विष के प्रभाव ने उस सर्प दंशित व्यक्ति के बोध को मन्द कर दिया है, उसी प्रकार विषय रूपी सर्प से डसा हुआ व्यक्ति भी भोगजन्य दुःख को अनुभव नहीं कर पाता है, बल्कि वह उसी विषय की और-और माँग करने लगता है। मादक द्रव्य के शरीर में पहुँचते ही जैसे उस द्रव्य की माँग

प्रचण्ड हो जाती है, उसी प्रकार विषयों के रस से विषयों की माँग और अधिक बलवती होती जाती है। उस अवस्था में व्यक्ति बेबस असहाय सर्वथा अशक्त हुआ विषयों की तेज मार से शीघ्र प्राप्त होने वाली मौत को भी स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है। इस दयनीय व पराधीन अवस्था को प्राप्त व्यक्ति अपने समस्त उत्साह को खो बैठता है। इच्छा-शक्ति, उत्साह, जीवन की मूल्यता, इन सबका एक-दूसरे के साथ आश्रय-आश्रयिभाव सम्बन्ध होता है। अन्त में मूल बात यहीं आकर टिकती है कि उपाय चाहे जो अपनाया जाए- किसी महापुरुष की वाणी, कोई शास्त्र वचन, विषयों के सम्बन्ध में अपने ही अनुभव से प्राप्त यथार्थ दृष्टि, दुःख-दर्शन, दिव्य प्रेम, निर्मल ज्ञान, विशुद्ध भक्ति जैसे भागवत तत्त्वों को प्राप्त करने की अभङ्ग अभीप्सा, पर किसी भी उपाय से मन की मूर्छा या बेहोशी को तोड़ा जाए। शनैः शनैः व्यक्ति को ज्ञान की वह दृढ़ आधार-भित्ति प्राप्त होगी, जिसके लिए महाराज कहते हैं कि काम-क्रोधादि हैं ही नहीं। हमारी मिथ्या मान्यता का ही ये लाभ उठा रहे हैं। बस उसे ही हटा लेना है। व्यक्ति के द्वारा इस समस्त निषेधवर्ग के प्रति उदासीनता धारण करते ही ये काम क्रोधादि उसी प्रकार से अव्यक्त में चले जायेंगे, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार। महाराज कहते हैं- यह अनुभूत तथ्य है। केवल इस पर विश्वास करो।

❋❋❋❋❋

- ☞ दुःख और कष्ट ही ईश्वर के साक्षात्कार के मार्ग हैं क्योंकि इनसे ही वैराग्य भाव जागता है।
- ☞ **स एष पूर्वेषामपि गुरुः**। जैसे कि ठूँठी से प्यास बुझी, ठूँठी से पहुँचे टंकी तक, टंकी से कुआँ।
- ☞ गरीब का गुस्सा अपने पर, इसलिए साधक दूसरे को दोष नहीं देता बल्कि किसी भी परिस्थिति में अपने को ही पकड़ता है। साधक एक अर्थ में तो शहन्शाह होता है किन्तु सांसारिक दृष्टि से तो गरीब ही होता है।
- ☞ **मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्।**
- ☞ मन के लिए मौत नहीं, नदी के प्रवाह के लिए रुकना नहीं। रस एक प्रवाहित तत्त्व है।
- ☞ उथली बुद्धि के लिए मौत है- क्योंकि उसका सम्बन्ध बाह्य से है, अर्थात् सुख से है।
- ☞ जाणी न जाए निशाचर माया; निशापुत्रों का कुछ पता नहीं।
- ☞ **शिव दुःखों के संहार का देवता है। संकल्प रहित मन ब्रह्म जैसा ही है।**
- ☞ जीवन! रसीला तत्त्व! जैसे सूर्य और नदी का प्रवाह है!
- ☞ शिष्यों का भी एक संग्रह ही है! जैसे धन का संग्रह! दादागुरु, चाचागुरु, गुरुभाई, यह परम्परा पन्थाई लोगों की है, साधुओं की नहीं!
- ☞ सिद्धि= चित्तशुद्धि= सहज सरल अवस्था!
- ☞ प्रतिक्रमण= भीतर की ओर गति, अन्तर्मुख होना। भूकम्प के समय एक सन्त का प्रतिक्रमण (अन्तर्मुखी) होना जबकि सब श्रोता बाहर की ओर भागे।

५. सत्यमेव जयते

आश्रम में 'सत्य' को लक्ष्य कर कई सुन्दर शिलालेख आ गए हैं। यह भूमि सत्य के द्वारा थामी हुई है **(सत्येनोत्तभिता भूमिः)**। सब कुछ सत्य में प्रतिष्ठित है **(सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्)**। ऋषियों का चरित्र सत्य का मूर्त्त रूप होता है **(ऋषीणां चरितं सत्यम्)**। मन रूपी मछली के लिए सत्य जल है **(सत्य सलिल मन मीन)**। जल के बिना जैसे मछली मर जाती है, वैसे ही सत्य के बिना मन भी मर्त्य भावों से युक्त हो जाता है। मन तभी तक अमृतत्व से युक्त रहता है जब तक वह सत्य से जुड़ा रहता है। सत्य से हटते ही समस्त आशा-उत्साह-धैर्य-तितिक्षा-सहिष्णुता-पुरुषार्थ एकदम से छूट जाते हैं। व्यक्ति चलती-फिरती लाश बन जाता है। जो जीवन के प्रति थोड़ा भी जागरूक हो गया है, वह सहज ही महाराज के द्वारा किये गए मन के इस निरूपण को समझ सकता है। सत्य में स्थित मन कितना ओज व तेज से युक्त रहता है, कितना आशावान्, कितना कर्त्तव्यनिष्ठ, कितना आनन्दित, कितना धैर्यवान्, कितना पराक्रमी, कितना शान्त, कितना तरङ्गित, कितना सजीव, यह किसी भी सत्यवान्, सत्यपूत, सत्य ही जिसका जीवन धन है, ऐसे महापुरुष को देखकर सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। सत्य से अलग होते ही मनुष्य कितना शीघ्र मुरझा जाता है, यह भी देखा जा सकता है। यह कोई कठिन कार्य नहीं है। केवल सत्य के माहात्म्य को देखने-समझने की अपने अन्तर में तीव्र ललक चाहिए।

भारतीय मनीषियों ने सत्य को नारायण का रूप कहा है। जो सत्य है, वही नारायण है। सत्य रूपी नारायण का व्रत ही जीवन का सच्चा व्रत है। महाराज के द्वारा अपने अनुभव की सान पर चढ़ाकर सुतीक्ष्ण किये हुए सत्य के सम्बन्ध में और भी कुछ वचन हैं, जो इस प्रकार हैं-

- सत्य, करुणा और प्रेम के रूप में भगवान् का धरती पर अवतरण है।
- सत्य साधन भी है और साध्य भी।
- सत्य वह पथ है जिस पर चलकर मनुष्य सत्य तक पहुँचता है।
- उपासना के लिए सत्य ईश्वर है।
- आचरण के लिए सत्य धर्म है।
- देखने के लिए सत्य आँख है।
- (एक शब्द में) जीने के लिए सत्य सम्बल है।
- मन, वचन, कर्म की एकता धरती पर पावन त्रिवेणी संगम है। सत्य की इस त्रिवेणी में जो नित्य नहाता रहता है उसके पुरातन पाप (कल्मष) नष्ट हो जाते हैं और नये संचित नहीं होते।

एक बार आश्रम में लेखक के साथ बहुत ही रोचक घटना घटी। उसे छिपाने का लोभ नहीं करना चाहिए। उन दिनों महाराज शिलालेख खुदवा रहे थे। एक दिन प्रसङ्गवश महाराज ने कहा- जितने भी शिलालेख तुम देख रहे हो, उन सबका भी साररूप एक ऐसा शिलालेख आ गया है (जो

अभी लगाया नहीं गया है), जिसके समक्ष आ जाने पर कुछ कहने के लिए शेष नहीं रह जाएगा। पाँच मिनट तक उसकी प्रशंसा ही करते रहे, पर उसका नाम नहीं बता रहे थे। महाराज के मुख से इस प्रकार की वाणी सुनकर लेखक की जिज्ञासा का बढ़ना स्वाभाविक ही था। लेखक ने उत्सुकता के साथ पूछा- ऐसा कौन सा वचन है? महाराज ने फिर भी उसका स्वरूप वाणी के द्वारा प्रकट नहीं किया और कहने लगे कि अच्छा! जानना चाहते हो तो चलो! आओ मेरे साथ, यह कहकर जहाँ वह उत्कीर्ण शिलालेख रखा हुआ था, उधर ही चल दिए। महाराज आगे-आगे, लेखक पीछे-पीछे। पाँच मिनट की पैदल यात्रा तय करने के बाद उस कमरे के सामने जाकर खड़े हो गए, जहाँ इस अमूल्य वचन को अभी विश्राम के लिए ठहराया हुआ था। फिर भी महाराज ने वाणी से नहीं बताया; अँगुली से संकेत करते हुए कहने लगे- 'यह है'। लेखक ने झट से पढ़ा तो वहाँ मोटे अक्षरों में लिखा हुआ था- **'सत्यमेव जयते'**। इतनी गहन निष्ठा है महाराज की अपने सत्य देवता के प्रति!

'सत्यमेव जयते' की व्याख्या करते हुए महाराज एक बहुत गम्भीर बात कहते हैं- ''इस विशाल संसार में मैंने एक बार भी असत्य को विजयी होते नहीं देखा। मुझे ही नहीं, किसी को भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा"। जिज्ञासु जब इस पर शङ्का करते हैं कि हमें तो ऐसा लगता है कि कम-से-कम आजकल तो सत्य हार रहा है और असत्य विजयी हो रहा है। तब महाराज की ओर से यह उत्तर दिया जाता है- आप लोग ध्यान से देखोगे तो ऐसा कभी नहीं कह सकोगे कि असत्य विजय को प्राप्त हो रहा है। असत्य जहाँ भी विजयी होता हुआ दिखाई दे रहा है, वहाँ सर्वत्र ही उसने सत्य का चोगा (बाना) पहना हुआ है। इस प्रकार सत्य ही विजयी होता है, न कि असत्य। जिस दुकान पर लिखा हुआ होता है- **'शुद्ध देशी घी की दुकान'** लेकिन वह व्यक्ति बेच रहा है अशुद्ध घी। फिर भी यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि कोई भी दुकानदार अशुद्ध घी को शुद्ध घी के साथ मिलाकर तब तक ही बेच सकता है जब तक लोगों का यह विश्वास होता है कि यहाँ शुद्ध घी मिलता है। जैसे ही पता चलता है कि यह व्यक्ति तो शुद्ध घी के नाम से अशुद्ध घी बेच रहा है, फिर वहाँ कोई देशी घी की इच्छा लेकर घी खरीदने नहीं पहुँचेगा। असत्य की विजय तो तभी मानी जा सकती है कि पता चलने पर भी पहले के समान ही बिक्री होती रहे।

महाराज कहते हैं कि इस विषय में एक नहीं, हजारों उदाहरण दिये जा सकते हैं और लगभग सभी को इस बात का अच्छा-खासा अनुभव है कि कहीं भी, किसी भी क्षेत्र में, असत्य जब कभी थोड़ा-बहुत आगे सरकता है, वह सत्य की ओट में ही ऐसा कर पाता है। कोई बिना टिकट यात्री तब तक ही अपनी यात्रा जारी रख सकता है जब तक उसका पता नहीं चलता। ईमानदार टिकट निरीक्षक (T.T.E.) की पकड़ में आने पर तो निश्चित रूप से दण्डित होना ही पड़ता है। नकली दवाइयाँ या कोई भी नकली माल, नकली बीज, नकली नोट, नकली नेता (झूठे नेता), नकली उपदेशक, नकली समाज-सेवक तब तक ही अपना काम करते हैं जब तक कि असली के रूप में वे जाने-पहचाने जाते हैं।

शंका हो सकती है कि असत्य का कभी पूरे जीवन भर भी पता न चल सके तो जब तक

पता न चल सकेगा तब तक असत्य सत्य की ओट में विजयी होता ही रहेगा? इसमें क्या सन्देह है! जब तक प्रकटतः सत्य दिखाई दे रहा है तब तक उसे विजयी होना ही चाहिए। सत्य ही विश्वास का मूल है। सत्य के बिना विश्वास एक क्षण के लिए भी सम्भव नहीं है। फिर यह तो सत्य-असत्य की परीक्षा करने वालों या सत्य-असत्य को देखने वालों का दोष कहा जायेगा कि उनकी बुद्धि ठीक से पहचान न कर सकी और वे सत्य की ओट में असत्य को विजय दिलाते रहे।

एक दूसरे पहलू से भी **'सत्यमेव जयते'** को समझा जा सकता है। जब कभी भी या जहाँ कहीं भी किन्हीं उपाय विशेषों के द्वारा असत्य विजयी होता है तो उसकी यह विजय कभी भी स्थायी नहीं होती, तात्कालिक होती है। देर या सबेर असत्य की कलई खुल ही जाती है। अन्त में सदा सत्य ही शेष रहता है। असत्य पानी में उठने वाले बुलबुले की तरह क्षणिक होता है, जबकि सत्य अनन्त आकाश में चमकने वाले सूर्य की तरह है। जिस किसी ने भी सत्य के लिए अपने जीवन की आहुति दे दी, वह आने वाले असंख्य लोगों के लिए मार्गदर्शक बन जाता है। क्या यह सत्य की विजय नहीं है? असत्य में कितना भय है और सत्य किस प्रकार सदा ही भय से सर्वथा मुक्त रहता है! इस बात का ठीक-ठीक उत्तर वे लोग ही दे सकते हैं जो उस राह पर चल रहे हैं। सत्य को ही जिसने अपने जीवन का आधार बना लिया है, किस प्रकार वह हँसते-हँसते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देता है, पर सत्य का त्याग नहीं करता। क्या इसे हम सत्य की विजय न कहें?

राजा हरिश्चन्द्र जिसने सत्य के लिए सब अग्नि-परीक्षाओं में से गुजरना स्वीकार कर लिया, पर सत्य को हाथ से नहीं जाने दिया। इस प्रकार वे उस महादुर्धर्ष कर्म के द्वारा युग-युगान्त तक आने वाले मनुष्य मात्र के श्रद्धास्पद बन गये। क्या यह सत्य की विजय का मुँह बोलता उदाहरण नहीं है? भूतकाल हो चाहे वर्त्तमान काल, असत्य की राह पर चलकर माना किसी ने अपार वैभव व ऐन्द्रियिक सुख प्राप्त कर भी लिये, पर देखने की बात यह है कि ऐसे लोग कितने लोगों के प्रिय-पात्र बने और कितने लोगों के घृणा-पात्र? यदि आँकड़े घृणा-पात्र के ज्यादा हैं तो क्या यह असत्य की पराजय नहीं है? सत्य-असत्य की जय-पराजय का आकलन करते समय बस यही तो भूल हो जाती है कि सत्य की विजय का अर्थ चमकीले भवनों से, सोने-चाँदी के टुकड़ों से, विपुल इन्द्रिय भोगों से या आराम-परस्त जीवन से आँका जाने लगता है। ये सब चीजें पाकर भी कोई व्यक्ति यदि अपने अन्दर असन्तुष्ट है, भयभीत है, इच्छाओं का दास है, लोगों के दिल व दिमाग से उतर गया है तो यही समझना होगा कि असत्यमय जीवन के अवश्यंभावी फल उसे मिल रहे हैं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति बहुत संघर्षों व कठिनाइयों से गुजर रहा है, आवास के लिए एक सामान्य झोंपड़ी मात्र ही है, भौतिक धन के नाम से सर्वथा धनहीन जीवन जी रहा है, पर वह आत्म सन्तुष्ट है, जितेन्द्रिय है, करुणा व प्रेम से भरा हुआ है, उसके कठिन तपोमय जीवन से सम्पूर्ण समष्टि झुक गई है, उसकी सरलता से कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, सुख व दुःख का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है, बस सन्तोष-समता-शील-शान्ति ही जिसके जीवन के पाथेय बन गए हैं, तो कहना होगा- ये ही तो हैं वे

दिव्य फल जो सत्य रूपी महावृक्ष के ऊपर लगते हैं।

सत्यनिष्ठ महात्मा की जीवन रूपी नदी 'कठिनाइयों व सन्तोष' के दो पाटों के बीच बहती है, जबकि साधारण व्यक्ति की जीवन नदी के 'सुख व दुःख' बस ये ही दो किनारे होते हैं। जीवन की अज्ञानमय अवस्था में व्यक्ति जिन चीजों को ऊँचा स्थान देता है, ज्ञान का धरातल बदल जाने पर उन चीजों का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता। संसार अपनी आँखों से उन महापुरुषों को जब देखता है तो उसे लगता है कि बेचारा सत्य के चक्कर में पड़कर कितना कष्ट उठा रहा है! वस्तुतः वहाँ कष्ट जैसी कोई चीज होती ही नहीं। सीता को ही तो अग्नि परीक्षा देनी होती है, क्योंकि वह सती है। यदि सत्य का इतना माहात्म्य न होता तो 'अश्वमेध-सहस्र से भी सत्य का पलड़ा भारी होता है' यह कथन लोक में क्यों प्रचलित होता?

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते। (महा० आदि पर्व ७४.१०३)

एक अन्य दृष्टिकोण से भी इस विषय पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। हमारे जीवन का सञ्चालन संस्कारों के द्वारा होता है तथा संस्कारों का निर्माण कर्म से होता है। असत्य जीवन जीने से असत्य के संस्कार तथा सत्य जीवन जीने से सत्य के संस्कार दृढ़ से दृढ़तर व दृढ़तम होते चले जाते हैं। गम्भीरता से देखा जाए तो संस्कारों की कमाई ही मनुष्य जीवन की असली कमाई है, जो स्थिर है और जन्म-जन्मान्तर तक साथ देने वाली है। इस बिन्दु से देखने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है- **'सत्यमेव जयते'**। असत्य जीवन के द्वारा अर्थात् छल-कपट-धोखा-विश्वासघात आदि असत्य के नाना रूपों से किसी ने बहुत धन कमाया, शरीर को सुख देने वाली अथाह साज-सामग्री में से कुछ का दान करके लोक प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर ली, पर अब देखने की बात यह है कि ये चीजें कहाँ तक साथ देंगी? अधिक-से-अधिक इसी जीवन तक। उसके बाद? उसके बाद तो उसके साथ वही रहेगा जिसको उसने अपने चित्त में बसाया है। अब इसके निर्णय के लिए पाठकों पर ही यह बात छोड़ी जा रही है कि 'जैसी करनी वैसी भरनी' यदि सच है, तो सोचें-विचारें और स्वयं ही निष्कर्ष निकालें कि सत्य की विजय होती है या असत्य की?

जो लोग अपनी जीवन-यात्रा का अन्त इस जीवन के साथ नहीं मानते, बल्कि आगे भी जाना है ऐसा मानते हैं, उन्हें तो अवश्य ही मानना होगा कि जो सत्य है अर्थात् 'जो है' वही शेष रहता है- अच्छा है तो अच्छा, बुरा है तो बुरा। पर जिन्हें ऐसा विश्वास नहीं है, कर्मफल-व्यवस्था या पुनर्जन्म के प्रति जो श्रद्धालु नहीं हैं, उन्हें निश्चय ही सत्य के महत्त्व को समझा पाना कठिन कार्य है। सत्यमय जीवन का अर्थ है- मर्यादित व संयमित जीवन जीना तथा असत्यमय जीवन का अर्थ है- स्वेच्छाचारी जीवन। स्वेच्छाचारी जीवन के मार्ग में पुनर्जन्म-कर्मफल सबसे बड़ी बाधा है अर्थात् ये दोनों चीजें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। अतः अपने मार्ग के इन्हीं रोड़ों को मनुष्य सबसे पहले हटाता है।

जिसकी दृढ़ निष्ठा है कि 'संस्कारों की कमाई' सदा हमारे साथ रहेगी, उसी के अनुसार हमारे जीवन के विकास व पतन का क्रम निर्धारित होगा, वह कैसे आपात-रमणीय पर परिणाम में परिताप देने वाले काम कर सकता है? सत्यमय जीवन के संयम, सन्तोष, शान्ति, परदुःख-कातरता, करुणा, प्रेम,

सहानुभूति इत्यादि वर्तमान फल तथा असत्यमय जीवन के भय, असन्तोष, निरन्तर चित्त की उद्विग्नता, हृदय की कठोरता, छल-कपट के संस्कार से चित्त का रंगे जाना, स्वार्थ भाव की प्रबलता इत्यादि तात्कालिक फल किसी को न भी दिखाई दें (यद्यपि ये दोनों प्रकार के जीवनों के अलग-अलग बहुत बड़े फल हैं), तो भी यदि पुनर्जन्म व कर्मफल-व्यवस्था में किसी का पूर्ण विश्वास हो तो उससे भी असत्य की पराजय व सत्य की जय के निहितार्थ को समझा जा सकता है। पर जो इस विषय में सर्वथा अन्धा है तथा आप्त वचनों को सुनने में एकदम बहरा है, उसे तो यह विषय इस रूप में कैसे समझाया जा सकता है?

सत्य-परायण लोग अपनी जीवन-यात्रा के विषय में कितने सचेतन होते हैं? एक उदाहरण सुनिए- शाह अशरफ अली साहब सहारनपुर से लखनऊ जा रहे थे। उनके प्रशंसक उन्हें पहुँचाने के लिए स्टेशन पर आये। शाह साहब का सामान प्लेटफार्म पर पहुँचाया गया। शाह साहब ने कहा- मुझे लगता है, सामान ज्यादा है, उसे तुलवा लो। जितना ज्यादा हो उसका किराया देकर बुक करा लो। चलनेवाली गाड़ी का गार्ड पास ही खड़ा था। वह भी शाह साहब का शागिर्द था। उसने कहा- सामान तुलवाने की जरूरत नहीं है, मैं तो साथ ही चल रहा हूँ। शाह साहब ने चकित होकर उसकी ओर देखा और पूछा- तुम कहाँ तक जाओगे भाई? मैं बरेली तक चल रहा हूँ, आप सामान की चिन्ता न करें। मगर मुझे तो और आगे जाना है। आगे क्या होगा? आप लखनऊ जा रहे हैं न? कुछ नहीं होगा। मैं दूसरे गार्ड को कह दूँगा। वह लखनऊ तक आपके साथ जाएगा। शाह साहब ने पूछा-'फिर आगे क्या होगा?' पाठक समझ गए होंगे कि शाह साहब किस 'आगे' का ध्यान कर सामान का टिकट बनवा लेने के लिए बार-बार आग्रह कर रहे थे?

वस्तुतः श्रद्धावान् ही सत्य को प्राप्त कर सकता है **(श्रद्धया सत्यमाप्यते)** तथा श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है **(श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्)**। सत्य के रहस्य को समझने के लिए व्यक्ति को सत्य के प्रति विश्वासी तो होना ही पड़ेगा। सत्य के प्रति श्रद्धालु और अभीप्सु हुए बिना व्यक्ति में यह इच्छा या संकल्प उत्पन्न नहीं हो सकता कि मैं अपने में परम सत्य को धारण करूँ **(सत्यं परं धीमहि)**। श्रद्धा कोई ऐसी चीज नहीं कि किसी को अकारण प्राप्त हो जाती है। श्रद्धा भी एक संस्कार है, चित्त की एक अवस्था विशेष है। जैसे अन्य संस्कार उनकी तरफ ध्यान देने से उत्पन्न तथा उदासीन होने से नष्ट होते चले जाते हैं, उसी प्रकार श्रद्धा के विषय में भी वही नियम लागू होता है। सत्य के प्रति श्रद्धावान् होने के लिए सत्य की प्रभुता का निरन्तर श्रवण, मनन व निदिध्यासन (उसी रंग में रंग जाना रूप निदिध्यासन=शान्त- ध्यान) करना चाहिए। जब जीवन बहिर्मुख होता है, संसार को ही देखता है, शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि विषयों को महत्त्व देता है, लोक-सम्मान (Recognition) चाहता है, सुख-परायण व आराम-परायण होता है, तब कठिनाइयों व विघ्न बाधाओं का सामना करने में अपने तेज व ओज को खो बैठता है।

धन-वैभव ही जब जीवन का सारतत्त्व बन जाता है तो व्यक्ति को सत्य की महत्ता को बताने वाला प्रवचन नहीं सुहाता और न सत्य विषयक चिन्तन-मनन ही भाता है। ऐसे व्यक्ति को सत्य की साधना

में निरत लोग ऊँचे दर्जे के पागल व मूर्ख नजर आते हैं। अतः सत्य की तरफ बढ़ने और सत्य पर अधिकार करने के लिए व्यक्ति को धीरे-धीरे बाहर से अन्दर की तरफ मुड़ना पड़ता है।

प्रत्येक संक्रमण-काल पर्याप्त उलझनों व संघर्षों से भरा होता है। एक दिशा में बहती हुई नदी की धारा के परिवर्तन जैसा दुस्तर कार्य इस समय (संक्रमण काल) को समझना चाहिए। असत्य से सत्य की तरफ मुड़ने और मुड़कर सत्य पथ पर ही चलने की लौ जिनके हृदय में सतत प्रज्वलित रहती है, वे ही शूरवीर इस नये रूप में चुने मार्ग पर अविचल भाव में स्थिर रह सकते हैं, अन्यथा संस्कारों का खेल इतना विचित्र है कि बुद्धि से किसी विषय को अच्छी प्रकार समझ लेने मात्र से समस्या का कुछ भी समाधान नहीं होता। इसलिए कहा गया है- सत्य ही नहीं, किसी भी क्षेत्र में प्रगति चाहने वाले व्यक्ति को अभीष्ट विषय की महिमा से चित्त को आप्लावित तो रखना ही चाहिए, साथ में सिद्धि के लिए सहायभूत और भी जो कोई उपाय हो सकते हैं, उनका भी विचार करते रहना चाहिए। जैसे सत्य-विषयक एकतरफा निर्णय, सत्य प्रेमी लोगों का सान्निध्य, दूरस्थ सत्यनिष्ठ महात्माओं का चिन्तन, सत्य मार्ग की प्राप्ति से अपने को भाग्यशाली समझने का गौरवपूर्ण विचार, सुख व दुःख के प्रति उदासीन भाव, पुरुषार्थमय जीवन की महनीयता का प्रभाव, अपने अन्तर में निहित अनन्त सम्भावनाओं को चरितार्थ करने का उदात्त संकल्प, ये कुछ ऐसी बातें हैं, जो सत्य के लिए समर्पित व्यक्ति के सदा साथ रहनी चाहियें।

इन सब उपायों के सम्मिलित प्रयोग से सत्यमय जीवन के दुर्धर्ष राज्य को कोई भी, कभी भी प्राप्त कर सकता है। जैसे अन्य चीजों के विषय में अक्षुण्ण नियम है कि बिना मूल्य चुकाए कोई भी चीज प्राप्त नहीं की जा सकती, वही नियम प्रकृत में भी लागू होता है। कल्पना की जा सकती है, जीवन की सबसे मूल्यवान् वस्तु को प्राप्त करने के लिए कितना बड़ा मूल्य अदा करना चाहिए। एक किलो आलू और एक किलो हीरे में जैसे मूल्य का करोड़ों गुणा अन्तर होता है, उसी प्रकार सत्य जीवन भी ऐसा ही है अर्थात् सत्यमय जीवन की समस्त आवश्यक शर्तें पूरी करके सत्य को खरीदना, सत्य को अधिगत करना।

❋❋❋❋❋

- ☞ जीवनदानी के जीवन का श्राद्ध (भुगतान) बारहों मास अविरल रूप से चलता ही रहता है।
- ☞ विचारों से युक्त मन हृदय में लीन होने पर चित्त ही है।
- ☞ सरल व्यक्ति को शिष्टाचार सीखने की जरूरत नहीं, साधना की जरूरत नहीं, संरक्षण की जरूरत नहीं, अपना पेट भरने के लिए स्वावलम्बन की जरूरत नहीं।
- ☞ श्रद्धाजीवी= जैसे बच्चा माँ की गोद में।
- ☞ धन्य हैं वे पतित जिन्होंने मान लिया है कि हम पतित हैं– तड़फ, बिलख, प्रायश्चित्त से वे ऊपर उठेंगे।
- ☞ दूसरों के लिए क्षमा - अपने लिए न्याय (कठोरता)।

६. कर्म के उत्क्रेश्य

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः।। (मनु० १२.३)
तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम्।। (मनु० १२.४)
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।। (मनु० १२.५)
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।। (मनु० १२.६)
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।। (मनु० १२.७)

मनुष्य शरीर, वाणी या मन से जो कुछ करता है वह 'कर्म' कहा जाता है। मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है कि मनुष्य शरीर से तीन, वाणी से चार और मन से तीन प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म करता है। शरीर से अशुभ करता है तो चोरी-हिंसा-अब्रह्मचर्य का आचरण करता है और शुभ करता है तो दान, परित्राण (रक्षण) और सेवा किया करता है। वाणी से अशुभ करता हुआ झूठ बोलता है, कठोर (दुःखद= दूसरे के हृदय को छीलने वाले) वचन बोलता है, चुगली करता है और व्यर्थ वार्त्तालाप (सारहीन बातें= जिस वार्त्तालाप के पीछे कोई उद्देश्य नहीं होता) करता है। वाणी से शुभ चेष्टा में प्रवृत्त हुआ सत्य (यथार्थ), हित (उपकारक), प्रिय (प्रीतिकर) वचन बोलता है और स्वाध्याय करता है। इसी प्रकार मन से अशुभ चेष्टा करता हुआ परद्रोह (दूसरों को मारने या अपकार करने की इच्छा), परद्रव्य की मन से इच्छा करना व नास्तिक्य (ईश्वरीय ज्ञान, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि कुछ नहीं हैं- ऐसी बुद्धि) का आचरण करता है। मन को शुभ में लगाता हुआ दया, अस्पृहा (लोभत्याग) या श्रद्धा (शास्त्र, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि में दृढ़ विश्वास) रखता है।

इस प्रकार देखा गया कि शरीर, वाणी व मन से किये जाने वाले दस प्रकार के अशुभ कर्म हैं तथा दस प्रकार के ही शुभ कर्म हैं। पाठकों की सुविधा के लिए इस सूची को पुनः हम एक बार व्यवस्था से प्रदर्शित कर दे रहे हैं-

शरीर	अशुभ	शुभ	(अथवा)	अकुशल	कुशल
	१. चोरी	दान		१. अदत्तादान(चौर्य)	अ-चौर्य
	२. हिंसा	रक्षा		२. प्राणातिपात(हिंसा)	अ-हिंसा
	३. अब्रह्मचर्य	सेवा		३. **काम**मिथ्याचार(व्यभिचार)	अ-व्यभिचार

वाणी

१. अनृत (झूठ)	सत्य	१. मृषावचन (झूठ)	अ-मृषावचन
२. कठोर	प्रिय	२. परुषवचन (कटुवचन)	अ-कटुवचन
३. पिशुनता(चुगली)	हितकारक	३. पिशुनवचन (चुगली)	अ-पिशुनवचन
४. व्यर्थ वार्त्तालाप	स्वाध्याय	४. सम्प्रलाप (बकवाद)	अ-सम्प्रलाप

मन

१. परद्रोह	दया	१. व्यापाद (प्रतिहिंसा)	अ-प्रतिहिंसा
२. परद्रव्य लेने की इच्छा	अस्पृहा (लोभ का त्याग)	२. अभिध्या (लोभ)	अ-लोभ
३. नास्तिक्य	श्रद्धा	३. मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)	अ-मिथ्यादृष्टि

शुभ-अशुभ कर्मों के सम्बन्ध में यह एक प्राचीन विश्लेषण हुआ। इसके अतिरिक्त इस कर्म-सूची को एक अन्य प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। कोई खेती कर रहा है, कोई अध्यापन, कोई उपदेश, कोई चित्रकारिता, कोई गायन, कोई नृत्य, कोई राजनेता है, कोई उद्योगपति, कोई पुस्तक लिख रहा है, इत्यादि। महाराज कहते हैं, अब इस बात पर विचार कीजिए कि मनुष्य कर्म क्यों करता है? कर्म के पीछे अवश्य ही कोई-न-कोई उत्प्रेरक भी होना चाहिए, जो उस कर्म के साथ जुड़ा रहता है। शुभ या अशुभ कर्मों के पीछे क्या-क्या उत्प्रेरक हो सकते हैं? महाराज ने अपनी गहन अन्तर्दृष्टि से पाँच उद्देश्य चुनकर बताये कि **कर्ममात्र इन्हीं** पाँच उद्देश्यों में कहीं-न-कहीं समाविष्ट होते हैं। चाहे किसी योगी के कर्म हों या सामान्य जन के अथवा किसी चोर-डाकू के। वे पाँच उद्देश्य इस प्रकार हैं-

१. अनन्त के लिए या स्वान्तःसुखाय। (To satisfy the inner true self)
२. सर्वभूतहिताय। (To serve human beings,Animals, trees etc.)
३. कर्म का लक्ष्य कर्म= किसी आदर्श के लिए, जैसे योग योग के लिए, शास्त्र शास्त्र के लिए, किसी भी विद्या विशेष की रक्षा के लिए इत्यादि। (To makeAlive theArt or that very knowledge in the world.)
४. आजीविका के लिए। (To earn money)
५. अहंतृप्ति के लिए। (To satisfy ego)

विषय का विशद रूप से व्याख्यान किया जा रहा है। पहले अशुभ कर्मों को लेते हैं। सब-के-सब अशुभ कर्म या तो अहंतृप्ति के लिए होते हैं अथवा आजीविका के लिए। ऊपर वाली तीन श्रेणियों को लक्ष्य कर वे कभी भी आचरित नहीं हो सकते। व्यक्ति झूठ बोलता है, चुगली करता है या बकवास करता है; चोरी-हिंसा या अब्रह्मचर्य करता है; परद्रोह, परद्रव्याभीप्सा या नास्तिकता में रहता है। स्पष्ट है- संस्कारवश व्यक्ति के द्वारा 'अहं' के लिए अर्थात् अपनी मनमानी इच्छा-पूर्ति के लिए ही ये सब क्रिया

कलाप किए जाते हैं। वैसा करने से उसके 'अहं' को तृप्ति मिलती है या फिर कुछ प्रसङ्गों में चोरी-हिंसा-मिथ्याभाषणादि आजीविका के लिए भी किये जा सकते हैं। सो अशुभ कर्मों का बँटवारा तो यह हुआ।

अब आते हैं शुभ कर्म शुभ कर्म व्यक्तिभेद से पाँचों में से किन्हीं एक-दो-तीन या चार उद्देश्यों को लेकर हो सकते हैं। शुभ कर्म होते हुए भी यदि वे काम्य (किसी भी कामना को लेकर किये गए) कर्म हैं तो नीचे वाली दो श्रेणियों में ही बैठते हैं। खेती करना एक शुभ कर्म है, पर उसके पीछे उत्प्रेरक हेतु इतना मात्र है कि मैं अपना और अपने परिवार का पालन करूँ, तो उस व्यक्ति का यह कर्म आजीविका के लिए कहा जाएगा।

अध्यापक विद्यालय में आजीविका को लक्ष्य कर पढ़ा रहा है, पर साथ में यह भी विचार रखता है कि मेरे इस कर्म से अबोध बालकों को बोध भी प्राप्त हो, तो उसके कर्म के पीछे दो उद्देश्य कहे जाएंगे। कोई व्यक्ति विद्यालय में भवन बनाता है- यह विचार कर कि बच्चों को सुविधा भी प्राप्त हो जाएगी और साथ में मेरा नाम भी होगा, तो भूतहित व अहंतृप्ति दो उद्देश्य कहे जायेंगे। कोई आचार्य प्राचीन व्याकरण-विद्या की रक्षा के लिए अध्यापन कर्म में प्रवृत्त हुआ-हुआ साथ में यह भी विचार करता है कि इससे जिज्ञासुओं को लाभ होगा, मेरी जीविका भी इसके द्वारा चलती रहेगी और लोक में कीर्ति भी प्राप्त होगी तो उसके इस कर्म के पीछे चार उद्देश्य (उत्प्रेरक हेतु) कहे जाएंगे। कोई योगी अनन्त के लिए भूतों की सेवा का कार्य करता है, तो उसके सेवा रूप कर्म के प्रथम दो उद्देश्य कहे जाएंगे। इन पाँचों उत्प्रेरकों में भी प्रधान-गौण भाव तो सदा रहता ही है।

प्रायः कोई एक उद्देश्य प्रमुख होता है तथा शेष गौण। उनमें भी गौण-गौणतर-गौणतम के तारतम्य से कर्म के आनुषङ्गिक उद्देश्य हो सकते हैं। यह सब-का-सब व्यक्ति के ज्ञान, रुचि, सामर्थ्य, प्रकृति व भावना पर निर्भर करता है कि वह क्या चाहता है? जो चाहता है वही उसे मिलता है। चाहत से रत्ती भर भी न ज्यादा मिलता है न कम। जिस उद्देश्य को मुख्यता देता है उसका वैसा ही मुख्य फल तथा जिसको गौण स्थान पर रखता है उसका गौणफल कर्मकर्त्ता को प्राप्त होता रहता है। जो अपने कर्म का उद्देश्य भगवान् को बनाता है उसे भगवान् मिलता है, धन को तो धन, कीर्ति को तो कीर्ति जो स्वान्तःसुखाय कर्म करता है, उसका अन्तःकरण उस कर्म के फलस्वरूप आन्तरिक सन्तोष से भर जाता है या यों कहें उस कर्म के परिणामस्वरूप शनैः शनैः उसका चित्त शुद्ध व निर्मल होता जाता है। यह प्रत्यक्ष अनुभूत है। अहंतृप्ति के लिए करता है तो वही मिलती है।

कर्म अथवा कर्म के उद्देश्य के चुनाव में तो व्यक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र है। पर कारण-कार्य नियम के अखण्ड सिद्धान्त के तहत उसको उस कर्म का वह-वह फल भी स्वीकार करना होता है, फिर किसी भी उपाय से कैसे भी उससे नहीं बचा जा सकता। मात्र अहंतृप्ति के लिए किया गया कर्म हो, बाह्य रूप में कितना भी बड़े-से-बड़ा हो, भगवान् को कदापि प्राप्त नहीं करा सकता। दूसरी ओर झाड़ू लगाना इत्यादि छोटे-से-छोटा कर्म भी यदि अन्तर्यामी भगवान् को उद्देश्य बनाकर किया जाता है तो वह निश्चित रूप से भगवत्-मिलन का एक महाद्वार बन जाता है।

सन्त लॉरेन्स ने मठ में संन्यासियों के लिए भोजनादि बनाते हुए ही उस 'परम' को प्राप्त कर लिया था। ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। गीताकार ने भी अपना सुनिश्चित निर्णय इसी पक्ष में दिया है **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'** अर्थात् अपने सहज प्राप्त कर्म के द्वारा भगवान् का भजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

श्री महाराज इस विषय में एक आख्यान सुनाया करते हैं कि कैसे छोटे-से-छोटे स्वार्थ-रहित कर्म के द्वारा भी व्यक्ति भगवान् का प्रिय बन सकता है। आख्यान का भाव इस प्रकार है कि एक व्यक्ति के मन में यह विचार जागरित हुआ कि मैं अपने राजा का प्रेम पात्र बनूँ, पर उसके पास न धन था, न विद्या, न बल, न विशेष बुद्धि, न लोक कीर्ति उसने विचार किया- इस स्थिति में तू राजा का सेवक तो नहीं बन सकता, पर राजा के छोटे-से-छोटे सेवक का सेवक तो बन ही सकता है। यह सोचकर वह राजा के एक छोटे से क्लर्क के पास पहुँचा और उससे कहने लगा कि हमारे राजा साहब बड़े धार्मिक हैं। आप उनके सेवक हैं। मुझे आप अपना सेवक बना लीजिए, मैं इसी से समझूँगा कि मेरी सेवाएँ आपके माध्यम से राजा तक पहुँच रही हैं। मुझे सेवा के बदले में कुछ नहीं चाहिए। बस, सेवा मात्र करना चाहता हूँ। उसने कहा- यदि ऐसी बात है तो इससे मुझे क्या दिक्कत है, आप लग जाइए। अब तो वह प्रातःकाल से सायंकाल तक अत्यन्त प्रेम भाव के साथ वस्तुओं को व्यवस्थित रखने, सफाई करने, घर को विविध तरीके से सजाने इत्यादि कामों में व्यस्त रहने लगा। वहाँ रहते हुए तीन मास में घर का नक्शा ही बदल दिया। घर के आस-पास जो रिक्त स्थान पड़ा हुआ था, उसमें फुलवारी व घास लगा दी। फूलों की महक उठने लगी। आने-जाने वाले सब लोग उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार से बड़े ही मुग्ध होने लगे। एक दिन क्लर्क का एक उच्च अधिकारी किसी कार्यवश उसके घर आया। घर के बदले हुए रूप को देखकर पूछने लगा- भाई! आपने तो घर को बहुत अच्छा सजा रखा है। क्लर्क ने उत्तर दिया कि जी! मैंने कहाँ सजा रखा है, यह तो इन महानुभाव की कृपा का फल है। वह पूछने लगा- कितने पैसे देते हो? क्लर्क ने उत्तर दिया कि पैसा यह एक नहीं लेता। यह तो बड़ा ही विचित्र महानुभाव है, कहने लगा- मैं तो सेवा करना चाहता हूँ, बदले में मुझे रुपया-पैसा-प्रशंसा-सुख-सुविधा कुछ नहीं चाहिए।

उस अधिकारी के मन में लोभ आना ही था। कहने लगा कि इन्हें कुछ दिनों हमारे घर पर भेज दो। क्लर्क अपने बॉस के सामने क्या बोलता- उसने 'ठीक है' कहते हुए उस सेवक को अपने उच्च अधिकारी के घर भिजवा दिया। उसने वहाँ जाकर कुछ दिन में उसी प्रकार उसके घर को भी चमका दिया। यहाँ रहते हुए उसे चार मास ही हुए थे कि इससे भी ऊँचे अफसर (Senior officer) का अकस्मात् आना हो गया। ये भी घर की सुव्यवस्था को देखकर दंग रह गए। पूछताछ करने पर अधीनस्थ अधिकारी (Subordinate) ने सब हाल कह सुनाया। बॉस ने कहा- अच्छा इन्हें कुछ समय के लिए हमारे पास भेजो। इस प्रकार करते-करते उस सेवक को एक-से-एक उच्च अधिकारी के पास सेवा का मौका मिलता गया और जिसके पास जाए, वही इसकी सेवा से तृप्त हो जाए।

अन्त में राजा तक बात पहुँच गईं राजा ने कहा- इस व्यक्ति को स्थायी रूप से हमारे यहाँ कोठी पर सेवा में नियुक्त कर दिया जाए तथा इन्हें १०,००० रुपये मासिक वेतन दिया जाए। सेवक ने कहा- महाराज! सेवा तो मैं अवश्य करूँगा, पर यह मेरा व्रत है कि सेवा के बदले भौतिक पुरस्कार नहीं चाहूँगा। केवल आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिए बड़े-से-बड़ा फल होगा। अब तो राजा और भी अधिक प्रभावित हुआ और उसको अपना निजी सेवक बना लिया।

श्री महाराज इस कहानी के द्वारा समझाते हैं कि हम जहाँ हैं, वहाँ उसी स्थिति में निःस्वार्थ और निष्काम भाव से यदि सेवा रूप कर्म में जुट जाते हैं तो जैसे वस्त्र के एक सिरे को खींचने से सम्पूर्ण वस्त्र खिंचा चला आता है, उसी प्रकार समष्टि के छोटे-से-छोटे रूप के साथ सेवा भाव से संयुक्त होने पर सम्पूर्ण समष्टि के साथ सम्बन्ध हो जाता है और शनैः शनैः इस समष्टि के स्वामी से संयुक्त होकर हम उसके भी प्रिय पात्र बन जाते हैं। शर्त है, अपनी की जा रही सेवा के बदले कुछ धन-मान-पुरस्कारादि पाने की भावना अपने मन में न रखी जाए।

स्पष्टता के लिए और भी विस्तार से कहा जा रहा है। अनन्त के लिए तथा सर्वभूतहित के लिए किये गए कर्म चित्त-शुद्धि रूपी फल की दृष्टि से अत्यन्त सामीप्य रखते हैं, फिर भी व्यक्ति विशेष की आन्तरिक माँग के अनुसार ये दो उत्प्रेरक पृथक्-पृथक् माने गए हैं। शास्त्रकारों के द्वारा ब्रह्म के दो रूप कहे गये हैं- निर्गुण व सगुण, अमूर्त्त-मूर्त्त, अव्यक्त-व्यक्त, स्थिति-गति (Static-Dynamic), ऋत-सत्य। कोई व्यक्ति ब्रह्म के निर्गुण, अमूर्त्त या अव्यक्त रूप, जो कि घट-घट में अन्तर्यामी रूप से बसा हुआ है, उसे अपनी सत्ता का सारतत्त्व मानकर उसके लिए ही अपने छोटे-से-छोटे व बड़े-से-बड़े समस्त कर्मों की आहुति दे रहा है तो कहा जाएगा कि वह व्यक्ति अनन्त के लिए कर्म कर रहा है।

इसी भाव को प्रकट करने वाले वचन व्यासभाष्य (योगदर्शन) में भी कहे गए हैं- **'परमगुरौ सर्वक्रियाणामर्पणं तत्फलसंन्यासो वा'।** अन्यत्र भी कहा है- **कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्। तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्।।** अर्थात् फल की इच्छा से अथवा निष्कामभाव से जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म मैं करता हूँ वह सब हे परमेश्वर! आपको अर्पित करता हूँ। क्योंकि आप अन्तर्यामी से प्रेरित होकर ही मैं कर्म करता हूँ, अन्यथा नहीं। श्रीअरविन्द-योग की तो मूल भित्ति ही है- 'भगवान् के लिए काम'। इतिहास में कुछ ऐसे व्यक्ति होते रहे हैं और अब भी हैं, चाहे ऐसे व्यक्तियों की संख्या अति स्वल्प ही क्यों न हो- जो समष्टि से प्रकटतः उदासीन दिखाई देते हुए (यद्यपि उस अवस्था में भी वे समष्टि से उदासीन नहीं होते हैं) अपनी आन्तरिक पुकार विशेष के कारण पूर्ण मौन में चले जाते हैं, ऐसे व्यक्तियों के परिप्रेक्ष्य में 'अनन्त के लिए कर्म' की उक्ति को सरलता से समझा जा सकता है। यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि सक्रिय जीवन में अनन्त के लिए कर्म नहीं हो सकता। यह सब तो व्यक्ति की मनःस्थिति पर निर्भर करता है कि वह भावनाओं के इस विशाल राज्य में कहाँ खड़ा है? अस्तु। सगुण, मूर्त्त या व्यक्त ब्रह्म को अर्थात् इस समष्टि को इष्टदेव समझकर जो कर्मरत हैं, वे

ही हैं सर्वभूतहित के लिए कर्म करने वाले करुणार्द्रचेता महामानव। कला को इस धरती पर जीवित रखने के लिए जो कला-प्रवण हुए कर्मरत हैं वे तृतीय कोटि में खड़े होते हैं। कला भी अनन्त के लिए अथवा समष्टि के लिए हो सकती है पर ये लोग कला का आश्रय कला के लिए लेते हैं। इसी प्रकार सभी कर्मों को इस बिन्दु से देखा या समझा जा सकता है। आजीविका तथा अहंतृप्ति के विषय में पहले ही पर्याप्त विचार हो चुका है, अतः पुनः कथन अनावश्यक है।

'अनन्त के लिए कर्म' इस बिन्दु को समझने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण दिया जा रहा है। 'तानसेन' तथा उसका साथी 'बैजू बावरा' जो बाद में तो अकबर के दरबार के गायक हो गये, पर पहले वे एक अन्य माण्डलिक राजा के यहाँ रहते थे। उस राजा का नाम था- 'देवास'। अकबर को पता चला कि तानसेन और उसका साथी बहुत अच्छा राग सुनाते हैं तथा आजकल राजा देवास के यहाँ हैं। अकबर ने देवास के पास सूचना भिजवायी कि उन दोनों विशिष्ट गायकों को अविलम्ब मेरे पास भेजा जाए। पहली बार तो राजा देवास ने अकबर के आदेश को अनसुना कर दिया, पर अकबर ने पुनः कठोर आदेश जारी कर दिया तो देवास ने उनको अकबर के यहाँ भेजने के लिए पालकी का प्रबन्ध किया। तानसेन जब पालकी में बैठ गए तो उन्हें बेखबर रखकर कुछ दूर तक पालकी को राजा देवास ने स्वयं कन्धा लगा दिया। तानसेन ने सोचा अब राजा से अन्तिम विदाई ले लेनी चाहिए। जैसे ही वे पालकी को रुकवाते हैं तो देखते हैं कि राजा ही पालकी को कन्धा लगाए हुए हैं। यह देखकर तानसेन राजा से कहते हैं कि राजन्! आपने यह क्या किया? राजा कहता है- यह सब तो आपके सम्मान बतौर किया गया है। आपके सम्मान के रूप में इतना तो होना ही चाहिए था। तानसेन भी दायें हाथ से सलाम करता है और कहता है कि राजन्! मेरा भी यह दायाँ हाथ सदा आपके ही सम्मान के लिए रहेगा। यह हाथ अन्य किसी का सम्मान नहीं करेगा।

जब अकबर के दरबार में पहुँचते हैं तो तानसेन पालकी से नीचे उतर कर राजा को बाँये हाथ से सलाम करता है। बाँये हाथ से सलाम क्यों किया- यह पूछने पर तानसेन जवाब देता है कि दायाँ हाथ तो मैं राजा देवास को उनके सम्मान के वास्ते दे चुका, अब वह तो उन्हीं का हो चुका है। खैर! चूँकि अकबर को उसका राग सुनने की इच्छा थी, अतः उसके द्वारा किये गए इस अपमान को सहन कर लिया। जब तानसेन राग सुनाता है तो सारी सभा मुग्ध हो जाती है। अकबर कहने लगता है- ओह! आप जैसा गायक तो बहुत सम्भव है दुनिया में दूसरा न हो। तानसेन उत्तर देता है- नहीं! मेरे गुरु मुझसे भी अच्छे हैं। तब तो अकबर औत्सुक्य वश कहने लगता है- क्या आप उनसे मिला सकते हैं? तानसेन कहता है- मिला तो सकता हूँ, पर मिलने का क्या लाभ, किसी मनुष्य को खुश करने के लिए वे गाते नहीं हैं। अकबर कहता है- एक बार किसी भी तरह उनका राग अवश्य सुनवाओ। बहुत आग्रह करने पर तानसेन राजी हो जाता है तथा अकबर को साथ लेकर अपने गुरुजी के आवास स्थान पर पहुँच जाता है।

अकबर को एक तरफ ओट में छिपकर बैठे रहने के लिए कहकर तानसेन अकेला ही गुरु

चरणों में उपस्थित होता है। कुशल-क्षेम पूछने पर गुरुजी कहते हैं, तानसेन! सुनाओ कोई राग। तानसेन सबसे बढ़िया राग सुनाना आरम्भ करता है, लेकिन थोड़ा-सा राग सुनाते ही जान-बूझकर त्रुटि कर देता है। गुरुजी कहते हैं- तानसेन क्या कर रहे हो? तानसेन कहने लगता है- गुरुजी! ऐसा ही तो आपने सिखाया था। फिर तो गुरुजी क्रोधित होकर कहने लगते हैं, अच्छा! मुझे ही दोष लगाते हो। गुरुजी उठकर तानसेन की बड़ी पिटाई करते हैं। तानसेन कहता है- गुरुजी! एक बार आप मुझे फिर से गाकर बता दीजिए, मैं आगे से पुनः त्रुटि नहीं करूँगा। अब तो गुरुजी जैसे ही राग छेड़ते हैं, महर हो जाती है, अकबर बेसुध होकर गिर पड़ता है। पर महात्मा जी तो सदा उस अनन्त को खुश करने के लिए ही गाते हैं।

- किसी पहुँचे हुए भक्त से किसी ने पूछा कि आप अध्यात्म में बहुत पहुँचे हुए हैं। आपकी इस सिद्धि का रहस्य क्या है? भक्त ने उत्तर दिया- "मैं पहुँचा हुआ हूँ या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता। मैं तो इतना जानता हूँ कि मैंने एक काम किया है- जो कुछ भी मुझे मिला, उसे मैंने लुटा दिया"। **स्वमहिमानमायजताम्।**

*****

☞ जहाँ मन्त्र मुख्य है और प्रेम गौण- वह पूजा!

☞ जहाँ प्रेम मुख्य और मन्त्र गौण- वह सेवा (भक्ति)!

☞ जहाँ प्रेम है वहाँ सन्निधि है।

☞ लक्ष्यहीन मन बेचैन रहता है; उसको अवलम्बन के लिए कोई प्रतीक चाहिए।

☞ जे आचरहिं ते नर न घनेरे।

☞ जानने से पूर्व केवल स्मृति मात्र से ही किसी पावन भाव-धारा का रस सारे अंगों को सराबोर कर दे उसको कहते हैं मानना।

☞ वर्डस्वर्थ का स्मारक- 'बहुतों में से कोई एक' (Anyone of the many)। यही बात भगवान् कृष्ण की- 'ग्वाल बालों में से कोई एक'।

☞ शरणम्= उपसंहार का स्थान! सिमटने का स्थान!

☞ जब मैं कहता हूँ कि 'मैं हूँ' तो मैं सब जड़-चेतन परिवार में हूँ।
जब कहता हूँ 'इन्सान हूँ' तो कुछ सिकुड़ जाता हूँ।
जब कहता हूँ 'हिन्दुस्तानी हूँ' तो कुछ और सिकुड़ जाता हूँ।
जब कहता हूँ 'अमुक नाम हूँ' तो सर्वथा सिकुड़ जाता हूँ।
क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से मेरा सम्बन्ध सीमित हो जाता है।
यह हूँ (अन्वय), यह नहीं हूँ (व्यतिरेक)। 'मैं हूँ' में कोई सीमा नहीं है।

☞ अराति (कृपण) उस डूबते को इस कारण नहीं बचाता कि इसके बचाने से मुझे क्या लाभ?

७. सच्चे तीर्थ

प्राचीन भारतीय शास्त्रों को देखने से पता चलता है कि तीर्थ यात्रा और तीर्थ स्नान का विशेष महत्त्व था। उस प्राचीन समय में तीर्थ भू-सन्निवेश के विशिष्ट केन्द्र थे। नदियों के निर्जन तटों पर और घने जंगलों में जब मनुष्य समुदाय पहुँचता और बस्तियों की कल्पना की जाती थी, तब तीर्थों का जन्म होता था। तीर्थ-स्थान जन-निवास, धर्म, विद्या, व्यापार और संस्कृति आदि के केन्द्र बन जाते थे। पुराणों व महाभारत के समस्त तीर्थयात्रा प्रसङ्गों को टटोला जाए, तो उसका निश्चित फल भारत भूमि का विशद परिचय है। तीर्थयात्रा द्वारा अपनी भूमि का साक्षात् दर्शन किया जाता था। तीर्थ जो कि परिक्रमा के रूप में प्रसिद्ध हैं, उन्हें तीर्थ-यात्री क्रमानुसार देखता हुआ चलता था। इस प्रकार चारों दिशाओं की यात्रा या परिक्रमा का दूसरा नाम प्रदक्षिणा है। इसमें यात्री घड़ी की सुई की तरह सदा अपने दायें हाथ की ओर घूमता है। महाभारत में युधिष्ठिर आदि के वनवास-काल की तीन तीर्थयात्रा-प्रसङ्गों का संकेत मिलता है:-

१. पुलस्त्य तीर्थ यात्रा (आरण्यक अ० ८०-८३), **२. धौम्य तीर्थ यात्रा** (आरण्यक अ० ८५-८८)
३. लोमश तीर्थ यात्रा (आरण्यक अ० ८९-१५३)

लोमश युधिष्ठिर से कहता है -'मैं स्वयं दो बार तीर्थों को देख चुका हूँ; आपके साथ तीसरी बार फिर देखूँगा। पुण्यात्मा मनु आदि राजर्षि भी इस तीर्थ यात्रा पर जा चुके हैं'। लोमश युधिष्ठिर को यह भी सलाह देता है कि 'यात्रा पर बोझ के बिना हल्के होकर चलना चाहिए। जो हल्का है, वह अपनी इच्छानुसार यात्रा कर सकता है'। तीर्थ-यात्रा का यह भौतिक पक्ष है। अपरिचित स्थानों और वहाँ के निवासियों से मिलकर मनुष्य के ज्ञान में तो वृद्धि होती ही है, साथ में अपरिचित लोगों से मिलने पर मन अज्ञात भय से मुक्त हो जाता है और उसके स्थान में प्रीति का सञ्चार होता है।

इसके साथ-साथ भारतीय मनीषियों ने तीर्थ के साथ आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी जोड़ दिया है। पुलस्त्य तीर्थ-यात्रा प्रकरण के आरम्भ में पुलस्त्य के द्वारा तीर्थ के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की व्याख्या की गयी है- 'जिसके हाथ, पैर और मन सुसंयत हैं, जिसमें विद्या, तप और कीर्ति है, वह तीर्थ का फल पा लेता है। जो दान नहीं लेता, आत्म-सन्तोषी, पवित्र, नियमों का पालन करने वाला और अहङ्कार से रहित है, वह तीर्थ का फल पाता है। जो दम्भ-रहित, त्यागी, जितेन्द्रिय, स्वल्पाहारी और सब दोषों से मुक्त है, वह तीर्थ का फल पाता है। क्रोधरहित, सत्यशील, व्रतों में दृढ़ और सब प्राणियों को समान जानने वाला मनुष्य तीर्थ का फल पाता है'। इसी प्रकार धौम्य तीर्थ यात्रा के अन्त में कहा गया है- 'वही सच्चा तीर्थ और वहीं सब धाम हैं जहाँ नारायण सनातन देव विद्यमान है। वहीं तपोधन देवर्षि और सिद्धों के पवित्र तीर्थ हैं, जहाँ महान् योगेश्वर आदि-देव मधुसूदन का निवास है'।

तीसरी लोमश तीर्थ-यात्रा प्रसङ्ग में भी युधिष्ठिर आदि को व्यास जी अपना संदेश देते हैं- 'मन में पवित्रता का संकल्प लेकर शुद्ध भाव से तीर्थों में जाना चाहिए। शरीर द्वारा नियम-पालन

और शुद्धि तो मानुषी व्रत है, किन्तु मन द्वारा बुद्धि को शुद्ध रखना दैवी व्रत है। जो क्षत्रिय स्वभाव से शूर होते हैं उनका मन पर्याप्त मात्रा में शुद्ध कहा जा सकता है। अतएव मेरा यही कहना है कि तुम अपने मन में सबके प्रति मैत्री का भाव भरकर तीर्थों में जाओ। शारीरिक नियम व मानसी शुद्धि का निर्वाह करने से तुम्हें तीर्थ यात्रा का पूरा फल मिलेगा'।

महाभारत उद्योग पर्व में भी महामति विदुर के द्वारा धृतराष्ट्र को उपदेश देते हुए कहा गया है-

आत्मा नदी भारत! पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।

तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा, पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव।।(उद्योग ४०.२१)

हे भरतवंशी! पुण्यरूपी घाटवाली, सत्यरूपी जलवाली, धैर्यरूपी तटों वाली और दयारूपी लहरों वाली एक नदी है, जिसे आत्मा कहते हैं। उस आत्मा रूपी नदी में स्नान किया हुआ पुण्यकर्मकारी मनुष्य शुद्ध होता है। स्वरूपतः आत्मा तो पुण्यरूप ही है और नित्य लोभ रहित है।

अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर भीष्म से पूछता है कि हे पितामह! जो सब तीर्थों में श्रेष्ठ हो और जहाँ जाने से परम शुद्धि हो जाती हो, मुझे उस तीर्थ के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बताइए। युधिष्ठिर के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्मजी कहते हैं -

हे युधिष्ठिर! इस पृथ्वी पर जितने भी तीर्थ हैं वे सब मनीषी लोगों के लिए गुणकारी होते हैं। किन्तु उन सब में जो परम पवित्र और प्रधान तीर्थ है, उसका वर्णन करता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो-

अगाधे विमले शुद्धे, सत्यतोये धृतिह्रदे।

स्नातव्यं मानसे तीर्थे, सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम्।।(अनु० १०८.३)

गहरे निर्मल शुद्ध सत्यरूपी जल वाले और धैर्यरूपी सरोवर वाले मानस आन्तरिक तीर्थ में, सदा स्थिर रहने वाले सत्त्व अर्थात् विशुद्ध ज्ञान का सहारा लेकर स्नान करना चाहिए।

तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम्।

अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः।।(अनु० १०८.४)

तीर्थ में शुद्धि का अभिप्राय है- याचना न करना, सरलता, सत्य, कोमलता, अहिंसा, सब प्राणियों पर करुणा, मन पर नियन्त्रण और शान्ति।

निर्ममा निरहङ्काराः, निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः।

शुचयस्तीर्थभूतास्ते, ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते।।(अनु० १०८.५)

जो ममता रहित, अहङ्कार रहित, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों से रहित, सङ्ग्रहवृत्ति से रहित, पवित्र और भिक्षा से गुजारा करने वाले मनुष्य हैं, वे ही तीर्थ रूप हैं।

नोदकक्लिन्नगात्रस्तु, स्नात इत्यभिधीयते।

स स्नातो यो दमस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः।।(अनु० १०८.६)

जल से भीगे हुए शरीर वाला 'नहाया हुआ' नहीं कहलाता अपितु 'नहाया हुआ' वह है जो 'दम' (मन के नियन्त्रण) रूपी जल से नहाया हुआ है। वही बाहर-भीतर से शुद्ध है।

मनसा च प्रदीप्तेन, ब्रह्मज्ञानजलेन च।

स्नाति यो मानसे तीर्थे, तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः।।(अनु० १०८.१३)

जो प्रसन्न एवं शुद्ध मन से ब्रह्म ज्ञान, ईश्वरानुभूति रूपी जल के द्वारा मानस तीर्थ में स्नान करता है, तात्त्विक दृष्टि वाले के लिए वही (असली) स्नान है। एक और भी अज्ञात श्लोक मिलता है जिसमें भीष्म युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए सच्ची शुद्धि का उपाय बता रहे हैं-

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था, सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा।।

आत्मा एक नदी है जिसके संयम और पुण्य घाट हैं, सत्य जिसमें जल है, सदाचार जिसके तट हैं और दया की जिसमें लहरियाँ हैं। हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! उस आत्मा रूपी नदी में स्नान कर। जल से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती।

श्री महाराज इसी प्रकार का एक और भी आख्यान सुनाया करते हैं- युधिष्ठिर आदि जब तीर्थ-स्नान के लिए जा रहे थे, तो श्रीकृष्ण ने उनको एक तुम्बी दी, यह कहते हुए कि लौटते समय इस तुम्बी में तीर्थों का जल भरकर ले आएँ। युधिष्ठिर आदि के तीर्थ-स्थान से लौटने पर अब श्रीकृष्ण भगवान् उन सबको तुम्बी के जल का आचमन करवाते हैं। सबके सब उस जल को कड़वा कह कर जब थोड़ा पीछे हटते हैं, तो श्रीकृष्ण कहते हैं- क्या आप लोगों ने तुम्बी को तीर्थ में स्नान नहीं करवाया? उत्तर मिला- क्यों नहीं? स्नान तो करवाया ही, साथ में यह जल भी तो तीर्थ का ही है। अब श्रीकृष्ण तीर्थ-स्नान की व्याख्या करते हैं कि वस्तुतः जल से बाह्य शुद्धि मात्र होती है। जल से तुम्बी की जो आन्तरिक कड़वाहट है, उसे नहीं हटाया जा सकता। बस! इसी के समान मनुष्य भी तीर्थों के जल से बाह्य रूप से शुद्ध होता है और वह शुद्धि भी कोई शाश्वतिक नहीं है, कुछ समय बाद फिर वही अशुद्धि घेर लेती है। अधिक-से-अधिक किसी विशिष्ट तीर्थ जल में नहाने से शरीर के कुछ रोग दूर हो सकते हैं, जैसे- त्वचा रोग, गठिया-बाय इत्यादि। पर वह जल मनुष्य के मन में घुसे हुए राग-द्वेष का प्रक्षालन नहीं कर सकता। वह तो एक मात्र ज्ञान-जल से ही साफ किया जा सकता है। तीर्थ के सम्बन्ध में महाराज के कुछ महत्त्वपूर्ण वचन हैं-

- तीर्थ पर सहना चाहिए, कहना नहीं (बोलना नहीं)।
- धन्य हैं मनसा-वाचा-कर्मणा त्रिवेणी संगम में नहाये वे स्नातक जो सृष्टि संस्था के आधि, व्याधि और उपाधि रूपी कालुष्य को धोते हैं, उनको सभी तीर्थों के स्नान का पुण्य फल मिल चुका है।
- तीर्थों से लौटकर ऐसा अनुभव होना चाहिए जैसा कि नया जन्म हुआ है क्योंकि वहाँ पर जाने से देह धर्म छूट जाते हैं।
- किसी ने कहा- मैं सारे तीर्थ कर आया हूँ। क्या मुक्तिनाथ हो आये हो? क्योंकि वहाँ जाने पर देह धर्म छूट जाते हैं।

८. तीव्र इच्छा

मनुष्य जो कुछ भी है- अच्छा-बुरा, धार्मिक-अधार्मिक, विद्वान्-मूर्ख, निर्धन-सधन, निर्बल-सबल, ज्ञानी-अज्ञानी, सब कुछ इच्छा का ही प्रकट रूप है। मूलतः इच्छा रूपी बीज ही बाह्य परिस्थितियों से विकसित होता हुआ विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। विभिन्न बीजों के अन्दर निहित शक्ति के तारतम्य भेद से बीजों के अनेक रूप हो सकते हैं या हुआ करते हैं। बीज में जितनी अधिक शक्ति होती है, उतना ही वह नीचे गहराई में और ऊपर आकाश में अपनी विशालता को प्रकट करता है। जीवन के सन्दर्भ में भी इस इच्छा रूपी बीज की यही स्थिति है।

जैसा कि कहा गया- इच्छा के अन्दर रहने वाले वेग के अनुपात से इच्छा के असंख्य भेद हो सकते हैं। पर मोटे रूप में समझने के लिए सभी का मन्द, मध्यम व तीव्र, इन तीन रूपों में अन्तर्भाव करके उसके स्वरूप को समझा जा सकता है। मानव जीवन में आने वाली समस्याएँ चाहे किसी भी स्तर की हों- आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक या मनोवैज्ञानिक, एकमात्र तीव्र इच्छा (Burning Desire) में ही उनका समाधान छिपा हुआ है। इच्छा जब मन्द या मध्यम होती है, तब क्या होता है? इसे विशेष रूप से विश्लेषण करके देखना चाहिए। मनुष्य मात्र का यह स्वभाव है कि जब तक किसी काम को न करने से काम चलता रहता है अथवा उसके स्थान पर किसी दूसरे सरल विकल्प (Alternative) के द्वारा सन्तोष प्राप्त करने की सम्भावना दिखाई देती रहती है, तब तक वह अपनी उस इच्छा का स्थगन करता रहता है। पर जब किसी कार्य के किये बिना काम नहीं चलता, तो उसके लिए मन में तीव्र इच्छा का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। उस अवस्था में स्थगन के लिए कोई अवकाश नहीं रहता, न ही उसके स्थान में किसी अन्य विकल्प की ढूँढ-तलाश होती है। कम या ज्यादा प्रतिदिन ही यह विषय हम सबके अनुभव में आता रहता है।

पैर में काँटा लगने पर सब तरफ से अपने मन को हटाकर उसे निकालना ही होता है। जाने या अनजाने में हमारे शरीर का कोई भी अङ्ग मल-मूत्र से छू जाने पर कोई स्थगन की बात नहीं सोचता। आँख में कुछ कष्टदायक चीज धूल या मच्छर आदि गिर जाने पर उसे निकालने पर ही शान्ति लाभ होता है। उदर में पीड़ा बढ़ जाने पर चाहे रात्रि के १२ ही क्यों न बज रहे हों, तत्काल किसी भी उपाय से डॉक्टर के पास पहुँच ही जाते हैं। एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा जो यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाए कि प्रातःकाल देखेंगे। हाँ! अवश्य ही यह विचार तब आता है, जब पीड़ा कम हो और उसे प्रातःकाल तक सहन किया जा सके।

कोई व्यक्ति कहीं जा रहा है। अमूल्य आभूषणों से भरा थैला उसके पास है। मार्ग में किसी कुएँ पर पानी पीता है। कुछ देर विश्राम करने के बाद प्रमादवश उस थैले को वहीं छोड़कर पाँच मील दूर निकल जाता है। अकस्मात् उसे ध्यान आता है कि ओहो! थैला तो वहीं कुएँ पर छोड़ आया।

कल्पना की जा सकती है- उस व्यक्ति को अपना थैला प्राप्त करने के लिए कितना अधिक उत्कट संवेग होगा, ऐसी इस आन्तरिक उत्कट चाह का नाम है 'तीव्र इच्छा'। इसी का दूसरा नाम है अभीप्सा (Aspiration)। जो व्यक्ति प्यास से मर रहा हो, उस समय सब ओर से उसका मन हटकर जैसे एक मात्र जल पर केन्द्रित हो जाता है या कोई व्यक्ति ओलम्पिक में किसी प्रतियोगिता में भाग ले रहा हो, उस समय उसके मन-प्राण-इन्द्रियों की समस्त ऊर्जा एक क्षण के लिए भी अपने लक्ष्य से इधर उधर विचलित नहीं होती, उस स्थिति का नाम है 'तीव्र इच्छा'।

इस विषय में प्रतिदिन हमारे अनुभव में आने वाला एक और सरल उदाहरण श्री महाराज प्रायः सुनाया करते हैं- माता कुछ काम कर रही है, छोटा बच्चा उसके पास है, बार-बार रुदन मचाकर माँ को उसके कार्य में विघ्न पहुँचा रहा है। माँ उसको शान्त करने के लिए उसके हाथ में एक खिलौना दे देती है। बच्चा कुछ देर के लिए चुप हो जाता है, पर कुछ समय बाद फिर पूर्ववत् रोना प्रारम्भ कर देता है। पहले, बालक को आँखों का विषय खिलौना (अक्षिलावण्य) दिया था। अब माँ उसके हाथ में दूसरी इन्द्रिय का विषय झुनझुना दे देती है। इस बार भी कुछ देर शान्त रहकर फिर वही रुदन। माँ भी तीसरी इन्द्रिय का विषय एक पात्र में थोड़ा मधु उसके सामने रखकर चाटने के लिए उसको प्रेरित करती है। बच्चा कुछ समय के लिए फिर शान्त हो जाता है, पर इन अनित्य साधनों से कहाँ उसकी तृप्ति होने वाली है? वह तो बार-बार माँ का अमृतरूप स्तन्यपान करने के लिए रुदन मचा रहा था, पर वह माँ के द्वारा प्रस्तुत किये गए प्रलोभनों के फेर में पड़कर अपनी उस दिव्य इच्छा को भूल जाता था। लेकिन अबकी बार बच्चे की वह आन्तरिक प्यास अति प्रचण्ड हो उठी और किसी भी उपाय से, किसी भी साधन से जब वह बुझ न सकी, मन बहलाने का जो भी साधन उसके समक्ष रखा गया, उसे उसी क्षण जब बच्चे ने पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया तो माँ ने अन्त में उसे गोद में उठा लिया और एक मात्र उसकी अन्तिम इच्छा को पूरा किया। स्पष्ट है, यदि व्यक्ति अपने लक्ष्य को भूलकर किसी अन्य तरीके से सन्तुष्ट हो जाता है अथवा कुछ समय के लिए स्थगन को स्वीकार कर लेता है, तो समझना चाहिए अभी तीव्र इच्छा जागरित नहीं हुई है।

एक और उदाहारण दिया जा रहा है- मान लीजिए हमसे कोई शक्तिशाली हमारा पूज्य व्यक्ति हमको किसी जलकुण्ड में दबा देता है, हमारा श्वास घुटने लगता है। हम बाहर निकलना चाहते हैं, पर वह हमसे शक्तिशाली है। उस समय हम उस व्यक्ति के साथ पूज्यता की मर्यादाओं को भी तोड़कर किसी भी उपाय से बाहर निकलना चाहते हैं, बेशक उसके हाथ को अपने दाँत से काटना पड़े- वह भी कर सकते हैं, पर किसी भी तरह एक क्षण का विलम्ब सहन नहीं करते। यह है तीव्र इच्छा का वास्तविक स्वरूप।

समस्त जड़ व चेतन दृश्य जगत् के सन्दर्भ में हम सभी यथा-अवसर तीव्र इच्छा का प्रयोग करके अपना-अपना अभीष्ट सिद्ध करते हैं। इस विशाल संसार को गहरी आँखों से देखने से पता चलता है कि तीव्र इच्छा से प्रेरित होने पर व्यक्ति कितने आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाता है! भयंकर जल-जन्तुओं से पूर्ण इंग्लिश चैनल को तैर कर पार करने के लिए कूद पड़ता है। अपनी माँ से मिलने

की तीव्र आकांक्षा में अन्य उपाय न पाकर छिप-छिपाकर चुपके-से जाकर विमान के नीचे लटक जाता है और दो घण्टे तक उसी स्थिति में लटके हुए ही अपने गन्तव्य को प्राप्त करता है। और देखिए, इसी इच्छा के बल पर, रिवाड़ी जिले (हरियाणा) की सन्तोष यादव नाम की एक कन्या हिमालय की एवरेस्ट चोटी पर तीन बार चढ़कर नया कीर्तिमान स्थापित करती है।

इसी इच्छा से प्रेरित होकर U.S.A. का चार्ल्स फ्रास्ट नामक एक मोची रोज एक घण्टा अध्ययन करके एक महान् गणितज्ञ बन जाता है। गरीब घर का एक बच्चा जिसे स्कूल में एक दिन भी जाने को नहीं मिला, वह अमेरिका का राष्ट्रपति लिङ्कन बन जाता है। गैलीलियो का पिता उसे डॉक्टर बनाना चाहता था, पर वह शरीर-शास्त्र की पुस्तकों के नीचे गणित की पुस्तकें छिपाकर पढ़ता रहा और १८ वर्ष की अल्प वय में इसी इच्छा के बल पर पेण्डुलम के सिद्धान्त का आविष्कार कर दिखाया। अभी कुछ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत की एक नर्तकी की कार दुर्घटना में टाँग कट गई थी, फिर भी उसने मञ्च पर नृत्य करने की अपनी इच्छा का लोप नहीं होने दिया। कृत्रिम टाँग जुड़वायी, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाया और मञ्च पर पहले जैसा ही नृत्य करके दर्शकों को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। 'गिनीज बुक' इसी इच्छा का तो प्रकट रूप है। वहाँ हमें मनुष्य के द्वारा किये गए एक-से-एक विचित्र अद्भुत कारनामे देखने को मिलते हैं। विश्वास ही नहीं हो पाता, क्या मनुष्य इतना कुछ कर सकता है? दूसरी तरफ योगी लोग इच्छा मात्र का निरोध कर परम शान्ति लाभ करते हैं। प्रवृत्ति के लिए तीव्र इच्छा चाहिए, तो निवृत्ति भी उसी का परिणाम है।

श्री महाराज हमें समझाते हैं कि जो कुछ भी प्राप्त करना चाहते हो, तीव्र इच्छा के रूप में उस विषय की आग तुम्हारे अन्दर निरन्तर जलती रहनी चाहिए। वे कहते हैं- यह आग किसी अज्ञात कारण से भी जल सकती है और जलाई भी जा सकती है। उनका कहना है कि जो कुछ तुम चाहोगे उसमें भय, बाधा, प्रलोभन तो अवश्य आयेंगे, पर यदि तीव्र इच्छा होगी तो अन्त में तुम्हारी विजय होगी। मात्र इसी एक महान् साधन के द्वारा लक्ष्य पर एकाग्रता तथा अन्य सबकी उपेक्षा हो पाएगी। इसलिए इसे जितना बढ़ाया जा सके, उतना ही थोड़ा है। महाराज अपनी सहज भाषा में कहा करते हैं कि 'अन्न की कमी नहीं है, भूख की कमी है। पानी की कमी नहीं है, प्यास की कमी है'। यदि प्यास प्रचण्ड है तो पानी मिल ही जाएगा या खोज ही लिया जाएगा। इसमें न तो कुछ आश्चर्य है और न ही सन्देह। यह एक तथ्य है; केवल इसे समझना है। वे कहते हैं- वेदों में अग्नि को सम्बोधन करके जो प्रार्थनाएँ की गयी हैं **'अग्ने नय सुपथा राये'** इत्यादि, वहाँ यही तीव्र इच्छा रूपी अग्नि भी गृहीत की जा सकती है, जिसे साधक को आगे-ही-आगे ले जाने वाली कहा गया है।

एक दिन श्री पोहप सिंह जी फीदेड़ी (हरियाणा) निवासी लेखक को बता रहे थे कि श्री महाराज एक बार हम लोगों से कहने लगे- अरे! तुम कभी मेरे पास आकर रोये, बिलखे, तड़पे? भगवान् केवल कोरी बातें बनाने से या ऊँचे-ऊँचे प्रवचन सुनने मात्र से नहीं मिलेगा। उसके लिए एक सच्ची तड़प चाहिए। ऐसी तड़प जो किसी भी भय, बाधा या प्रलोभन से न दबाई जा सके। जब तक भगवान् के

लिए अपने हृदय में दीपक की अकम्पित लौ जैसी तीव्र इच्छा की आग नहीं जलाओगे, तब तक कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं है।

महाराज श्रीअरविन्द के द्वारा वैयक्तिक प्रयत्न के रूप में निर्दिष्ट तीव्र इच्छा (अभीप्सा), अस्वीकार (त्याग) व समर्पण से युक्त त्रिविध अभ्यास की चर्चा करते हुए कहा करते हैं कि भगवान् के लिए अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के लिए तीव्र इच्छा उत्पन्न होने पर, प्रकृति के द्वारा उपस्थित की गई बाधाओं का अस्वीकार सहज ही हो जाता है, और जब ये दोनों बातें पूर्ण हो जाती हैं तो उस परम सत्ता के प्रति अपने आपको समर्पण करने में कुछ कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार साधना के अन्तिम स्तर 'समर्पण' तक पहुँचाने वाली तीव्र इच्छा ही है।

समर्पण तक ही साधक के व्यक्तिगत प्रयत्न का उपयोग रहता है। आगे तो भगवान् स्वयं व्यक्ति की आत्मा में उतरकर सब कुछ अपने हाथ में ले लेते हैं। इसलिए श्रीअरविन्द ने सूत्ररूप में कहा है- तीव्र इच्छा और कृपा, जब ये दो शक्तियाँ मिलती हैं तो वह महान् और दुरूह कार्य सिद्ध हो जाता है जो हमारे प्रयास का विषय बना हुआ है। 'तीव्र इच्छा' व उसके साथ 'आसुरी प्रवृत्ति का परिवर्जन' व 'पूर्ण समर्पण' इस वैयक्तिक प्रयत्नरूप त्रिक के अनुपात में ही ऊपर से कृपा का उत्तर मिलता है, यह सदा याद रखना चाहिए।

*****

☞ करुणामय ने हमें भाग्य, लाभ, शुभ-विजय आदि पुण्यमयी माँगों की छटपटाहट से उसी दिन मुक्त कर दिया था जिस दिन यह मानव जन्म दिया। इस प्रकार यह साधन धाम शरीर एक तीर्थ है, जिसके द्वारा मनुष्य जो चाह रहा है, वह सब प्राप्त कर सकता है।

☞ **यूनानी फिलॉसफी**

बहादुरी हो जल्दबाज़ी न हो! दया हो कमजोरी न हो!
अहतियात हो बुज़दिली न हो! इन्साफ हो बदले की भावना न हो!
मौन हो दम्भ न हो! चतुराई हो दगाबाज़ी न हो!
मिठास हो खुशामद न हो! दृढ़ता हो ज़िद न हो!
सोच समझ हो पर टालने की आदत न हो! धीरज हो बेपरवाही न हो!
महत्त्वाकांक्षा हो खुदगर्जी न हो! दोस्ती हो बेजा-रियायत न हो!

☞ 'सत्संग' उतना ही अच्छा, जितने में राही को राह बताई जाए।

☞ मौन नित्य-वाणी है, भाषा का अजस्र प्रवाह है। बोलना उसमें बाधा डालता है। प्रेम की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में वाणी मौन हो जाती है।(महर्षि रमण)

☞ शब्द मारते हैं और भाव तारते हैं! शब्द से परे है शब्दातीत सत्य।

☞ धरती पर केवल दो ही ध्रुव सत्य हैं, जिनमें रूपान्तरण की शक्ति है। वे हैं : मृत्यु और प्रेम।

६. धीर की वाणी

सृष्टि के समस्त प्राणियों से मनुष्य का श्रेष्ठत्व या विशेषत्व मुख्य रूप से दो तत्त्वों के आधार पर है। एक विकसित मन और दूसरा वाणी। मनुष्य के मन में जो विचार और भाव उठते हैं, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति मुख-मुद्रा आदि के द्वारा भी होती रहती है, पर इतना तक तो अन्य योनियों में भी देखने को मिल सकता है। पशु-पक्षी आदि की भी क्रोधावस्था में अलग ही मुख-मुद्रा होती है तथा प्रेम की अवस्था में अलग, शोकावस्था में इन दोनों से भी अलग। लेकिन केवल मखमुद्रा द्वारा वे अपनी प्रत्येक भाव-भावना को सूक्ष्मता से प्रकट (Express) नहीं कर सकते, अपने दुःख-दर्द को मनुष्य की तरह नहीं बता सकते। उनके पास भी वाणी और मन दोनों हैं, पर वे दोनों-के-दोनों अविकसित अवस्था में हैं। इसलिए उनकी वाणी को अव्यक्त वाक् कहा जाता है, जबकि मनुष्य की वाणी व्यक्त वाक् है। यही कारण है कि मनुष्येतर योनियों में जन्म से मरण पर्यन्त जितना सहज ज्ञान उन्हें प्राप्त है, प्रायः वही रहता है। ज्ञान का विकास नहीं होता। कर्त्तुम्-अकर्त्तुम्-अन्यथाकर्त्तुम् में वे स्वतन्त्र नहीं हैं।

इसलिए कहा जाता है- मनुष्य कर्म करता है जबकि पशुओं के द्वारा कर्म होते हैं। उनमें सहज अनन्त प्रेरणाएँ (Impulses) उठती हैं। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो उनके द्वारा वे-वे कर्म होते रहते हैं। वहाँ धर्म-अधर्म या ज्ञान बीच में आकर उन प्रेरणाओं का नियन्त्रण नहीं करता, क्योंकि धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, ज्ञान आदि ये सभी विकसित मन में ही रह सकते हैं। वहाँ एक का विशेष बोध दूसरे प्राणी में संक्रान्त नहीं होता या नहीं हो सकता। पर मनुष्य का जीवन अलग ढंग का है। यहाँ भी अन्तःप्रेरणाएँ तो उठती रहती हैं, लेकिन मनुष्य विकसित मन वाला है, अतः उसके द्वारा वह अपनी व अपने मनुष्य भाइयों की लाभ-हानि का विचार कर सकता है। यदि वह हानिकारक अन्तःप्रेरणा है तो स्वयं के लिए भी नियन्त्रण कर सकता है और वाणी के द्वारा उस प्रकार की प्रेरणा से होने वाली हानियों को दूसरों को भी समझा सकता है। लाभकारी प्रेरणा है तो उसे भी उसी रूप में समझ और समझा सकता है। अपनी विशिष्ट उपलब्धियों को दूसरों तक संक्रान्त कर सकता है।

सामाजिक-औद्योगिक-साहित्यिक-आध्यात्मिक-कला-नृत्य-गीत-गायन-वादन आदि विविध क्षेत्रों में जो आज मनुष्य की क्षमता का असाधारण विकास दिखाई दे रहा है, वह सब मनुष्य को प्राप्त मन व वाणी का ही मुँह बोलता उदाहरण है। जो व्यक्ति या समाज इन दोनों (मन व वाणी) की महत्ता को समझकर जिस अनुपात में इनके प्रति जागरूक हो जाता है, उसी अनुपात में उन्नत होता चला जाता है। 'काव्यादर्श' के लेखक की यह उक्ति पूर्णतः सत्य है-

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

अर्थात् यह शब्द नाम वाली ज्योति यदि संसार को प्रकाशित न करे, तो तीनों लोक गहन

अन्धकार से आच्छादित हो जाएँ। इस ज्योति के प्रकट होने का क्रम यही है- पहले यह वक्ता के मन में प्रकाशित होती है और फिर वैखरी वाणी का रूप धारण कर लेती है। गोपथ ब्राह्मण की सावित्री विद्या में सविता-सावित्री के बारह मिथुन या जोड़ों का परिगणन किया गया है। उनमें एक जोड़ा मन और वाक् को बतलाया है। मन सविता है, वाक् सावित्री। सविता की शक्ति का नाम ही सावित्री है। प्रेरणा के मूल केन्द्र का नाम सविता है, वहाँ से उत्थित हुई शक्ति को सावित्री कहा जाता है।

वाणी की महत्ता पर प्रकाश डालने वाला एक प्रसङ्ग प्रश्नोत्तर शैली में यजुर्वेद में भी आता है। वहाँ पूछा गया- **'कस्य मात्रा न विद्यते?'** वह क्या चीज है जिसका कोई परिमाण नहीं है? उत्तर दिया- **'गोस्तु मात्रा न विद्यते'** अर्थात् वाणी का कोई परिमाण नहीं है। यहाँ 'गो' का अर्थ वाणी भी है। वाणी के द्वारा कितना लाभ हो जाए अथवा कितनी हानि हो जाए, इसको आँका नहीं जा सकता। अपरिमित लाभ हो सकता है तो अपरिमित हानि भी हो सकती है।

ऐतरेय उपनिषद् में एक जगह कहा गया है- **'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'।** अर्थात् अग्नि ही वाणी का रूप धारण कर मुख में बैठी हुई है। आज के विज्ञान-प्रधान युग में अग्नि सुव्यवस्थित रूप में प्रयोग की गई मानव के लिए कितनी उपयोगी सिद्ध हो रही है- इसे सहज ही समझा जा सकता है। वही अग्नि परमाणु-बम के रूप में जब प्रयुक्त होती है तो महाविनाश का दृश्य उपस्थित कर देती है। पाकशाला में भोजन भी अग्नि के द्वारा ही बनता है, पर जब कभी प्रमाद वश आग लग जाती है तो सब कुछ जलाकर भस्म कर देना भी इसी अग्नि का काम है। यह एक ऐसी दुधारी तलवार है कि यदि इसको चलाने वाला कुशल नहीं है तो स्वयं को महादुःख सागर में डुबो सकता है। इसीलिए महाराज ने आश्रम के शिलालेख में लिखवाया है- **'नमो वाचो विभूतये'** वाणी की विभूति जिसके पास है ऐसे ऐश्वर्यशाली महापुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ।

मनुष्य सामान्य रूप से बोलना तो जन्म लेने के चार-पाँच वर्ष बाद ही सीख जाता है, पर क्या बोलना, कितना बोलना और कैसे बोलना, यह सत्तर वर्ष का होकर भी शायद कोई विरला ही पूरी तरह सीख पाता है। किसी विशेष अपवाद स्थल को छोड़कर वाणी का सुन्दरतम रूप क्या हो सकता है- इस बात को प्रकट करने वाला आश्रम में एक शिलालेख है-

सत्यं हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

जो वाणी सत्य हो, मनोहारी (प्रिय) हो और साथ में जिसको सुनाई जा रही है उसे अच्छी भी लगे, ऐसी वाणी ही अत्युत्तम मानी जाती है। इस संसार में ऐसे लोग बहुत मिल जायेंगे जो सत्य तो बोलते हैं पर यह ध्यान नहीं रखते कि श्रोता का इससे हित होने के बजाए कहीं अहित तो नहीं हो रहा? ऐसा सच किस काम का जिसको सुनकर किसी भी रूप में सुनने वाला हताश-निराश हो जाए और उसका उत्साह ही जाता रहे? इसी प्रकार वाणी सच भी हो सकती है और मनोहारी (प्रिय) भी, पर यदि वक्ता का प्रस्तुतीकरण बेढंगा है, श्रोता को प्रिय नहीं लगता, तो भी वह पूर्ण वाक् नहीं कही जाएगी, क्योंकि अप्रिय वाक् अधिकतर श्रोता को वक्ता का विद्वेषी ही बना देती है। स्पष्ट है कि वैसी स्थिति में श्रोता वक्ता के द्वारा

कही गई बात से कुछ लाभ नहीं ले सकता। ऐसे में बात संवाद से विवाद का स्थान ग्रहण कर लेती है। अतः बोलने वाले को इस बात का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसका अपनी बात कहने का ढंग अप्रिय न हो।

बहुत लोग अपनी बात कहते हुए दूसरों पर व्यंग्य करते रहते हैं व दूसरों को किसी भी तरह नीचा दिखाना या चुप कर देना उनका लक्ष्य होता है। ले-देकर किसी भी उपाय से अपनी बात को ही ऊपर रखते हैं या रखना चाहते हैं। लेकिन ध्यान रखना चाहिए- अपने अहं को सदा ऊपर रखना तथा दूसरों को झुकाते चले जाना, ऐसा करने वाला व्यक्ति कभी भी लोकप्रिय नहीं हो सकता। कहावत है- ''वाणी की ओट में दुनिया के सब खजाने छिपे पड़े हैं''। इसके पीछे यही सत्य काम कर रहा है कि सत्य, हितकर व प्रिय बोलने वाला सबका प्यारा होता चला जाता है। ऐसे व्यक्ति से बात करने में दूसरों को बहुत आनन्द आता है, जब कि अहंपूर्ण भाषा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति से सब बचकर निकलना चाहते हैं। अहंभाव से युक्त वाणी का प्रयोक्ता यदि 'तीव्र बुद्धि' या पढ़ा-लिखा व तार्किक भी हो तब तो वह सभी का विद्वेष-पात्र हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के समक्ष लोग चाहे चुप भी रहें, पर उस व्यक्ति के साथ बात करने को किसी का जी नहीं चाहता।

अप्रिय वक्ता योग्यता-सम्पन्न होता हुआ भी सबका अप्रिय बना रहता है तथा प्रिय वक्ता कम योग्यता वाला होकर भी, यदि स्वार्थी या चापलूस किस्म का न हो, तो सभी का प्रिय हो जाता है। इस नियम से वाणी के सन्दर्भ में मनोहारिता के महत्त्व को सहज ही समझा जा सकता है। हाँ! जैसा कि अभी-अभी कहा गया- कुछ लोग मधुर तो बोलते हैं, पर उस मधुरता के द्वारा अपना कोई-न-कोई प्रयोजन सिद्ध करने की ताक में रहते हैं। वे दूसरे की हित-दृष्टि से प्रिय नहीं बोलते, बल्कि उसके पीछे अपना आर्थिक, सामाजिक या कोई भी हित केन्द्र में रखते हैं। उनका यह स्वभाव बार-बार आचरित होने के कारण संसार में उन्हें 'स्वार्थी' की उपाधि (Title) से विभूषित कर दिया जाता है। ऐसे लोगों का प्रिय वचन भी फलप्रद नहीं होता।

महाराज बृहदारण्यक उपनिषद् में कही गई एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूचना की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। शिलालेख में भी यह वचन आ गया है। वचन यह है- **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो ब्रूयात्'।** अर्थात् जो माता-पिता व गुरु रूप त्रिवेणी में नहा कर शुद्ध हो गया है, वही कुछ बोलने का अधिकारी है। ऐसा कहा जा सकता है- पुरुष की ऐसी वाणी ही इस धरती पर सौन्दर्य व सुगन्ध बिखेरने वाली है, अन्यथा अनर्थ के सिवाय इसके द्वारा क्या उत्पन्न किया जा सकता है? ''कम खाओ, गम खाओ'' इन लोकभाषा के चार शब्दों में कितना बड़ा रहस्य भरा हुआ है और इस सत्य पर आरूढ़ व्यक्ति कितना आनन्दमय जीवन जीता है, क्या इसे शब्दों में बाँधा जा सकता है? यदि हम बोलना नहीं जानते (यहाँ बोलने से अभिप्राय कहीं सभा में खड़े होकर भाषण आदि करने मात्र से नहीं है, सामान्य बोल-चाल का अभिप्राय मुख्य है) तो सचमुच चुप रहें, इससे कितने सारे झगड़ों से हमारा बचाव सहज ही हो जाता है!

महाराज कहते हैं- तुम्हारे शौर्य की परीक्षा इस बात से की जाती है कि तुम कितने वाक्संयमी

हो (**शौर्यस्य वाक्संयमः**), न कि झगड़ा कर दिखाने से। प्रत्येक व्यक्ति में अवश्य ही शूरता का भी बीज होता है। सो उसे इस गुण की चरितार्थता वाक्-संयम में प्रकट करनी चाहिए, न कि किसी निर्बल के साथ झगड़ा कर दिखाने में या किसी का अपमान कर देने में। झगड़ा प्रायः दूसरे को निर्बल समझकर किया जाता है। अगला मुझसे सभी दृष्टियों से बलवान् है- ऐसा स्पष्ट आभास मिलने पर बुद्धिमान् व्यक्ति कम ही टकराता है। कोई महामूढ़ ही है तो उसकी बात अलग है।

महाराज का कहना है- पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश, इन पाँचों महाभूतों का सार पृथ्वी है, क्योंकि पृथ्वी में अन्य चारों भूतों के गुण भी वर्तमान हैं। इसीलिए पृथ्वी सब भूतों का सार हुई अब अपनी खोज को आगे बढ़ाओ और खोज करो पृथ्वी का सार क्या है? पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली ओषधि-वनस्पतियाँ ही पृथ्वी का सार कही जा सकती हैं। तो फिर ओषधियों का सार किसे कहें?

ओषधि-वनस्पतियों को प्राणिगण खाते हैं। उनके खाने के बाद जो उनसे 'रस' बनता है, वह इन ओषधियों का सार हुआ। इसका सार रक्त, रक्त का सार मांस, मांस का सार मेद, मेद का सार अस्थि, अस्थि का सार मज्जा और उसका भी सार शुक्र हुआ। शुक्र का सार शुक्र से पैदा होने वाला मनुष्य तथा मनुष्य का भी यदि कुछ सार ढूँढा जाए तो यह वाणी ही उसका सार कही जाएगी। वाणी का सार सत्य, हित व प्रियता। इस प्रकार मनुष्य के पास जो यह वाणी है, इसे सम्पूर्ण जगत् का सार समझना चाहिए। जो जितनी सारवान् (मूल्यवान्) चीज होती है, समझदार व्यक्ति उसका प्रयोग या उपयोग भी उतना ही सतर्क होकर करता है। कोई महामूर्ख तो यों ही उडेल सकता है, पर विचारशील व्यक्ति कभी वैसा नहीं कर सकता।

महाभारत के लेखक ने भी 'उद्योग पर्व' के अन्तर्गत विदुर-प्रजागर प्रकरण में विदुर के मुख से दो बार वाणी व इन्द्रियों को जीतने के विषय में सतेज वर्णन किया है। विदुर धृतराष्ट्र को उपदेश कर रहे हैं- अपने को पहले एक 'देश' मानकर यदि जीत लिया, तो फिर अमात्य और अमित्रों (शत्रुओं) को जीतना सफल होगा। यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, इन्द्रियाँ अश्व हैं। कुशल व्यक्ति सधे हुए अश्वों से धीर रथी के समान सुखपूर्वक यात्रा करता है। इन्द्रियाँ वश में न हों और चाहे बहुत-सा धन मिल जाए, तो भी राजा ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। अतएव संयत मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से अपने को पहचानना चाहिए।

काम और क्रोध रूपी दो घड़ियाल इस शरीर रूपी बारीक बने हुए जाल में छिपकर बुद्धि को कुतर रहे हैं। पापी का साथ न छोड़े तो अपापी को भी दण्ड भुगतना पड़ता है, जैसे सूखे पेड़ के साथ गीले को भी जलना पड़ता है। नीच व्यक्ति बुद्धिमानों पर आक्रोश और निन्दा से चोट करते हैं, उसका पाप वक्ता पर पड़ता है, क्षमाधारी छूट जाता है। गुणी का बल क्षमा है। वाक् संयम सबसे कठिन है। कुल्हाड़ी से काटा हुआ वन फिर शनैः शनैः फुटाव ले लेता है, पर वाणी की चोट खाया हुआ मन/व्यक्ति नहीं पनपता, क्योंकि वचन का बाण हृदय को भी छेद डालता है। मूर्ख अपने मुँह से टपाटप वाग्बाण चलाया करता है, पर जिसे वे लगते हैं, उसका तो रात-दिन मरण ही हो जाता

है। बुद्धिमान् को चाहिए- ऐसे मर्मघाती तीर दूसरे पर न छोड़े।

दूसरे प्रसङ्ग में विदुर ने हंस-साध्य संवाद (द्र० विदुर नीति चतुर्थ अध्याय) के रूप में एक बहुत ही उदात्त प्रवचन धृतराष्ट्र के सामने रखा। यह उज्ज्वल जगमगाता हुआ माणिक्य 'शान्ति पर्व' में 'हंस गीता' के रूप में भी आया है। यहाँ स्वयं अव्यय पुरुष प्रजापति की कल्पना सुनहले हंस के रूप में की गयी है। उसे ही अन्यत्र हिरण्यपक्ष शकुनि कहा गया है। वह विश्वप्रतिष्ठ प्रजापति का सर्वत्रगामी रूप है और ध्यान करने से सभी उसका साक्षात्कार कर सकते हैं। सत्य-क्षमा-दम-शम-धृति-प्रज्ञा-तप इनके द्वारा ही हृदय की ग्रन्थि का विमोक सम्भव है। 'प्राज्ञ' को वैदिक युग में 'धीर' कहते थे। उपनिषद् युग में श्रुत ज्ञान प्राप्त करके जो उसे कर्मों में उतारते थे, उन्हें 'धीर' कहा जाता था। प्रस्तुत संवाद में भी महर्षि हंस को **'श्रुतेन धीरः'** कहा गया है। उन महर्षियों की यह काव्यमयी उदारवाणी थी। धर्म में निरत होकर वे अपने भीतर ही देखते थे, बाहर अन्य व्यक्तियों के दोषों पर दृष्टि न करते थे। इस संवाद का निचोड़ 'वाणी का संयम' है। मनुष्य को उचित है कि रूखी मर्मच्छिद् वाणी कभी न कहे। वह मुख में साक्षात् डायन का निवास है। वाक् कण्टकों से बढ़कर लक्ष्मी-नाशक और कुछ नहीं। बोलने से न बोलना अच्छा है, यह पहला पक्ष है, उससे सत्य वचन अच्छा है, यह दूसरा पक्ष है। सत्य कथन से भी प्रिय कथन तीसरा विकल्प है और उससे भी धर्मानुकूल वचन अन्तिम है। सत्यवादी, मृदु, दान्त, उत्तम पुरुष सबका अस्तिभाव चाहता है, किसी का नास्तिभाव नहीं।

प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र जिसे गुरु मन्त्र होने का गौरव प्राप्त है, उसमें भी प्रार्थना की गई है कि मेरी वाणी शुभ से युक्त रहे। गुरु शिष्य को अपने समीप प्राप्त करता हुआ उसे जो मन्त्र प्रदान करता है, वही है यह गायत्री मन्त्र। मन्त्र उस उज्ज्वल शक्तिमय विचार का नाम है जिससे भावित होने पर सिद्धि को कोई भी विरोधी शक्ति रोक नहीं सकती। सो दीक्षा देते हुए गुरु शिष्य को सिखाते हैं कि प्रेरक शक्ति का अक्षय स्रोत जिसे 'सविता' नाम से पुकारा जाता है, तुम्हारे मन के भीतर ही छिपा हुआ है। अतः ओ मेरे प्रिय व्रतिन्! प्रिय तात! अपने मन को सदा सर्वदा उस अमृत रूप केन्द्र के साथ जोड़े रहो। मन में मर्त्यभाव आता रहता है। प्रमाद, उत्साह-हीनता, अहङ्कार ही मन के वे मर्त्यभाव हैं जो असीम मन को ससीम कर देते हैं। मन यदि अपने ही केन्द्र में स्थित असीम भाव के साथ युक्त रहे तो वह मृत्यु के द्वारा हो रहे सतत आक्रमण से अपने को बचा सकता है, उस सविता रूप अप्रतिहत शक्ति का दिव्य तेज शिष्य की 'धी' को कभी भी अशुभ में नहीं जाने देता। गायत्री मन्त्र यही तो कह रहा है-

'धियो यो नः प्रचोदयात्।'

धियः के चार रूप हैं जो इस प्रकार हैं-

१. धियो वै प्राणः- शरीर का स्वास्थ्य 'धियः' का पहला रूप है। जवानी का मेहमान बनकर बुढ़ापा आवे। जवानी को लाँघकर बुढ़ापा न आवे। उचित आहार-विहार व आचार-विचार की अवश्य ही प्राणों को बलवान् बनाने में मुख्य भूमिका है।

२. धियो वै कर्माणि- स्वस्थ शरीर के साथ स्वस्थ कर्म (पवित्र कर्म) होने चाहिएं। स्वस्थ कर्मों की

व्याख्या यथास्थान की जा चुकी है।

३. धियो वै बुद्धयः- पवित्र कर्म के लिए पवित्र बुद्धि चाहिए। पवित्र बुद्धि के बिना पवित्र कर्म की कल्पना नहीं की जा सकती।

४. वाग् वै धियः- समस्त व्यवहार को धारण करने से वाक्- 'धीः' है। जैसा यह पानी है वैसी ही हमारी वाणी हो जाए। पानी शान्त है। पानी मधुर है। पानी पवित्र है। पानी दवा है। हमारी वाणी भी इन सब विशेषताओं से युक्त हो जाए। बस! यही व्यवहार धर्म का चतुष्पाद् शरीर है। इसमें वाणी के अपने उचित स्थान को सहज ही समझा जा सकता है।

महाराज इस विषय को एक अन्य रूपक के द्वारा भी समझाते हैं। वे कहते हैं- यह वाणी देवलोक की कन्या है। इसे नग्न मत करो। वाणी रूपी कन्या के साथ की गई खिलवाड़ तुम्हें समूल नष्ट कर देगी। कन्याएँ अनग्ना ही सुशोभित होती हैं। नग्नता ही तो अश्लीलता (अश्रीलता= शोभा रहितता) है। कन्याओं को सभी के द्वारा रक्षणीया व परम पवित्र रखने का पूर्ण प्रयास किया जाता है, उसी प्रकार इस वाणी के साथ व्यवहार करो! रक्षित व पवित्रता का मूर्त्त रूप ये कन्याएँ जैसे सबकी रक्षा करती हैं, वैसे ही रक्षित वाणी के द्वारा तुम्हारी रक्षा होगी। लोक में भी कहावत है- ''शरीर से नंगा सन्त; वाणी का नंगा बदमाश"।

इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जा रहा है कि रक्षित वाणी कैसे रक्षा करती है। दृष्टान्त का भाव इस प्रकार है- एक युवति का विवाह हुआ। सास बड़ी क्रोधी थी और मुख की भी बड़ी कड़वी, परन्तु पुत्रवधू बड़ी समझदार और शान्त स्वभाव की थी। सास प्रातः से सायं काल तक खूब ताने देती थी। एक दिन सास ने बहू से कहा- ''न जाने किस मिट्टी की बनी हुई जड़ मूर्ति है, जो तुझ पर तनिक भी प्रभाव नहीं होता। मैं इतनी देर से चिल्ला रही हूँ और तू सुनकर भी चुप है"। परन्तु बहू फिर भी शान्त रही। प्रतिदिन ऐसा होता और अड़ोस-पड़ोस के लोगों को भी तमाशा देखने को मिलता।

सास एक दिन फिर ऐसे ही बरस पड़ी। धरती पर लात मार कर बोली, ''इतना चिल्ला रही हूँ। तू मिट्टी से भी गई गुजरी है"। एक पड़ोसन से रहा न गया, बोली- बुढ़िया! गाय के पीछे क्यों पड़ी हुई है! तुझे अपनी जिह्वा का चसका लेना है तो फिर थोड़ा गली से बाहर आ जा, तेरे अरमान पूरे कर देते हैं। उस देवी ने यह बात सुनी, तुरन्त शान्त और मधुर वाणी से कहने लगी- ''इन्हें कुछ मत कहिए। ये मेरी माँ हैं। माँ ही अपनी बेटी को नहीं समझाएगी तो फिर कौन समझाएगा"? बहू की मधुर वाणी ने सास के सारे क्रोध पर पानी डाल दिया। सास को फिर कभी अपनी देवी को कुछ भी सुनाते नहीं देखा गया। यह है रक्षित वाणी की शक्ति।

कल्पना की जा सकती है, बहू के विरोध में खड़े होकर सास जिस प्रकार वाणी की नग्नता पर उतर रही थी, उसी प्रकार वह देवी भी उसी के स्वर में अपना स्वर मिलाने लगती तो क्या कभी उन दोनों के क्रोध का अन्त होता? क्रोध सबसे पहले मन में पैदा होता है, फिर मुख से गुजरता हुआ वाणी में आ जाता है और वहाँ से भी सरक कर हाथों या पैरों में आ पहुँचता है। मनुष्य प्रायः क्रोधाभिभूत होकर वाणी को नग्न कर देता है और उसके महादुःख रूप परिणाम को भोगता रहता है।

महाराज से जब पूछा जाता है कि ऐसे प्रसङ्गों में क्या करें? तो वे एक ही बात कहते हैं- तितिक्षा=सहिष्णुता रूपी दृढ़ कवच को धारण करो। ऐसे मौकों के लिए ही तो यह कवच बना है। सब कुछ हमारी इच्छा के अनुसार ही ठीक-ठीक होता चला जाए तो फिर सहिष्णुता की क्या आवश्यकता! इस बात पर जिज्ञासुओं के द्वारा एक प्रश्न और उठाया जाता है कि जी! कितना सहन करें। कोई सीमा भी है? महाराज इस प्रश्न का बहुत ही अद्‌भुत उत्तर देते हैं कि भाई! सहन करो। सहन करने में 'कितना' नहीं होता। सहन के साथ 'कितना' शब्द जोड़ दिया जाए तो सहन करने का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता है।

इस विषय में महाभारत (आदि पर्व) के ययाति उपाख्यान के उत्तर भाग में ययाति और इन्द्र का संवाद मिलता है, जो अतीव महत्त्वपूर्ण है। उस प्रसङ्ग को यहाँ उद्‌धृत किया जा रहा है जिसे महाराज यथाऽवसर सुनाया करते हैं-

ब्राह्मणों के साथ वन में निवास करते हुए अनेक प्रकार का तप करके ययाति स्वर्ग में गये। वहाँ देवताओं ने उनका स्वागत-पूजन किया। एक बार इन्द्र ने ययाति से पूछा, ''हे राजन्! जब पुरु ने अपना रूप देकर आपसे जरा प्राप्ति की और आपने कालान्तर में उसे राज्य सौंपा तब सत्य कहिए, आपने उसे क्या कहा?"

ययाति ने उत्तर दिया, ''मैंने अपने प्रिय पुत्र पुरु से कहा, 'जो क्रोध नहीं करता, वह क्रोध करने वाले से श्रेष्ठ है। जो सहनशील है, वह उससे बढ़कर है जो सहन नहीं कर सकता। जो मानवेतर हैं, उन सबकी तुलना में मनुष्य प्रधान है। जो विद्वान् है, वह न जानने वालों में प्रधान होता है। यदि कोई अपने से जली-कटी बातें कहे तो स्वयं वैसा नहीं करना चाहिए। जो उन बातों को सहन कर लेता है, वह उसके सब पुण्यों को हर लेता है। मनुष्य को चाहिए किसी का मर्म न दुःखाए, किसी से कठोर बात न कहे। जो क्षुद्र है, उससे किसी वस्तु को ग्रहण न करे। जो वचन दूसरे को उद्‌वेग पहुँचाने वाला, हृदय छीलने वाला है और नारकी है, उसे कभी न कहे। जिसकी वाणी रूखी और मर्मान्तक है, जिसके शब्द शूल की तरह दूसरों को चुभते हैं, ऐसे मनुष्य के मुख में साक्षात् नाश की देवी निर्ऋति रहती है, ऐसे पुरुष को नितान्त श्रीविहीन समझना चाहिए।

मनुष्य को चाहिए कि सदा अपना आचार आर्यों के जैसा रखे और सज्जनों का आचार ग्रहण करे। उसके सम्मुख सज्जन ही पूजा के लिए हों और पृष्ठ (पीठ) पर भी सज्जन ही रक्षा करने वाले हों। इस प्रकार सज्जनों से नाता जोड़ने वाला वह असज्जनों के तीखे वचनों को भी सहन करे। वचन रूपी बाण असज्जन के मुख से छूटते रहते हैं, जिनसे मारा हुआ दूसरा व्यक्ति रात-दिन छटपटाता है। जो बाण दूसरे के मर्म को छेद देते हैं, उन वचन रूपी बाणों को बुद्धिमान् व्यक्ति दूसरों पर कभी न चलावे। तीनों लोकों में इस प्रकार का कोई वशीकरण मन्त्र नहीं है जिस प्रकार मीठी बोली, दान और प्राणियों के साथ मैत्रीभाव है। इसलिए सदा तुम दूसरों को मीठी बात कहो, कभी कड़वी नहीं। जो पूजा के योग्य हैं उन्हें सम्मान दो, सदा दूसरों को दान दो, स्वयं कभी याचक न बनो'। यही वह आर्यवृत्त है, जिसका मैंने राज्य देते समय पुरु को उपदेश दिया"।

'मनुष्य मानवेतर प्राणियों से श्रेष्ठ है, देव, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध आदि सब मानव से घटकर

हैं, क्योंकि मनुष्य के पास कर्म-शक्ति है, उसके पास दैव के दिये हुए दस अंगुलियों वाले दो हाथ हैं'। इतना सुनकर इन्द्र ने ययाति को छेड़ते हुए पुनः प्रश्न किया, ''हे राजन्! सब कर्मों से छुट्टी पाकर और घर त्यागकर जब तुम वन में गये तब की बात तुमसे पूछता हूँ। तुम्हारा तप किसके बराबर था?" यह प्रश्न सुनकर ययाति के मन में अहङ्कार की एक रेखा दौड़ गई उसने कहा,''देवताओं में, गन्धर्वों में, मनुष्यों में और महर्षियों में मैं किसी को ऐसा नहीं देखता, जिसका तप मेरे जैसा हो"।

इन्द्र ने चट उनकी बात पकड़ ली और कहा- ''तुमने जो अपने सदृश हैं, जो अपने से श्रेष्ठ हैं, और जो अपने से घटकर हैं, उन सबके प्रभाव को जाने बिना कैसे सबका तिरस्कार कर डाला? इसलिए तुम्हारा पुण्य सीमित हो गया। औरों को सीमित समझने से तुम भी सीमित हो गए। तुम्हारा पुण्योपार्जित लोक भी अन्त वाला हो गया। अब तुम क्षीण होकर नीचे गिरोगे"। इस पर ययाति ने इन्द्र के समक्ष एक बहुत ही सुन्दर माँग रखी- ''हे इन्द्र! यदि देवर्षियों, गन्धर्वों और मनुष्यों का अपमान करने से मैंने अपना पुण्यलोक खो दिया है और मुझे सुरलोक से विहीन होना ही है तो हे देवराज! मैं चाहता हूँ कि मैं सज्जनों के बीच जाकर गिरूँ"।

इन्द्र ने उनकी यह बात स्वीकार की और ययाति स्वर्ग से गिरकर सद्धर्म का जो विधान है, उसकी रक्षा करने वाले अष्टक राजर्षि के पास उपस्थित हुए। अष्टक ने उनसे पूछा- ''इन्द्र के समान रूपवान् हे युवक! तुम कौन हो, जो अग्नि की तरह स्वतेज से दीप्त हो? तुम्हें सूर्यपथ से नीचे आते हुए देखकर हम सब भ्रम में पड़ गए हैं कि अग्नि और सूर्य जैसे अमित प्रकाश वाला यह कौन आ रहा है? हम सब तुम्हारे पतन का कारण जानने के इच्छुक हैं। तुम कौन हो और क्यों आये हो?"

ययाति ने उत्तर दिया- ''मैं नहुष का पुत्र और पुरु का पिता ययाति हूँ। सब भूतों का अपमान करने के कारण अल्प-पुण्य बनकर देवताओं और सिद्धर्षियों के लोक से च्युत हो गया हूँ। मैं आयु में तुम सबसे बड़ा हूँ, इसलिए मैंने तुम्हें अभिवादन नहीं किया। जो विद्या में, तप में और आयु में वृद्ध होता है वही द्विजों में पूज्य समझा जाता है"। अष्टक ने कहा- ''क्या तुम यह कहते हो कि जो आयु में बड़ा है वह वृद्ध है? मैं इसे नहीं मानता। मेरी दृष्टि में जो आयु में वृद्ध होते हुए विद्वान् भी हो, वही पूज्य है"।

इस प्रसङ्ग में ययाति और अष्टक की प्रश्नोत्तरी के रूप में महाभारतकार ने नीति-प्रधान जीवन और प्रज्ञावान् पुरुष के आचार की सुन्दर व्याख्या दी है। ययाति ने अपने जीवन में अनेक प्रकार के अनुभव किये थे। उनका कुछ निचोड़ इस वार्त्तालाप में पाया जाता है। ययाति ने अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहा- ''कर्मों का प्रतिकूल आचरण ही पाप कहा गया है। जो कर्म जिस प्रकार से करना चाहिए, उसे उसके उचित ढंग से न करना, यही बुराई का कारण है। जो व्यक्ति कर्म में श्रद्धा नहीं रखता, उसका वह कर्म भी पाप-युक्त हो जाता है। जो सज्जन हैं, वे कभी असज्जनों का अनुसरण नहीं करते। उनकी आत्मा उन्हें अनुकूल मार्ग पर ले चलती है।

जीवन में अनेक प्रकार के भाव आते हैं, वे दैव (कर्म) के अधीन हैं। ऊँच-नीच-सुख-दुःख इत्यादि सम-विषम परिस्थितियों में अनेक बार मनुष्य की निजी चेष्टा कुछ काम नहीं देती। तब मन में समझ लेना चाहिए कि

विधाता वाम (विपरीत) है। ऐसा सोचकर धीर व्यक्ति अपने आपको खिन्न नहीं होने देता।

प्राणी दैवाधीन होकर सुख या दुःख पाता है, अपने मन से नहीं। अतएव नियति को बलवान् समझकर न दुःख से सन्तप्त हो, न सुख से हर्षित हो। धीर पुरुष सदा अपने आपको सम अवस्था में रखे। हे अष्टक! भय से कभी मुझे मोह नहीं होता। मेरे मन में किसी प्रकार का सन्ताप नहीं होता। विधाता लोक में मुझे जिस तरह चलाते हैं, उसे ही मैं ध्रुव भवितव्यता मानता हूँ। सुख और दुःख दोनों अनिवार्य हैं, फिर मुझे किस बात का सन्ताप हो? मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए और किस प्रकार के कर्म करने से मेरे मन को पछतावा न होगा। मैं इस बात से अपने आपको सावधान रखता हूँ कि परिणाम में सन्ताप देने वाले काम से बचूँ। चाहे वह काम वाणी का हो या फिर शरीर का या मन का।

अष्टक ने प्रश्नों का क्रम जारी रखते हुए कहा- ''हे ययाति! तुम्हारे कहने का ढंग ऐसा है, जैसे कोई क्षेत्रज्ञ धर्म की व्याख्या कर रहा हो। बताओ, तुमने किन-किन लोकों का कैसे-कैसे उपयोग किया?''

ययाति ने उत्तर दिया- ''मैं इस पृथिवी पर सार्वभौम राजा था। मैंने अनेक लोकों को जीता और दीर्घ काल तक यहाँ निवास करके फिर मैं परलोक पहुँचा। वहाँ मैं इन्द्र की सहस्र द्वारों वाली और शत योजन लम्बी-चौड़ी अमरावती में दीर्घकाल तक रहा। उसके बाद प्रजापति के दिव्य अमरलोक में मैंने निवास किया। तब देवों का एक विकराल दूत मेरे पास आया और डपट कर बोला- ''हट! हट! हट!'' उसके ऐसा कहते ही मैं क्षीणपुण्य होकर नन्दन वन से नीचे लुढ़क गया और मैंने अन्तरिक्ष से गिरते हुए अपने पीछे देवताओं की यह वाणी सुनी- ''अहो! कैसे कष्ट की बात है कि पुण्यकर्मा ययाति भी पुण्य के चुक जाने से गिर रहा है''। मैंने उनसे कहा- ''मेरे साथ इतनी ही भलाई करो कि मैं गिर कर भी सज्जनों के बीच में पहुँच जाऊँ''। हे अष्टक! इस पर उन्होंने आपकी यज्ञ-भूमि की ओर संकेत किया और मैं इस हविर्गन्ध देश में आ गया।

अष्टक ने पूछा- ''नन्दनवन में इच्छानुसार सैकड़ों-हजारों संवत्सर निवास करके तुम्हें पृथिवी की ओर फिर क्यों आना पड़ा?'' ययाति ने उत्तर दिया- ''यह तो सीधा नियम है। जिस प्रकार मनुष्य का धन क्षीण हो जाने पर उसके सम्बन्धी, मित्र और स्वजन उसे छोड़ देते हैं, वैसे ही मनुष्य का पुण्य समाप्त हो जाने पर सब देव-संघ और उनके अधिपति झट उसे छोड़ देते हैं। ये सब लोक अन्तवान् हैं और मनुष्य के पुण्य भी समाप्त होने वाले हैं। जब पुण्य चुक जाता है, तब लपलपाती हुई लालसा लिये हुए मनुष्य को पुनः इसी भूमि पर आना पड़ता है। यद्यपि वह अन्य प्रकार से क्षीण होता है, तथापि भोगों के प्रति उसकी तृष्णा बढ़ जाती है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस लोक में दुष्ट और निन्दित कर्म का परित्याग कर दे''।

इसके बाद अष्टक और ययाति के संवाद में इस बात की चर्चा है कि मरने के बाद मनुष्य किस प्रकार इस भौम नरक में घूमता रहता है और फिर किस प्रकार दूसरा शरीर पाने के लिए गर्भ में प्रवेश करता है और जन्म लेकर इन्द्रियों और तन्मात्रों से संयुक्त होता है। इसी प्रसंग में ययाति ने मद या अहङ्कार की बहुत निन्दा की है— ''तप, दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता और सब भूतों में दया,

इन सब पर अन्धकार छा जाता है, यदि मनुष्य का मन घमण्ड से फूल गया हो। जो विद्या पढ़कर अपने को पण्डित समझता है और अपने विद्या-बल, वाग्-बल से दूसरों को नीचा दिखाने का विचार करता है, उसका यह पढ़ना-लिखना सब निष्फल हो जाता है और उसके जीवन के सब सुख सीमित हो जाते हैं"।

चार कर्म यदि ठीक प्रकार से किये जाएँ तो उनसे मनुष्य को अभय की प्राप्ति होती है। वे कर्म ये हैं- अग्निहोत्र, मौनभाव, अध्ययन और सेवा। किन्तु इनको भी यदि ऐंठ से भरकर बेढंगेपन से किया जाए तो ये ही मनुष्य के लिए भयंकर हो जाते हैं। सम्मान से प्रसन्न न होना चाहिए। इस संसार में भले आदमी भलों का सम्मान करते हैं। दुष्टों में साधु बुद्धि होती ही नहीं। दान, यज्ञ और अध्ययन, ये मेरे व्रत के अन्तर्गत हैं, इन्हें मैं अभय का मार्ग समझता हूँ, किन्तु यदि वे ही मान की इच्छा से किये जाएँ तो त्याज्य हैं।

अष्टक के इस प्रश्न के उत्तर में कि आचार्य की शुश्रूषा करने वाला ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये सत्पथ पर चलकर किस प्रकार देव-तुल्य बन जाते हैं, ययाति ने संक्षेप में उत्तर दिया-''गुरु का कर्म करने के लिए जिसे प्रेरणा की आवश्यकता न हो, गुरु से पहले उठने वाला और बाद में सोने वाला, जब वह कहे तभी अध्ययन करने वाला, मृदु, दान्त, स्थिर चित्त वाला, अप्रमादी और स्वाध्यायशील ब्रह्मचारी सिद्धि का अधिकारी है"।

गृहस्थों की पुरातनी उपनिषद् विद्या यह है कि धर्मानुसार प्राप्त धन से यज्ञ करें, सदा दान दें, अतिथियों को भोजन कराएँ और दूसरों के द्वारा अदत्त अर्थात् स्वयं उपार्जित धन का ही ग्रहण करें। अपने परिश्रम से जीविका करने वाला, पाप से निवृत्त, आहार और कर्म में संयमी, दूसरे को दान देने वाला, किसी को न सताने वाला मुनि अरण्य में रहता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है। जो किसी शिल्प के सहारे जीविका नहीं चलाता, जो घर नहीं बनाता, जो जितेन्द्रिय है, जो गृहस्थी नहीं बटोरता, जो थोड़ा-थोड़ा विचरते हुए देशाटन करता है और अकेला रहता है, वही सच्चा भिक्षु है।

वानप्रस्थ मुनियों और उनके मौन धर्म की व्याख्या करते हुए उसने कहा– ''जंगल में रहते हुए जो गाँव को पीछे छोड़ देता है अथवा गाँव में रहते हुए जो जंगल को पीछे छोड़ देता है, वही मुनि है"। इस प्रकार की स्थिति कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में ययाति ने कहा, ''जो जंगल में रहने वाला मुनि है, वह किसी भी ग्राम्य आचार में नहीं पड़ता। यों वह जंगल में बसकर गाँव को पीछे छोड़ देता है। और यदि वह गाँव में बसते हुए केवल उतना ही भोजन करे जिससे प्राण यात्रा हो और केवल उतना ही चीवर ग्रहण करे जितना शरीर ढकने के लिए आवश्यक हो; गोत्र, जाति, विद्या, अग्निहोत्र और गृहवास, इनका मोह न करे तो गाँव में बसते हुए भी वह जंगल को पीछे छोड़ देता है"।

इसके बाद स्वर्ग से भ्रष्ट हुए ययाति को अष्टक एवम् अन्य लोग अपने-अपने पुण्यों से उपार्जित लोक अर्पित करते हैं किन्तु ययाति ने यह कहकर सबको अस्वीकार कर दिया कि जिसके लिए मैंने स्वयं पहले कर्म नहीं किया है, मैं उससे चिपटने की कभी इच्छा नहीं करता।

अहं तु नाभिधृष्णोमि यत्कृतं न मया पुरा। (आदि० ८८.११)

ययाति का यह तेजस्वी दृष्टिकोण मानव-मात्र के लिए जीवन का अमर विधान है। विशेषकर आज के परिप्रेक्ष्य में उन लोगों के लिए जो रिश्वत के धन से या काला धन्धा करके अथवा मिलावट युक्त वस्तु विक्रय के द्वारा या फिर बहुत सारा दहेज लेकर अथवा बहुत सारी दक्षिणा के भूखे होकर अपनी सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के फेर में पड़े हुए हैं। अष्टक का दान अस्वीकार करते हुए ययाति ने उससे कहा, ''मैं अपने जीवन में पहले सदा दान देता रहा हूँ, किसी और से प्रतिग्रह मैं नहीं ले सकता। मनुष्य को चाहिए कि किसी के दान की कृपा पर जीवित न रहे"।

प्रतर्दन ने जब अपने लोक ययाति को अर्पित किये तब उत्तर में ययाति ने कहा- ''अवश्य ही तुम्हारे पुण्य से अर्जित लोकों में मधु और घृत की नदियाँ बहती हैं, किन्तु वे सब अन्तवन्त (नाशशील) हैं, उनमें यह सामर्थ्य नहीं कि मनुष्य की रक्षा कर सकें। तेजस्वी पुरुष को चाहिए कि किसी के सुकृत की इच्छा न करे। यदि दैव योग से उस पर आपत्ति भी आ जाए तो भी उसे कृपण भाव (दीन भाव) न अपनाना चाहिए"।

तब राजा वसुमान् ने अपने सुकृत से उपार्जित लोकों को अर्पित करते हुए इतना और कहा- ''हे ययाति! तुम मेरे लोकों का उपयोग करो। स्वर्ग से च्युत मत होओ। यदि तुम दान लेना अनुचित समझते हो तो घास का एक मुट्ठी तिनका देकर भी तुम मेरे उन लोकों को मुझसे मोल ले सकते हो"। इसके उत्तर में ययाति ने अपनी सत्य-निष्ठा को तीक्ष्ण करते हुए कहा-''मुझे स्मरण नहीं कि मैंने कभी अपने जीवन में इस प्रकार का झूठा सौदा किया हो। बच्चे को धोखा देने की तरह क्या यों कोई वस्तु लेनी चाहिए?"

इसी प्रकार औशीनर शिवि को भी उत्तर देते हुए ययाति ने कहा- ''हे शिवि! तुम्हारे दान का मैं अभिनन्दन नहीं कर सकता, क्योंकि दूसरे के दिये हुए लोक में मैं सुख नहीं मान सकता। मेरे लिए तो वही लोक है, जिसके लिए मैंने कार्य किया है"।

इस प्रकार कर्म की महिमा और प्रतिष्ठा एवं मानवोचित आत्मसम्मान और जीवन में सत्य की दृढ़ निष्ठा, दूसरों के लिए श्लक्ष्ण वाणी का प्रयोग, कटु वचनों का सहन, सुख-दुःख को अपने कर्मों का फल समझकर सदा आत्मसन्तुष्ट, वर्णाश्रमियों के कर्त्तव्य, पात्र को निःस्वार्थ भाव से दान देना पर प्रतिग्रह (लेने) में सदा संकोच- ये ही ययाति के उपदेश के सार हैं। अन्त में ययाति ने अपने जीवन का गुह्य अर्थ प्रकाशित करते हुए इतना और कहा- ''मेरा द्युलोक और मेरी पृथिवी सत्य के बल पर टिकी है। सत्य से ही मनुष्यों में अग्नि प्रज्वलित होती है। मैंने कभी मिथ्या वचन नहीं कहा। सज्जन लोग सत्य की ही पूजा करते हैं। सब देवता, मुनि और मनुष्य सत्य से ही पूजनीय बनते हैं, ऐसी मेरी मान्यता है"।

सत्येन वै द्यौश्च वसुन्धरा च, तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं, सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति।
सर्वे च लोका मुनयश्च देवाः, सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम्।।

१०. यज्ञ : सर्वोत्तम सेवा

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा
यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताꣳ
स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।
स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च।
स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा।। (यजु० १८.२६)

महाराज कहा करते हैं- संसार में दो तरह की विचारधारा के लोग हैं। एक वे हैं जो सोचते हैं- **'सब कुछ मैंने ही ले लिया तो दूसरों को क्या मिलेगा?'** जैसे खाने-पीने की वस्तुएँ सामने आती हैं, तो वे सोचते हैं- सब कुछ मैंने ही खा लिया तो दूसरों के लिए क्या बचेगा? अन्य-अन्य उपयोग की वस्तुओं के विषय में भी ऐसा ही सोचते हैं। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के लोगों की सोच होती है- **'सब कुछ दूसरों को ही दे दिया तो फिर मेरे लिए क्या बचेगा?'** पहली विचारधारा को वैदिक संस्कृति में 'यज्ञ' नाम से अभिहित किया गया है तथा दूसरी को 'भोग' से। आइए 'यज्ञ' विषय पर कुछ विचार करते हैं। यज्ञ का अर्थ है बाँटना अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक अपने सुख को बाँटना तथा दूसरों से प्राप्त दुःखों को स्वेच्छा से ग्रहण करना। इसी को दूसरे शब्दों में तप कहते हैं। स्पष्ट है— जो चीज स्वेच्छा से ग्रहण की जाती है वह कैसे कष्टप्रद हो सकती है?

'यज्ञ क्या है?' वेद में इस प्रश्न को प्रश्नोत्तर शैली में खोला गया है। पहले तीन प्रश्न पूछे गए कि इस विश्व विटप को कौन-सा रस है जो सींच रहा है? वह कौन-सा बन्धन है जिसने इस विश्व को बाँधा हुआ है, जो इसे बिखरने नहीं दे रहा? वह कौन-सा विधान है जो सहज भाव से कीट से लेकर परमहंस तक निरपवाद रूप से सभी पर अस्तित्व में आते ही तत्काल लागू हो जाता है? उत्तर दिया गया- **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'** अर्थात् उपर्युक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर है- 'यज्ञ'। यज्ञ का फल प्रायः भविष्य के गर्भ में रहता है तथा परिणाम में सैकड़ों गुणा अधिक होता है। व्यक्ति यदि पूर्ण सचेतन होकर यज्ञ करता है (चाहे बेशक परिमाणात्मक दृष्टि से उस यज्ञ का रूप छोटे-से-छोटा ही क्यों न हो) तो यज्ञ कर्त्ता को साथ-ही-साथ उसका फल अनुभव में आता रहता है। सरलार्थ है- यज्ञ के द्वारा अर्थात् त्याग भाव से प्रभुत्व की प्राप्ति, भोग लिप्सा का क्षय, चित्त की उदारता, शुचिता आदि का जो वर्द्धन होता रहता है, उसके परिणाम स्वरूप यज्ञ कर्त्ता के हृदय में अपार सन्तोष का उदय होता है। यही उस यज्ञ का वर्तमान फल है, क्या यह कोई सामान्य उपलब्धि है!

इस प्रकार महाराज 'यज्ञ' शब्द के क्षेत्र को व्यापक रूप देते हुए 'सेवा' के साथ जोड़ देते हैं तथा इससे आगे बढ़ते हुए सेवा को 'भक्ति' में मिला देते हैं। श्री महाराज पाणिनि मुनि का प्रमाण देते हुए

कहा करते हैं कि **'भज सेवायाम्'** धातु से निष्पन्न यह शब्द स्पष्ट कर रहा है कि भक्ति का निहितार्थ है- सेवा। इस प्रकार अन्त में वे 'सेवा ही भगवान् की भक्ति है' इस रहस्य को प्रस्तुत किया करते हैं।

महाराज सुनाया करते हैं कि मेरे अन्दर इस भाव का बीजारोपण मेरी माता के द्वारा बाल्यकाल में ही कर दिया गया था। माता प्रतिदिन अति श्रद्धायुक्त होकर घर के कोने में गड़े हुए एक खूँटे पर थोड़ा मीठा और घृत की बूँद छोड़ देती थी। एक दिन महाराज ने उत्सुकतावश अपनी माँ से पूछा कि माँ! यह कौन सा देवता है? माँ ने समझाया- देख! हम गृहस्थ हैं। गृहस्थों का परम धर्म है— दान। कोई कुत्ता आया, हमने रोटी दे दी। कोई भिक्षु आया, उसे भिक्षा दे दी। गाय अथवा साँड को उसका भाग दे दिया। यह समझ कि हर एक गृहस्थ के द्वार पर किसी-न-किसी रूप में भगवान् आते हैं। जिनको हम अपनी इन आँखों से पहचान लेते हैं, उन्हें तो उनका हिस्सा दे देते हैं- पर जिनको नहीं पहचानते, उनको लक्ष्य करके एक कोने में उनका भाग रख देते हैं कि वे हमारे घर से निराश न लौटें। चींटी इत्यादि भी तो भगवान् के ही रूप हैं, वे अपना भाग कहाँ से ग्रहण करें? माँ का कहना था- भाई! 'न जाने किस जून में नारायण मिल जाए'। माँ का भाव था- नारायण किसी भी रूप में आ सकता है, क्योंकि सर्वरूप ही उसके रूप हैं। **'वासुदेवः सर्वमिति'** गीता के इस वचन के द्वारा भी तो यही तथ्य प्रकट किया गया है। महाराज का कहना है- माँ के द्वारा अपनी सरल भाषा में मेरे अन्दर बोया गया वह सेवा का बीज आगे के जीवन-प्रवाह में विकसित होता रहा और उससे मुझे जो तृप्ति मिली, उसे कैसे कहा जाए?

यहाँ पर एक बात ध्यान देने की है- महाराज बहुत जोर देते हुए इस बात को कहते हैं कि सेवक-सेवा-सेव्य इस त्रिपुटी में सेवक सेवा के द्वारा सेव्य को उपकृत या धन्य नहीं करता, बल्कि सेव्य की सेवा कर के स्वयं उपकृत होता है, स्वयं ही धन्य होता है, अर्थात् सेवक को अपने अन्दर यह भाव सदा बनाए रखना चाहिए कि सेव्य का बड़ा-बड़ा धन्यवाद है जो मेरी सेवाएँ ले लीं और मुझे धन्य कर दिया। अन्यथा मेरा चित्त अशुद्ध ही रह जाता। मेरी सेवाएँ ग्रहण करके इसने मेरे चित्त को शुद्ध कर दिया। इस तथ्य को समझाने के लिए महाराज माँ और शिशु का एक बड़ा ही सटीक उदाहरण दिया करते हैं कि माँ के स्तन में दूध भरा है, बच्चा रुग्ण हो जाए और माँ की सेवाएँ लेने से मुँह मोड़ ले तो उस समय उस माँ से पूछो उसका क्या हाल होता है? बच्चा माँ की सेवाएँ लेकर पुष्ट होता है- यह तो सत्य है, पर माँ की पुष्टि भी तो इसी में निहित है कि बच्चा सेवाएँ ले रहा है। इसी प्रकार सेवक के चित्त की शुद्धि या उदारता या भोगलिप्सा-क्षय तभी होता है जब उसकी सेवाएँ लेने वाला कोई उपस्थित है और उस सेवा ग्रहण के माध्यम से उसके यज्ञीयभाव-त्यागभाव-भक्तिभाव को बढ़ाने में निमित्त बन रहा है।

सृष्टि का अलंघ्य नियम है कि कोई भी चीज अपनी समानजातीय चीज को बढ़ाती रहती है- त्याग से त्याग बढ़ता है तो भोग से भोग, ज्ञान के द्वारा ज्ञान, अज्ञान के द्वारा अज्ञान, धर्म के द्वारा धर्म, अधर्म के द्वारा अधर्म, वैराग्य के द्वारा वैराग्य तो अवैराग्य के द्वारा अवैराग्य, शान्ति के द्वारा

शान्ति, अशान्ति के द्वारा अशान्ति, स्थिरता के द्वारा स्थिरता, चञ्चलता के द्वारा चञ्चलता, इस सूची को कितना भी लम्बा किया जा सकता है। सो सेवक के ज्ञान में यह बात एकदम से बैठ जानी चाहिए कि 'मैं सेव्य के द्वारा धन्य हो रहा हूँ, न कि सेव्य को धन्य कर रहा हूँ'। यद्यपि इस सेवा-चक्र के माध्यम से सेव्य सहज रूप से उपकृत होता ही है, पर यह बात सेवक की ओर से सोचने की नहीं है। कहना अनावश्यक है कि यदि सेवक सेव्य से किसी प्रकार की अपेक्षा रखता है, उस अपेक्षा के कई स्तर हो सकते हैं- आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, मनोवैज्ञानिक- तो निश्चित रूप से यही कहा जाएगा कि उस व्यक्ति ने सेवा के अर्थ या महत्त्व को नहीं समझा है और उसे सेवा का अन्यतम फल चित्तशुद्धि कभी भी प्राप्त नहीं हो सकेगा। वह तो मात्र एक व्यापार कर रहा है। व्यापार का अर्थ लेन-देन है।

सेवा कोई व्यापार नहीं है। सेवा का अर्थ है देना, देना, बस देना। बदले में कुछ भी न चाहते हुए अपने आप को बाँट देना। जो लोग ऊपर निर्दिष्ट आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय या मनोवैज्ञानिक बिन्दुओं को सामने रखकर सेवा करते हैं, उन्हें वे-वे अभिलषित चीजें कम या ज्यादा मात्रा में अवश्य मिलेंगी या मिलती ही हैं। पर सेवा का फल नहीं मिलेगा। वस्तुतः सेवा का कोई भौतिक (लौकिक) फल होता ही नहीं है। एक दृष्टि से सेवा की यह व्याख्या संगत ही है- 'सब प्रकार के बाह्य फलों से पूर्ण रूपेण उदासीन हो जाना ही सेवा का फल है'। अर्थात् अकाम हो जाना, निष्काम हो जाना। अनुमान किया जा सकता है- यह स्थिति कब और कैसे प्राप्त होती है या हो सकती है? व्यक्ति का चित्त जब सब प्रकार की कामनाओं-वासनाओं-इच्छाओं से शून्य हो जाता है- यहाँ तक कि मुक्ति में भी उसे किसी प्रकार का राग नहीं होता- केवल उसी स्थिति में कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति का चित्त सेवा के बदले कुछ नहीं चाहता। 'चाहना' एक ऐसी चीज है जिसका सेवा को कलङ्कित करने वाले तत्त्वों में सर्वप्रथम स्थान है।

महाराज एक बात और समझाया करते हैं- सेवा के मार्ग में यह भाव भी बाधक है कि अधिक-से-अधिक लोग मुझसे मेरी सेवाएँ ग्रहण करें, क्योंकि आखिर यह भी तो चाहना का ही एक रूप है। सेवक सदा सर्वदा सेवा के लिए, एक मात्र सेवा के लिए, समर्पित तो होता है, पर अपने मन से 'एक' या 'अनेक' को निकाल देता है। वह 'प्रकार' का उपासक होता है, 'आकार' का नहीं। सेवक की शब्दावली में से 'कितनी' या 'कितना' शब्द समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में वह सेवा का आरम्भ करके पीछे मुड़कर नहीं देखता। **'सेवा का आरम्भ तो है पर अन्त नहीं'** महाराज के इन शब्दों का यही गम्भीर आशय है। यह हमारे अन्दर क्रियाशील 'अहं' ही है जो गिनती करना चाहता है और गिनती जब बढ़ती जाती है तो उसका हर्ष भी बढ़ता जाता है। गिनती कम होने लगती है तो मायूस होने लगता है। सेवा तो पूर्ण रूप से 'निरहं' चित्त का एक अत्युत्कृष्ट धर्म है, जो प्रशान्त सागर की तरह है, जो कि न कभी बढ़ता है और न घटता है। महाभारत के उज्ज्वल पात्र वार्ष्णेय कृष्ण की तरह विद्वानों के पात्र साफ करने में भी इसे उतनी ही तृप्ति मिलती है जितनी संसार के पूज्यतम व्यक्ति के रूप में अर्घ्य-पूजा ग्रहण करते समय। सेवारत चित्त उपलब्धि-परायण नहीं होता,

बल्कि रस व शान्ति परायण होता है। महाराज इस सन्दर्भ में आचार्य शंकर के एक वाक्य को बहुशः उद्धृत किया करते हैं- **चित्तस्य शुद्धये कर्म**

इसीलिए तो सेवक न थकता है न ऊबता है क्योंकि उसके आधार में सदा रस व शान्ति विराजमान होती है। शान्ति रूपी रंगमंच पर खड़े होकर ही सेवक को अपना सम्पूर्ण अभिनय करना होता है। चूँकि वह बड़ी-से-बड़ी रूमानी उपलब्धि के लिए भी एक क्षण के लिए उत्सुक नहीं होता, उसके पीछे भागने की तो बात ही क्या? इसलिए सेवक के शान्त-चित्त रूपी राज्य में थकावट या ऊब (Boredom) के लिए कोई स्थान ही नहीं बच पाता।

महाराज सेवक की तुलना में सुधारक को बिठाकर बड़ा ही रोचक वर्णन किया करते हैं। उनका कहना है- यों तो सेवक का लक्ष्य सेवा और सुधारक का सुधार है। इस प्रकार ऊपर से देखने में तो इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता, पर इनके स्वरूप और क्रिया-कलाप का गम्भीर अध्ययन करने से दोनों की केन्द्रीय श्रद्धा का स्पष्ट रूप से पता चल जाता है। महाराज कहते हैं- **वस्तुतः 'सुधारक' शब्द भी अपने मूल रूप में एक विशेष अर्थ का बोधक है। इसका अर्थ है- जीवन का बाँटना,** पर आजकल कोई भी वाक्-पटु व्यक्ति इस उपाधि से विभूषित कर दिया जाता है। वह भी अपने को वैसा ही समझने लग जाता है। उस सबको देखकर ही ये निष्कर्ष निकाले गए हैं कि सेवक के उत्प्रेरक होते हैं– **प्रेम-करुणा-सहानुभूति-सहयोग** रूप स्व से अतीत भाव और सुधारक का उत्प्रेरक मूलतः उसका 'अहं' रूप स्व का आग्रही भाव ही होता है। बस इसी आधार पर इन दोनों की दो धाराएँ हो जाती हैं।

सुधारक को बना-बनाया अच्छे से अच्छा मञ्च चाहिए जहाँ उसका भाषण सुनने वाले श्रोताओं का जमघट लगा हुआ हो। उसके जयकारे लगाने वाली श्रद्धालुओं की एक टोली सदा उसके साथ हो। उसके द्वारा किये गए सुधार-कार्यों का ब्यौरा सुनाने के लिए सुललित व अतिशयोक्ति-पूर्ण भाषा में स्थान-स्थान पर आयोजित की गई जन सभाओं में अभिनन्दन-पत्र पढ़े जा रहे हों, विविध प्रकार के फूलों से बनाई गई मालाओं से उसका स्वागत किया जा रहा हो, चित्र तैयार करने वालों के द्वारा कैमरे से दृष्टि को चकाचौंध कर देने वाला बीच-बीच में फ्लैश फेंका जा रहा हो, उसके कार्य के प्रभाव की सूचना बीच-बीच में पुनः-पुनः उसे दी जा रही हो, लोगों के मध्य उसके श्रद्धालुओं द्वारा रुपयों से उसे तोला जा रहा हो। सुधारक की ये कुछ ऐसी मूलभूत आवश्यकताएँ हैं, जिनके बलबूते पर वह अपने सुधार कार्य को गति देता है।

जहाँ सेवक को 'प्रकार' से प्रेम होता है, वहाँ सुधारक आकार का (गिनती का) उपासक होता है। जब उसे सुनाया जाता है कि अमुक स्थान पर आपके आन्दोलन का बड़ा व्यापक प्रभाव हो रहा है,तो उसका चेहरा खुशियों से भर जाता है। इसके विपरीत सुनने पर मायूस हो जाता है, और कभी-कभी तो यह मायूसी हताशा व निराशा के चरम बिन्दु तक पहुँच जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप जनता को कोसना प्रारम्भ कर देता है कि बड़ा खराब जमाना आ गया है, लोग अपने स्वार्थों में इतने डूब गए हैं कि ये किसी की बात सुनने के लिए तैयार ही नहीं हैं। कई बार तो यहाँ तक कह बैठता है कि मैंने इस दुनिया को देख लिया है, यह भला करने लायक है ही नहीं। देखो! मैंने

अपना सारा समय व शक्ति इस संसार की भलाई करने के लिए ही लगाई हुई है, फिर भी ये लोग कितने मूर्ख हैं कि थोड़ा-सा भी नहीं समझते। इस प्रकार हमारे इस तथाकथित सुधारक का चेहरा ऊब व थकावट से मुर्झाया हुआ, इस संसार को क्रूरता से भरा हुआ देखने लगता है और प्रतिक्रिया में शिकायतों का ढेर उगलता रहता है।

यदि इस तथ्य को वस्तुपरक ढंग से (Objectively) देखा जाए कि सुधारक की ऐसी निषेधात्मक भावों वाली प्रतिक्रियाएँ क्यों होती हैं? जबकि सेवक में ये सब ऊपर वर्णित भाव एक क्षण के लिए भी नहीं आते, तो पता चलेगा कि सुधारक स्वकेन्द्रित होता है, सेवक वैसा नहीं होता। इसलिए अपने को सुधारक मानने वाला व्यक्ति संसार के लिए अपना सब कुछ लगाकर भी अपने 'स्व' (Ego) को, 'अहं' को ही बढ़ाता है। इसीलिए अपने कार्य के बदले में जनता से स्वाभिलषित 'प्रत्युत्तर' (Response) की अपेक्षा करता है। उसके न मिलने के कारण उसमें हताशा-निराशा-थकावट-ऊब का चक्र चालू हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप बाहर भी सुधारक के द्वारा इन्हीं चीजों का फैलाव होता रहता है, बेशक वह अपने मन में कितना भी खुश होता रहे। सेवक की ऐसी कोई प्रत्याशा न होने से वह सदा तृप्त रहता है।

सेवक अपने सेव्य को 'नारायण' का रूप मानता है। 'जनता-जनार्दन' जैसे शब्द उसके मन में सदा गूँजते रहते हैं। वह सदा अपने को भरा-पूरा समझने के कारण शान्त रहता है। यह 'भरा-पूरा' उस अभिमानात्मक ढंग का नहीं है जो वस्तुओं की, रुपये-पैसे की, जमीन-जायजाद की या धन-वैभव की अपार वृद्धि से तथा जन समर्थन के द्वारा प्राप्त होता है, बल्कि यह वह आन्तरिक परिपूर्णता है जो संसार के समस्त सान्त रूपों से कुछ भी उपलब्ध करने की चाह के एकदम निवृत्त होने से प्राप्त होती है। उसे इस जगत् के नाम-रूप सब एक समान दिखायी देने लगते हैं। एकमेव देव की लीला के रूप में और उस 'समदृष्टि' से जो सदा शान्त अविचल स्थिति प्राप्त होती है, बस वही होती है सेवक की आधार भित्ति। उसका एक ही मूल मन्त्र होता है- 'कोई प्यासा है, उसे पानी पिलाना'। वह उन बच्चों की तरह किसी के साथ सेवा के नाम पर जबरदस्ती नहीं करता जो कि उन्होंने अपनी अध्यापिका की प्रेरणा पर एक बुढ़िया के साथ की थी।

कहानी यों है- एक अध्यापिका ने अपनी कक्षा में एक दिन बच्चों को प्रेरणा देते हुए कहा कि हमें प्रतिदिन निष्काम भाव से कोई एक सेवा-कार्य अवश्य करना चाहिए, जैसे किसी भूखे को भोजन खिलाना, किसी प्यासे को पानी पिलाना, किसी बूढ़े व्यक्ति को सड़क पार कराना इत्यादि। अध्यापिका ने कहा- कल मैं पूछूँगी तुममें से किसने क्या-क्या किया? अगले दिन मैम ने पूछना आरम्भ किया- हाँ! राम पहले तुम बताओ, तुमने कौन-सा एक सेवा-कार्य किया? राम ने कहा 'मैम! एक बुढ़िया सड़क के इस पार खड़ी थी, उसको दूसरी पार पहुँचाया'। मैम ने उसको शाबाशी देते हुए कहा- बहुत अच्छा। अब श्याम की बारी आयी। मैम ने कहा- श्याम, तुम बताओ तुमने क्या किया? श्याम ने भी कहा-मैम, मैंने भी एक बुढ़िया को सड़क पार करायी। मैम ने उसको भी धन्यवाद किया। अब मैम मोहन से पूछने लगी कि मोहन तुम भी बताओ। मोहन ने भी कहा कि मैम! मैंने भी एक बुढ़िया को

सड़क पार करायी।

अब मैम भड़क उठीं, और कहने लगीं कि तुम सबको इतनी बुढ़ियाँ कहाँ से मिल गयीं? बच्चों ने कहा- मैम। बुढ़िया तो एक ही थी, पर वह सड़क पार करना ही नहीं चाह रही थी, इसलिए हम तीनों ने मिलकर प्रयत्न पूर्वक मुश्किल से परले पार पहुँचाया। सो सेवक इन बच्चों की तरह सेवा के नाम पर जोर-जबरदस्ती नहीं करता। कारण उसे किसी के समक्ष अपनी सेवा का ब्यौरा सुनाना नहीं होता, क्योंकि वह सदा ही अणु में महत् के दर्शन करता हुआ आत्मतृप्त रहता है। अन्दर से सुधारक की तरह खोखला नहीं होता कि उस खालीपन को भरने के लिए उसे दूसरों का मुँह ताकना पड़े और किसी के समक्ष अपने कार्यों का विवरण सुनाना पड़े। एक शिशु के लिए उसे समर्पित माँ को जैसे यह सब किसी को दिखाने की या कहने की एक क्षण के लिए भी आवश्यकता नहीं होती कि देखो! मैं बच्चे के लिए कितना कुछ त्याग कर रही हूँ। सेवक के साथ भी ठीक यही दृष्टान्त प्रयोज्य है।

और भी, सुधारक का एक मात्र सहारा 'तर्क-बुद्धि' हुआ करती है, सेवक का सहारा 'शान्त हृदय' होता है। सेवक इस अज्ञान व अन्धकार लोक में इसलिए रहना चाहता है कि वह अपनी सर्वग्रासी महती क्षमता का प्रयोग कर इसे प्रकाश में बदल दे, जबकि सुधारक लोक-परलोक के आख्यान सुललित भाषा में सुनाकर लोगों की वाह-वाही लूटना चाहता है। जहाँ सेवक लोगों की पीड़ा हरने के लिए धरती से टकराता है वहाँ सुधारक लोगों का मनोरंजन मात्र करता हुआ उन्हें खुश रखना चाहता है। सेवक सिद्धि चाहता है, सुधारक प्रसिद्धि। सेवक को काम प्यारा है, सुधारक को नाम। सेवक अन्दर झाँकता है, सुधारक बाहर। सेवक को सरलता व सहजता प्रिय है, सुधारक को कृत्रिमता व जटिलता। सेवक का घर उसका अपना 'हृदय' है, सुधारक का 'संसार'। सेवक की सेवा **'स्वान्तःसुखाय,'** सुधारक का सुधार **'अहंतृप्तये'**। सेवक सदा अभय रहता है, सुधारक भयभीत (कहीं कार्यक्रम असफल न हो जाए, दक्षिणा कम न मिले, कोई अपमान न कर दे, सभा कभी जम न पाए इत्यादि)। कुछ अस्त-व्यस्त होने पर सेवक अपनी ही कमी बताता है। उसकी भाषा है- 'दुनिया में दुःख-दर्द व अज्ञान बचा हुआ है, यह सब इस बात का सबूत है कि मेरी सेवा में कमी है'। सुधारक सदा दूसरों को दोषी ठहराता है कि लोग बड़े मूर्ख हैं, अच्छी बातें सुनना नहीं चाहते। सेवक के हृदय में ये भाव दृढ़ता से जमे होते हैं कि हम उतने अच्छे हैं नहीं जितना कि लोग समझते हैं। सुधारक लोगों से आशा रखता है कि वे उसे विशेष समझें, अतः जब-तब बोलता रहता है कि देखो लोग कुछ समझते ही नहीं।

सेवक को दूसरों से जो कुछ दक्षिणा-सम्मान आदि मिलता है, उसे अधिक समझता है। सुधारक को जितना कुछ मिलता है, उसे कम ही आँकता है। सेवक पर्दे के पीछे रहना चाहता है, सुधारक सबके सामने अपनी दुन्दुभि बजाता है। सेवक कष्टों एवं कठिनाइयों को भगवान् का वरदान समझता है, सुधारक थोड़ी असुविधा होते ही तिलमिला उठता है। सेवक की भाषा परावाक् होती है, अतः वह बहुत सूक्ष्म होने के कारण मौन रूप में ही अज्ञान व अन्धकार का भेदन करती हुई विचरती है। सुधारक की वाणी वैखरी होती है, जो बहुत स्थूल होने के कारण अज्ञान की तहों का भेदन करने में असमर्थ

रहती है। सेवक के मस्तिष्क का उसके चरण पूरा साथ देते हैं, मस्तिष्क व चरणों का पूरा सामंजस्य होता है। सुधारक के चरण पीछे रह जाते हैं और मस्तिष्क आगे निकल जाता है। सेवक की कथनी का करनी से पता लगता है। सुधारक की करनी उसकी कथनी का ब्यौरा नहीं दे पाती। सेवा का फल जहाँ सेवक की 'चित्त शुद्धि' है, वहाँ सुधारक के सुधार का फल अहंतृप्ति और उसके कारण उसके अपने चित्त की विकृति अर्थात् जब सुधारक अपने कर्म की प्रशंसा सुनता है तो फूल कर कुप्पा हो जाता है। बस, अहङ्कार बढ़ने से यही चित्त का विकृत होना रूप फल उसके हिस्से में आता रहता है।

महाराज सेवा को तीन स्तरों में विभाजित करके समझाया करते हैं **१.** अपने पास से सेवा, **२.** अपने में से सेवा, **३.** अपने से (अपने द्वारा) सेवा। प्रथम स्तर की सेवा में जो कुछ अपने उपभोग के बाद शेष बचा हुआ है, उसके द्वारा सेवा की जाती है। किसी की मासिक आय दस हजार रुपये है। अपनी सुख-सुविधाएँ व भोग्य सामग्री जुटाने के बाद इसमें से जो शेष रहता है, उसके द्वारा इस स्तर पर सेवा की जाती है। दूसरा स्तर है- 'अपने में से सेवा'। किसी को चार रोटी की भूख है। अकस्मात् कोई भूखा व्यक्ति उपस्थित हो जाता है, तब अपने भोजन में से ही कुछ हिस्सा उसे दे देना। यह स्पष्ट ही प्रथम स्तर से कुछ ऊँचे स्तर की सेवा कहलाएगी।

सेवा का तीसरा स्तर है- 'अपने से' (अपने आप को ही दे देना)। साधारण लोगों की सेवा पहले व दूसरे स्तर की होती है तथा ईसा-बुद्ध-शङ्कर-दयानन्द-गांधी-श्रीअरविन्द-रमण महर्षि आदि महापुरुषों की सेवा तीसरे स्तर की है। इन महापुरुषों ने 'पर' के लिए अपने रूप को गला दिया। अपने लिए उन्होंने कुछ भी बचाकर नहीं रखा। दूसरों को सुखी करने के लिए अथवा परदुःख-निवारण के लिए अपने आपको मिटा डालना, अपने सुखों की तनिक भी परवाह न करना, यह सेवा का प्रकृष्टतम रूप है। महाराज इस बात को पुनः-पुनः दोहराया करते हैं कि सेवा के इस रूप के दर्शन या तो हमें 'माँ' में मिलते हैं अथवा 'महापुरुषों' में। **'सेवक तो कोई बिरला है, आठों प्रहर रहे जाग। दाता तो कोई बिरला है, जीवन धन महाभाग'।।** महाराज की ये पंक्तियाँ इन्हीं लोगों पर शत-प्रतिशत चरितार्थ होती हैं।

पहले ही कहा गया कि सेवा का चाहे कोई भी स्तर हो, इसके मूल में एक चीज सदा रहती है- दूसरे के लिए अपने आपको दे डालना और बदले में सेव्य से कुछ भी न लेना और न ही लेने की चाहना करना। बस, सुधारक और सेवक की यही भेदक रेखा है। सेवक निरपेक्ष होकर देता है अर्थात् देने के लिए देता है तथा देकर बदले में अपने आप को धन्य करता है, जबकि सुधारक सापेक्ष होकर देता है- लेने के लिए देता है। अर्थात् वह दूसरों को कुछ देना तो चाहता है पर साथ में जिन्हें दे रहा है उनसे बदले में अपने आप के लिए मान-सम्मान, अच्छे भोजन, धन ऐश्वर्य की विपुल रूप में चाहना भी करता रहता है। सेवक का लक्ष्य दूसरों को तृप्त करना और उस तृप्ति में ही तृप्त रहना है, जबकि सुधारक का लक्ष्य दूसरों की तृप्ति या भला करके उनके द्वारा अपनी ऐन्द्रियिक कामनाओं व तृष्णाओं की सम्पूर्ति करना होता है। इसी कारण एक की उपस्थिति मात्र से चारों दिशाएँ प्रेम के सौरभ से सुगन्धित रहती हैं और दूसरे के धुआँधार महान् कार्यक्रम भी इस धरती पर और अधिक दुःख-दर्द-कष्ट

पीड़ा बढ़ाने वाले होते हैं।

सुधारक और सेवक के इस उपर्युक्त विवेचन में यह सदा स्मरण रखने योग्य है कि केवल अपना नाम 'सेवक' रखने या दूसरों से 'सेवक' कहलवाने से कुछ भी नहीं बनता। सेवक का जो ऊपर भव्य, महिमामय वर्णन किया गया है, उसे जीना होगा। संसार में ऐसे भी लोग देखने में आते हैं जो अपना 'सेवक' यह नाम इसीलिए धरते हैं जिससे और अधिक ऐश्वर्य, मान-सम्मान, सत्ता-सम्पत्ति प्राप्त कर सकें। स्पष्ट है ऐसा सेवक न तो अपना भला कर सकता है न ही दूसरों का। श्रीमद्भगवद्गीता के निष्कामकर्मी को ही श्रीमहाराज ने सेवक यह अपर नाम दिया है। लेखक महाराज के हृदय से सुपरिचित है वे अपनी प्रकति के अनुसार सेवक को उपर्युक्त स्वरूप में देखना चाहते हैं और यदि कोई ऐसे व्यक्तित्व के लिए 'सुधारक' इस शब्द का प्रयोग करता है तो उसे भी आदर के साथ स्वीकार करते हैं।

महाराज से जब कोई पूछता है कि हमारी सेवाएँ लेने के लिए कोई तैयार ही न हो या हमारे पास सेवा के साधन अत्यल्प हों तो कैसे सेवा करें? इस प्रश्न का उत्तर महाराज यों दिया करते हैं- सेवा के लिए साधनों की कम और भावों की अधिक आवश्यकता होती है। उनका कहना है- जब यह समझ लिया जाता है कि सेवा के लिए हमारे पास हम से बहिर्भूत कुछ भौतिक द्रव्य (रुपया-पैसा-धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, पशु, धन, अन्न इत्यादि) होना चाहिए, तो सेवा का समस्त रूप ही विपर्यस्त हो जाता है। सेवा के लिए इन सब चीजों को व्यक्ति के पास होना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है।

वे कहते हैं- आपके पास जितना जो कुछ है अर्थात् केवल शरीर मात्र है तो भी उसके द्वारा सेवा का सम्पूर्ण फल प्राप्त किया जा सकता है। जैसे, जहाँ तुम रहते हो वहाँ झाड़ू लगाने लग जाओ, कोई वृक्ष सूख रहा है तो उसमें पानी लाकर डाल दो, कोई पशु है तो उसे सहलाना, पानी पिलाना, चारा डालना, उसके लिए घास खोदना प्रारम्भ कर दो। इस प्रकार तुम देखोगे कि प्रातःकाल से सायंकाल तक एक क्षण के लिए भी तुम्हें अवकाश नहीं मिलेगा। तुम्हारा शरीर व मन सेवा की अग्नि में तप कर निरन्तर पवित्र होता चला जाएगा।

यदि आप कवि हैं या कोई लेखक हैं तो बिना किसी पैसे अथवा सम्मान के लोभ के, सेवा-भाव से लिखते रहें। चित्रकार हैं तो अपने भावों को स्वान्तःसुखाय चित्रित करते रहें और अपने मन में सदा यह भाव बनाए रखें कि मानवता की सेवा में मेरी ऊर्जा लगती रहे। यदि आप अध्यापक हैं तो बच्चों को जो आपके पास है उसे बिना भेदभाव के बाँटते रहें। कोई वैज्ञानिक है तो सेवा को सामने रखते हुए अपनी खोज में लगा रहे। आप दार्शनिक हैं तो दर्शन-शास्त्र की गुत्थियों को सुलझाने में दत्तचित्त हो जाएँ। यदि आपके पास वक्तृत्व कला है तो उसी के द्वारा अपने को तृप्त रखें। आप कोई बड़े अधिकारी हैं तो प्रातः से सायंकाल तक लोगों की कठिनाइयों को धैर्य से सुनें और उनका उचित समाधान करें।

यदि आप कोई राजनेता हैं, व्यापारी हैं, सैनिक हैं, सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं, तो भी बिना किसी लोभ या लाभ के अपने काम में लगे रहें। आप अपनी आजीविका की चिन्ता न करें, जितना अधिक

आप अपने को समष्टि में समर्पित करते चले जाएंगे, उतनी ही वैश्व शक्तियाँ स्वतः आपकी रक्षा में जुट जाएंगीं। आप विश्वास रखें- कभी भी भूखे नहीं मरेंगे। आपके पास कोई भी योग्यता नहीं है, शरीर भी जर्जर हो रहा है, तो भी निरन्तर अपने मन में, 'सबका भला हो, सबका कल्याण हो' इन भावों को स्थान देते हुए शान्त रहें, यही आपकी एक सेवा बन जाएगी और इससे आपका अन्तःकरण शुद्ध होता चला जाएगा। यदि आप एकान्तप्रिय योगी हैं और सतत दिव्य चेतना में निवास करते हैं तो इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण मानवता के लिए आप जीवन की चरम सम्भावनाओं के द्वार उद्घाटित कर रहे हैं और यही आपकी विशिष्ट सेवा बन जाएगी। इस प्रकार व्यक्ति-भेद, रुचि-भेद या क्षमता-भेद से सेवाओं के अनन्त रूप हो सकते हैं, पर उन सब सेवा रूपी मोतियों की माला को एकरूपता देने वाला जो मध्यगत सूत्र है- वह एक मात्र यही है कि 'किसी से कुछ भी अपेक्षा न करना'।

महाराज के कथनानुसार सेवा ही वह 'सुर-सरिता' है जिसमें स्नान करने से व्यक्ति के रोग-शोक रूपी आधि-व्याधि-उपाधि की समाप्ति होकर व्यक्ति को सहज समाधि की प्राप्ति हो जाती है। यही वह अमृत है जो मर्त्य प्राणी को अमर कर देता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है- महाराज की दृष्टि में सेवा का कोई परिणाम या हिसाब-किताब नहीं होता, इसलिए सेवा का आरम्भ बिन्दु तो है पर अन्तिम बिन्दु नहीं है कि कितनी सेवा करने पर उसे छुट्टी मिल जाएगी। यह वह सतत चलता रहने वाला जरामर्य सत्र है जो कि जब तक जीवन है, तब तक निरन्तर चलता ही रहना चाहिए।

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इस याजुष मन्त्र की महाराज प्रतीकात्मक व्याख्या करते हुए कहते हैं- यह समष्टि भगवान् का 'पाद' है। भगवान् को प्रसन्न करना चाहते हो तो भगवान् के पैर (चरण) पकड़ लो। महाराज का भाव है लोक में जैसे मान्यता है कि मूर्ख को गर्दन से, पहलवान को कमर से तथा विद्वान् को पैर से पकड़ना चाहिए। उसी प्रकार भगवान् भी उनके पैर पकड़ने से सहज ही वश में आ जाते हैं। महाराज कहते हैं-

पा पकरे बिन गति नहीं, पा पकरे दिन रात।
पा पकरे ते हरि मिलें, पा पकरो दिन रात।।

इस अनुप्रास युक्त छन्द का तात्पर्य यह है कि सेवक इस समष्टि को भगवान् का रूप समझकर भी यदि सेवा का प्रदर्शन (दिखावा) करता है, तो निश्चित ही वह अपनी सेवा की आहुति अपने अहं के मुँह में डाल रहा है। वह व्यक्ति सेवा के नाम पर कितना भी कुछ करे, उसका अहङ्कार ही वृद्धि को प्राप्त होगा। अध्यात्म में अहङ्कार को सामने रखकर ही चित्त की शुद्धि-अशुद्धि का अङ्कन किया जाता है। अहङ्कार-युक्त चित्त कभी भी शुद्ध नहीं होता, इसलिए ऐसा चित्त भगवान् को प्राप्त करने में असमर्थ ही रहता है।

महाराज कहा करते हैं- **कृति ही अपना बखान कर रही हो, कर्त्ता सर्वथा मौन रहे, यही निरहङ्कारिता का लक्षण है।** पर महाराज का यह मौन कोई ऐसा स्थूल मौन नहीं है जिसमें केवल वैखरी वाणी चुप हो जाती है, बल्कि यह तो चित्त की पूर्ण शान्त स्थिति का नाम है। सेवायज्ञ में

भावनाओं की कितनी अधिक महत्ता है, इसे समझाने के लिए महाराज महाभारत से एक नेवले का उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें यह समझाया गया है कि किसी अनजान भूखे व्यक्ति के लिए एक ब्राह्मण परिवार द्वारा किया गया सत्तू-दान युधिष्ठिर के द्वारा किये गए विशाल अश्वमेध से भी बढ़कर था। महाभारत में यह कहानी व्यास जी के मुँह से कहलवाई गयी है। उस समय सब लोग यज्ञ-मण्डप में बैठे हुए अश्वमेध में दी गई दान-दक्षिणा की प्रशंसा कर रहे थे।

कहानी का आशय ऐसा है कि एक नेवला वेदी के आस-पास चक्कर काटने लगा। उसका आधा शरीर सोने के रंग का था। उसे इस प्रकार व्यग्र देखकर लोगों ने कारण पूछा तो उसने कहा- मैंने सुना था कि युधिष्ठिर ने बहुत बड़ा यज्ञ किया है। यह देखने के लिए मैं यहाँ आया, पर मैंने इसे सच नहीं पाया। पिछले समय उञ्छवृत्ति से निर्वाह करने वाले एक ब्राह्मण ने सेर भर सत्तू से जो यज्ञ किया था, वह इससे कहीं बड़ा था। वह ब्राह्मण-परिवार कई दिनों से भूखा था। एक दिन उसे कथंचिद् एक सेर जौ प्राप्त हुए। उस तपस्वी ब्राह्मण-परिवार ने उस जौ का सत्तू तैयार किया और जप एवं नैत्यिक नियम पूर्ण करके अग्नि में विधि पूर्वक आहुति देने के पश्चात् वे सब लोग एक-एक पाव सत्तू बाँटकर खाने के लिए तैयार हुए। वे भोजन करने के लिए अभी बैठे ही थे कि कोई भूख से तड़पता हुआ ब्राह्मण उनके यहाँ आ पहुँचा। उसे वे अपना अतिथि समझ वहाँ आया हुआ देख मन ही मन अति प्रसन्न हुए। सो उसे प्रणाम कर उन्होंने उसका कुशल मङ्गल पूछा। फिर वे धर्मज्ञ उसे कुटी में ले गए।

तत्पश्चात् उञ्छवृत्ति वाले ब्राह्मण ने कहा-'भगवन्! आपके लिए यह अर्घ्य, पाद्य तथा आसन उपस्थित है और न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए ये परम पवित्र सत्तू आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं! मैंने प्रसन्नता पूर्वक इन्हें आपको अर्पण किया है। आप इन्हें स्वीकार करें। ब्राह्मण के ऐसा कहने पर उस अतिथि ने एक पाव सत्तू लेकर खा लिया, परन्तु इतने से वह तृप्त नहीं हुआ। अतः बूढ़ी ब्राह्मणी ने, उसके एकमात्र पुत्र तथा पुत्रवधू ने भी अपना-अपना हिस्सा अतिथि देवता को प्रसन्नता पूर्वक बारी-बारी अर्पित कर दिया। इससे वह अतिथि उस उञ्छ वृत्तिधारी साधु महात्मा से बहुत सन्तुष्ट हुआ। वस्तुतः उस श्रेष्ठ द्विज के रूप में मानव शरीर धारी साक्षात् धर्म ही वहाँ उपस्थित था। प्रवचनपटु 'धर्म' सन्तुष्ट चित्त होकर उस उञ्छव्रतधारी श्रेष्ठ ब्राह्मण से इस प्रकार बोला-

द्विज श्रेष्ठ! तुमने अपनी शक्ति के अनुसार धर्मपूर्वक जो न्यायोपार्जित शुद्ध अन्न का दान किया है, उससे मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। भूख मनुष्य की बुद्धि को चौपट कर देती है। धार्मिक विचार को मिटा देती है। भूख से ज्ञान लुप्त हो जाने के कारण मनुष्य धीरज खो देता है। जो भूख को जीत लेता है, वह निश्चय ही स्वर्ग पर विजय पाता है। जब मनुष्य में दान विषयक रुचि जागरित होती है, उस समय उसके धर्म का ह्रास नहीं होता।

मनुष्य के लिए सबसे प्रथम तो न्याय पूर्वक धन की प्राप्ति का उपाय जानना ही सूक्ष्म विषय है। उस न्यायोपार्जित धन को सत्पात्र की सेवा में अर्पण करना उससे भी श्रेष्ठ है। साधारण समय में दान देने की अपेक्षा उत्तम समय में दान देना और भी श्रेष्ठ है, परन्तु श्रद्धा का महत्त्व समय से भी

बढ़कर है। स्वर्ग का द्वार अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य मोहवश उसे देख नहीं पाते। उस स्वर्ग-द्वार की कुण्डी लोभ रूपी बीज से बनी हुई है। वह द्वार राग के द्वारा गुप्त है, अतः उसमें प्रविष्ट होना बहुत कठिन है। जो लोग क्रोध को जीत चुके हैं, इन्द्रियों को वश में कर चुके हैं, वे यथाशक्ति दान देने वाले ब्राह्मण ही उस द्वार को देख पाते हैं। श्रद्धापूर्वक दान देने वाले मनुष्य में यदि एक सहस्र देने की सामर्थ्य हो और वह सौ का दान करे, सौ देने की शक्ति वाला दस का दान करे और जिसके पास कुछ न हो, वह यदि अपनी शक्ति के अनुसार जल ही दान कर दे तो इन सबका फल बराबर माना गया है।

जो मूर्ख अन्याय-उपार्जित धन का बारम्बार संग्रह करके धर्म के विषय में संशय रखते हुए यजन करता है, उसे धर्म का फल नहीं मिलता। अन्यायपूर्वक प्राप्त हुए द्रव्य (धन) के द्वारा महान् फल देने वाले बड़े-बड़े दान करने से धर्म को उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी न्यायपूर्वक कमाये हुए थोड़े-से अन्न का भी श्रद्धापूर्वक दान करने से होती है। हे विप्र! मनुष्य के लिए धन ही पुण्य का हेतु नहीं है। साधु पुरुष अपनी तपःशक्ति से ही स्वर्ग को जीत लेते हैं, पुण्य का अर्जन कर लेते हैं। दान देना, प्राणियों पर दया करना, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन, सत्य भाषण, करुणा, धैर्य, क्षमाशीलता, यही धर्म है, यही महान् योग है। यह सनातन धर्म का सनातन मूल है। मनुष्य क्रोध से अपने दान के फल को नष्ट कर देता है। लोभ के कारण वह स्वर्ग में नहीं जाने पाता। न्यायोपार्जित धन से जीवन निर्वाह करने वाला तथा दान के महत्त्व को समझने वाला पुरुष दान और तप के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। विप्रवर! तुमने सेर भर सत्तू का दान करके अक्षय ब्रह्म-लोक को जीत लिया है। अब तुम सुखपूर्वक रजोगुण रहित ब्रह्मलोक (मोक्ष) में जाओ।

अब नेवला कहता है- उन दोनों के वार्त्तालाप के पश्चात् सत्तू की गन्ध सूँघने, अतिथि द्वारा कुल्ला करने से गिरे हुए जल में लोटने और उञ्छवृत्ति-धारी ब्राह्मण की तपस्या के प्रभाव से मेरा मस्तक सोने का हो गया। उस सत्य प्रतिज्ञ ब्राह्मण के सत्तू-दान से मेरा यह आधा शरीर भी सुवर्णमय हो गया। उस बुद्धिमान् ब्राह्मण की तपस्या से मुझे जो यह महान् फल प्राप्त हुआ है, इसे आप लोग अपनी आँखों से देख लीजिए। हे ब्राह्मणों! जब मेरा आधा शरीर सोने का हो गया, तब मैं इस चिन्ता में पड़ा कि मेरे शरीर का दूसरा पार्श्व भी ऐसा ही कैसे हो सकता है?

मेरा शेष आधा शरीर भी स्वर्णमय हो जाए, इसी उद्देश्य से मैं अत्यन्त हर्ष एवं उत्साह के साथ बारम्बार अनेक तपोवनों और यज्ञ स्थानों में आना-जाना कर रहा हूँ। परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर के इस यज्ञ का बड़ा भारी शोर सुनकर मैं बड़ी आशा लेकर यहाँ आया था, परन्तु मेरा शरीर सोने का न हो सका। हे ब्राह्मणों! इसी से मैंने हँसकर कहा था कि यह यज्ञ ब्राह्मण के दिये हुए सेर भर सत्तू के बराबर भी नहीं है। बात सर्वथा ऐसी ही है क्योंकि उस समय सेर भर सत्तूओं में से गिरे कुछ कणों के प्रभाव से ही मेरा आधा शरीर स्वर्णमय हो गया था, परन्तु यह महान् यज्ञ भी मुझे वैसा नहीं बना सका, अतः मेरी सम्मति में यह यज्ञ उन सेर भर सत्तू के कणों के समान भी नहीं है।

महाभारतकार सार-रूप में इस कहानी के अन्त में कहता है- किसी भी प्राणी के प्रति वैर की

भावना न रखना, मन में सन्तोष रखना, शील और सदाचार का पालन करना, सबके प्रति सरलता-पूर्ण व्यवहार करना, तप करना (द्वन्द्वों का सहना), मन और इन्द्रियों को वश में रखना, सत्य बोलना और न्यायोपार्जित वस्तु का श्रद्धापूर्वक दान करना, इनमें से एक-एक गुण बड़े-बड़े यज्ञों के समान है। यह है महाराज का अति प्रिय पावन प्रसङ्ग जो पाठकों की सुविधा के लिए विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

महाराज से जब कोई साधक ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए निज अनुभूत उपाय पूछता है तो वे यही कहते हैं- समष्टि की सेवा में अपने आप को अर्पित कर दो। सेवा के लिए अर्पित हो जाने का अर्थ है- किसी से कोई भी चाहना न रखना। महाराज कहते हैं- क्षुद्र ऐन्द्रियिक तृष्णाएँ भी तो 'चाहना' का ही एक रूप हैं, बल्कि बहुत बड़ा उग्र रूप हैं। सो सेवक अपना मन कैसे क्षणिक ऐन्द्रियिक तृप्ति में लगा सकता है? सेवक दूसरों को सुख देता है, किञ्चित् भी सुख लेता नहीं, चाहे उस सुख का रूप शारीरिक, प्राणिक, इन्द्रिय सम्बन्धी या मनोवैज्ञानिक कुछ भी क्यों न हो! सेवक दूसरे के साथ सुख का अदला-बदला भी नहीं करता, जो कि ब्रह्मचर्य विरोधी इन्द्रिय-सुख का मूल आधार है।

प्रत्येक अवस्था में 'सेव्य' सेवक का 'इष्ट देवता' होता है। सच्चा देवोपासक वही माना जाता है जो अपने इष्ट देव से अपनी पूजा के बदले में कुछ भी भौतिक लाभ नहीं लेना चाहता। सेवा तो सेवक के लिए पूजा की सामग्री है। फिर वह कैसे पूजा के बदले सेव्य के समक्ष अपने लिए कोई भी छोटी या बड़ी माँग रख सकता है? एक शब्द में, सेवक के मन, प्राण व शरीर सेव्य रूप अपने इष्टदेव की तृप्ति के लिए होते हैं। सेव्य की तृप्ति ही सेवक का सर्वस्व होती है। अतः वह अपने लिए किसी भी सुख के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन हो जाता है। कल्पना की जा सकती है- इस विचार व भाव की दृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित हुआ व्यक्ति क्या कभी एक क्षण के लिए भी ब्रह्मचर्य-विरोधी भावों को स्थान दे सकता है या इस प्रकार के भाव ऐसे निःस्पृह व्यक्ति के मन में किञ्चित् भी स्थान पा सकते हैं? उत्तर स्पष्ट है- कभी नहीं।

महाराज के इस स्वानुभव का समर्थन न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि तथा गांधी जी द्वारा भी किया जा रहा है। गांधी जी की इस घोषणा से सब परिचित हैं कि 'सेवा ने ही मुझे ब्रह्मचारी बनाया'। वात्स्यायन मुनि ने भी अपने ढंग से यही बात दोहराई है। वे कहते हैं- जब व्यक्ति शरीर से अशुभ कर्म करता है, तो मुख्य रूप से तीन कामों के प्रति उसका झुकाव होता है- चोरी, हिंसा व प्रतिषिद्ध मैथुन। इसके विपरीत जब शुभ में प्रवृत्त होता है तो वह व्यक्ति चोरी के स्थान पर दान देता है, हिंसा के बदले लोगों की रक्षा करना प्रारम्भ कर देता है तथा प्रतिषिद्ध मैथुन का त्याग कर सेवा में जुट जाता है।

और भी अनुभवी लोग कहते हैं- जिनके पास काम (सेवा) है, उनके पास कोई काम (वासना) नहीं तथा जिसके पास काम (सेवा) नहीं उनके पास काम-ही-काम (Sexual desire) शेष रह जाता है। काम (सेवा) के साथ काम (वासना) का ऐसा ही विरोध है जैसे प्रकाश व अन्धकार का। एक की उपस्थिति में दूसरा नहीं रहता है। इस प्रकार महाराज का कहना है कि जो काम पर विजय पाना चाहते हैं, उन्हें एक क्षण के लिए भी काम (सेवा) से अपने मन को खाली नहीं रखना चाहिए। जैसा कि पहले ही कहा गया, व्यक्ति के पास सेवा करने के साधन मुख्य रूप से चार हैं- शरीर, वाणी,

मन तथा द्रव्य (रुपया-पैसा-जमीन-जायदाद-सोना-चाँदी-अन्न-धन इत्यादि समस्त भौतिक पदार्थ : Material Things)। सो कभी एक से तो कभी दूसरे से जो व्यक्ति अपने आपको जोड़े रखता है- वह ब्रह्मचर्य की साधना में निश्चित ही सफल हो जाता है।

आजकल के मनोवैज्ञानिक भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य के शरीर में जो ऊर्जा बह रही है, उसका यदि मार्गान्तरीकरण या उदात्तीकरण (Sublimation) कर दिया जाए तो मनुष्य काम-वासना से ऊपर उठ सकता है। यद्यपि वे लोग अभी वहाँ तक नहीं पहुँच पाए हैं, जहाँ पहुँचकर प्राचीन वैदिक ऋषियों के अनुगामी हमारे महाराज श्री यह कहते हैं कि **हमारी प्रकृति की उच्च अवस्था में ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक है**। महाराज का कहना है- **'अब्रह्मचर्य मनुष्य की निम्न प्रकृति की एक क्रीड़ा मात्र है। मनुष्य द्वारा अपनी प्रकृति के उच्च स्वरूप को प्राप्त कर लिये जाने पर यह निम्न प्रकृति का खेल अति उपहासास्पद प्रतीत होता है'।** महाराज इस समस्त प्रक्रिया को यों घटाते हैं- निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति में आरोहण करने के लिए निरन्तर अपने चित्त को माँजते रहने की आवश्यकता है। महाराज के शब्दों में- सेवा साध्य भी है और साधन भी। सेवा रूप साधन के द्वारा जैसे-जैसे व्यक्ति का स्वार्थभाव क्षीण होता है, वैसे-वैसे उच्च प्रकृति में आरोहण भी साथ-साथ होता रहता है। एक समय आता है कि व्यक्ति पूर्ण रूप से बदल जाता है, रूपान्तरित हो जाता है और ब्रह्मचर्य ही नहीं बल्कि प्रत्येक विषय में निर्भय हो जाता है। बेशक वह लोगों के समक्ष उन्हें सजगता या अप्रमाद की शिक्षा देने के लिए प्रकटतः यह उद्घोषणा न करे कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है, क्योंकि वह देखता है कि तेरा अनुकरण करता हुआ कहीं कोई अपक्व व्यक्ति ऐसा सोचकर प्रमाद या अहङ्कार का शिकार न हो जाए।

महाराज सेवा या सेवा के साधन के रूप में किये जाने वाले समस्त कर्मों को चाहे वे मन, वाणी, शरीर या द्रव्य किसी का भी आश्रय लेकर किये जा रहे हों, दो भागों में बाँटते हैं- नित्य व नैमित्तिक। महाराज का कहना है- काम्य कर्मों (जो कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं) का सेवा में अन्तर्भाव नहीं होता। इन दोनों (नित्य-नैमित्तिक) में भी नैमित्तिक कर्म ही मुख्य रूप से सेवा द्वारा अभिहित होते हैं। नित्य कर्म व्यक्ति को मात्र नीचे गिरने से बचाते हैं। करने से कोई विशेष उन्नति नहीं होती, न करने से व्यक्ति का अधःपतन हो जाता है, जैसे पीतल के पात्र को नित्य माँज कर साफ रखने से चमकता हुआ पीतल बना रहता है, पर सोना कभी नहीं बनता और न माँजने पर अपने वास्तविक रूप में न रह कर काला पड़ जाता है।

नित्य स्नान, ध्यान, उपासना, भोजनादि का समावेश नित्य कर्म में होता है। ये सब अपने स्थान पर आवश्यक हैं, पर नैमित्तिक कर्म के उपस्थित होने पर एक सच्चा सेवक नित्य या काम्य कर्मों को छोड़कर उन्हें ही पहल देता है। जैसे, किसी व्यक्ति का सन्ध्या का समय है और उसी समय पास में कोई दुर्घटना हो जाती है, आग लग जाती है या ऐसी ही कुछ अचिन्तित घटना घट जाती है तो सेवक अपने नित्य कर्म को त्यागकर पहले उधर ही ध्यान देता है। एक अर्थ में नित्यकर्म वे आत्मसम्बन्धी कर्म हैं जो व्यक्ति को उसके अपने 'स्व' (False Self) से हटने के

लिए तैयार करते हैं, जो सेवक में सेवा के लिए शक्ति भरते हैं, जिनसे शक्तिमान् होकर सेवक नैमित्तिक कर्म करने में समर्थ हो पाता है। नैमित्तिक कर्म 'पर' से या 'सेव्य' से सम्बन्धित होते हैं। इसलिए ये वे कर्म हैं जो सेवक की चित्त शुद्धि में, अशुद्ध संस्कारों के क्षय करने में, उसके रूपान्तरण में, निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति में आरोहण करने में वास्तविक निमित्त बनते हैं।

सेवा रूपी पारसमणि से छूकर व्यक्ति का चित्त रूपी लोहा सोना बन जाता है। अथवा यों कहें– निरन्तर इस प्रक्रिया से गुजरते रहने से सेवक का चित्त स्फटिक की तरह निर्मल हो जाता है। इसी निर्मल चित्त में 'प्रज्ञा' का उदय होता है, जो प्रज्ञा 'सत्य' का तर्कबुद्धि के द्वारा नहीं, बल्कि साक्षात् समग्र दर्शन कराती है। सतत सेवा करते-करते इसी प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर व्यक्ति में 'करुणा का उदय' होता है, जिसके उदय होने पर घृणा-द्वेष-वैर-विरोध-वैमनस्य इत्यादि स्वाग्रही भाव (SelfAsserting) सूर्योदय से अन्धकार की भाँति विलीन हो जाते हैं। ऐसा चित्त ही मनुष्य जीवन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति 'प्रेम' के प्राकट्य में समर्थ हो पाता है। वह चित्त प्रतिकूलताओं में भी वैसे ही प्रशान्त स्थिर अविचल हो जाता है जैसे किसी समुद्र की ऊपरी सतह पर लहरें दिखायी देते हुए भी वह अपने अन्तर में पूर्ण शान्त ही बना रहता है। ऐसे करुणावान् चित्त के मूर्त्त रूप बने हुए ये महापुरुष इस दुःख-निमग्न संसार को अपनी तरफ खींच रहे हैं। ऐसे चित्त का ही एक नमूना देखिए-

एक व्यक्ति बुद्ध के पास आकर उनके ऊपर थूकने लगता है। बुद्ध अपनी स्निग्ध दृष्टि से उसे निहारते हुए आगे बढ़ जाते हैं। बुद्ध की इस शान्त प्रतिक्रिया से उस व्यक्ति को बहुत पश्चात्ताप होता है। अगले दिन फूलों का एक गुलदस्ता लेकर वह व्यक्ति जाकर उनके चरणों में गिर पड़ता है तथा बुद्ध से क्षमा याचना करने लगता है। बुद्ध आज भी अपनी उसी स्निग्ध व प्रेममयी दृष्टि से उसको शान्त भाव से देखने लगते हैं। बुद्ध का करुणा से भरा चित्त पहले दिन उस व्यक्ति को घृणा से जलता हुआ देख रहा था, दूसरे दिन पश्चाताप में। बुद्ध को दोनों ही अवस्थाएँ एक-समान प्रतीत हो रही थीं कि बेचारा दुःख में है। इसके अतिरिक्त बुद्ध को कुछ प्रतीत नहीं हो रहा था, न तो कल किया गया अपमान और न आज किया गया सम्मान।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए- एक व्यक्ति वमन कर रहा है, दूसरे व्यक्ति पर उसके छींटे पड़ रहे हैं। यदि चित्त अशुद्ध है तो व्यक्ति को निश्चित रूपेण अपने वस्त्र दिखाई देंगे, जिन पर वमन के छींटे पड़ रहे हैं। पर इसके विपरीत शुद्ध चित्त को उस व्यक्ति की दुःखमय अवस्था दिखाई देगी कि किसी कारण से उस बेचारे को इतना कष्ट हो रहा है। अशुद्ध चित्त सदा अपनी तरफ देखता है तो शुद्ध चित्त सदैव दूसरों को। यही वह भेदक रेखा है जो महापुरुषों को सामान्य जीवन से अलग खड़ा कर देती है। कहना अनावश्यक है- शरीर-वाणी-मन या द्रव्य इन चारों ही साधनों के द्वारा किये गए एक मात्र सेवा के सतत अभ्यास से ही चित्त की उपर्युक्त स्थिति प्राप्त हो सकती है-

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

११. संसार में कैसे रहें?

एक बार लेखक ने श्री महाराज से पूछा कि संसार में मनुष्य को कैसे रहना चाहिए? महाराज ने इसके उत्तर में कई उपमाओं को प्रस्तुत किया। वे एक-एक कर के क्रमशः पाठकों के समक्ष रखी जा रही हैं। उन्होंने कहा- जैसे वैद्य या डॉक्टर रोगियों के बीच में रहता है, वैसे ही मनुष्य को इस दुनिया के बीच रहना चाहिए। वैद्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कभी भी रोगियों को घृणा के भाव से नहीं देखता, बल्कि उसकी दृष्टि में सदा करुणा उमड़ती रहती है। रोगी के स्वास्थ्य लाभ करने पर वैद्य की वही करुणा प्रेम का रूप धारण कर लेती है। सुखी जनों के प्रति प्रेम, दुःखियों के प्रति करुणा; विशेष रूप से ये दो भाव वैद्य में सदा रहते हैं। वैद्य कभी भी रोगी से यह नहीं कहता, न मन में ही यह विचार लाता है कि तूने जो गलतियाँ की हैं, अब उनका फल भोग, मैं क्या करूँ? वैद्य के मन में किसी के प्रति पापी, अपराधी या अन्यायी, अत्याचारी होने के भाव भी नहीं उठते। जो भी उसके पास आते हैं वे सब उसे केवल रोगी या दुःखी दिखाई देते हैं।

जैसे भगवान् की सृष्टि के सब घटक बिना भेदभाव के अपने-अपने वैभव को सब में बाँटते रहते हैं, वैद्य भी तो जो उसके पास है– उसके द्वारा जीवमात्र को सुखी करने का व्रत लिये हुए जीवन धारण करता है। अभी-अभी कोई हत्या करके वैद्य के समीप पहुँचा है, वैद्य के लिए तो वह रोगी ही है। सो महाराज कहते हैं– वैद्य की भाँति इस संसार के मध्य रहो। एक अच्छे वैद्य को न किसी रोगी से शिकायत होती है और न ही पुरस्कार पाने की इच्छा। रोगी उससे सेवाएँ ग्रहण कर रहे हैं, वैद्य के लिए मात्र यही बड़ा पुरस्कार होता है। कदाचित् कोई रोगी वैद्य की पिटाई तक कर देता है। रोगियों के असंख्य रूप हैं। कोई किसी रूप में रोगी है तो दूसरा किसी अन्य रूप में। कभी-कभी रोगी वैद्य के मुख पर ही थूक देता है। वैद्य यह कहते हुए सबको माफ कर देता है- 'बेचारा रोगी है'।

वस्तुतः इन विभिन्न रूपों के लिए जो ये विभिन्न नाम (संज्ञाएँ) प्रयोग होते हैं, जीवन को सुखी-दुःखी करने में इनका बड़ा हाथ होता है। संज्ञाओं के महत्त्व को और मनुष्य पर पड़ने वाले उनके विविध प्रभावों को कोई मना नहीं कर सकता। संज्ञा या नाम अपने अनुरूप प्रभाव को अवश्य छोड़ता है। कोई व्यक्ति भूखा है। यदि उसके मन में यह विचार आता है– 'आज भोजन नहीं मिला, भूखा मर गया' तो उसे कष्ट होता है। इसके विपरीत 'उपवास कर रहा हूँ', ऐसा सोचने पर सुख मिलता है। क्रिया एक ही है उसके नाम-भेद से भाव में कितना परिवर्तन हो जाता है? यह बात प्रतिदिन सबके अनुभव में आती रहती है।

प्रत्येक शब्द अपने साथ एक विशेष अर्थ लिये हुए रहता है। उस शब्द और अर्थ के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शब्द का वाणी से (या कभी केवल मन से ही) उच्चारण होता है। कर्णेन्द्रिय से सुना जाता है, पर उस शब्द से सम्बद्ध अर्थ का प्रकाश बुद्धि में होता है। जैसे

ही बुद्धि में अर्थ का प्रकाश होता है, व्यक्ति की संवेदनशीलता या आन्तरिक माँग के अनुसार वह अर्थ व्यक्ति में अपने अनुरूप एक 'भाव' को जन्म देता है। व्यक्ति का मन यदि संवेदनशील नहीं है, तो शब्दों के वे अर्थ व्यक्ति की बुद्धि में प्रकाशित होकर भी भावों का सर्जन नहीं कर पाते। भावों का केन्द्र हृदय माना जाता है। हमारी सत्ता के अव्यक्त केन्द्र का नाम ही हृदय है। रक्तशोधक मांसपिण्ड के साथ उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। हृदय, नाभि, केन्द्र, प्रजापति, ऊर्ध्व, अव्यक्त, अनिरुक्त, गुहा, गह्वरेष्ठ, गुहाहित, गर्भ, गुह्यब्रह्म, परोक्ष, अमूर्त्त, नभ्य, हिरण्यगर्भ, अजायमान, अमृत- ये सब वैदिक शब्द विभिन्न रूपों में एक ही अर्थतत्त्व को प्रकट कर रहे हैं।

बौद्ध लोग इसे ही 'शून्य' नाम से पुकारते हैं। यज्ञीय कर्मकाण्ड में इसी तत्त्व का प्रतीक ब्रह्मा को बनाया जाता है, जो 'तूष्णीम्' (चुप) रहते हुए भी सम्पूर्ण यज्ञ की 'प्रतिष्ठा' होता है। सो इस प्रकार हृदय वह 'स्थिति' तत्त्व है जिसके आधार पर समस्त 'गति' का चक्र चल रहा है। हृदय क्योंकि हमारी सत्ता का अभ्यन्तरीण भाग (Internal part of our existence) है, इसलिए वह सदा अदृश्य है, पर उसी पर यह प्रतीयमान दृश्य टिका हुआ है। हृदय को वेद में 'समुद्र' कहा गया है। श्री महाराज ने आश्रम में 'सरोवर' को उसी हृदय का प्रतीक बनाया है। जैसे समुद्र अनन्त रत्नों का खजाना माना जाता है, उसी प्रकार हृदय भी दिव्य भावों का अक्षय स्रोत है, पर उसकी गहराई में जाने के लिए सतत अभीप्सा के द्वारा उसमें बार-बार गोता लगाना पड़ता है। इस गोता लगाने की प्रक्रिया को ही ध्यान (Meditation) नाम से कह दिया जाता है।

हाँ! तो शब्दों के विविध अर्थ व्यक्ति में विविध भावों को कैसे जगाते हैं- यह विचार चल रहा था। 'माँ' शब्द सुनते ही व्यक्ति में अलग भाव जागरित होते हैं, 'पत्नी' शब्द से अलग। 'मित्र' शब्द या 'शत्रु' शब्द के द्वारा किस प्रकार विभिन्न भावों का जन्म होता है, यह अनुभव के स्तर पर देखने-परखने की बात है। किसी सन्त को देखकर एक व्यक्ति के मुख से निकलता है 'तपस्वी महात्मा', दूसरा तत्काल कहता है 'पाखण्डी'। कल्पना कीजिए दोनों व्यक्तियों के भावों में कितना अन्तर होगा? किसी को 'शठ' या 'धूर्त्त' कहने से तथा 'बेचारा बेसमझ है' ऐसा कहने से जो भाव पैदा होंगे- वे निश्चित ही पृथक्-पृथक् होंगे। जो-जो भी अभद्र कर्म करने वाले लोग हैं- चोर, डाकू, शराबी, उत्पाती, बदमाश, पापी इत्यादि, श्री महाराज का कहना है कि इन सबके लिए एक ही सामूहिक संज्ञा देनी चाहिए- 'रोगी'।

किसी को रोगी कहेंगे तो हमारे मन में जो भाव पैदा होंगे, निश्चित ही वे करुणा, प्रेम व दया से भरे हुए होंगे। फिर जो कुछ भी हम उनके लिए अच्छे-से-अच्छा कर सकते हैं, वह अवश्य करेंगे। दण्ड भी देना होगा तो माता-पिता अथवा गुरु बनकर दण्ड देंगे। पापी कहने से उसके प्रति या तो घृणा पैदा होगी या फिर क्रोध। महाराज कहते हैं कि किसी के प्रति घृणा व क्रोध करने से दोनों की हानि है- घृणा करने वाले की भी तथा जिसके प्रति घृणा की जा रही है उसकी भी। करने वाले की हानि इसलिए कि घृणा से उसका चित्त अशुद्ध हो जायेगा और जिसके प्रति घृणा की जा रही है उसकी हानि इसलिए

कि उससे वह व्यक्ति हतोत्साहित होकर हीन भावना (Inferiority) से ग्रस्त हो जायेगा। उत्साह उसका साथ छोड़ बैठेगा। महाराज कहते हैं- पापी के सुधार में यह वृत्ति कथमपि सहयोगी नहीं हो सकती। सदा के लिए किसी को बुरा समझ लेना उसके उत्थान में बहुत बड़ी रुकावट है।

श्री महाराज का दर्शन है- अवर (हीन) को पर (उत्कृष्ट) में बदल डालने के लिए इस संसार में बस दो ही चीजें हैं एक तो 'प्रेम' और दूसरा 'मन्यु'। या तो दूसरों की तरफ से दिया गया 'असीम प्रेम' व्यक्ति को बदलता है (किसी विशेष अवस्था में यह प्रेम भगवान् की ओर से आया हुआ भी हो सकता है) या फिर उसका स्वयं का 'मन्यु'। 'मन्यु' उस मानसिक स्थिति का नाम है, जिसमें व्यक्ति के अन्दर अपार उत्साह उमड़ने लगता है, अपने ही द्वारा व्यक्ति अपने आपको बदलने के लिए बाध्य कर देता है। अपनी अन्तर्निहित पशुता और निर्बलता को चूर्ण-विचूर्ण कर डालने के लिए कमर कस लेता है। किसी भी अशुभ से अपने आपको पृथक् करने के लिए व्यक्ति का आन्तरिक वेग पराकाष्ठा पर होता है। इस प्रकार परिवर्तन के लिए धैर्य व उत्साह की प्रचण्ड आग का नाम ही 'मन्यु' है। यह मन्यु दूसरों के प्रति किये गए या किये जा रहे क्रोध की अवस्था का नाम नहीं है, बल्कि यह तो अपने निज के रूपान्तरण के लिए वैयक्तिक आवेश की घनीभूत अवस्था का नाम है। सो पापी व्यक्ति अपने प्रायश्चित्त के उद्दीपन से भले ही ऊपर उठ जाए, पर लोक व्यवहार में दया का पात्र प्रायः नहीं माना जाता, जबकि 'रोगी' होने के कारण वह दया का पात्र है।

महाराज कहते हैं कि जब किसी व्यक्ति के प्रति 'रोगी' की दृष्टि रहती है, तो उसके रोग से ही घृणा होती है, रोगी से नहीं। पापी से प्यार होता है तथा पाप का निराकरण किया जाता है। एक बार लेखक ने **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** विषय को लेकर महाराज के समक्ष बहुत सारे हेतु दिये, पर महाराज एक ही बात कहते रहे- हाँ! उसे 'शठ' संज्ञा देंगे, तब तो यही कहना होगा। पर जब वह 'रोगी' संज्ञा से अभिहित किया जाएगा, तो रोगी से प्यार करते हुए रोग के निराकरण की बात सोची जायेगी। लेखक फिर एक बात रखता है- मान लीजिए कोई एक चोर है। महाराज तुरन्त भाषा का सुधार करते हुए बोलते हैं- नहीं, ऐसा कहिए- कोई एक रोगी है। जिस किसी को भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया, महाराज अपनी जगह अडिग रहे और यही कहते रहे कि ऐसा बोलिए- कोई एक रोगी है।

हाँ! जैसे रोग अनेक प्रकार के हैं, उनके उपचार भी रोग के अनुसार अलग-अलग हैं। जीवन के संदर्भ में भी इन विभिन्न रोगियों की प्रकृति-स्वभाव-देश-काल-अवस्था आदि को देखते हुए रोग का जो रूप है, उसका निश्चय करके उस रोग के निराकरण का उपाय करना चाहिए। महाराज का कहना है- सदा इस सूत्र को याद रखना चाहिए कि रोगी दया का पात्र होता है। यों तो माँ की भी कभी बच्चे को मिट्टी खाता हुआ देखने पर वाणी और मुखाकृति बदल जाती है, पर अन्दर बच्चे के प्रति प्यार एक क्षण के लिए भी न तो कम होता है, न नष्ट। तद्वत् सामाजिक रोगियों के साथ व्यवहार करते हुए अपने आपको वैद्य समझने वाले उस व्यक्ति के चित्त की दशा भी वैसी ही होनी

चाहिए।

महाराज वैद्य की भूमिका का अनुसरण करने वाले इन लोगों को एक सलाह और देते हैं। रोग प्रायः संक्रमण-शील होते हैं। इसलिए वैद्य को रोगियों के मध्य बहुत सावधान होकर रहना चाहिए। ऐसा न हो, कहीं रोगियों के सम्पर्क में वैद्य भी रोगी हो जाए। कोई क्रोध रोग से पीड़ित व्यक्ति है। एक दूसरा व्यक्ति लोभ रोग का शिकार हो रहा है, तीसरा काम रोग से प्रभावित है, चौथा मोह रोग से आक्रान्त है, पाँचवाँ अहं रोग का सताया हुआ है, छठे को ईर्ष्या रोग लगा हुआ है, सातवें को विद्या, बल, धन, रूप व अपने विशिष्ट गुणों के मद (नशा) रूपी रोग ने जकड़ा हुआ है, आठवें को झूठ बोलने का रोग है, नौवें को गाली देने, व्यर्थ बकवास करने, सदा कटु बोलने, चुगली करने, दसवें को चोरी करने, ग्यारहवें को अब्रह्मचर्य का महारोग है। इसी प्रकार किसी को हिंसा करने, किसी को फूट डालने, किसी को किसी का उपहास करने, किसी को किसी पर व्यंग्य कसने, किसी को सदा दूसरों को नीचा दिखाने, किसी को असन्तोष का महारोग लगा हुआ है। किसी को मजबूती से आलस्य रोग ने पकड़ रखा है, किसी ने ताश-चौपड़ खेलने के रोग को अपने पीछे लगा लिया है, तो किसी ने शराब-माँस खाने के रोग को मुँह लगाया हुआ है। किसी का व्यवहार लेन-देन की अशुद्धि रूपी रोग का पीछा कर रहा है, किसी को नास्तिकता का रोग, कोई धोखा देने और विश्वासघात करने रूप रोग की चपेट में आया हुआ है। ये सब-के-सब विविध रोग हैं, और इन विविध रोगों से यह सम्पूर्ण संसार वैसे ही भरा हुआ है जैसे अनेक प्रकार के जल-जन्तुओं से सागर।

पहले ही कहा गया है कि रोग प्रायः संक्रामक होते हैं। छूत की बीमारी की तरह एक से दूसरे में फैलते रहते हैं। जब इन विविध रोगियों के बीच ही रहना-सहना, खाना-पीना, उठना-बैठना, व्यवहार करना होता है तो समझा जा सकता है- वैद्य या डॉक्टर को भी क्या-क्या प्रबन्ध करके इनके बीच में पहुँचना चाहिए? जैसे डॉक्टर लोग आपरेशन थियेटर में बहुत सजग होकर रोगी के साथ व्यवहार करते हुए अपने को बचाते हैं, उसी प्रकार इस विशाल संसार रूपी बीमारियों के घर में साधक रूपी वैद्यों को रोगाणुओं से सर्वथा अप्रभावित शील, समाधि व प्रज्ञा रूपी वस्त्रों को धारण कर सेवा कर्म के लिए उतरना चाहिए। अन्यथा जिस किसी रोगी के सम्पर्क में आयेंगे, वही रोग वैद्य को भी पकड़ लेगा।

एक बात और है कि इन वैद्यों को सजगता, तप व संयम रूपी विटामिन सेवन करते रहना चाहिए, जिससे रोगप्रतिरोधक-क्षमता (Resistance Power) बराबर बनी रहे। इतना उपाय तो वैद्यों को अपने बचाव के लिए करना ही होगा। इस संसार रूपी रोगालय में यही तो हो रहा है कि रोग-प्रतिरोधक क्षमता का अभाव सर्वथा चरम बिन्दु पर पहुँच गया है। उसको बढ़ाने के लिए कोई थोड़ा भी प्रयास नहीं करता। सब रोगी जब परस्पर मिलते हैं, तो एक-दूसरे के रोग एक-दूसरे में सहज संक्रमित होते रहते हैं। एक जब कठोर बोलता है तो उसके समक्ष खड़े उसके मित्र को भी वह रोग पकड़ लेता है। एक को लोभ के चक्कर में फँसा देखकर दूसरा भी तत्काल फँस जाता है। एक कामी

है तो उसे देखते ही उसका साथी भी वैसा ही हो जाता है। सो इसलिए यह कहा गया है कि दूसरे रोगी से अप्रभावित रहने के लिए अपनी रोगनिवारक शक्ति का विकास करना होगा।

अकस्मात् किसी रोग के प्रबल कीटाणु (Bacteria) वैद्य को कभी पकड़ भी लें, तो उसे चाहिए कि उस समय प्रमाद न करे। तत्काल उपचार की बात सोचे, अन्यथा अति तीव्र गति से उनकी वृद्धि होकर वैद्य को भी महा विपत्ति में डाल देगी। यदि कोई उसी क्षण सँभल जाता है तो रोग पर काबू पाने में ज्यादा कठिनाई नहीं होती। रोग, आग व शत्रु का तत्काल उपचार हो जाए तो ठीक है, अन्यथा एक बार इनके बढ़ जाने पर इन पर काबू पाना असम्भव जैसा हो जाता है।

इसी प्रकार श्री महाराज सूर्य, चींटी, घास, शिशु, मधुमक्षिका, पतङ्ग, हंस, चातक, जल, इत्यादि उपमाओं के द्वारा 'संसार में कैसे रहें' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। इन सभी प्रतीकों पर इसी ग्रन्थ में 'पावन-प्रतीक' नामक अध्याय में संक्षेप से प्रकाश डाला जा रहा है।

*****

☞ **कुछ भावलोक के प्रतीक-** अदिति माँ! वामन अवतार! कल्पवृक्ष! चिन्तामणि! परमहंस! सुरसरिता! कामधेनु! पारसमणि! शीलोदक! स्वाति नक्षत्र की बूँद! भृंगी! चुम्बक! यक्ष! पृश्नि गौ! दधीचि ऋषि की अस्थियाँ! देव शुनी! सरमा! सोम! अच्छोद सरोवर! शिव का त्रिशूल! इन्द्र का वज्र! समुद्र मन्थन! मनु का जल प्लावन! वामन के तीन चरण! वरुण के गुप्तचर! अहं और उसके त्रिपुर! वरुण के पाश!

☞ ज्ञानयोग मोक्ष के लिए और भक्ति मार्ग धरती की सेवा के लिए।

☞ सरलता ही शिष्टाचार है।

☞ दुःखों का अन्त ही आनन्द है।

☞ मानकर चलना ही शैशव है। मिलकर चलना ही यौवन है।

☞ एक मात्र स्नेह ही रूढ़ियों के ताले खोलने की कुञ्जी है।

☞ माता-पिता, गुरु-आचार्य और हितैषी मित्र मिलते हैं, बनाये नहीं जाते।

☞ सेवक की अपनी माँग समाप्त हो जाए और समाज को सेवक की माँग हो जाए।

☞ सेवा में किसी के साथ की आवश्यकता नहीं- स्वयं से। कोई शर्त नहीं, कोई स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं, जैसे पानी में नति (नीचे जाना) और सहज प्रवाह।

☞ सेवक अपने अन्तस् में जीता है, बाहर से जिनकी सेवा करता है उनसे हर अवस्था में तदाकार रहता है, उसकी अपनी कोई माँग नहीं।

☞ सेवक अपमान से घटता नहीं और मान से बढ़ता नहीं। हर अवस्था में एक रस रहता है जैसे नाटक का पात्र क्योंकि उसके सारे कार्य स्वेच्छा प्रसूत हैं, स्वेच्छा से वह अकिञ्चन बनता है, सहिष्णुता, तितिक्षा, दुःख (सेवा में आने वाले प्रतीयमान कष्ट), दैन्य (विनम्रता) में प्रवेश करता है। हर अवस्था में समत्व में रहता है जैसे रस्से पर नटनी, जैसे जल में कमल, जैसे धाय।

१२. मन : मित्र या शत्रु

संसार में दो प्रकार के साधक देखने में आते हैं। एक वे जो मन को मित्र समझकर साधना करते हैं, दूसरे वे जो मन को शत्रु समझकर साधना करते हैं। पर श्री महाराज मन को सदा मित्र रूप में देखने की ही बात कहा करते हैं। वे कहते हैं देखो! वैदिक मन्त्रों ने मन के सम्बन्ध में कितना सुन्दर गीत गाया है-

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।१।।
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।२।।
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।४।।
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।५।।
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।६।।(यजु० ३४.१-६)

मनुष्य के पास मन एक अद्‌भुत शक्तियों से सम्पन्न विभूति है। इन्द्रियों को यदि ज्योति कहा जाए तो मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है, अर्थात् इसी की प्रेरणा व सहयोग से इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय ग्रहण करने में समर्थ हो पाती हैं। कर्मनिष्ठ पुरुष समस्त शुभ कर्मों का निष्पादन मन के द्वारा ही किया करते हैं। जब जीवन में आन्तर व बाह्य शान्ति होती है तो सब रचनात्मक कार्य इसी मन के द्वारा सम्पन्न होते हैं। सर्जन में लगे चित्रकार, कवि, शिल्पकार, वैज्ञानिक, दार्शनिक सब मन के द्वारा ही अपने काम में सफलता प्राप्त करते हैं। आन्तरिक या बाह्य संघर्ष के समय मन ही मदद करता है जो अद्‌भुत पराक्रम वाला है; विद्वानों के द्वारा पूजनीय है; अमृतस्वरूप है; जिसने तीनों कालों को अपने अन्दर समेटा हुआ है, अर्थात् त्रिकालज्ञ है।

चाहे कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयज्ञ हो या ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञानयज्ञ, इसके सहयोग के बिना अपूर्ण ही रहता है। जो ज्ञान का उत्कृष्ट साधन होने से प्रज्ञानरूप है। समस्त संस्कारों का आश्रय है। चेतस् (संज्ञानवान्) है; धैर्य का मूल आधार है; सभी प्रजाओं में विद्यमान ज्योति है। ऋग्-यजु-साम जिसमें उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं जैसे रथ की नाभि में अरे। समस्त प्रजाओं का ज्ञान इसी मन में ओत-प्रोत है। जैसे कुशल सारथी घोड़ों को लगाम के द्वारा नियन्त्रित करता हुआ स्वामी को लक्ष्य पर पहुँचा देता है, इसी प्रकार मन इन्द्रिय रूपी घोड़ों के लिए प्रग्रह (लगाम) का काम करता है। इस

प्रकार लगाम स्थानी बन कर यह मन दूसरी आभ्यन्तर इन्द्रिय बुद्धि रूपी सारथी के द्वारा पीछे बैठे हुए अपने स्वामी आत्मा के ऊर्ध्वारोहण में सतत सहयोग करता रहता है। हृदय जिसकी प्रतिष्ठा है; जो सदा गतिशील है; कभी भी बूढ़ा नहीं होता; जिसमें अपार वेग है।

मन को लक्ष्य कर यह अति उच्च गीत वेद के याजुष मन्त्रों में गाया गया है। हर मन्त्र की टेक के रूप में कहा गया है कि ऐसा मेरा मन शिव संकल्प से युक्त हो जाए, क्योंकि शिव संकल्पों वाला मन ही ऊपर वर्णित शुभ का सम्पादन कर सकता है। यदि ऐसा न होगा तो जैसे अकुशल सारथी स्वामी को लक्ष्य पर पहुँचाने के बजाए या तो कहीं अन्यत्र ही ले जाकर छोड़ देता है या कहीं दुर्घटना करा देता है, वैसे मन रूपी सारथी भी करा देगा।

मन को शत्रु रूप में देखने वाले साधकों का कहना है- यह मन ही सब अनर्थों की जड़ है। इसी में सब चालाकियाँ, सब कुटिलताएँ, सब ढोंग, सब पाखण्ड, सब मिथ्यात्व व सब की सब धूर्त्तताएँ व भूत काल की सब अशुभ स्मृतियाँ भरी हुई हैं। प्रलोभन अथवा कठिनाई के उपस्थित होने पर यही साधक को सबसे पहले धोखा देता है। यह सर्वथा निर्दय, क्रूर, कामी, लोभी, लालची, मोही, द्वेषी व ईर्ष्यालु है। अहङ्कार से भरा हुआ मन मनुष्य से न जाने क्या-क्या नाच नचवाता है? साधकों को महाविपत्ति में डालकर स्वयं पीछे हट जाता है। यह पाप का जनक है। यही पाप का मित्र भी है। सत्य, शिव या सुन्दर से इसे किञ्चित् मात्र भी लगाव नहीं है। बस, इसे तो अपनी कामना-पूर्ति तक मतलब है। इससे आगे चाहे कोई कुएँ में पड़े अथवा नरक में जाए, इसे कोई लेना-देना नहीं।

साधक को चाहिए कि वह इसे सदा अपना महाशत्रु समझकर इससे अत्यन्त सावधान रहे। यह इतना कुशल ठग है कि चुपके से साधक के समस्त वैभव को लूटकर उसे कंगाल बना देता है। अतः किसी भी परिस्थिति में एक क्षण के लिए भी साधकगण इस पर विश्वास न करें। वाणी इसकी क्रूरता व नृशंसता का वर्णन नहीं कर सकती कि यह कहाँ तक आगे बढ़ सकता है? यदि तिल मात्र भी इस पर भरोसा कर लिया गया तो यह ऐसा हित-शत्रु है जो मौका लगते ही अन्दर घुसकर आँतें तक बाहर निकाल कर फेंक देता है। वे साधक बार-बार यही चेतावनी देते हैं कि ऐ प्रिय साधकों! सावधान! तुम्हारे घर में लपलपाती जिह्वा वाला काला नाग बैठा है! यह इतना जहरीला है कि यदि एक बार इसने तुमको डस लिया तो फिर पानी भी नहीं माँग सकोगे।

यह ऐसी छिपी हुई आग है जो अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहती है और समय पाकर साधक की समस्त सम्पत्ति को जलाकर राख कर देती है। यह वह मगर है जिसको तुमने भ्रान्ति से तख्ता समझ लिया है और इसके सहारे संसार-नदी को पार करना चाह रहे हो, पर यह तुम्हें सम्पूर्ण को ही निगल जाएगा। मुख में राम बगल में छुरी वाली कहावत शत-प्रतिशत इस पर ही चरितार्थ होती है। कहाँ तुम इस छलावे के बहकावे में आ रहे हो? यह ऐसा मायावी है, जो क्षण-क्षण में अपने रूप बदलकर व्यक्ति को मोह लेता है और फिर उसे कहीं का नहीं छोड़ता। यह उन साधक विशेषों के द्वारा मन के सम्बन्ध में सुनाया गया वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् का ऋषि मन का स्वरूप इस रूप में प्रकट करता है- काम-संकल्प-विचिकित्सा-श्रद्धा-अश्रद्धा-धृतिः-अधृतिः-ह्रीः-धीः-भीः, ये सब मन के ही विविध रूप हैं। मन के बिना काम, संकल्पादि का मानो कोई अस्तित्व ही नहीं है। प्रगाढ़ निद्रा में या समाधि में मन नहीं होता। इसलिए वहाँ काम (कामना), संकल्पादि भी नहीं होते।

- 'काम' का अर्थ होता है इच्छा। मनुष्य में इच्छा का जो भी पर या अवर रूप उत्पन्न होता है, वह उसके ज्ञान व संस्कार के अनुसार हुआ करता है। संस्कार उत्तम हैं, ज्ञान का स्तर ऊँचा है तो मनुष्य की इच्छाएँ भी शुभ गुण, कर्म विषयक होती हैं। अन्यथा अशुभ गुणों व अशुभ कर्मों की इच्छा होने लगती है। ज्ञान व संस्कार का उन्नत या अवनत होना तत्सजातीय ज्ञान व कर्म पर निर्भर करता है। इसी प्रकार आगे-आगे चलती हुई मन के साथ जुड़ी यह एक अन्तहीन शृंङ्खला बन जाती है।
- शुभ या अशुभ इच्छा के उत्पन्न होने पर व्यक्ति उस इच्छा को पूरा करने के लिए प्रयत्नपूर्वक पुरुषार्थ करने की इच्छा करता है, यही 'संकल्प' है।
- किसी विषय में संशय या सन्देह करने का नाम 'विचिकित्सा' है। यह संशय जब किसी विषय में निश्चय करने की दृष्टि से किया जाता है, तब तो कल्याणकर होता है, पर व्यर्थ कुतर्क के रूप में किया जाए तो महती हानि कर देता है। संशय या विचिकित्सा का जो भी रूप हो, माध्यम मन ही है।
- ईश्वर, सत्य, धर्म, अपने आप में, प्रतिफल व पुनर्जन्मादि में अत्यन्त विश्वास का नाम 'श्रद्धा' है।
- 'अश्रद्धा' दो रूपों में हो सकती है- जब अनीश्वरवाद-अधर्म-अविद्या-कुतर्क-कुकर्म (बुरे काम)-अन्याय-पक्षपातादि अशुभ गुणों के प्रति अश्रद्धा होती है तो साधक का महान् कल्याण साधित कर देती है पर यदि सत्य-धर्म-ईश्वरादि में अश्रद्धा हो तो महाविनाश का दृश्य उपस्थित हो जाता है।
- सुख-दुःख, हानि-लाभ चाहे जितना प्राप्त हो तो भी ईश्वर-धर्म-सत्य के प्रति अपने निश्चय को बनाए रखते हुए धीरज को न छोड़ने का नाम 'धृति' है।
- अधृति के भी अश्रद्धा की तरह दो रूप हो सकते हैं- बुरे कामों में दृढ़ न होना, इस रूप में तो अधृति लाभदायक है, पर सुकर्मों में या अपने संकल्पित जीवन विषय में अधृति हो जाती है तो अनिष्टकर है।
- मन के संकोच वाली वृत्ति 'ह्रीः' (लज्जा) है। यह संकोच भी दो रूपों में उत्पन्न होता है एक तो असत्य आचरण करने में मन लज्जित होता है। दूसरा सच्चे कामों के न कर सकने पर लज्जा महसूस होती है।
- श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति को 'धीः' (धारणावती बुद्धि) कहते हैं। यदि यह बुद्धि अश्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने लगे तो महान् अनिष्ट उपस्थित हो जाता है।
- भय नाम की वृत्ति को 'भीः' कहा गया है। अशुभ जीवन तथा अशुभ विचार के लिए तो भय होना अच्छा ही है, किन्तु कभी-कभी अज्ञानवश व्यक्ति शुभ मार्ग पर चलने में भी भयभीत रहता है। यह अच्छा नहीं है।

ये सब-की-सब मन की ही पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। जैसे कि प्रारम्भ में ही मन के सम्बन्ध

में श्री महाराज का विचार प्रकट किया गया है, वे मन को सदा मित्र बनाकर रखने की सलाह दिया करते हैं। महाराज का कहना है- जैसे एक सच्चा मित्र कभी भी अपने मित्र का अनिष्ट नहीं करता, इसी प्रकार मन यदि हमारा मित्र हो जाता है तो वह भी सदा हमारा कल्याण ही करने में जुट जाता है। मन को मित्र बनाने का उपाय यह है कि उससे निम्न रूप में प्रार्थना की जाए-

'ओ मेरे प्रिय मन! तू मेरा अति तेजस्वी अद्‌भुत मित्र है, मैं तेरे नेतृत्व में निर्विघ्न अपनी जीवन-नौका को अनन्त की ओर ले जा सकने में समर्थ हो पाऊँगा। मुझे तुझ पर पूर्ण विश्वास है- तू मुझे कभी धोखा नहीं देगा। इस लोक की या परलोक की कोई भी बाधा मेरे रास्ते में यदि रुकावट बनती है तो मुझे तेरी अपरिमित शक्ति पर विश्वास है कि तू उसे चूर्ण-विचूर्ण कर देगा। तेरे दुर्धर्ष तेज को सहन करने की भला किसमें सामर्थ्य हो सकती है? तेरे दुर्दमनीय वेग के समक्ष समस्त रिपुगण वैसे ही विलीन हो जाते हैं जैसे बाज के सामने पक्षिगण। तू कैसे एक सजग प्रहरी की भाँति मेरी रक्षा में सदा प्रवृत्त रहता है, यह मैंने अच्छी प्रकार देख लिया है।

तू एक ही साथ जहाँ ध्यान मग्न योगी की तरह पूर्ण शान्त है, वहाँ वीर योद्धा के समान प्रचण्ड वेग से भी भरा हुआ है। जिस काम को तू करना ठान लेता है- त्रिलोकी में भी उसे रोकने का किसी में सामर्थ्य नहीं है। तू मेरा अक्षयपात्र है; मेरे हृदय का पूज्य देव है; सच्चा सुहृद् है; सेनापति इन्द्र है; महान् धन कुबेर है; कठिनाइयाँ व बाधाएँ तेरे गले का हार हैं। हे मेरे मन! तू मेरा सच्चा हितैषी है। तू एक ही साथ माँ के समान प्रेम का अवतार है और गुरु के समान अनन्त धैर्य का सागर है। मैं कहाँ तक तेरा गुणगान करूँ? बस! तुझसे मैं एक ही चीज चाहता हूँ कि तू सदा मुझे अपना प्यारा मित्र समझता रहे और मैं भी तेरे प्रति सदा निश्चल प्रेम से भरा रहूँ। जीवन-यात्रा में आगे बढ़ने के लिए मुझे तेरे सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता है'।

मन को विश्वासपूर्वक जो भी सुझाव दिये जाते हैं, जो कुछ सिखाया जाता है, उसे वह उसी रूप में तत्काल ग्रहण कर लेता है। इसकी पुष्टि **'नवभारत टाइम्स, देहली' के २४ अगस्त १९८९** में छपे समाचार से भी होती है। वह इस प्रकार है-

अङ्गारों पर चल सकते हैं

(कार्यालय संवाददाता)

जयपुर, २३ अगस्त। मन के विश्वास और अपनी निराशावादी धारणाएँ बदलकर कोई भी आदमी वह हर काम कर सकता है, जो दुनिया की निगाहों में बहुत मुश्किल और असम्भव होता है। यह सिद्ध कर दिखाया है हालैण्ड के एमिल स्टेलबैण्ड ने धधकते हुए अङ्गारों पर चलकर।

श्री स्टेलबैण्ड ने मस्तिष्क की अपरिमित मनोयोग शक्ति के प्रति लोगों को विश्वास कराते हुए, मौके पर मौजूद करीब १०४ दर्शकों को भी एक-एक करके जलते हुए अङ्गारों पर चलवा दिया। अङ्गारों पर चले इन दर्शकों में इस सफलता से एक आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता झलक उठी। इन दर्शकों में अनेक महिलाएँ और बच्चे भी शामिल थे।

जयपुर में गत सप्ताह वह शाम बहुत रोमांचकारी हो उठी, जब एस० एम० एस० मेडिकल कालेज ऑडिटोरियम में अमेरिका के रोविन्स रिसर्च इंस्टीट्यूट के यूरोप क्षेत्र के निदेशक श्री एमिल स्टेलबैण्ड 'मानव मन की असीम क्षमता' पर अपना व्याख्यान देने के बाद 'कूल मोसेर्ट, इट इज कूल मॉस' (ठण्डी घास) कहते हुए अङ्गारों पर चल पड़े।

इस रोमांचकारी आलम में एक पाँच वर्षीया बालिका सुरभि ने भी अङ्गारों पर सैर का आनन्द लिया, बिलकुल निडर होकर। आग पर चलने वाले लोगों में मेडिकल कालेज के छात्र एवं मनोचिकित्सकों के अलावा स्थानीय बिड़ला प्लेनेटोरियम के निदेशक श्री कुलकर्णी भी शामिल थे, जो अपने बच्चों के साथ आग पर चले। अपने व्याख्यान में श्री स्टेलबैण्ड ने मानव मन की असीम क्षमता के दावे पेश करते हुए कहा कि कुछ विश्वास और संकल्प व्यक्ति के विकास के लिए बहुत जरूरी होते हैं, इसलिए उनकी रक्षा की जानी चाहिए।

एक ऐसा व्यावहारिक उदाहरण है जिसका सभी को थोड़ा-बहुत अनुभव है, जिससे मन की असाधारण सामर्थ्य का पता चलता है। कई बार सोते समय स्वप्नावस्था में व्यक्ति को ऐसा लगता है कि कोई तुझे छू रहा है। जागरित अवस्था में जैसे कोई दूसरा व्यक्ति किसी के शरीर को छूता है- उस समय जो अनुभव होता है, त्वचा इन्द्रिय को ठीक वैसा ही अनुभव स्वप्नावस्था में होता है जबकि वहाँ दूसरा व्यक्ति नहीं होता है।

केवल मन की शक्ति से त्वचा इन्द्रिय में ही नहीं बल्कि सभी ज्ञानेन्द्रियों में ही वह-वह अनुभूति (Sensation) उत्पन्न हो जाती है। कोई गन्ध नहीं है, फिर भी नासिका उस विशिष्ट गन्ध को अनुभव करने लगती है। कानों को शब्दों की अनुभूति होने लगती हैं। आँखें तो रूप देखती ही हैं। रसना बिना किसी पदार्थ के ही विशिष्ट रस को अनुभव करने में सक्षम हो जाती है। यों तो हम सब को यह एक सामान्य घटना लगती है; किन्तु ध्यान दिया जाए तो बड़ा आश्चर्य होता है कि कैसे मन ही उस इन्द्रिय के अन्दर वह संवेदना उत्पन्न कर देता है जो कि जागरित अवस्था में बाह्य विषय के साथ संयोग से ही सम्भव है। यह मन की एकाग्रता की शक्ति के कारण हो पाता है।

उक्त घटना को यहाँ पर उद्धृत करने का यह भाव है कि यदि हमारा मन किसी विषय में पूर्ण विश्वासी हो जाता है तो उस विशेष अवस्था में वह अपरिमित बल से भरा हुआ होता है। सारा शरीर-तन्त्र मन का आज्ञानुवर्ती हो जाता है। क्या यह छोटी बात है? सो जो कुछ भी शुभ या अशुभ जैसा भी मन को सिखा दिया या समझा दिया जाता है, मन की ओर से उसी के अनुसार प्रतिक्रिया होती है। मन को सिखा दिया है कि विषयों में सुख है तो ठीक उसी के अनुसार प्रत्युत्तर (Response) मिलता है और विषयों में दुःख देखना सिखा दिया जाता है तो फिर उसे सदा दुःख ही दिखायी देता है।

इसी प्रकार 'मैं शान्त हूँ' मन के द्वारा यह सोचते ही सब कुछ शान्त हो जाता है। 'मैं आज बड़ा अशान्त हूँ' तो अशान्ति की ही शृंखला चालू हो जाती है। यदि किसी भी उपाय से हमारे आन्तरिक विश्वास में यह बात अच्छे से बिठा दी जाती है कि मन तो हमारा महाशत्रु है, तो वह सदा शत्रु रूप

में ही दिखता है। यदि मन को एक घनिष्ठ मित्र के रूप में देखने की दृष्टि विकसित हो जाती है तो फिर वह मित्र ही दिखायी देता है। पाठकों के समक्ष दोनों प्रकार के साधकों की अपनी-अपनी दृष्टि उपस्थित कर दी गई है। आगे जिसको जो पसन्द हो, स्वयं ही चुनाव करना होगा।

इन दोनों से अलग एक तीसरी दृष्टि वाले भी अनुभवी लोग हैं, जो अपना अनुभव इस रूप में प्रस्तुत करते हैं- मन मनुष्य के पास एक दुधारी तलवार है, जिसके प्रयोगकर्त्ता को बहुत सावधान होना चाहिए, ऐसा न हो कि इसके द्वारा वह अपना ही नाश कर ले। साङ्ख्य के अनुसार 'भोग व मोक्ष' दोनों का साधन मन ही है। आचार्य शंकर ने भी इस पर अपनी मुहर लगा दी है- **"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"** सांसारिक विषयसुख (सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान) की इच्छा भी मन से ही होती है और अमृतत्व की इच्छा भी मन से ही।

अब हम पाठकों के समक्ष मन की अपरिमित शक्ति का निदर्शक एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसको प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य उदयवीर शास्त्री ने 'प्राचीन साङ्ख्य सन्दर्भ' नामक अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। क्योंकि यह उदाहरण भी उनका अपना आँखों देखा है, अतः इसको देखने-समझने के बाद मन या चित्त की अपार शक्तियों का तो निश्चय हो ही जाता है। अब उनको कौन कितना अभिव्यक्त कर पाता है, यह तो पूर्ण रूप से अपने-अपने प्रयास और लगन के ऊपर ही निर्भर करता है।

वे लिखते हैं– पर्याप्त वर्षों तक ऐसे व्यक्ति के साथ मेरा सम्पर्क रहा, जो सम्मोहन विद्या के विशेषज्ञ व प्रयोगात्मक रूप में शक्ति सम्पन्न थे। वे पंजाब प्रान्तीय 'मुकेरियाँ' नगर के निवासी प्रोफेसर जगदीश मित्र के नाम से प्रसिद्ध रहे। सन् १९१७ से १९२१ तक प्रत्येक वर्ष गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के वार्षिक महोत्सव पर पधारते रहे। उन दिनों अपना अध्ययनकाल सम्पन्न कर उसी संस्था में अध्यापन-कार्यरत रहते हुए मुझे उनके अनेक प्रदर्शन देखने का अवसर मिलता रहा। इन्हीं अवसरों पर उनके साथ घनिष्ठ परिचय हुआ। विभिन्न प्रान्तों से आगत एकत्रित जनता के लिए उनका प्रदर्शन मनोरंजन का एक मुख्य साधन रहता था। अपने जीवन में उनके द्वारा प्रस्तुत बीसों प्रदर्शन देखने का मुझे अवसर मिला, पर यहाँ तीन प्रसङ्गों का उल्लेख पर्याप्त होगा।

१. यह सम्भवतः सन् १९१९ या २० के वार्षिकोत्सव की घटना है। बाग के घने पेड़ों की छाया में खुले आकाश के नीचे गुरुकुल का उत्सव चल रहा था। जनता की संख्या लगभग ५-६ हजार से कम न होगी। दिन का तीसरा पहर था। श्री जगदीश मित्र मञ्च पर आये, बोले कोई नवयुवक जनता में से आए, मैं उसे अपनी सम्मोहिनी शक्ति के द्वारा प्रभावित करूँगा। कुछ क्षण जनता में हलचल-सी रही, तब एक नवयुवक अपने समीप बैठे व्यक्तियों द्वारा प्रेरित किया हुआ तीव्रता के साथ मञ्च पर आया और साहसपूर्वक बोला मुझे प्रभावित कीजिए।

प्रोफेसर ने उसे जनता की ओर मुँह करके कुर्सी पर बैठाया, और एक ओर खड़े होकर कहा- मेरी ओर देखो! युवक ने थोड़ा सिर घुमाकर उधर देखा। प्रयोक्ता ने आँख मिलाई, सहसा खुली तीव्र दृष्टि से उधर देखा, और दाहिना खुला हाथ युवक के माथे के सामने तक ले जाकर साधारण रूप

से नीचे नाभि तक झुकाया। दूसरी बार, फिर तीसरी बार हाथ को इसी तरह नीचे तक झुकाया। इस क्रिया में लगभग दस-बारह सेकण्ड लगे होंगे। जनता ने आश्चर्य के साथ देखा- युवक का सिर कुर्सी के पिछले भाग के साथ लगा हुआ था, आँखें बिलकुल बन्द थीं, शरीर पूरा निश्चेष्ट। देखने वालों को प्रतीत हो रहा था- जैसे युवक गहरी निद्रा में सो रहा हो।

प्रयोक्ता ने मञ्च पर समीप बैठे सम्भ्रान्त व्यक्तियों से कहा– 'आप इसे जगाइए, कुछ बात कीजिए'। दो-एक सज्जनों ने उठकर उसे हिलाया, ऊँची आवाज दी; पर सब व्यर्थ, युवक न तो बोला, न कोई चेष्टा की। इतने में मञ्च पर से एक सज्जन उठे जो डाक्टर थे। उन्होंने युवक की नाड़ी देखी, हृदय-धड़कन की जाँच की; सब ठीक था। युवक अपनी मुद्रा से ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे वह गहरी बेहोशी की हालत में हो। यह सब जाँच-परीक्षा होने में तीन मिनट से अधिक नहीं लगे होंगे। तब प्रयोक्ता ने युवक के सिर को स्पर्श करते हुए कहा- आँखें तो खोलो!

युवक ने तत्काल आँखें खोलीं। आँखों को दोनों हाथों से मला। युवक की मुद्रा से द्रष्टा जन-समुदाय को ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे गहरी निद्रा के बाद वह जागा हो। प्रयोक्ता ने पूछा- तुम्हारी तबियत ठीक है? उत्तर था- बिलकुल ठीक है। अच्छा अपना नाम तो बताओ? मेरा नाम कुमारी सरला है। यह सुनते ही जन समूह की ओर से कुछ हँसी की आवाजें आयीं। प्रयोक्ता का अगला प्रश्न था- बेटी! तुम बड़ी अच्छी हो, जरा यह तो बताओ- ये तुम्हारे सामने कौन बैठे हैं? उत्तर साफ था- ये सब माताएँ बहनें बैठी हुई हैं। जैसे ही यह सुना, जनता में कह-कहा फूट पड़ा।

प्रयोक्ता के संकेत से जनता तत्काल शान्त हो गईं प्रयोक्ता ने आगे कहा- सरला बेटी! तुम तो भाषण बड़ा अच्छा देती हो, कुछ सुनाओ तो? युवक ने कहना प्रारम्भ किया- मेरी पूज्य माताओं और बहनों! आपके बीच आज मुझे कुछ कहने का अवसर मिला, इसे मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ, इत्यादि। भाषण लगभग दो मिनट हुआ, इसी मुद्रा व लहजे के साथ। मुद्रा से तात्पर्य है, इस बीच सिर से साड़ी सरकने पर उसे ठीक करने के लिए महिलाएँ जैसे दोनों हाथों का प्रयोग करती हैं, उसी तरह युवक अनेक बार अपने हाथों से अभिनय-पूर्ण रीति से संकेत करता रहा।

प्रयोक्ता ने शाबाशी देते हुए कहा- बेटी सरला! तुम्हारा भाषण बड़ा प्रभावशाली रहा। देखो, तुम्हारा मुँह बड़ा मैला हो रहा है, क्या उठकर तुमने मुँह धोया नहीं था? देखो, सामने बाल्टी में क्या है? युवक देखकर बोला- बड़ा साफ पानी भरा हुआ है। वस्तुतः बाल्टी में सूखा आटा था। अच्छा! पानी है! जरा अपने दोनों हाथों से पानी लेकर अपना मुँह तो धो डालो। युवक ने बाल्टी से दोनों हाथों में आटा भरा, और मुँह पर छपका मारा। इन हरकतों को देख जनता हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही थी।

प्रयोक्ता ने तत्काल तौलिया दिया और कहा- मुँह पोंछ डालो। देखो! अब कैसा साफ हो गया है। अनन्तर प्रयोक्ता ने युवक को पकड़कर कुर्सी पर बैठा दिया, और जैसे ही युवक के कन्धे को अपने दाहिने हाथ से स्पर्श किया, वह दोनों हाथों से आँखें मलता हुआ उठ खड़ा हुआ; प्रयोक्ता का निर्देश पाकर अपने स्थान की ओर बढ़ गया।

उस समय जनता में साधारण हलचल-सी दिखाई दी। मालूम हो रहा था जैसे लोग प्रदर्शन पर अपनी प्रतिक्रिया एक-दूसरे पर प्रकट कर रहे हैं। सम्भवतः युवक के साथी ही तथा अन्य लोग भी उत्सुकतावश उससे पूछ रहे थे- भाई! तुझे क्या हो गया था? तू तो वहाँ जाकर लड़की बन गया! वह उन सबका प्रतीकार करता हुआ बल पूर्वक कह रहा था- मुझे कुछ नहीं हुआ; जैसे गया था, आ गया। कुछ नींद-सी अवश्य आई, पर उस समय क्या हुआ? मुझे कुछ मालूम नहीं। प्रयोक्ता ने चार-पाँच मिनट सम्मोहिनी शक्ति के विषय में सम्बोधन किया। अथर्ववेद में कुछ एक मन्त्र हैं-

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः।।
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्व वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि।। (अथर्व ४.१३.६-७)

प्रो० जगदीश मित्र का यह शक्तिप्रयोग प्रदर्शन या खेल-तमाशे के लिए न था। यह तो गुरुकुल के अधिकारियों की प्रार्थना पर गुरुकुल के लाभ के लिए करना वे स्वीकार कर लिया करते थे। अन्य संस्थाओं में भी प्रदर्शन का आमन्त्रण स्वीकार कर लेते थे, केवल इस भावना से कि इसकी प्राप्ति के लिए युवा छात्रों में कामना व प्रोत्साहन जागरित हो सके। इस शक्ति का मुख्य उपयोग वे जीवनपर्यन्त मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए करते रहे। इस निमित्त उन्होंने लाहौर में यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी रोड और अनारकली बाजार के चौराहे (क्रॉसिंग) के समीप नीला गुम्बद की ओर अपना क्लिनिक स्थापित किया हुआ था। मुझे सन् १९२१ में संस्कृत-प्राध्यापक के रूप में लाहौर जाने और वहाँ स्थायी रूप से रहने का अवसर प्राप्त हुआ।

२. एक दिन कॉलेज से वापसी पर मैं प्रोफेसर के साथ बैठा बातें कर रहा था। उससे पहले दिन प्रोफेसर ने एफ० सी० कॉलेज (फॉरमन क्रिश्चियन कॉलेज) में प्रदर्शन किया था। मुझे वहाँ बैठे दस-बारह मिनट ही हुए होंगे, इतने में आवाज सुनाई पड़ी कि प्रोफेसर कहाँ है? यह बड़ा मक्कार आदमी है, कल इसने सबको बेवकूफ बनाया। कहाँ है? हम इसे समझेंगे! स्वर बड़ा ऊँचा व तीव्र था।

हम दोनों यह सुन ही रहे थे। कुछ सेकण्ड में बराण्डे को लाँघते हुए दो नवयुवक धड़धड़ाते हुए तीव्रता के साथ कमरे के दरवाजे तक पहुँच गए। प्रोफेसर ने उनकी ओर देखा और सरलतापूर्वक किन्तु आदेश की मुद्रा में कहा- आप अन्दर नहीं आ सकते। युवकों का जवाब था- हम जरूर अन्दर आएँगे, अन्दर आएँगे। प्रोफेसर के द्वारा दुबारा यह कहते ही कि- आप हर्गिज अन्दर नहीं आ सकते, दोनों युवक धड़ाम से जमीन पर गिर पड़े। जोर से चिल्लाये- पेन! शूटिंग पेन! मैंने सामने देखा- वे दोनों पानी के बाहर मछली की तरह तड़प रहे हैं।

उनकी इस तड़पन की आवाज पर प्रोफेसर ने पूछा- पेन कहाँ है? स्टमक में प्रोफेसर! शूटिंग पेन! तत्काल प्रोफेसर ने युवकों के कन्धों को स्पर्श किया, क्षण भी नहीं लगा, दोनों युवक ऐसे शान्त हो गए जैसे भयंकर कष्ट के बाद आशातीत राहत पाई हो। कुछ ही सेकण्ड में दोनों युवक उठे और

प्रोफेसर के पैरों में पड़कर बड़ी विनम्रता के साथ क्षमा-प्रार्थना करते रहे। प्रोफेसर ने हर प्रकार सान्त्वना देकर उन्हें विदा किया। उनकी बेजा हरकत पर उलाहना आदि के रूप में एक भी शब्द प्रोफेसर ने अपने मुँह से नहीं निकाला।

३. एक दिन मैं प्रोफेसर के साथ पूर्ववत् क्लीनिक में बैठा बात कर रहा था। इसी बीच टेलीफोन की घण्टी बजी। प्रोफेसर ने चोंगा (Receiver) उठाया। मालूम हुआ, फोन मुगलपुरा से आया है, जो लाहौर के उस स्थान से पाँच-छः मील दूर है। फोन परिवार के किसी व्यक्ति ने किया, कहा- सरदार साहब को सिर दर्द बड़े जोर से उठ खड़ा हुआ है। वे कह रहे हैं- सिर फटा जा रहा है, असह्य पीड़ा है। प्रोफेसर ने फोन करने वाले को कहा- यह फोन-रिसीवर सरदार साहब के बिस्तर पर ले जाओ, उनसे कहो, वे स्वयं रिसीवर ले लें। ऐसा ही किया गया। प्रोफेसर ने फोन पर ही कहा सरदार साहब! दर्द कहाँ है? जबाब आया माथे और सारे सिर में दर्द है। प्रोफेसर फिर बोला- सरदार साहब! जरा ध्यान करो, सोचकर बोलो, आपके सिर में दर्द कहीं नहीं है। सावधानीपूर्वक ध्यान करके बोलो। सरदार साहब ने कहा- प्रोफेसर साहब! अब दर्द बिल्कुल नहीं है। प्रोफेसर का जबाब था- अब दर्द कतई नहीं होगा, आप बेफिक्र रहें, कल इधर आकर मिल लें।

श्री महाराज की अपनी दृष्टि है- 'मन-इन्द्रियाँ-शरीर-हृदय सबको एक हँसते-खेलते परिवार के रूप में देखना'। वे कहते हैं कि इस परिवार के प्रत्येक सदस्य को मिल-जुलकर एक-दूसरे का सहयोग करते हुए, एक दूसरे से प्रेम करते हुए, एक दूसरे का हित सम्पादन करते हुए सदा खुश रहना चाहिए। महाराज के अनुसार यही सुखमय जीवन का भी और उन्नति करने का भी सर्वोत्तम उपाय है।

इस प्रकार अपने ही द्वारा अपने मन को सतत सुझाव (Auto Suggestions) देते रहने से मन निश्चित रूप से हमारा मित्र बनकर रहना स्वीकार कर लेता है और वह कभी भी ऐसी बात नहीं सोचता, ऐसा संकल्प नहीं करता जिससे हमारा अहित होता हो। मन की मित्रता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, उसी अनुपात में साधक को अनुभव होता जाता है कि बाधाएँ सहज ही निवृत्त होती जा रही हैं।

मन के सम्बन्ध में आश्रम में एक शिलालेख है -

- जिसने कण को जान लिया वह धनवान् है।
- जिसने क्षण को पकड़ लिया वह विद्वान् है।
- जिसने मन को समझ लिया वह भाग्यवान् है।

श्री महाराज के अनुसार मन को समझने का भाव है- इसकी प्रकृति (Nature), इसकी अनन्त शक्तियों, इसके अप्रतिहत ओज व तेज, शान्त व उग्ररूप, साहस, धैर्य, शौर्य, बल-वीर्य-पराक्रम, सरल व सौम्यरूप, दृढ़-इच्छाशक्ति, सदा ही सजग व सावधान चेष्टा, तरङ्गित उत्साह तथा दूसरी तरफ अजित अवस्था में समस्त आपत्तियों-विपत्तियों की खान या फिर उसकी स्वेच्छाचारिता के समय प्रलयंकारी दृश्यों की कुरूप झाँकियों को देखना-समझना।

१३. आश्रम में सर्जन-विसर्जन

श्री महाराज के सेवा-आश्रम का जो रूप आज सबके सामने है, एक मनुष्य जीवन की अवधि या सीमा की दृष्टि से उसको देखें तो वह काल के लम्बे प्रवाह से गुजर कर इस रूप में उभरकर आया है। श्री महाराज ने किसी योजनाबद्ध तरीके से इसकी रचना नहीं की है। बस! बालक के समान अपना खेल खेलते रहे। बालक जैसे कुछ घर-घुल्ले बनाने-तोड़ने में लगे रहते हैं, उसके पीछे बालकों के मन में चाहे अनजाने में ही सही, बस एक बात होती है- खेल का आनन्द। बालकों का लक्ष्य कुछ योजनापूर्वक निर्माण करना नहीं होता। कोई ऐसा बिन्दु उनके समक्ष नहीं होता जहाँ उन्हें प्रयासपूर्वक पहुँचना हो। खेल और खेल के आनन्द से आगे वे कुछ नहीं सोचते। सहज स्फुरणा व सहज गति ही उनका विपुल धन व जीवन का समग्र सार-तत्त्व होता है।

बच्चों के पास यही तो एक चीज होती है जिसके कारण वे बहुत प्रसन्न, विचारों के बोझ से मुक्त, सरल, निष्कपट व अहंरहित होते हैं। महाराज के उपदेश रूपी मोतियों की बनी माला की यह भी एक उज्ज्वल मणि है कि **यदि तुम जीवन में रस चाहते हो, सचमुच रस के भूखे हो तो बालक को प्रतीक बनाकर सदा अपने सामने रखो।** महाराज ने अपने जीवन से यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक बालक जैसी मनोदशा व कार्यशैली को अपनाकर पूर्ण सरस जीवन जी सकता है। प्रायः माना जाता है कि शरीर की अवस्था परिवर्तन के साथ-साथ मन की भाव दशाएँ भी बदल जाती हैं, बदलती रहती हैं। पर यह तभी होता है जब वैसा चाहा जाता है। महाराज का कथन है- लम्बी-चौड़ी योजनाएँ बनाने के स्थान में यदि प्रातः काल जो भी स्फुरणा हो उसके अनुसार अपना नैत्यिक खेल आरम्भ कर दिया जाए तो जीवन निर्भार जिया जा सकता है। व्यक्ति प्रायः अपनी सहज प्रेरणाओं व स्फुरणाओं का तो गला घोंटता रहता है, और उसके बदले दूसरों की तरफ ताकता रहता है। विशेषतः तर्कबुद्धि के आधार पर व्यक्ति अपने कर्मक्षेत्र का चुनाव करने के लिए केन्द्रित रहता है। मेरे कर्म का फल क्या होगा? समाज या मेरे साथियों की क्या आवश्यकता है? वे किन चीजों पर अधिक बल दे रहे हैं? मुझे भी वैसा ही कुछ करना चाहिए। इन सब बातों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। वह सोचता है कि यदि मेरा जीवन-स्तर (Standard of living) समाज व परिवेश के अनुरूप न रहा, तो मैं जीवन की होड़ में पिछड़ जाऊँगा।

यद्यपि स्पर्द्धा व होड़ में विकास अथवा वेग तो छिपा हुआ माना जा सकता है, पर इसे भी मना नहीं किया जा सकता कि इसी में मनुष्य के दुर्भाग्य के बीज भी छिपे हुए होते हैं। माताजी (श्री अरविन्द आश्रम) भी कहती हैं- 'स्पर्द्धा के लिए हमें बहुत कुछ खोना पड़ता है और उसके लिए हम तैयार नहीं हैं'। व्यक्ति अपने जीवन की सहज मूलधारा से, जो पिछले जन्मों से चली आ रही है, कटकर दूर जा पड़ता है। अनुकरण, स्पर्द्धा (होड़) रूपी सलाहकारों की चपेट में आया हुआ व्यक्ति केवल वही पा सकता है जो वे दोनों

मिलकर अपनी कृपा या बुद्धिमत्ता के बतौर खुश होकर इसे राह दिखा देते हैं, पर कोई व्यक्ति उनसे जीवन के सौन्दर्य, जीवन के रस, जीवन की परिपूर्णता, मुक्तता, निर्भारता की युक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा करे तो यह उसकी निश्चित रूप से भूल होगी।

महाराज के लिए जीवन का रस सर्वोपरि चीज है। रस वह स्थिति-तत्त्व है जिसके इर्द-गिर्द सम्पूर्ण बल-रूप गतितत्त्व चक्कर काटता है। रस व बल, स्थिति व गति का समन्वय ही जीवन की चरम अभिव्यक्ति है। रस रूप केन्द्र से हटकर बल-रूप परिधि आखिर कब तक अपना अस्तित्व कायम रख सकती है? केन्द्र के बिना परिधि की कल्पना ही असम्भव है। अतः प्रकृत में भी यही समझना होगा कि जीवन का यह दृश्यमान खेल, जीवन की यह सम्पूर्ण लीला यदि परिधि है, तो उसके आधार में, उसके मूल केन्द्र में रस अवश्य रहना चाहिए। (रस + बल)=(स्थिति + गति)= जीवन। जिन्होंने इस समीकरण को समझ लिया है- कहना होगा उन्होंने महाराज के कर्म सम्बन्धी दर्शन को समझ लिया है।

जब खेल व उसका आनन्द प्रमुख रहता है और शेष सब गौण, तो स्पष्ट है, उस अवस्था में किसी विशिष्ट उपलब्धि को दृष्टिगत करके व्यक्ति कर्म नहीं करता बल्कि अपने पीछे बिना किसी चिह्न को छोड़ते हुए कर्म में लगा रहता है। अतः परिणाम से सहज रूप में ही सर्वथा मुक्त रहता है। उपलब्धि के साथ व्यक्ति का मन चिपकता नहीं। यही कारण है कि महाराज आश्रम में किसी चीज को बनवाते हैं और फिर उसे तुड़वा कर उसके स्थान पर कुछ और दूसरी चीज बनवा देते हैं। यह सर्जन-विसर्जन का क्रम निरन्तर चलता रहता है, क्योंकि कर्म मात्र ही हमारी अन्तर्निहित सम्भावनाओं के विकास के लिए, चेतना के प्रसुप्त क्षेत्रों को उद्घाटित करने के लिए, चित्त को राग-द्वेष से मुक्त करके शुद्ध करने के लिए है, न कि कुछ वस्तु पाने के लिए।

कई लोग पूछते हैं कि महाराज की अन्य सब बातें तो अच्छी लगती हैं, पर हम अब तक यह नहीं समझ पाये कि यह तोड़-फोड़ क्यों करते रहते हैं? इस प्रश्न का एक उत्तर तो दिया जा चुका है कि कर्म मात्र ही चित्त शुद्धि के लिए है, न कि वस्तु की उपलब्धि के लिए। कर्म के द्वारा प्राप्त उपलब्धि के साथ हमारा रागात्मक व द्वेषात्मक सम्बन्ध न हो, कर्म तो केवल इस ज्ञान को अपने जीवन का अङ्ग बनाने के लिए है, क्योंकि मनुष्य में इस दृष्टि का विकास कर्म करते हुए ही हो सकता है।

एक अन्य दृष्टि से भी उपर्युक्त प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। जैसा पहले एक प्रसङ्ग में कहा गया है कि महाराज के लिए सम्पूर्ण आश्रम व आश्रमस्थ गतिविधियाँ जीवन को सुन्दर साँचे में ढालने के लिए प्रतीक हैं। महाराज जो कुछ कर रहे हैं, वे सबके सामने जीवन-सम्बन्धी एक प्रायोगिक नमूना पेश कर रहे हैं कि किस प्रक्रिया से मनुष्य चलता-फिरता, जीता-जागता आनन्द का छलकता हुआ कटोरा बन सकता है। बात ऐसी है कि **हमने जो भी मान्यताएँ, विश्वास, सिद्धान्त कल्पित किये हैं, यदि वे उत्तर काल में अपूर्ण प्रतीत होने लगें, उनसे कोई और अच्छी मान्यता, अच्छा विश्वास या उत्तम सिद्धान्त सामने आ जाए तो पुराने को छोड़कर उसके स्थान में बिना झिझक उत्कृष्ट को स्थापित कर देना चाहिए।**

महाराज का कहना है कि अच्छा मिलने पर भी पुराने के साथ चिपके रहने का कोई औचित्य

नहीं। या यों भी कह सकते हैं- जैसे-जैसे सीढ़ी पर ऊपर चढ़ते जाते हैं, नीचे वाले डण्डे अपने आप ही छूटते चले जाते हैं। पर इसका अर्थ यह कभी नहीं होता कि नीचे वाले डण्डे ऊपर वाले डण्डों की तुलना में निरर्थक या हीन होते हैं। आखिर वे नहीं होते तो कैसे ऊपर पहुँचा जाता? वे ही तो ऊपर पहुँचाने में निमित्त बने हैं। जीवन के सन्दर्भ में भी ठीक यही नियम लागू होता है। प्रतीक हमेशा स्थूल होता है। वह किसी सूक्ष्म बात का संकेत होता है। सो इस बाह्य स्थूल प्रकिया के द्वारा जीवन के प्रति सूक्ष्म दृष्टि को उद्घाटित करने का ही प्रयास किया जाता है- अर्थात् 'पर' (उत्कृष्ट) का दर्शन होते ही 'अवर' को तत्काल छोड़ देना चाहिए।

महाराज किसी रूप को तोड़ते हैं तो उसी अवस्था में, जब कि उससे किसी और भी उत्कृष्ट रूप का चित्र प्राप्त हो जाता है। यह विकास की एक सहज प्रक्रिया है। विकास के पीछे यही नियम काम करता है। एक बारगी ही कभी किसी क्षेत्र में सम्पूर्ण विकास नहीं हुआ करता। सो महाराज इस रूप में आश्रम के विकास के द्वारा जीवन के सहज विकास की ही व्याख्या कर रहे हैं। क्या यह हमारे लिए ठीक है कि जीवन के जिन रूपों को हमने हीन समझ लिया है और विकास की प्रक्रिया में से गुजरते हुए उत्कृष्ट रूपों के चित्र हमारे समक्ष आ गये हैं, तो भी उन अवर चित्रों के साथ ही चिपके रहें? उनको तत्काल छोड़कर उनकी जगह अच्छे रूपों को न बिठाएँ? निर्माण के लिए ध्वंस (या परिवर्तन) का नियम साथ-साथ चलता है। ध्वंस रुक गया है, इसका अर्थ है निर्माण भी रुक गया है। ध्वंस के अनुपात में ही निर्माण आगे बढ़ता है। लोक में भी हम यही देखते हैं।

सामान्य जीवन में ध्वंस को कम स्थान मिला होता है। अतः वहाँ निर्माण की गति भी उतनी ही धीमी होती है। विशेष जीवन में ध्वंस की मात्रा बहुत अधिक होती है तो वहाँ निर्माण भी उतना ही अधिक होता है। सृष्टि-प्रक्रिया में भी जहाँ ब्रह्मा व विष्णु सृष्टि के पालन-पोषण, उत्पत्ति-स्थिति में जुटे रहते हैं, वहीं शंकर या रुद्र ने ध्वंस की बागडोर अपने हाथ में सँभाली हुई है। जो भी कुरूप, अपूर्ण, अभद्र है उसे रुद्र नष्ट कर डालते हैं। इस प्रकार यह 'विध्वंस कर्त्ता रुद्र या शंकर' ब्रह्मा और विष्णु का सहयोगी देव ही है, न कि उनके कार्य में बाधा डालने वाली उनसे अलग-थलग हुई कोई शक्ति विशेष, **बल्कि और भी** अधिक यथार्थ रूप में उक्त तथ्य को प्रकट किया जाए तो कहना होगा कि एक ही देव के ये सब विविध रूप हैं (**एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते-** निरुक्त)। इस तरह से निरन्तर 'अवर' को नष्ट करते हुए या हटाते हुए उसके स्थान में 'पर' को प्रतिष्ठित करते रहना। आश्रम में चल रहे सर्जन-विसर्जन के सततगामी चक्र के द्वारा महाराज, बस यही सन्देश हम सबको देना चाहते हैं।

पचासों वर्ष पहले स्वयं महाराज के साथ घटी एक रोचक घटना से इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा कि 'अवर' को हटाकर 'पर' को प्रतिष्ठित करने का क्या अभिप्राय है? अतः पाठकों के लिए उसका उल्लेख किया जा रहा है- श्री महाराज एक तपस्विनी माता के दर्शन करने के लिए पहुँचे जो पर्याप्त सुदीर्घ काल से एकान्त में रहते हुए ध्यान-भजन-समाधि में अपना समय बिता रही थीं। जैसे ही महाराज उनके समक्ष उपस्थित हुए, माता ने कहा- 'आओ ऋषि'। जीवन की अति उन्नत उपलब्धियों के

सूचक इस शब्द को सुनकर श्री महाराज कहने लगे– ओ मातः! यह आप क्या कह रही हो? महाराज के इस कथन पर माता ने एक अति सुन्दर बात कही, जिसने महाराज को एक नयी दृष्टि प्रदान की, जिसका परिणाम आज हम सबके सामने है। माता ने कहा– ''मैं कोई चीज दे रही हूँ, फेंकते क्यों हो? इसको बहुत सँभालकर अपने सामने रखिए, एक निशान बना लीजिए। हाँ! इसकी अपेक्षा यदि कोई और भी उत्कृष्ट चीज मिल जाए तो इसे हटा देना और इसके स्थान पर उसे रख लेना"। उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर और उत्कृष्टतम प्रतीकों के रखने और हटाने में यही छिपा हुआ रहस्य है।

मनुष्य प्रायः मूर्छा या बेहोशी में रहता है। इसी रूप में जीवन का अमूल्य व अद्‌भुत समय उसके हाथ से निकल जाता है। उसे पर या अवर, उत्कृष्ट या अपकृष्ट, ऊँचे या नीचे के भेद का पता नहीं चलता। उनके हटाने या रखने की बात तो तभी सोची जा सकती है जब उसके मन में पर या अवर रूप का कोई चित्र उपस्थित हो, उनकी कोई निश्चित अभिकल्पना (Conception) बने। बस, इस सत्य रूप को न समझने के कारण ही महाराज का नव-नव निर्माण अटपटा लगता है। लोग सोचते हैं कि जिसको हमने स्वयं रचा है, उसका विध्वंस तो अब अच्छा नहीं। पर वे यह नहीं देखते, इस जीवन में भी तो कितनी सारी चीजें हम स्वयं ही रचते रहते हैं पर उनसे अच्छी चीजें मिलने पर छोड़ भी देते हैं। जो नहीं छोड़ते, वे वहीं-के-वहीं खड़े रहते हैं। उनके जीवन में विकास नाम की कोई चीज नहीं होती।

महाराज का तो कहना है- प्रतिदिन ही हमारे एक नये जीवन की शुरुआत होती है। इसलिए कल से आज को सदा अच्छा होना ही चाहिए। नयी स्फुरणायें, नयी प्रेरणायें, नया उत्साह, नयी उमंगें, सब कुछ नया हो। जीवन को सतत तरङ्गित अवस्था में रहना चाहिए। इस बिन्दु से यदि कोई महाराज के नवनिर्माण को देखेगा तो निश्चित ही उसे एक नव दृष्टि प्राप्त होगी। महाराज का कहना है कि कल जिसको बनाया और आज उसे तोड़ रहे हैं, उसमें कोई बुराई या हीनता या बुद्धि वैकल्य की बात नहीं है, उसने ही तो हमें आगे बढ़ने में सीढ़ी का काम दिया है। उन पिछली हीन अवस्थाओं ने ही तो उस स्थान पर आगे पहुँचाया है, जहाँ आज हम खड़े हैं।

इसलिए महाराज अति उत्साह वर्धक और आशावादी दृष्टिकोण से बोलते हुए अत्यन्त गम्भीर बात कहा करते हैं कि **जीवन में भूतकाल कभी भी अशुभ नहीं होता, पर तब जब कि वर्त्तमान में उसके कारण हमारी आँखें खुल जाएँ।** अर्थात् उसकी व्यर्थता का पता चल जाए तो वह तथाकथित अशुभ भी शुभ की तैयारी हो जाता है। कैसे? स्पष्ट है कि जिसको आज हमने असुन्दर कहकर तोड़ दिया या छोड़ दिया, वही तो पैंता कूदने के समान आगे छलाँग लगाने के लिए आधार (Stepping Stone) बना है। इस प्रकार वह अशुभ भी शुभ की तैयारी हो गया है। भविष्य को हमेशा उज्ज्वल होना चाहिए या उज्ज्वल होता है- यदि कल से आज और आज से आने वाला कल अच्छा होता जा रहा है। कल से आज अच्छा नहीं है तो इसका सीधा-सा अर्थ यही है कि यात्रा किञ्चित् भी तय नहीं हुई है या नहीं हो रही है। इस प्रकार अशुभ भी शुभ को प्राप्त कराने में एक अर्थ में निमित्त बन जाया करता है। इसी आधार पर महाराज एक सुन्दर वाक्य बोलते हैं- **दोषों की पुनरावृत्ति न हो तो सब निर्दोष ही हैं।**

अन्तःप्रेरणा कोई तार्किक प्रक्रिया नहीं है। जहाँ तक हमारे जीवन का विकास हो गया है, उसके अनुसार सहज रूप से हमारे अन्तःकरण में उनका उदय होता है। उन प्रेरणाओं के अनुसार कोई अपनी जीवन-नौका को चलाना प्रारम्भ कर देता है तो निश्चित रूप से दिनों दिन विकास की गति तेजी से बढ़ती चली जाती है। महाराज कहते हैं– व्यक्ति को प्रायः बुद्धि पर अधिक भरोसा होता है, प्रेरणाओं पर कम। इसलिए अध्यात्म की दृष्टि से यात्रा बहुत कम तय हो पाती है। भौतिक क्षेत्र में तो बुद्धि का पूरा उपयोग है और उससे वह उपयोग लेना भी चाहिए, पर अध्यात्म में जब यह तर्क-प्रधान बुद्धि दखल देने लगती है तो अन्तःप्रेरणायें यदि उठ भी रही हैं, तो वे कौन सी हैं– इसको समझ पाना ही अति कठिन हो जाता है। इसलिए अन्तःप्रेरणाओं को पकड़ने के लिए मन तथा बुद्धि का शान्त व नीरव होना अति आवश्यक है।

महाराज ने उन अन्तःप्रेरणाओं को ही आश्रम के रूप में मूर्त्त रूप दिया है। जैसा कि यह बात हमने अनेक बार दोहराई है- सम्पूर्ण आश्रम ही आध्यात्मिक जीवन का या रसमय जीवन का प्रतीकभूत साकार रूप है। महाराज की अन्तरात्मा में जो-जो प्रतीक उभरते गए, उनको मूर्त्तरूप देते रहे। और भी अच्छा प्रतीक उभर आया, इसलिए पहले वाले को हटाकर दूसरे को स्थापित कर दिया। इस क्रम में आश्रम सतत विकसित हो रहा है। महाराज कहते हैं- विकास की कोई अन्तिम सीमा नहीं होती; यह तो सतत चलने वाली प्रक्रिया है। पर उस विकास में हमें तरङ्गित अवस्था में रहना चाहिए। मन पर जीवन-यात्रा का बोझ नहीं होना चाहिए।

महाराज से जब यह कहा जाता है कि आपने तो बहुत सुन्दर आश्रम बना दिया, तो वे इसका बहुत ही स्वाभाविक उत्तर देते हैं कि **'भाई! पता नहीं; मैंने आश्रम को बना दिया या आश्रम ने मुझको बना दिया; आश्रम न होता तो मेरा क्या होता?'** आश्रम महाराज की अन्तरात्मा से उठती हुई प्रेरणाओं का एक खेल ही तो रहा है। बच्चे जैसे अपनी सहज प्रेरणाओं के अनुसार कुछ बनाते हैं- फिर मिटा देते हैं- फिर कुछ और बना देते हैं। बच्चों से जैसे हम पूछें कि आप ऐसा क्यों कर रहे हैं तो वे हमारे इस प्रश्न का जो उत्तर देंगे, वही उत्तर महाराज से आश्रम के सन्दर्भ में प्राप्त होगा- **'खेल की अन्तःप्रेरणा; खेल और उसका आनन्द।'** लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्य के मन में जो कुछ आए- शुभ या अशुभ- उसको करता चला जाए और अशुभ को भी शुभ की तैयारी मानता रहे, यह तो निश्चित ही अपने आपको धोखा देने की बात होगी। महाराज का भाव वैसा कदापि नहीं है। क्योंकि वर्तमान और भविष्य तो शुभ और अशुभ दोनों भी हो सकते हैं। वे कहते हैं– वर्तमान यदि प्रमाद से युक्त है तो निश्चित ही वर्तमान और भविष्य दोनों ही अशुभ होंगे। महाराज के अनुसार प्रमाद का अर्थ है– 'जानते हुए भी कि जो कुछ तू कर रहा है वह गलत है और उससे हानि हो रही है, फिर भी वही करते चले जाना'। इसलिए आज जो कुछ हम कर रहे हैं, वह मन व इन्द्रियों की मौज के अनुसार न होकर अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुकूल होना चाहिए। वस्तुतः आने वाले दिन की शुभता और अशुभता आज के दिन पर ही निर्भर करती है। आगामी दिन तो परिणाम, फल या कार्य हैं। दूसरे शब्दों में वर्त्तमान अर्थात् आज का दिन सदा ही कारण होता है- शुभ या अशुभ भविष्य के निर्माण का।

वर्तमान क्षण ही यह निर्धारण करता है कि अगला क्षण कैसा होने जा रहा है? जैसे कि हमारा वर्त्तमान जन्म भावी जन्म का निर्धारक होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्त्तमान और भविष्य के बीच एक निश्चित कारण-कार्य सम्बन्ध है। भूत और वर्त्तमान का भी उसी प्रकार कारण-कार्य सम्बन्ध समझना चाहिए। 'वर्त्तमान' भूत का फल है और 'भूत' वर्तमान का कारण है। भूत का काम है हमको वर्त्तमान तक पहुँचा देना और वर्त्तमान हमें भविष्य की तरफ धकेल देता है। महाराज कहते हैं- जो मूल बात है; जिसको हमें पकड़ना है, वह है **'वर्त्तमान को शुभ की तैयारी में बिताना'।** यदि जीवन का यही क्रम होगा तो फिर सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा होगा।

मान लीजिए, 'वर्त्तमान' यदि दिन है तो हमारा कर्त्तव्य है कि उसे शुभ की तैयारी में बिता दें; परिणाम स्वरूप रात्रि शुभ होगी। जब रात्रि में पहुँचें तो यह समझें कि रात्रि को शुभ की तैयारी में बिताना है। निश्चित ही रात्रि के बाद आने वाला दिन शुभ होगा। इस क्रम को निरन्तर जारी रखें। कहना अनावश्यक है कि जो कोई इस प्रकार सम्पूर्ण वर्तमान जन्म को ही सदा शुभ की तैयारी में बिता रहा है, उसका भावी जन्म शुभ के अतिरिक्त और क्या होगा? व्यक्ति के हाथ में जो है, उसे यदि शुभ से संयुक्त कर देता है तो जो हाथ में नहीं है वह भी सहज रूप से स्वतः ही शुभ से संयुक्त हो जाता है। व्यक्ति प्रायः कल्पना किया करता है कि मेरे स्वप्न (Dreams) व निद्रा ठीक हों। तो उसे वर्त्तमान जो जागरित अवस्था है उसे पकड़ना होगा, क्योंकि दिन जब तरङ्गित अवस्था में बीतता है, भागवत नियमों के अनुकूल, तो ही रात्रिगत निद्रा या स्वप्न शुभ हो पायेंगे। दिन में हमने किसी को धोखा दिया, द्रोह किया, असत्याचरण किया, हिंसा की, अब्रह्मचर्य में रहे, अनीश्वर गुणों का ध्यान किया, असन्तोषी बनकर रहे, मन राग-द्वेष से दूषित या अपवित्र रहा, द्वन्द्वों को सहने में जी चुराया, वाणी का दुरुपयोग किया, मन में ईर्ष्या का भाव आता रहा तो अवश्य ही रात्रिकालीन निद्रा या स्वप्न में भी वही क्रम चालू रहेगा।

हाँ! कदाचित् रात्रि में प्रवेश कर दिन की व्यर्थता पर विचार करते हुए अपनी जीवन-धारा को बदलने का प्रयास किया तो चाहे उसी रात पूर्ण सफलता न भी मिले, पर प्रयास व्यर्थ नहीं जाएगा। आने वाले दिन के लिए वह प्रयास सार्थक सिद्ध होगा और आगे आने वाले समय में व्यक्ति सत्य के निकट पहुँचता जाएगा। महाराज कई बार एक बात बोलते हैं- जीवन में सब कुछ मधुमय होना चाहिए और इसी सन्दर्भ में यह कह जाते हैं- हमारी ठोकर, हमारे स्खलन, हमारे पतन में भी मिठास होना चाहिए। बाह्य रूप से देखने में बात विचित्र मालूम होगी कि ठोकर व स्खलन में कैसा आनन्द और कैसा माधुर्य? पर महाराज का संकेत उसी ओर है कि यदि वह पतन यह सिखा दे कि आगे कभी उस पतन की पुनरावृत्ति नहीं होगी तो सचमुच पतन मिठास से भरा हुआ प्रतीत होगा- यह होनी चाहिए भूतकालिक अशुभ के प्रति हमारी दृष्टि और उसके द्वारा वर्त्तमान में अपने को अशुभ से बचाते हुए सदा शुभ से संयुक्त रखना चाहिए या उसी की ओर निरन्तर गतिशील रहना चाहिए। इस प्रकार महाराज का नवनिर्माण विकासोन्मुख शुभ की ही सहज व्याख्या है।

१४. साधक का आहार

हिताहारा मिताहारा अल्पाहाराश्च ये जनाः।
न तान् वैद्याश्चिकित्सन्ति आत्मनस्ते चिकित्सकाः।।
अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।। (यजु० ११.८३)
मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। (ऋग् १०.११७.६)
जीर्णे भोजनमात्रेयः, लङ्घनं परमौषधम्।

महाराज की यह सुनिश्चित धारणा है कि अध्यात्म ही नहीं बल्कि सामान्य भौतिक जीवन भी आहार-संयम के बिना सुखकर नहीं हो सकता। अध्यात्म की राह पर चलने वालों को तो महाराज यहाँ तक कह देते हैं कि भाई! 'एकै साधे सब सधें'। यदि सिद्धि चाहते हो तो एक आहार को पकड़ लो। यद्यपि देखने में यह बात बहुत अटपटी सी लगती है कि आहार के साथ सिद्धि का ऐसा क्या निकट सम्बन्ध है! सिद्धि के लिए तो लम्बी-लम्बी धारणा, ध्यान, समाधि, एकान्तवास, मौन, ईश्वर प्रणिधान, निष्काम कर्मयोग, सन्तों का संग, 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' आदि की चर्चा की जानी चाहिए। फिर महाराज ने आहार के साथ सिद्धि को कैसे जोड़ दिया? ऐसी जिज्ञासा हो सकती है, क्योंकि सिद्धि का अर्थ है- मन या चित्त का पूर्ण नियन्त्रण या दूसरे शब्दों में चित्त का पूर्ण शुद्ध होना। आहार-संयम (Diet control) से शरीर स्वस्थ व बलवान् रह सकता है, यह बात तो समझ में आती है, पर आहार-संयम से मन पर भी नियन्त्रण या मन की भी शुद्धि होने लगती है, इस स्थापना की बुद्धि संगत व्याख्या कैसे की जाए? 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है' (Sound mind inA sound body), केवल इतना मात्र ही श्री महाराज का अभिप्राय नहीं है, बल्कि इससे बहुत आगे की बात वे कहते हैं- जिसको 'मन की साधना' शब्द से कहा जाता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि महाराज केवल आहार-संयम की बात नहीं करते, बल्कि आहार को पकड़ने की बात कहते हैं। संयम भी उसका एक आवश्यक भाग है, पर उतना मात्र करने से किसी व्यक्ति ने आहार को पकड़ा हुआ है- यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् 'आहार-संयम' मात्र शारीरिक स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त हो सकता है, पर मनोनिग्रह या मनःशुद्धि की दृष्टि से आहार को पकड़ने का अर्थ है— आहार के साथ जुड़े विविध पहलुओं की समीक्षा करना। आहार को व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझना।

यहाँ महाराज के द्वारा निर्दिष्ट आहार के उन विविध आवश्यक पहलुओं पर ही विचार किया जा रहा है। वे पहलू हैं- हित-मित-ऋत-प्रकृति-संस्कार-संयोग-देश-काल-पात्र-भावना-उद्देश्य।

(१) हित :- हित का अर्थ है- गुणों की दृष्टि से हितकर आहार। जैसे- गोदुग्ध, गोघृत, मूँग

की दाल, चावल, बादाम, आँवला, गेहूँ, जौ, शाकादि। गीताकार ने (१७.८,९,१०) श्लोकों में आहार के सात्त्विक-राजसिक-तामसिक भेद से तीन विभाग किये हैं। हित-अहित आहार को समझने के लिए गीता के ये तीन श्लोक अति महत्त्वपूर्ण हैं। पर अधिक विस्तार से समझने के लिए तो आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन करना होगा। चरक संहिता (सूत्रस्थान) अन्नपानविज्ञानीय अध्याय भी इस विषय में बहुत सारी मूल्यवान् सूचनाएँ देता है। पाठकों की सुविधा के लिए अर्थ सहित गीता के तीनों श्लोक दिये जा रहे हैं–

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

(रस्याः) रसयुक्त (स्निग्धाः) घृतादि स्निग्ध पदार्थों से युक्त (स्थिराः) सार रूप में दीर्घकाल तक शरीर में रहने वाले (हृद्याः) हृदय को तृप्त करने वाले (आहाराः) भोजन (सात्त्विक-प्रियाः) सात्त्विक स्वभाव वाले मनुष्यों को प्रिय होते हैं। ऐसे भोजन (आयुः) जीवन (सत्त्व) भीतरी शक्ति, मनोबल (बल) बाहरी स्थूल शारीरिक बल (आरोग्य) स्वास्थ्य (सुख) सुख (प्रीति) मन, प्राण और शरीर की तृप्ति, प्रसन्नता, सुखमयी अवस्था, इन सबको (विवर्धनाः) बढ़ाने वाले होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

अत्यधिक कटु जैसे मिर्च, अत्यधिक खट्टे, अत्यधिक नमक वाले, अत्यधिक उष्ण, अत्यधिक तीखे, रूक्ष कोदो आदि, दाहजनक विदाही आहार राजसिक स्वभाव वाले मनुष्यों को प्रिय होते हैं। तथा ये आहार शारीरिक पीड़ा एवं रोग और मानसिक शोक उत्पन्न करने वाले होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

जो भोजन तीन घण्टे पहले पका हुआ हो अर्थात् ठण्डा हो गया हो, रात बीत जाने पर बासी, जिसका स्वाद गिर गया हो (जैसे अधिक पका फल), जो सड़ जाने के कारण दुर्गन्ध युक्त हो गया हो, दूसरों का जूठा और जो अपवित्र भी हो, वह तामसिक प्रकृति के मनुष्यों को प्रिय होता है।

इस प्रकार हित-अहित की परीक्षा करना आहार विषय में पहला बिन्दु हुआ। किसी भी साधक को 'हितभुक्' ही होना चाहिए। महाराज छान्दोग्य का एक उद्धरण दिया करते हैं- **'अन्नमयं हि सोम्य! मनः'** यह मन अन्न का सार है। जो अपने मन को सात्त्विक बनाना चाहते हैं उन्हें सदा सात्त्विक आहार ही ग्रहण करना चाहिए। राजसिक-तामसिक आहार करते हुए कभी भी मन सात्त्विक नहीं बन पाएगा।

स्पष्ट है- अण्डा, मांस, मछली का आहार तो मनुष्य की शरीर-रचना के ही अनुकूल नहीं है। सो वह तो साधक के लिए कैसे उपयुक्त हो सकता है? जैसे कि मांसाहारी और शाकाहारी जीवों की आँतों (Intestine) व दाँतों का अध्ययन किया जाए तो वे सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न प्रकार के हैं। उनका पानी पीने का ढंग सर्वथा एक-दूसरे से अलग है। मांसाहारी प्राणियों की नासिका की मांसविषयक गन्ध-ग्रहण क्षमता शाकाहारी प्राणियों से बहुत अधिक होती है। सो जब मनुष्य के लिए मांसाहार कुदरत (Nature)

के ही विरुद्ध है तो साधक के लिए उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है? वैसे भी मांस-अण्डादि तामसिक श्रेणी में आते हैं।

(२) मित :- आहार के विषय में दूसरी ध्यातव्य बात है- आहार का निश्चित परिमाण। परिमाण का निश्चय व्यक्ति को अपने शरीर की सामर्थ्य व पाचन-शक्ति का बलाबल देखकर स्वयं ही करना होता है। आयुर्वेद में एक सामान्य नियम का अवश्य संकेत मिलता है जिसका लाभ सभी ले सकते हैं। उसका कहना है-

अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णमाप्नुवन्ति हि।। (माधवनिदान, अजीर्ण प्रकरण १३, सुश्रुत चि० ३६.३७)

जो लोग अनात्मवान् अर्थात् असंयमी होकर, प्रमाण का कोई नियम न रखते हुए, पशु की भाँति खाते रहते हैं, वे समस्त रोग-समूह का मूल जो 'अजीर्ण' है, उसे प्राप्त कर लेते हैं।

महाराज इस विषय में बहुत अधिक बल देते हैं। महाराज का कहना है- गोदुग्ध और गोघृत जो कि अमृत हैं, सत्त्वगुणयुक्त हैं, वे भी प्रमाण से अधिक खाने पर तमोगुणी हो जाते हैं। महाराज कहते हैं कि आहार में विशेष रूप से मात्रा का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। भूख को सदा एक रोग समझना चाहिए और आहार को औषध। जिस प्रकार औषध मात्रा में ही ली हुई फलप्रद होती है, मात्रा से न्यून अथवा अधिक होने पर लाभप्रद नहीं होती, बल्कि यहाँ तक होता है कि मात्रा से अधिक परिमाण में ली हुई औषध तो लाभ के स्थान में हानि ही करती है। औषध को यदि मात्रा से कम लिया जाता है तब तो केवल इतनी-सी बात होती है कि पूर्ण लाभ नहीं होता अर्थात् मात्रा से कम परिमाण में ली हुई औषध से हानि तो नहीं होती, पर जितना लाभ अपेक्षित है उतना लाभ नहीं हो पाता। वही नियम भोजन विषय में भी प्रयोज्य है।

अतः साधक को चाहिए कि वह सदा मितभुक् (परिमितभुक्) रहे। भोजन का उचित परिमाण निश्चित करने के लिए महाराज ने एक कसौटी निर्धारित की है- भोजन करने के बाद विश्राम की आवश्यकता न पड़े, स्फूर्ति पहले से भी अधिक बढ़ जाए, भारीपन महसूस न हो तो समझना चाहिए कि उचित मात्रा में भोजन किया गया है। यदि भोजन करते ही शरीर भारी हो जाता है, लेटने को जी चाहता है (१०-१५ मिनट स्वेच्छा पूर्वक लेटना या विश्राम करना एक अलग बात है, पर अवशभाव से विश्राम करना चाहता है) तो समझना चाहिए कि भोजन का परिमाण अधिक हो गया है। भोजन के न्यून परिमाण को तो भूख के द्वारा आसानी से पहचाना जा सकता है। कहना अनावश्यक है- भोजन की मात्रा इतनी कम भी नहीं होनी चाहिए कि व्यक्ति को भूख ही सताती रहे। उससे भी क्रियाशीलता कम हो जाती है।

महाराज अपने विषय में सुनाते हैं कि मैं ३२ वर्ष तक एक समय खिचड़ी ही खाता रहा, जो कि निश्चित चावल-मूँग लेकर निश्चित पानी में कण्डे की निश्चित मन्द आँच पर मिट्टी के पात्र में ही पकाई जाती थी। पकती हुई उस खिचड़ी में ही जो कुछ डालना होता था, डाल दिया जाता था- जैसे

कोई सब्जी (गाजर-पालक-मेथी-धनिया-घीया-तोरई इत्यादि समय के अनुसार जो भी उपलब्ध), घृत, सेन्धा नमक, कोई मेवा आदि। वे कहते हैं- भोजन की इस प्रक्रिया से मुझे अपार लाभ हुआ।

(३) ऋत :- आहार का तृतीय बिन्दु है- ऋत। ऋत का अर्थ होता है- सत्य सृष्टि-नियम। परिश्रम करने पर जो भी भोजन उपलब्ध होता है, केवल वही सृष्टि नियम के अनुकूल होता है। बिना परिश्रम किये चोरी से या रिश्वत से किसी ने गोदुग्ध प्राप्त कर लिया, परिमाण का भी ध्यान रखा गया, फिर भी ऋत के शासन का अतिक्रमण होने से, वह दूध अमृतस्वरूप होता हुआ भी चित्त को शान्ति व सन्तोष नहीं दे सकता। ऐसा व्यक्ति कितना भी गोदुग्ध पीता रहे और ध्यान-भजन के नाम पर आलथी-पालथी मारकर बैठता रहे, उसका मन वहाँ भी चञ्चल ही रहेगा। ध्यान में भी अन्य-अन्य भोग साधनों को जुटाने की चालाकियाँ ही खोजेगा। अतः साधक का ऋतभुक् होना अति आवश्यक है।

जिसका जो कर्म है, उसे पूरी ईमानदारी (Sincerity) से करता रहे। यदि वह समाज सेवक है तो निश्छल और निष्कपट भाव से सेवा में जुटा रहे। भोग की भूख से प्रेरित होकर अधिक दक्षिणा पाने का लोभ जो मन में पैदा हो जाता है, उसके कारण अवश्य ही मिथ्यात्व का सहारा लेना पड़ता है। जितना वह नहीं है अपने को उससे अधिक दिखाना होता है। अपनी कमियों और कमजोरियों को छिपाने के लिए झूठ बोलना पड़ता है। इस प्रकार के कपटपूर्ण आचरण से दक्षिणा अधिक मिल भी जाती है, तो भी उस धन का भोग करने वाला व्यक्ति ऋतभुक् नहीं होगा। एकान्त वास लेकर मौन साधना में निरत कोई साधक है तो पूरी निष्ठा से वह उस काम को करे- शरीर के साथ मन भी एकान्त में ही रहे, भीड़ में न जाए। शरीर एकान्त में है और मन एकान्त में नहीं है; किसी से बात कर रहा है तो कहा जाएगा- वह व्यक्ति ऋत की कमाई नहीं खा रहा। ऋताचरण का अर्थ है- जैसा अन्दर वैसा बाहर। अध्यापक है तो प्रेम से विद्यार्थियों को ज्ञान बाँटना, किसान है तो मेहनत से खेती करना, इत्यादि। अपने काम में की गई चोरी मन को कभी भी शान्त नहीं होने देगी। उस व्यक्ति के द्वारा मन की शान्ति के लिए किये गए सभी उपाय एकदम से व्यर्थ सिद्ध होंगे। चाहे वे उपाय बाह्य रूप में कितने भी आकर्षक क्यों न दिखाई दे रहे हों।

(४) प्रकृति :- साधक को अपनी प्रकृति को ध्यान में रखते हुए ही आहार ग्रहण करना चाहिए। मुख्यतः मनुष्य वातप्रकृति, पित्तप्रकृति व कफप्रकृति वाले होते हैं। अपनी प्रकृति के दोष को बढ़ाने वाले द्रव्यों का आहार में निरन्तर या अधिक अनुपात में सेवन करने से वह दोष अन्य प्रकृति वालों की अपेक्षा शीघ्र ही कुपित हो जाता है तथा रोगों का कारण बनता है। वात का गुण शीत व रूक्ष होता है। वातप्रकृति वाला मनुष्य यदि भोजन में अधिकतर शीत व रूक्ष गुण वाले पदार्थों का सेवन करता है तो उसका वातदोष अपेक्षाकृत शीघ्र कुपित होकर वातरोग पैदा कर देता है। अतः वातप्रकृति वाले को वात के गुण से विरुद्ध उष्ण व स्निग्ध आहारद्रव्यों को समुचित अनुपात में भोजन में सम्मिलित रखना चाहिए।

पित्त का गुण उष्ण व तीक्ष्ण होता है। यदि पित्तप्रकृति वाला व्यक्ति इन गुणों से युक्त पदार्थों

को भोजन में निरन्तर या अधिक मात्रा में लेता है तो उसका पित्त अपेक्षाकृत शीघ्र ही कुपित होकर पित्तरोगों को पैदा कर देता है। अतः पित्तप्रकृति वाले व्यक्ति को अपने भोजन में पित्त के विपरीत गुण वाले शीतल, मधुर व स्निग्ध पदार्थों को उचित अनुपात में रखना चाहिए। कफ का गुण शीतल व मधुर होता है। कफप्रकृति वाला व्यक्ति यदि उक्त गुण वाले पदार्थों का अधिक व निरन्तर सेवन करता है तो उसका कफ अपेक्षाकृत शीघ्र कुपित होकर कफरोगों को जन्म देता है। अतः उसे अपने भोजन में कफ के विपरीत गुण वाले रूक्ष, उष्ण व तीक्ष्ण पदार्थों का उचित अनुपात में सेवन करना चाहिए। इस प्रकार करने पर दोषों का सन्तुलन रहने से स्वास्थ्य बना रहता है। आयुर्वेद के अनुसार वातशमन के लिए तेल, पित्तशमन के लिए घृत एवं कफशमन के लिए मधु उत्तम माना जाता है। इसके अतिरिक्त उचित अनुपात में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त व कषाय- इन छः रसों का सेवन भी दोषों को सन्तुलित बनाने में उपयोगी होता है। इसी प्रकार निम्न क्रियाएँ भी इन तीनों के शमन के लिए उपयोगी होती हैं-

व्यायामः कफनाशाय वातनाशाय मर्दनम्।
स्नानं पित्तविनाशाय तस्मात् त्रितयमाचरेत्।।

अर्थात् व्यायाम से कफ का शमन होकर अच्छी भूख लगती है तथा शरीर दृढ़, सबल व स्वस्थ रहता है। तैलमर्दन से वातप्रकोप दूर होता है तथा स्नान से पित्त का शमन होता है।

(५) संस्कार :- भोजन में संस्कार का भी अपना विशिष्ट स्थान है। अग्नि संस्कार से कुछ वस्तुओं के गुण बढ़ जाते हैं, कुछ के घट जाते हैं। यह सब आहार सन्दर्भ में विचार्य होता है। घृत, तेल, हींग-जीरा आदि संस्कार द्रव्यों से भी संस्कृत भोजन अधिक गुणवान् हो जाता है, यह सुस्पष्ट है।

(६) संयोग :- भोजन में संयोग का महत्त्व तो सर्वविदित है। कुछ पदार्थ संयोग से विरुद्ध गुण धर्म वाले हो जाते हैं। जैसे खरबूजा व दूध, खट्टे पदार्थ व दूध, नमक व दूध, समपरिमाण में मधु व घृत निषिद्ध हैं। चरक के स्वस्थवृत्त-प्रकरण में ऐसे बहुत-से पदार्थों की एक लम्बी सूची दी गई है। वह सभी को जाननी चाहिए। कुछ पदार्थों के उचित संयोग से भोजन उत्कृष्ट गुण युक्त हो जाता है। जैसे स्वल्प मात्रा में सैन्धव का संयोग भोजन में लाभप्रद है, अति संयोग हानिकर है। आँवला और मूँग की दाल, आँवला और दही का संयोग विशेष गुणकारक है, इत्यादि।

(७) देश :- देश के अनुसार पदार्थों के गुण-धर्म जानने चाहिएँ। किस देश में कौन-सी चीज लाभप्रद है, कौन-सी हानिकारक? शीत प्रदेश में उष्ण चीजें तथा उष्ण प्रदेशों में शीतल पदार्थ सेवन करना स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। व्यतिक्रम होने पर वे पदार्थ हानिकारक हो जाते हैं।

(८) काल :- जैसे देश का महत्त्व है, उसी प्रकार काल का भी अपना महत्त्व है। प्रातःकाल दधि लाभकारी है तो सायंकाल वही हानिकारक हो जाती है। विभिन्न ऋतुओं के अनुसार भोज्य पदार्थों का चयन भी काल की सीमा में ही आता है। काल के द्वारा यह भी समझा जा सकता है कि भोजन करने का समय दिन भर में दो बार से अधिक नहीं होना चाहिए।

(९) पात्र :- जिन पात्रों में भोजन करते हैं, उनका भी ध्यान रखना चाहिए। जैसे पीतल या ताम्बे के पात्र में छाछ विकृत हो जाती है। एल्युमिनियमपात्र निश्चय ही स्वास्थ्य के लिए हानिकर होते हैं। जो सम्पन्न लोग हैं वे सोने-चाँदी के पात्रों में भोजन करते हैं- उससे भोजन में उस-उस द्रव्य के गुणधर्म आने से भोजन गुणवान् हो जाता है। मिट्टी का पात्र इस दृष्टि से उपयोगी है कि जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही बनाए रखने की सामर्थ्य रखता है पर धातुएँ अपने-अपने गुण-धर्म को भोजन में मिला देती हैं। इस प्रकार आहार विषय में पात्र का भी अपना एक स्थान है। इसे ध्यान में रखना चाहिए।

(१०) भावना :- किस भावना से युक्त होकर भोजन बनाने वाले ने भोजन बनाया है, खिलाने वाले ने खिलाया है अथवा खाने वाले ने खाया है- यह भी ध्यान देने योग्य बात है। क्रोध के भाव में बनाया गया भोजन या उसी भाव में खिलाया गया अथवा खाया गया खाने वाले के चित्त व शरीर को अवश्य प्रभावित करता है। यह बहुत ही ध्यान देने योग्य बात है कि भावना जीवन में इतनी सशक्त व महत्त्वशाली चीज है कि इसके द्वारा चेतन ही प्रभावित नहीं होता बल्कि जड़तत्त्व तक भी प्रभावित हो जाता है।

हाँ! यह तो माना जा सकता है कि चेतन व जड़ के प्रभावित होने का आनुपातिक अन्तर अधिक होता है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि भावना का जड़ पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। हृदय सागर से उठी भावनाओं की वे लहरें उस-उस द्रव्य को घेर लेती हैं, इस प्रकार उस द्रव्य के साथ उन भावनाओं का भी व्यक्ति में संक्रमण होता रहता है। ग्रहीता के सचेतन होने पर भावनाएँ अधिक प्रभावकारी होती हैं तो अन्य अवस्था में स्वल्प। इसलिए कहा जाता है कि साधक को अति प्रेम व शुद्ध भाव से युक्त होकर भोजन करना चाहिए जिससे भोजन से प्राप्त होने वाली ऊर्जा उन्हीं दिव्य भावों से युक्त रहे।

(११) उद्देश्य :- आहार के सन्दर्भ में जो अन्तिम विशेष बात है- वह है उद्देश्य की। भोजन कर्त्ता यदि अपने समक्ष यह उद्देश्य रखे कि इस भोजन के द्वारा मुझमें शक्ति, ओज व तेज निरन्तर बढ़ता रहे जिससे इस जीवन की आहुति भगवान् या समष्टि की सेवा में लग सके। भगवान् ने जो यह अद्भुत उपहार शरीर के रूप में हमारे लिए दिया है, इसमें उनका यही अभिप्राय लक्षित होता है कि हम इसे सँभाल कर रखें। अपने आलस्य-प्रमाद व लापरवाही से इसे नष्ट-भ्रष्ट न करें, बल्कि दृढ़ता से इस विचार को अपने अन्दर बिठा कर रखना है कि यह उन्हीं की चीज है और किसी भी रूप में उनके काम आ जाए तो यह उद्देश्य ही भावना के रूप में परिवर्तित होकर साधक का महान् सहयोगी हो जाता है।

ज्ञानेन्द्रियों को ओज चाहिए तथा कर्मेन्द्रियों को शक्ति। अतः मैं भोजन के द्वारा अपनी कर्मेन्द्रियों को शक्तिमान् बना रहा हूँ। वह मुझे भोजन के द्वारा प्राप्त हो तथा मैं इस भोजन के द्वारा तेजोमयी वाक् का स्वामी बनूँ। भोजन करने के लिए उपस्थित हुए साधक को अपने मन में दिव्य भाव दोहराने चाहिएँ कि **इस भोजन से प्राप्त ऊर्जा के द्वारा मैं भगवान् के इस संसार रूपी घर में अधिकाधिक दिव्यता फैला सकूँ। इस ऊर्जा को पाकर मेरा मन सदा अमृत से युक्त रहे। कभी भी हताश व निराश न हो। उत्साह**

से भरा हुआ यह मेरा मन, जैसे नदी निरन्तर सागर की तरफ बढ़ती रहती है, उसी प्रकार अनन्त की ओर बढ़ता रहे। यह अन्न मुझमें ऐसी शक्ति भरे कि क्षुद्रभावों के लिए मुझमें कोई स्थान न हो।

उद्देश्य को विविध व्यक्तियों के साथ जोड़कर और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। चोर व डाकुओं का अपना एक उद्देश्य होता है। विषय-सुख में डूबे हुए भोगी लोगों का भी अपना एक उद्देश्य होता है। राष्ट्ररक्षा में तैनात सैनिकों का उद्देश्य कुछ और है। साधु-सन्तों का अपना-अपना उद्देश्य है। सेवा में ही रस ले रहे सेवक ने भी उद्देश्य के नाम पर कुछ तो चुना ही है। खिलाड़ियों का उद्देश्य अलग है। राजनेताओं का भी कुछ उद्देश्य है। पशुओं और वृक्षों का भी अपना-अपना उद्देश्य है।

कहने का अर्थ यही है कि सभी प्राणधारियों का कुछ-न-कुछ उद्देश्य है। अन्तर केवल इतना है कि कुछ अपने उद्देश्य के प्रति सचेतन हैं, कुछ नहीं हैं बल्कि एक कदम आगे बढ़कर यहाँ तक कहा जा सकता है कि सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वायु और अग्नि, इन सबका भी अपना-अपना उद्देश्य है, पर वे अपने उद्देश्य को जान नहीं रहे हैं। जो भी कोई जो कुछ अच्छा या बुरा कर रहा है- वही उसका उद्देश्य है। उद्देश्य को पूरा करने के लिए जीवन चाहिए। जीवन के मूल में आहार है। सो आहार को यदि सचेतन रूप से उद्देश्य के साथ जोड़ दिया जाता है तो वह जीवन के माध्यम से गुजरता हुआ अपने संकल्पित उद्देश्य तक पहुँच जाता है।

इस प्रकार देखा गया कि आहार को पकड़ने का अर्थ है, इन उपर्युक्त ११ बातों के परिप्रेक्ष्य में आहार को समझना। इनमें से कुछ बातें केवल शरीर के आरोग्य की दृष्टि से उपयोगी हैं और कुछ भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से। अर्थात् वे शरीर व मन दोनों को समान रूप से प्रभावित करती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रसिद्ध वचन को भी महाराज उद्धृत किया करते हैं- **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।'**

अर्थात् न केवल रसना के बल्कि समस्त इन्द्रियों के आहार के शुद्ध होने पर मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, अन्तःकरण के शुद्ध होने पर आत्मस्मृति ध्रुव (अविचल=स्थिर) हो जाती है। बस आत्म- स्मृति प्राप्त होने पर तो हृदय में निहित समस्त क्षुद्र भावों व अज्ञान की गाँठें सहज ही खुल जाती हैं। जीवन की सब बाधाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। मनुष्य भगवान् का एक जीता जागता केन्द्र बन जाता है। इसीलिए महाराज यह बात कहते हैं **'एकै साधे सब सधैं'** एक आहार को अच्छी प्रकार पकड़ लेने से सब कुछ ही पकड़ में आ जाता है। ऐसा लगता है कि यहाँ पहुँचकर उपनिषत्कार और महाराज आपस में एक-दूसरे से गले मिल रहे हैं, गले मिलते नजर आ रहे हैं।

*****

☞ श्रद्धा, भक्ति और प्रेम के लोक में घटना, बिछुड़ना, बिसरना नहीं है।

☞ नरलीला का अभिनय करते समय महान् आत्माएँ धरती के धर्म (मैल) को इसलिए अपने पर लपेटते हैं कि कोई यह न कह दे कि यह कोई विशेष अलौकिक विभूति है।

१५. सन्त के अतिथि

नूरगढ़ आश्रम में आने से पहले महाराज का कार्यक्षेत्र रिवाड़ी शहर था। वहाँ रहते-रहते ये एक अच्छे वैद्य तथा साधक के रूप में प्रसिद्ध हो गए थे। महाराज का नियम था प्रतिदिन नगर के बाहर सायं-प्रातः घूमने के लिए जाना। एक दिन जब वापस आ रहे थे तो उन्हें मार्ग में दो साधु मिले। वे पूछने लगे- हमें सोमदेव वैद्य से मिलना है, क्या आप उनका घर जानते हैं? महाराज ने कहा– हाँ! जानता हूँ, चलिए मेरे साथ, मिला देता हूँ। प्रेम से बातचीत करते हुए महाराज ने उन दोनों अतिथि साधुओं को अपने घर लाकर खड़ा कर दिया। वे कहने लगे– जी! हमें जल्दी उन से मिलाओ, आप तो देर करने लगे! महाराज ने कहा– कितनी जल्दी मिलना चाहते हो? उन्होंने कहा– इतनी जल्दी कि जैसे आप हमारे सामने खड़े हैं। महाराज ने कहा– अच्छा! मिल लीजिए, मुझे ही सोमदेव कहते हैं।

इस चमत्कार-पूर्ण मिलन से वे दोनों अतिथि साधु अति प्रसन्न हुए। उनकी इच्छानुसार माताजी ने भोजन तैयार किया– बाजरे की रोटी और खाटा का साग। भोजन से तृप्त होकर दोनों अतिथि महात्मा माता जी को धन्यवाद देने लगे। महाराज का नियम था– साधु-संन्यासियों को प्रेमपूर्वक भोजन कराने के बाद सत्संग करना। अतः माताजी सहित महाराज सत्संग के लिए उपस्थित हो गये। दोनों अतिथि महात्मा कहने लगे– हम आप की जीवन शैली, मधुरवाणी, विनम्रता व अतिथि-सत्कार से बहुत ही प्रसन्न हैं। आप लोग मन चाहा कोई भी वर माँगो। महाराज ने कहा कि हम तो आपके बालक हैं। बालक तो न जाने क्या माँग बैठे? हो सकता है उसकी माँग को पूरा करने से उसकी हानि हो जाए। आप जो हमारे लिए उचित समझते हैं– वही दे दीजिए।

इससे वे दोनों महात्मा और भी अधिक प्रभावित हुए और कहने लगे– अच्छा! हम अपनी ओर से ही आपको यह वरदान देते हैं कि भीष्म पितामह की तरह आपकी इच्छा-मृत्यु होगी। मृत्यु आप पर विजय नहीं पा सकेगी। सचमुच महाराज व माताजी उनका उपदेश सुनकर निहाल हो गए। अब माताजी को सम्बोधित करके महाराज कहने लगे– देखो! मैं कहा करता था– चुग्गा डालती रहो– कभी कोई हंस भी चुगने के लिए आ जाएगा। इसी प्रकार जो गृहस्थ अतिथि-सेवा में रुचि लेगा तो उसकी सेवा की महक से खिंचकर कभी न कभी कोई ज्ञानी पुरुष भी पहुँचेगा, जिससे अनायास ही उस गृहस्थ परिवार का उद्धार हो जाएगा।

महाराज का यह दृष्टान्त गृहस्थों के लिए आदर्श स्वरूप है कि किसी भी पूज्य व्यक्ति को प्रेम सहित भोजन कराने के पश्चात् उनसे उपदेश भी ग्रहण करें। जो केवल भोजन तो करा देते हैं, पर सत्संग नहीं करते, समझना चाहिए, वे अतिथि-सेवा का पूरा लाभ नहीं उठा रहे। लेखक के सम्पर्क में ऐसे कई परिवार हैं जो प्रेम से भोजन करायेंगे, दक्षिणा भी देंगे, पर संन्यासियों के साथ भी

अपनी सांसारिक चर्चा ही करेंगे। सत्संग करने में, कुछ सुनने में, कुछ भी उत्सुकता नहीं दिखायेंगे। इस अतिथिचर्या से गृहस्थों को कोई विशेष लाभ नहीं मिलता। साधु-महात्माओं को भी चाहिए कि वे जागरूक रहें, लौकिक चर्चाओं से बचें। बहुत बार तो यह स्तर बहुत नीचे आ जाता है और सामान्य अज्ञ लोगों की तरह एक-दूसरे की निन्दा, हँसी-ठट्ठा भी चलता रहता है। महाराज के पूर्व-जीवन की यह घटना संन्यासियों व गृहस्थों दोनों का मार्गदर्शन करती है।

*****

- ☞ मनसा वाचा कर्मणा एकत्व होते ही ब्रह्म और उसकी प्राप्ति के साधन प्रत्यक्ष हो जाते हैं।
- ☞ प्रज्ञादर्शन बड़ा विचित्र है। यह मानव के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और निकट की वस्तु है। सरल शब्दों में, मनुष्य के जीवन में जो नित्य प्रति के काम-काज में समझदारी का दृष्टिकोण है वही प्रज्ञादर्शन का सार है।
- ☞ अनन्त की यात्रा में आगे बढ़ने की तैयारी का नाम ही मृत्यु है।
- ☞ सहजता के बिना आत्मज्ञान असम्भव है।
- ☞ **इहैव तैर्जितः सर्गो०** इहैव= अभी, यहीं, इसी जन्म में आत्मोपलब्धि!
- ☞ **यस्यां जाग्रति भूतानि,** जिन अनुकूलताओं में सब लोग जागते हैं– **सा निशा पश्यतो मुनेः,** ज्ञानी व्यक्ति के लिए वही वैराग्य का विषय है।
- ☞ सेवा लेने की कंजूसी; सेवा करने में उदारता। सेवा के लिए पहल चाहिए।
- ☞ दुःख की अचूक दवा– परानुराग! प्रेम! जो दूसरों की सेवा करके अपने को धन्य समझे कृतज्ञ माने वह परानुरागी है।
- ☞ शारीरिक श्रम का भौतिक (बाह्य) पहलू है उत्पादन। आध्यात्मिक (आन्तरिक) पहलू है समता।
- ☞ सब का आधार हृदय, परन्तु हृदय का आधार हृदय ही है।
- ☞ वियोग या विरह में प्रेम को कोई खतरा नहीं बल्कि उस अवस्था में प्रेम का और भी परिपाक होता है। हाँ! मोह को वियोग में अवश्य ही भारी कष्ट है।
- ☞ **अपरिग्रहस्थैर्य** सुख का अपरिग्रह!
- ☞ प्रातःकाल की प्रार्थना– दिन भर जो भी मिलेगा उसे आपकी भेजी भेंट के रूप में स्वीकार करूँगा।
- ☞ जैसे-जैसे निम्न प्रकृति शुद्ध होती जायेगी, उच्चतर सत्ता का अवतरण आसान होता जायेगा; परन्तु उससे भी कहीं अधिक सत्य यह है कि उच्चतर के अवतरण से निम्नतर प्रकृति की शुद्धि कहीं अधिक शीघ्रता से सम्पन्न होती है।
- ☞ आत्म दृष्टि से सब कुछ एक आत्म जगत् दिखाई देगा– केवल विशुद्ध 'है'।

१६. आनन्द की सीढ़ियाँ

समत्वं योग उच्यते।। (गीता २.४८) तितिक्षा परमं तपः।।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। (गीता ५.१९)
अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।। (अथर्व० १०.८.४४)
सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्। चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते।। (वि० चूडा० २५)

श्री महाराज कहा करते हैं कि आनन्द तक पहुँचने के लिए सहिष्णुता व समता की सीढ़ियों को पार करना होता है। कोई चाहता है 'मैं आनन्दमय जीवन जीऊँ' तो उसे अवश्य ही पहले तप करना होगा। तप के बिना जब भौतिक जीवन भी रूखा-सूखा रह जाता है तो आध्यात्मिक जीवन की परिपूर्णता कैसे उपलब्ध हो सकती है, जिसका आधार ही तप है, जो तप की भित्ति पर ही टिका हुआ है। महाराज तैत्तिरीय उपनिषद् के छोटे-छोटे दो वाक्य बोला करते हैं **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व', 'तपो ब्रह्मेति'**। तप ही वह परम साधन है, जिसके द्वारा आनन्द तक पहुँचा जाता है। तप मूल में नहीं है, तो आनन्द की जिज्ञासा का कोई अर्थ ही नहीं, अर्थात् तप के द्वारा या तप के साथ ही आनन्द को जानने की इच्छा का कुछ अर्थ है। वह तप क्या है? उसके स्वरूप को किस प्रकार समझा जाए? इसका उत्तर होगा- वह है 'सहिष्णुता' अर्थात् काम-क्रोधादि वेगों को सहना।

आनन्द की ओर प्रयाण करने वाले साधक के लिए सर्वप्रथम करने योग्य कार्य यही है कि वह सहिष्णु बने। सहिष्णुता का आरम्भ होता है 'वेदना' से अर्थात् काम-क्रोधादि विकारों से जो कष्ट होता है उसको अनुभव करने से। सरलार्थ है- यदि कोई व्यक्ति संवेदनशील होकर जीने लगता है तो उसे निश्चित ही प्रतिकूल स्थिति में कष्ट की वेदना होगी, और कोई भी मनुष्य वेदना में जीना नहीं चाहता। सो उस समय सहिष्णुता उस व्यक्ति की ढाल बनकर रक्षा करेगी। महाराज ने सहिष्णु बनने के लिए 'वेदना' की बात कही। इसी बात को 'मानव सेवा संघ' के प्रणेता स्वामी शरणानन्द जी ने 'दुःख का प्रभाव' कहा है। योगदर्शन व महात्मा बुद्ध का 'दुःखदर्शन' भी शब्दान्तर से इसी स्थिति का संकेत कर रहा है। **वेदना व्यक्ति को वेदना से मुक्त होने के लिए तैयार कर देती है।**

व्यक्ति प्रायः क्रिया (Action) व प्रतिक्रिया (Reaction) में जीता है। अन्दर या बाहर पहले एक क्रिया होती है, फिर तुरन्त उसके साथ उसकी प्रतिक्रिया हो जाती है। मन में जो सतत अन्तर्वेग (Impulses) उठते रहते हैं, उनको क्रिया-स्थानी समझा जाए तो उससे अगले क्षण उनको आधार बनाकर शरीर या वाणी से जो कुछ किया जाता है, वह उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। बाहर से भी इसी प्रकार किसी ने अपशब्द बोला और सुनने वाले ने उसे सुनकर प्रतिक्रिया के रूप में उसका उत्तर दे दिया। दूसरे प्रसंग में किसी ने प्रशंसा की और उसकी भी उसके अनुरूप प्रतिक्रिया व्यक्त

कर दी गई गेंद का दीवार से टकराना क्रिया है और वापस लौटना प्रतिक्रिया है। पंखे का स्विच ओन (on) करना एक क्रिया है तो उसके परिणाम-स्वरूप पंखे का चलना उसकी प्रतिक्रिया होगी। इधर भूख लगी, उधर भोजन करने लग गए। कुछ देखने की इच्छा हुई तो आँखें तत्काल देखने लग गयीं। आहट हुई, कान ने सुना और शरीर उठकर देखने के लिए चल दिया।

निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर तक समस्त जीवन में इस क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रवाह चल रहा हो तो उस समय सहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं होता। पर जब इसके बीच में इच्छा-शक्ति आ जाती है जो प्रतिक्रिया को स्वच्छन्द रूप से नहीं बल्कि नियमित रूप से बहने के लिए बाध्य कर देती है, या फिर किसी विशेष स्थिति में उस प्रतिक्रिया को रोक देती है तो इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को 'सहिष्णुता' कहा जाता है। कभी यह सहिष्णुता शरीर के स्तर पर होती है तो कभी वाणी के स्तर पर, कभी मन के तो कभी इन्द्रियों के स्तर पर। सहिष्णुता के प्रकर्ष में व्यक्ति समस्या (challenge) से अभिभूत नहीं होता बल्कि उसे ही अभिभूत कर देता है। चूँकि सहिष्णुता समस्या की प्रतिक्रिया (Reaction) रूप नहीं होती, बल्कि उसका प्रत्युत्तर (Response) होती है; इसलिए सहिष्णुता में इच्छा-शक्ति व ज्ञान-शक्ति दोनों का समावेश होता है और यही कारण है कि सहिष्णुता समस्या को आगे नहीं बढ़ने देती। उसे वहीं उखाड़ फेंकती है। उसका उचित समाधान (Solution) कर देती है।

शरीर के स्तर पर किसी के सहिष्णु होने पर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास पर तो वह विजय प्राप्त कर ही लेता है, साथ में पुरुषार्थी भी हो जाता है। आलस्य, निद्रा एवं तन्द्रा को अपने वश में कर लेता है। श्रम से प्रेम करने लगता है। शरीर से असहिष्णु व्यक्ति हमेशा श्रम से बचना चाहता है। गीता में भी इस विषय में जो संकेत किया गया है, वह द्रष्टव्य है- **"अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च शारीरं तप उच्यते"।** सहिष्णु व्यक्ति अपने शरीर से (हाथ-पैरों से) किसी को किञ्चित् भी कष्ट नहीं देता और ब्रह्मचर्य (सेवा) में स्थित रहता है। देवों, विद्वानों, गुरुओं एवं बुद्धिमानों का पूजन (सत्कार) करता है। आनन्द प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम शरीर से सहिष्णु होना होता है।

वाणी के स्तर पर सहिष्णु व्यक्ति कभी दूसरों में उद्वेग पैदा कर देने वाली वाणी नहीं बोलता **(अनुद्वेगकरं वाक्यम्)**। सदा सत्य, प्रिय व हित करने वाली वाणी का उच्चारण करता है। व्यर्थ-वार्त्तालाप का त्याग कर स्वाध्याय करने में प्रवृत्त रहता है। वाणी मनुष्य-जीवन की एक असाधारण विभूति है। इसकी ओट में ही दुनिया के समस्त खजाने छिपे पड़े हैं। वाणी पर जिसने विजय प्राप्त कर ली, वह व्यक्ति सम्पूर्ण समाज का प्रिय हो जाता है। सामान्य मनुष्य की वाणी प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त होती रहती है। कुछ भी घटना सामने उपस्थित होती है, वाणी के द्वारा झट उसकी प्रतिक्रिया (अच्छी या बुरी) व्यक्त कर दी जाती है। किसी ने हमारी निन्दा की, हम भी तुरन्त वही करने लगते हैं। किसी ने हृदय को छील डालने वाले शब्दों का प्रयोग किया, दूसरा व्यक्ति भी उसी स्तर पर पहुँच जाता है। ऋग्वेद के ज्ञान-सूक्त में वाणी के विजेता के लिए जिन तेजस्वी शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे अपने आप में बेजोड़ हैं। पाठकों के दिग्दर्शन के लिए वहाँ से एक मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।। (ऋग्० १०.७१.२)

जैसे सत्तू को छलनी से छानकर प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार धीर (ध्यानवान्) पुरुष मन के द्वारा वाणी को छान-छानकर उच्चारण करते हैं। अर्थात् बोलते समय उनके मन को पता होता है कि जो शब्द मुख से निकल रहे हैं, वे कहीं अनावश्यक तो नहीं हैं। मन्त्र में मन को तितउ स्थानी समझना चाहिए। तितउ (छलनी) हानिकारक चीज को अपने पास ही रख लेती हैं। उसी प्रकार मन (ज्ञान-शक्ति) उन्हीं शब्दों को बाहर निकलने दे, जो लाभकारी हैं। हानिकारक शब्दों को अपने पास ही रख ले। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने कहा है कि कोई एक विरला ही इस वाणी के रास्ते में सफल हो पाता है (**एकगम्यो वाग्विषयः**)। वे लोग जो वाणी के मित्र बन जाते हैं, उनकी वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी का निवास हो जाता है। भाष्यकार ने एक अन्य श्लोक के द्वारा भी वाणी की प्रशंसा में बहुत अद्भुत बात कही है -

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।।

जो व्यक्ति वाणी का प्रयोग करने में कुशल है, वह विशेष व्यवहार-काल में शब्दों का यथावत् प्रयोग करता है, ऐसा व्यक्ति अनन्त जय को प्राप्त कर लेता है; और जो बोली की भूल करते रहते हैं, वे दूषित होते रहते हैं।

पारिवारिक, सामाजिक या मित्रों के बीच पारस्परिक अशान्ति के जो-जो भी कारण हैं, उनमें वाणी का अनन्य स्थान है। इसलिए इस विषय में व्यक्ति को विशेष रूप से सहिष्णु होने की आवश्कता है। जीवन जब परस्पर सम्बन्धों में अशान्त हो, तो उस स्थिति में आनन्द की क्या कल्पना की जा सकती है! आनन्द तो शान्ति के धरातल पर ही अभिव्यक्त होता है। व्यक्ति को सदा ध्यान रखना चाहिए-

आक्रोष्टारं निर्दहति। श्रोता पापैः प्रमुच्यते।।

आक्रोश करने वाले के प्रति आक्रोश नहीं करना चाहिए, चुपचाप सहना चाहिए। इससे श्रोता का कल्याण होता है और आक्रोष्टा स्वयं ही अपने पापों से नष्ट हो जाता है। यह भी कहा गया है- **आक्रोष्टारश्च नः सन्तु क्षन्तारश्च भवामहै।** अर्थात् हम पर आक्रोश करने वाले बने रहें और हम उन्हें सहन करते रहें। वाणी के विषय में नीतिकारों ने कहा है—

यदीच्छसि वशीकर्त्तुं जगदेकेन कर्मणा। परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारयेत्।।(चाणक्यनीति १४.१४)

यदि तुमसे कोई पूछे कि ऐसा कोई एक काम बताओ जिससे समस्त संसार को वश में किया जा सके, तो वह काम है परनिन्दारूपी खेती में विचरण करती हुई वाणी रूपी गौ को रोक कर रखना। वेद के **'स्वाद्मानं वाचः'**, मनु के **'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'**, भारवि कवि के **'सत्यं हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'** तथा अथर्ववेद के 'मधु-सूक्त' ने तो वाणी के माधुर्य के विषय में मधु की ही वर्षा कर दी है-

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः।।(अथर्व० १.३४.३)

वाणी के सहिष्णु व्यक्ति में ये सब बातें होनी ही चाहिएँ। भर्तृहरि ने कहा है- ''मनुष्य की

बहादुरी की परीक्षा वाक् संयम में होती है"। सचमुच दूसरों के कठोर वचनों का प्रत्युत्तर जो सहिष्णुता के रूप में देते हैं अर्थात् विष बुझे वाणी रूपी बाणों को वीर योद्धा की तरह सह लेते हैं, वे अद्‌भुत पराक्रमी इस धरती के वन्दनीय पुरुष हैं। जब व्यक्ति सह नहीं पाता है तो प्रतिक्रिया उगलना प्रारम्भ कर देता है। सह लेने पर तो सर्वथा शान्त ही रहता है।

कदाचित् कोई व्यक्ति कठोर वचनों का प्रत्युत्तर वाणी से न दे, पर अन्दर-अन्दर क्रोध में जलता रहे तो कहा जाएगा– उस व्यक्ति ने वाणी को तो सह लिया, लेकिन मन के स्तर पर सहिष्णुता की साधना में अनुत्तीर्ण हो गया। आनन्द की ओर प्रस्थान के लिए की गई इस महायात्रा में मन और इन्द्रियों के विषय में सहिष्णु होना तो और भी आवश्यक है। मन व इन्द्रिय-वेगों को सहने से ही मनुष्य का मनुष्यत्व से देवत्व में पदार्पण होता है। काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-अहङ्कार, ईर्ष्या-द्वेष के जो भाव व्यक्ति के मन में उठते हैं तथा इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के प्रति जो आकर्षण होता है, उन समस्त वेगों को सहे बिना अध्यात्म की यात्रा एक इंच भी आगे नहीं बढ़ती। आनन्द का घर तो अभी बहुत दूर है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। मन व इन्द्रियों के वेगों को सह लेने का यह अर्थ कदापि नहीं है, जैसा प्रायः लोक में स्थूल रूप से बाह्य प्रतिक्रिया के अभाव को ही 'सह लेना' मान लिया जाता है, बल्कि मन में या इन्द्रियों में किसी भी आन्तरिक प्रतिक्रिया का सर्वथा न होना ही वास्तविक 'सहना' है। जब कोई भी आन्तरिक प्रतिक्रिया नहीं होगी तो बाह्य प्रतिक्रिया स्वतः रुद्ध हो जाएगी। पर बाह्य प्रतिक्रिया मात्र के रुद्ध होने से आन्तरिक प्रतिक्रिया का रुद्ध हो जाना आवश्यक नहीं।

सहने का अर्थ है अपने प्रतिद्वन्द्वी पर विजय। इतना सशक्त हो जाना कि शत्रु के द्वारा हिलाने से भी न हिल सके। पर लोक में प्रायः सहन करने वाले को अशक्त माना जाता है। यह बात आज की नहीं है। हजारों वर्ष पहले विदुर ने भी महाभारत में यही बात कही थी कि सहन करने में लोकदृष्टि से मात्र एक ही दोष है कि संसार इसे असमर्थता समझ लेता है। बाकी तो 'सहन करना' एक अर्थ में सैकड़ों गुणों रूपी रत्नों का खजाना है। लोक की अपनी दृष्टि हो सकती है, पर सहन करना या **सहिष्णु होने का वास्तविक अर्थ यही है कि अपनी शान्त-स्थिरता के द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत कर देना।**

महाभारत में शुकदेव के विषय में आता है कि जब वे राजा जनक के यहाँ उपस्थित हुए तो उनके स्वागत में उनकी परीक्षा के लिए राजा की ओर से कई नवयौवना सुन्दर स्त्रियों को नियुक्त कर दिया गया। जो उनके पास बड़े-से-बड़े तीर नाराच थे, उनका प्रयोग करने पर भी शुकदेव ने अपनी अनन्त सहिष्णुता का परिचय दिया, अपनी शान्त स्थिति में ही बने रहे। यह है काम के वेग को सहना। किसी के अन्दर यदि काम भाव जागरित हो गया और वह उसे लोक-लाज के भय से दबा रहा है तो फिर सहना कहाँ हुआ, यह तो उसकी पराजय हो गईं सहने में पराजय का कोई स्थान नहीं है। सहना है, तो पराजय नहीं और यदि पराजय है तो सहना नहीं। सहना और पराजय ये दोनों विप्रतिषिद्ध अर्थ हैं। यही बात क्रोधादि के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। मान लीजिए, क्रोध की दनादन वर्षा हो रही है। उस मूसलाधार वर्षा में भी चित्त अन्दर-ही-अन्दर मुस्कुराता रहा और उसकी

व्यर्थता को बराबर देखता रहा तो कहा जाएगा कि अमुक व्यक्ति ने क्रोध के वेग को सह लिया।

एक व्यक्ति उच्च पदाधिकारी है। उसके सामने लोभ की बाढ़ आई हुई है। लोग अपना-अपना कार्य करवाने के लिए करोड़ों रुपये रिश्वत के रूप में देने को तैयार हैं, पर उसका दृढ़ व प्रज्ञावान् मन एक क्षण के लिए भी आकृष्ट नहीं होता। अपने निज पुरुषार्थ से प्राप्त धन को ही वह अपना समझता है, बाकी के प्रति उसकी वही मनोवृत्ति है जो बैंक में या खजाने में रखे हुए धन के प्रति है, तो ऐसा महापुरुष कहलाएगा— लोभविजयी, लोभ के विषय में परम सहिष्णु। प्यारे-प्यारे, स्त्री-पुत्र-पौत्रों के बीच रहता हुआ भी कोई व्यक्ति उनसे अनाकृष्ट रहता है तो मोह के विषय में सहिष्णु कहलाएगा।

इधर एक व्यक्ति अनेक कलाओं व विद्याओं में पारङ्गत है। यह चाहे तो अपने मद व अहङ्कार का खूब प्रदर्शन कर सकता है पर उस स्थिति में भी विनम्र बना रहता है; और दूसरे ऐसे कुछ व्यक्ति हैं जो अपने अहं के द्वारा उसके अहं को दबाने का प्रयास कर रहे हैं, फिर भी वह व्यक्ति अपनी अपार सहिष्णुता का परिचय देता है। उन अहङ्कारियों के क्रिया-कलाप से अप्रभावित ही बना रहता है। उनकी तड़क-भड़क से इस सहिष्णु व्यक्ति पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

एक व्यक्ति है, जो बहुत गुणवान् है, इसके कुछ साथी इसके बढ़े हुए गुणों से बहुत ईर्ष्या-द्वेष करते हैं, पर यह इतना अद्भुत है कि एक क्षण के लिए भी अपनी सहिष्णुता को त्यागकर उनके स्तर पर खड़ा नहीं दिखाई देता। इसके दिव्य गुणों के प्रति इसके साथियों को बहुत असूया भी होती रहती है, पर इसके पास तो अपना एक ही मूल मन्त्र है— हर स्थिति में सहिष्णु बने रहना और अपने उन साथियों के प्रति कोई क्षुद्र प्रतिक्रिया न करते हुए अपने ही द्वारा अपने आप में सन्तुष्ट रहना।

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि सब स्तरों पर सहिष्णुता का अपार लाभ है। सहिष्णु व्यक्ति स्वभावतः शान्त व सन्तुष्ट रहता है। उसके चित्त में प्रतिकूल वायुमण्डल की तरङ्गें कोई हल-चल पैदा नहीं करतीं। वह किसी के प्रति हीन भाव या उपेक्षा भाव भी नहीं रखता। बस, अपने आप में चट्टान की भाँति अधिक-से-अधिक दृढ़ता बनाए रखने का प्रयास करता है। समस्त संसार को अपने-अपने स्वभाव के अनुसार गति करता हुआ देखता रहता है, इसलिए किसी के प्रति भी अपने मन में कोई शिकायत का भाव नहीं लाता। हर घटना या स्थिति को भगवान् के द्वारा भेजा अपने विकास का एक मौका समझता है और इस प्रकार उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

इस सन्दर्भ में श्री महाराज ने एक बार लेखक को अपने जीवन की एक घटना सुनाई थी कि सहन करने के परिणाम कितने उत्तम होते हैं। घटना काफी दिन पहले की है। आश्रम में अनार का एक बाग लगाया हुआ था। नूरगढ़ गाँव के किसी व्यक्ति का एक पेड़ पर पके सुन्दर अनार को देखकर मन चल गया। महाराज ने दूर से देखा कि अमुक व्यक्ति ने अनार तोड़ लिया पर महाराज ने देखकर भी उसे अनदेखा कर दिया। उस व्यक्ति को यह आभास ही नहीं होने दिया कि महाराज ने उसको देख लिया है। कुछ वर्ष बाद वही व्यक्ति अपने पुत्र के विवाहोत्सव के समय बताशों का थाल भरकर साथ में २५१ रुपये महाराज को भेंट चढ़ाने आया। महाराज अपने मन में विचार करने

लगे कि इतने तो उस अनार में दाने भी नहीं थे। इतना अधिक मूल्य क्यों चुकाया जा रहा है?

महाराज तो कहते ही हैं और अन्य भी कोई विचारशील व्यक्ति कल्पना कर सकता है- जिस समय उस व्यक्ति ने अनार तोड़ा था, यदि उसी समय उसकी इस त्रुटि को सहन न करके कुछ कहा-सुनी कर दी जाती, तो जीवन में कभी भी वह इस प्रकार श्रद्धायुक्त नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि और भी बड़ी हानि यह होती कि दोनों का हृदय प्रेम की जगह कटुता से भर जाता। जब भी वे कभी मिलते, तो वही अनार तोड़ने वाले व उसको डाँटने वाले दो व्यक्तियों का मिलन होता। और अब! दोनों का हृदय कितना प्रेम से भरा हुआ रहा! सो इस प्रकार व्यवहार में सहिष्णुता को जब-जब स्थान दिया जाता है, तो उसके कितने सुखद परिणाम होते हैं, यह कल्पना से परे की चीज है और इसे इस रूप में प्रतिदिन अनुभव करके देखा जा सकता है।

वैद्य-रोगी, पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र-मित्र, सास-बहू, पिता-पुत्र, ननद-भावज, ग्राहक-व्यापारी, स्वामी-सेवक, इन समस्त सम्बन्धों के माधुर्य का रस कोई लेना चाहता है तो उसे सहिष्णु बनना ही होगा। इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। इस विषय में विडम्बना यही है कि इसके महत्त्व का सबको अनुभव है, पर कोई इस महान् अनुभव का लाभ नहीं उठाना चाहता। छोटे बच्चों का अग्नि में एक बार हाथ जलने पर फिर वे किसी भी कीमत पर इस त्रुटि को नहीं दोहराते, पर ये बड़े 'बालक' इतने संवेदनहीन और विस्मृतिशील हो जाते हैं कि पुनः-पुनः उसी आग में हाथ डाल देते हैं जिसमें कुछ दिन पहले जलाया था और उसके महादुःख को भोगा था। जीवन को ध्यान से देखा जाए तो पता चलेगा कि छोटी-छोटी बातों को सहन न करने के कारण ही यह मानव-जीवन अपने अपूर्व सौन्दर्य को खो बैठा है। किसी व्यक्ति ने क्रोध क्यों किया? ईर्ष्या क्यों की? द्वेष क्यों किया? एक ही उत्तर मिलेगा कि वह सहन नहीं कर पाया। क्यों एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ तड़ातड़ सवाल-जवाब होने लगते हैं? कोई बात सहन नहीं हो पाती।

कल तक जिसे अपनी प्रियतमा कहता था और 'हम तो कई जन्मों से साथ-साथ चले आ रहे हैं' इस प्रकार की परस्पर घोषणायें की जा रही थीं, आज यह क्या हुआ, जो एक-दूसरे का मुँह तक नहीं देखना चाहते, सदा-सदा के लिए अलग होने हेतु कोर्ट में खड़े हैं? उत्तर स्पष्ट है कि एक-दूसरे के व्यवहार एक-दूसरे को सहन नहीं हो पाए। जहाँ-जहाँ भी इस 'असहिष्णुता' राक्षसी का पदार्पण होता है, वहीं दिल दहलाने वाले विनाशकारी दृश्य प्रस्तुत करती हुई यह अपना नग्न नृत्य प्रारम्भ कर देती है। इस महाविनाश से बचने का एक ही उपाय है कि इस क्रूर स्वभाव वाली चण्डी राक्षसी को सदा-सदा के लिए मौत के घाट उतार दिया जाए। जब तक यह राक्षसी जीवित रहेगी, किसी की शक्ति नहीं जो आये दिन होने वाली इन आत्महत्याओं जैसी पागलपन भरी दुर्घटनाओं को रोक सके। यह बीभत्स दृश्य देखने को मिलता ही रहेगा। क्या कभी किसी ने इस बारे में सोचा कि यह कोर्ट-कचहरी में इतनी भीड़ क्यों लगी रहती है? और भी देखिए-

एक युवक किसी दुकान पर पहले से ही खड़ा जूस पी रहा था। दूसरा आया और कहने लगा-

ओ! अपनी गाड़ी को एक तरफ कर, मुझे अपनी गाड़ी खड़ी करनी है। बस, दोनों वहीं झगड़ पड़ते हैं। बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि जो पहले से खड़ा था, उसने कहा- जरा शहर से एक बार बाहर चल, तब तुझे मजा चखाऊँगा। दोनों ही नगर से बाहर आ जाते हैं। सड़क के बीच में खड़ा होकर दूसरे ने कहा- ले! यहाँ खड़ा हूँ। कर ले, तेरे को जो कुछ करना है। दूसरा क्रोध में भरकर तुरन्त उस पर अपनी गाड़ी चढ़ा देता है जिससे उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती है। जरा सोचिए, यह सब क्या है?

एक महिला अपने जेठ के साथ झगड़ पड़ती है, कुछ अपशब्द भी बोल दिये, ठीक है उसकी यह गलती थी। पर, जेठ जी ने क्या किया? यह देखिए, वहीं एक लोहे की राड़ पड़ी थी, उसे उठाया और उसके सिर में दे मारा। थोड़ी देर बाद ही महिला ने अपने दो बच्चों को छोड़कर संसार से सदा के लिए आँखें मूँद लीं! कोर्ट केस बन गया। उस व्यक्ति को जेल जाना पड़ा। पैसे की अपार क्षति, सामाजिक बदनामी, ये सब तो बोनस के रूप में मिलना ही था। थोड़ा अपनी खुली आँखों से देखने का प्रयास कीजिए- ऐसा क्यों होता है? व्यक्ति की जो ऊर्जा, ज्ञान, विद्या, समय व शक्ति सृजन में लगनी चाहिए, वह केवल सहन न करने से कहाँ लगने लगती है? यही विचार करने की महत्त्वपूर्ण बात है।

स्यात् आप अपनी ओर से एक ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करेंगे- 'व्यक्ति को अन्याय का विरोध तो करना ही चाहिए। बेशक उसमें प्राण भी चले जाएँ और साथ में कितना भी दारुण दुःख झेलना पड़े। अन्याय को सहना कोई मर्दों का या बहादुर लोगों का काम नहीं, यह तो नपुंसकों व बुजदिलों का काम है'। चलिए! इस एक अपवाद को लेकर हम आपसे बहस नहीं करेंगे। पर जीवन और जगत् में जो हो रहा है, जितने लड़ाई-झगड़े, तू-तू, मैं-मैं, क्या वे सब न्याय-अन्याय को केन्द्र में रखकर हो रहे हैं या बिना सोचे-समझे क्षणिक प्रतिक्रियाएँ मात्र होती हैं, और तुरन्त ही वे सब चीजें व्यक्ति के 'अहं' से चिपक जाती हैं? फिर वे 'अहं' आपस में एक-दूसरे के नाश पर उतारू हुए मदमस्त खूनी हाथियों की तरह चिंघाड़ने लगते हैं। कारण? श्री महाराज कहते हैं- 'अहं' को इस संसार में किसी चीज से भय नहीं होता। बस! वह भयभीत होता है तो केवल एक ही बात से कि उसे झुकना न पड़े। युद्ध, झगड़ा, मृत्यु, दारुण दुःख किसी भी बिनह (शर्त) पर, किन्तु बस एकमात्र अपनी उत्पन्न हुई इच्छा की पूर्ति होनी चाहिए, फिर बाकी सब तो अहं के लिए गले के हार हैं। इन्हीं चीजों के सहारे तो वह जीवित है। सो सहन न करने में बात न्याय-अन्याय की नहीं है, वे प्रसंग तो जीवन में कम ही आते हैं। मूल बात है अहं की क्रियाओं को न समझना या यों कहें बेहोशी में जीना।

अहं क्या-क्या रूप धारण करके व्यक्ति में सक्रिय रहता है, इस ओर यदि किसी का ध्यान चला जाए तो ही सहन न कर पाने के पीछे छिपे हुए तथ्य को समझा जा सकता है। यही तो व्यक्ति का 'प्रमाद' है जो कि वह अपने ही बारे में अचेत रहता है। सनत्सुजात ऋषि ने महाभारत में इसी को 'मृत्यु' कहा है। हर क्षण जो विचार और भावनाएँ व्यक्ति के चित्त में उठती रहती हैं, उनके प्रति सचेत हो जाने का नाम ही 'अप्रमाद' है। चित्त की उस अप्रमाद अवस्था में मृत्यु या उसके द्वारा उपलक्षित अमङ्गल, अशुभ या पाप के लिए कोई स्थान नहीं है या नहीं रहता। जैसा कि पहले ही

कहा गया है, जब व्यक्ति अचेत-बेहोश या प्रमाद में होता है तो समस्याओं (Challenges) का प्रत्युत्तर नहीं दिया जाता, बल्कि प्रतिक्रियाएँ होती हैं और जब व्यक्ति पूर्ण होश में या सचेत अवस्था में अथवा अप्रमाद में होता है तो प्रतिक्रियाएँ (Reactions) न होकर समस्याओं का ठीक प्रत्युत्तर (Response) दिया जाता है। इसलिए मात्र इसी अवस्था में सहिष्णुता को स्थान मिल पाता है, अन्यथा असहिष्णुता राक्षसी का ही खेल चलता रहता है।

जैसा कि अन्य प्रसङ्ग में कहा है- सहन करने के विषय में महाराज एक बहुत ही व्यावहारिक बात कहा करते हैं कि जहाँ सहन करने की बात आए वहाँ उसके साथ **'कितना'** शब्द नहीं जोड़ना चाहिए। सहन में 'कितना' होता ही नहीं, सहन में तो बस सहना होता है। तब तक सहते जाना जब तक समस्या का समाधान न हो जाए। 'कितना सहें' यह विचार आते ही मन बहुत जल्दी थक जाता है, समस्या का सामना करने में टिक नहीं पाता। ऐसे मौकों पर आन्तरिक धीरज रखते हुए समस्या से निपटना होता है। वस्तुतः व्यक्ति सहन करने का महत्त्व कहाँ तक समझा है तथा असहनशीलता की व्यर्थता व उसके विनाशकारी परिणामों को कहाँ तक देख पाया है, सारी बात इसी दृष्टि पर टिकी हुई है।

एक तरफ सहन करने के कुछ लाभ हैं और कुछ हानि भी साथ में रख लीजिए, इसी प्रकार सहन न करने के अहंतृप्ति आदि कुछ लाभ हो सकते हैं और शेष हानियाँ। अब इन दोनों लाभ-हानियों का जैसा चित्र व्यक्ति के पास होगा, उसी के आधार पर वह आचरण करना चाहेगा। हो सकता है, प्रारम्भ में सहन करने का अभ्यास कम होने से या न होने से व्यक्ति को कठिनाई हो। वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण न कर पाए, पर अन्दर यदि सहिष्णु बनने की तीव्र इच्छा है तो वे पूर्व वाले विपरीत अभ्यास कब तक रास्ता रोकेंगे? हाँ! यदि सहिष्णुता की लाभ-हानि का चित्र भी व्यक्ति के पास धुँधला है और सहिष्णु बनने की इच्छा भी मन्द है, तब तो सफल हो पाना कठिन है। और यह नियम सहिष्णुता ही नहीं, बल्कि जो कुछ व्यक्ति प्राप्त करना चाह रहा है, उन सब विषयों में लागू होता है कि उस प्राप्तव्य विषय में उसके ज्ञान का स्तर कैसा है? वह उस विषय को कितना महत्त्व दे पा रहा है? उसको पाने के लिए उसकी चाह कितनी है?

सन्त महात्माओं से, शास्त्रों से या अपने अनुभवों से किसी विषय में प्राप्त बौद्धिक जानकारी को जीवन में ढालने का नाम ही अभ्यास है, और यही साधना है। केवल जानने मात्र से पुरातन चली आ रही कर्मधारा को कभी नहीं काटा जा सकता। उसके लिए अभ्यास भी करना होता है। अभ्यास से ही ज्ञान में वृद्धि होती है। मनुष्य को यह सौभाग्य प्राप्त है कि वह अपने ज्ञान व अभ्यास को जैसा बनाना चाहे बना सकता है। जिस दिशा में उनको मोड़ना चाहे मोड़ सकता है।

किसी विषय को पाने या उससे निवृत्त होने की व्यक्ति की इच्छा यदि तीव्र है तो अवश्य ही उसके साधकों और बाधकों की भी खोज की जाएगी। इच्छा मन्द होने पर व्यक्ति जैसा भी है उसी में बहता रहता है। **सहिष्णु होने के लिए शरीर व मन का शान्त व स्थिर होना सबसे अधिक सहयोगी है।** जिनका शरीर व मन दोनों हड़बड़ी (Haste) में रहते हैं, वे समस्याओं का प्रतिक्रियात्मक उत्तर

ही देते हैं, इसलिए असहिष्णु देखे जाते हैं। 'विदुरप्रजागर प्रकरण' में भी कहा गया है कि त्वरमाण (हड़बड़ी में रहने वाले) लोगों को धर्म का ज्ञान नहीं होता। किसी का तो स्वभाव ही त्वरमाण होता है, पर कई बार परिस्थितिवश शरीर व मन में त्वरा उत्पन्न हो जाती है। उस त्वरा में स्थित व्यक्ति के लिए जो भी बाधक होगा, वह उसे सहन नहीं करना चाहेगा।

किसी अध्यापक ने विचार किया, मुझे इतने दिन में इतना पाठ अवश्य पूरा करना है। इस संकल्प के कारण मन गति-शील हो गया। कोई व्यक्ति इस गति में बाधक बनने लगा तो वह अध्यापक यदि आन्तरिक रूप से अपने बारे में सचेत नहीं है तो अवश्य ही उस गतिरोध के कारण असहनशील हो उठेगा। एक और उदाहरण लीजिए। घर में देवी जी को भोजन पकाने की त्वरा है, पति को ऑफिस जाने की। पति अपने मोजे ढूँढ रहा है, पर मिल नहीं रहे। सब वस्तुओं को उलट-पुलट करने में जुटा हुआ है। गलती तो स्वयं ने की है, पर अब परिस्थितिवश मन असहनशील हो उठा है। देवी पर चिल्ला पड़ता है– क्या तुमने मेरे मोजे कहीं रख दिए? देवी भी कुछ त्वरा में है। इसलिए वह भी उसी स्वर में अपना उत्तर फेंक देती है– मुझे क्या मतलब? मैं किसलिए तुम्हारे मोजों को आग लगाती? दो व्यक्तियों में यदि एक भी सजग हो तो बात नहीं बिगड़ती। देवी यदि मन की शान्त स्थिति में हो और धीरे से आकर कहे– जरा देखिए, उधर तो कहीं नहीं रख दिए? इससे दोनों के ही आनन्द में वृद्धि होगी।

कहा जा सकता है कि **किसी भी प्रकार की अपेक्षा** व्यक्ति के सहिष्णु बनने में बाधक हो जाती है। काल की निश्चित सीमा में कार्य का पूरा होना भी एक अपेक्षा है। सो यदि वह कदाचित् पूरी न हो पा रही हो तो कष्ट तो होगा ही। व्यक्ति यदि परस्पर सम्बन्धों के बीच रहते हुए दूसरों से अपने लिए कुछ भी अपेक्षा न करे तो असहिष्णु होने का कोई हेतु शेष नहीं रह जाता। जब दूसरों से अपेक्षा कर ली जाती है कि अमुक व्यक्ति को ऐसे बोलना चाहिए या ऐसा व्यवहार करना चाहिए और वह अपेक्षा आग्रह सहित भी हो, तो उसके पूरा न होने पर कष्ट होना स्वाभाविक है। किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, स्थिति या विचार से दूसरे व्यक्ति में कष्ट उत्पन्न हो जाए तो इसका सीधा अर्थ यही तो है कि वह व्यक्ति उस वस्तु, व्यक्ति, घटना, स्थिति या विचार को सहन नहीं कर पाया। पहले ही यदि निरपेक्ष रहे तो फिर कष्ट होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार की **सहज स्वीकृति** से सहिष्णु बनने में पर्याप्त सहयोग मिल सकता है। उस अवस्था में आगे प्रतिक्रिया का क्रम चालू नहीं हो पाता। प्रतिक्रिया को समाप्त करने के और भी कई तरीके हैं। उन सभी उपायों पर एक-एक करके विचार किया जा रहा है-

१. अपने अन्दर प्रेम व करुणा का विकास- प्रतिक्रिया इसीलिए होती है कि हमें केवल हमारा 'स्व' दिखाई देने लगता है। दूसरे से हटकर हम अपने आप पर केन्द्रित हो जाते हैं। यदि अपने 'स्व' का इतना विस्तार कर दिया जाए कि कुछ भी पराया न रहे, तो अवश्य ही हमारी ओर से सब पर समान रूप से प्रेम व करुणा बहने लगेगी और हमारा मन कष्ट रूप प्रतिक्रिया नहीं उगलेगा। कई बार दाँतों से जीभ कट जाती है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो ऐसी स्थिति में दाँतों पर क्रोध करने लगे। आराम से सहन कर लेता है। कारण उसे पता है कि ये दाँत अपने ही हैं। माँ के थप्पड़ को बच्चा आसानी से सहन कर लेता है,

पर दूसरा कोई मार दे तो सहन नहीं होता। इसके पीछे भी वही तथ्य काम करता है कि माँ को वह अपना समझता है, दूसरे को वैसा नहीं समझता। या कभी आपने विचार करके देखा कि हमारे किसी अपकारी व्यक्ति ने हमें चोट मार दी और उतनी ही चोट किसी दूसरे प्रसङ्ग में हमारे अपने ही हाथ से हमें लग गई- समिधा काट रहे थे, कुल्हाड़ा उछलकर पैर में लग गया या सब्जी काटते समय चाकू से अंगूठा कट गया। स्पष्ट है- दोनों प्रसङ्गों में शारीरिक कष्ट समान होते हुए भी, बल्कि अपनी चोट का दर्द अधिक होने पर भी दूसरे के द्वारा पहुँचाई गई चोट अधिक दुःखप्रद होती है। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी चोट का तो कोई संस्कार ही नहीं बनता और दूसरे की चोट संस्कार के रूप में चित्त में बैठ जाती है, जिसके कारण उस व्यक्ति के प्रति पुनः-पुनः स्मृति उठती रहती है।

और भी देखिए अपने पराये का खेल- श्री महाराज के पिताजी एक बार अपने गाँव में घर बनाने के लिए नींव खोद रहे थे। उनके दूसरे भाई, जहाँ वे खोदना चाह रहे थे, वहाँ खोदने नहीं दे रहे थे। पिताश्री क्रोधित होकर अपने पुत्र को (श्री महाराज के दूसरे भाई को) आदेश देने लगे- अरे! एक लाठी लाना। पिताजी की यह बात माताजी को कहीं सुन गईं। वे अन्दर से बाहर आयीं और कहने लगीं- 'किन पर लाठी चलाओगे? वे भी तो अपने ही हैं'। बस माताजी की इतनी-सी बात सुनते ही सबका क्रोध (पिताश्री का भी और उनके भाइयों का भी) तत्क्षण शान्त हो गया। जो रोक रहे थे, वे भी यह कहकर चल दिये भाई! जहाँ तुम्हारी मर्जी है वहाँ खोद लो, अब हम कुछ नहीं कहते।

थोड़ा और विचार कीजिए। दूसरा कोई व्यक्ति किसी माता पर थूक दे, कितनी बड़ी आफत खड़ी हो जाएगी? क्या इसकी कल्पना की जा सकती है? पर ये बच्चे थूकते ही नहीं माता के ऊपर मल-मूत्र तक करते रहते हैं लेकिन किञ्चित् भी कष्ट नहीं होता। यदि किसी दूसरे के द्वारा थूकने पर भी माता अपने प्रेम को उसी रूप में जागरित रख सके कि 'अबोध बालक है (चाहे बेशक शरीर से वह कितना ही बड़ा हो) चलो थूक दिया' तो क्यों क्रोध आएगा। जहाँ 'प्रेम' होता है वहाँ 'स्व' नहीं होता। यह स्व (अहं) ही है, जिसे कोई भी बात (छोटी हो या बड़ी) सहन नहीं होती। **प्रेम का तो स्वभाव ही है- सहना।** इसी प्रकार 'करुणा' में भी असहिष्णुता को कोई स्थान नहीं। कोई व्यक्ति क्रोध में है, दूसरा व्यक्ति करुणा प्रेरित होकर यदि उसकी आन्तरिक जलन को देखने लग जाए तो **निश्चित रूप से जब तक करुणा रहेगी, क्रोध के रूप में प्रतिक्रिया न हो सकेगी। दूसरे के दुःख में उसके साथ एक रूप होने का नाम ही तो करुणा है।**

२. हास्य- किसी घटना को अपने विचार-बल से हास्य में परिवर्तित कर दिया जाए तो भी दुःखद प्रतिक्रिया रुक जाती है। कोई व्यक्ति हम पर क्रोध कर रहा है, अपशब्द बोल रहा है, या कोई आरोप लगा रहा है और उसे सुनकर हम अपने अन्दर-अन्दर हँसने लग जाएँ! सचमुच ऐसा करने के लिए व्यक्ति में असाधारण क्षमता का होना आवश्यक है, फिर भी असम्भव तो नहीं है।

३. अवधान- अवधान का अर्थ होता है- केवल देखना (Choiceless Observation)। दो-तीन शब्द हैं, उनके साथ तुलना करके अवधान को समझा जा सकता है। एक शब्द है 'आत्म निरीक्षण' (Self

Introspection), दूसरा है 'आत्मविश्लेषण' (SelfAnalysis)। घटना के साथ औचित्य-अनौचित्य का सम्बन्ध न जोड़कर, उसको ठीक या गलत न कहते हुए, यहाँ तक कि घटना को कोई नाम भी न देते हुए, देखने का नाम है 'अवधान'। निरीक्षण या विश्लेषण दोनों ही विचार के माध्यम से होते हैं जबकि अवधान में विचार नहीं होता। 'जो है' उसका अवलोकन होता है। कोई व्यक्ति क्रोध की आग में जल रहा है, बाहर भी वही आग बिखेर रहा है। यदि व्यक्ति इसका शान्त अवलोकन कर सके तो उस समय निश्चित रूप से किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया से मुक्त रहा जा सकता है। व्यक्ति को सहिष्णु बनाए रखने में यह बहुत सशक्त साधन है, पर अवधान के स्वरूप को समझना तथा यथा-अवसर इसका उपयोग लेना, यह व्यक्ति के स्वयं के अन्वेषण पर निर्भर करता हैं। कारण? अवधान मन की एक अवस्था विशेष है, जिसको दूसरे के द्वारा शब्दों में प्रकट किया जा सकना असम्भव है।

४. सदा प्रसन्न रहने का निश्चय- व्यक्ति अपने मन में यह निश्चय कर ले कि किसी भी कीमत पर मैं अपनी प्रसन्नता को नहीं बेचूँगा। चाहे इसके लिए मुझे कोई भी साधना करनी पड़े, दूसरे के समक्ष झुकना पड़े, अन्य किसी विशेष विचार का सहारा लेना पड़े, पर शान्त रहूँगा, तो प्रतिकूल घटना का प्रत्युत्तर सोच-समझकर दिया जाएगा।

५. एक क्षण रुकना- जब भी कोई घटना उपस्थित हो, तात्कालिक प्रतिक्रिया से अपने आप को बचाने का एक उत्तम साधन यह हो सकता है कि उस समय एक क्षण रुकने का अभ्यास किया जाए। एक क्षण रुकने का अर्थ है- होश में आ जाना। और अब इससे आगे होश में रहते हुए ही घटना का सामना किया जाए।

६. बौद्धिक समर्थन व असमर्थन- किसी भी विषय का बुद्धि के द्वारा पुनः-पुनः समर्थन या असमर्थन करते रहने से अभ्यास के लिए सौविध्य होता जाता है। सहिष्णुता के लाभ व असहिष्णुता की हानियाँ अपने ही द्वारा अपने को बार-बार सुनाते रहने से मन उस विषय को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है और आगे वैसा ही आचरण करना चाहता है।

७. वैज्ञानिक विश्लेषण- यह संसार का घटना-चक्र तो जैसे इसे चलना है, वैसे ही चलेगा। जिसको मैं बदल सकता हूँ उसे शान्ति के साथ बदल लेना चाहिए, पर जिसे नहीं बदल सकता उसके लिए क्यों व्यर्थ चिन्ता की जाए! सब मनुष्यों के अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव हैं। उनके अनुसार उनकी जीवन-धारा चल रही है। उनके स्वभावों के साथ मैं अपने स्वभाव को क्यों मिलाऊँ? जैसे कोई व्यक्ति मेरे दोष बता रहा है, तो अवश्य ही बिना कष्ट माने मुझे अपने में सुधार कर लेना चाहिए, बल्कि साथ में हृदय से उसका धन्यवाद भी करना चाहिए कि वह द्वेषपूर्वक ही सही, पर मुझे अच्छा बनाना चाहता है। उसकी निन्दा से मेरे पापकर्मों का क्षय तो हो रहा है। द्वेषी को सहन न करते हुए मैं भी द्वेषी बन जाऊँ- यह तो बहुत ही निचले स्तर की बात है। संसार में यही तो हो रहा है। फिर साधक और असाधक का भेद कहाँ रहा? यही तो अवसर है, जब परीक्षा की घड़ी उपस्थित होती है।

यदि अकस्मात् कोई बिना दोष के हमारे दोष बताता है, उसमें सहन न करने की कोई बात

नहीं होनी चाहिए। कारण, किसी के द्वारा कुछ शब्द अन्यथा बोलने मात्र से कोई कैसे दोषी हो सकता है? बल्कि उस व्यक्ति का तब भी धन्यवाद ही करना चाहिए जो कि उसने मेरी सहिष्णुता की परीक्षा के लिए एक मौका और दिया। पहले ही कहा गया है, किसी प्रतिकूल घटना या परिस्थिति में शरीर या वाणी को प्रतिक्रिया से जैसे-तैसे बचा भी लिया जाए, पर यदि मन उसको सहन नहीं कर पा रहा, बराबर दुःखी होता चला जा रहा है तो यही समझना चाहिए कि सहन नहीं हो पाया। **कारण, मन ही मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। मन की सहनशीलता ही सच्ची सहनशीलता है।**

गीता में कहा गया है कि किसी काम को शरीर, वाणी या इन्द्रियों में तो रोक दिया जाए, पर मन उसका चिन्तन करता रहे तो यह 'मिथ्याचार' है, 'पाखण्ड' है।

८. **प्रार्थना**- अपने अन्दर विद्यमान परमगुरु जिसको संसार के विभिन्न लोग विभिन्न नामों से याद करते हैं- अन्तर्यामी, पथप्रदर्शक, अग्नि, इन्द्र, वायु, विष्णु, ब्रह्म, शिव, नारायण, श्रीराम, श्रीकृष्ण, दुर्गा, लक्ष्मी इत्यादि, उस चिन्मय शक्ति से **'ओम् सहोऽसि सहो मयि धेहि'** इस प्रकार की सतत प्रार्थना से भी सहनशक्ति ही नहीं, बल्कि व्यक्ति जो कुछ चाहता है, जिस-जिस चीज के लिए अभीप्सा करता है, उस सबका अवश्य ही अनुकूल प्रत्युत्तर (Positive Response) मिलता है। प्रार्थना का अर्थ है 'पुकार'। पुकार यदि सच्ची है, यदि वह हृदय से (हमारी सत्ता के केन्द्र से, बहुत ही गहराई से) निकली है, तो कभी व्यर्थ नहीं जाती। केवल किन्हीं शब्दों की आवृत्ति (Repetition) का नाम प्रार्थना नहीं है, यह सदा याद रखना चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप निम्न श्लोक में सुन्दर प्रकट हुआ है-

अजातपक्षा इव मातरं खगाः, स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा, मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।। (श्रीमद् भा० ६.११.२६)

जैसे पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपनी माँ की बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर रहते हैं और जैसे कोई वियोगिनी देवी अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शन के लिए छटपटा रहा है। ऐसा ही एक और भी श्लोक है-

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं, सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं, सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।। (श्रीमद् भा० १०.२.२६)

प्रभो! आप सत्यसंकल्प हैं। सत्य ही आपकी प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। सृष्टि के पूर्व, प्रलय के पश्चात् और संसार की स्थिति के समय इन असत्य (परिवर्तनशील) अवस्थाओं में भी आप सत्य हैं। पृथिवी-जल-तेज- वायु-आकाश इन पाँच दृश्यमान सत्यों के आप ही कारण हैं और आप ही उनमें अन्तर्यामी रूप से विराजमान भी हैं। आप इस दृश्यमान जगत् के परमार्थ स्वरूप हैं। आप ही मधुर वाणी व समदर्शन के प्रवर्त्तक हैं! भगवन्! आप तो बस सत्यस्वरूप ही हैं। हम सब आपकी शरण में आये हैं।

वेद के देखने से तो ऐसा लगता है जैसे वैदिक मन्त्रों से प्रार्थना का झरना ही फूट पड़ा है। पाठक यदि वैदिक मन्त्रों की प्रार्थनाओं का रस लेना चाहें तो महर्षि दयानन्द की **'आर्याभिविनय'** और

आचार्य अभयदेव की **'वैदिक विनय'** पुस्तक का स्वाध्याय करें। सामवेद तो पूरे-का-पूरा प्रार्थना गीत ही है। प्रार्थना में प्रार्थी का प्रार्थनीय के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति-प्रेम-समर्पण होना अति आवश्यक है। 'उसके बिना मेरा इस संसार में कोई सच्चा सखा-सुहृद्-माता-पिता-भ्राता-गुरु-आचार्य-राजा नहीं है'- **'त्वमेव सर्वं मम देवदेव'** इस आन्तरिक मनःस्थिति के बिना प्रार्थना के रूप में उच्चारित ऊँचे-से-ऊँचे शब्द चिक्कण स्थान पर पड़े पानी की तरह बह जाते हैं। वैसी प्रार्थनाओं से कुछ लाभ नहीं मिलता, बल्कि हानि होने की सम्भावना रहती है। व्यक्ति का 'अहं' बढ़ जाता है, जिसके कारण दूसरों के प्रति हीन दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादि नवधा भक्ति में अन्तिम 'आत्मनिवेदन' है। वही प्रार्थना का सच्चा स्वरूप है। वेद कहता है-

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भर्दं करिष्यसि।
तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः।। (ऋग्० १.१.६)

हे मेरे अङ्गों के रस! मेरे जीवन के प्रकाश! जिसने अपने आपको तेरे हाथों में सौंप दिया है, उसका तू निश्चित रूप से कल्याण ही करेगा, ऐसा तेरा सत्य व्रत है। मुझे अब यह पूर्ण निश्चय हो गया है।

'नास्य क्षीयन्त ऊतयः' उस प्रभु की रक्षायें अनन्त हैं। ऐसी निश्चयता की स्थिति में ही आत्म-निवेदन का कुछ अर्थ है। व्यक्ति जब अपने आप को एक बड़ी शक्ति के द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ समझता है, तो छोटी-बड़ी बाह्य घटनायें बहुत ही तुच्छ प्रतीत होती हैं और इसलिए वह शान्त बना रहता है।

६. आत्मसम्प्रेषण (Auto Suggestion) - आत्म-सम्प्रेषण एक बहुत ही सशक्त क्रिया है। इसके द्वारा व्यक्ति जो कुछ बनना चाहता है, बन सकता है। यदि किसी चीज से व्यक्ति अपना पीछा छुड़ाना चाहता है पर शरीर, मन व इन्द्रियों के पिछले अभ्यास बाधक बन रहे हैं तो उस अवस्था में आत्म-सम्प्रेषण के द्वारा पर्याप्त सहयोग लिया जा सकता है। व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा है, छिछला है, तुरन्त असहनशील हो उठता है। उसने यह भी अनुभव कर लिया है कि यह अच्छा स्वभाव नहीं है, इसलिए मैं इसे बदलना चाहता हूँ। रूपान्तर के लिए ऐसी आन्तरिक चाह उत्पन्न होने पर आत्म-सम्प्रेषण की अव्यर्थ क्रिया का सहारा लिया जाता है।

उसका तरीका यह है कि शवासन में लेटकर या बैठे-बैठे शरीर को एकदम जड़वत् कर दिया जाए जैसे कोई पत्थर पड़ा है। मन में चल रहे विचारों को भी जितना बन सके ढीला कर दिया जाए। यदि पूर्ण निश्चल-नीरव रहा जा सके तो अति उत्तम हो। उस खाली मन की स्थिति में कम-से-कम दो मिनट तक धीरे-धीरे अपने ही द्वारा अपने को पूर्ण विश्वास के साथ विधि-निषेध पूर्वक वह-वह सुझाव देना होता है जिसकी इच्छा की जा रही है अथवा जिसको हटाने का संकल्प कर लिया गया है।

जिस चीज की इच्छा है उसको तो 'मैं यह हूँ' तथा जिसको हटाना है उसे 'मैं यह नहीं हूँ' इस रूप में अपने मन को सुनाना होता है। जैसे- 'मैं अनन्त सहनशील हूँ', 'मैं पूर्ण शान्त हूँ', 'मैं भगवान् का पुत्र हूँ', 'संयम का मूर्त्त रूप हूँ', 'मैं जितेन्द्रिय हूँ', 'मैं क्रोधरहित हूँ', 'मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ', 'मैं निर्लोभ हूँ', 'मैं अभय हूँ', 'मैं विनयसम्पन्न हूँ', 'मैं निरपेक्ष, निःस्पृह, अकाम हूँ', 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव

हूँ', 'मैं असङ्ग हूँ,' 'मैं साक्षात् नररूप में नारायण हूँ' 'मैं जातवेदा हूँ' 'मैं उत्तम पुरुष=पुरुषोत्तम हूँ' 'मैं महाबलशाली इन्द्र हूँ' 'मैं आर्य= ईश्वर पुत्र हूँ' 'मैं अमृत पुत्र हूँ (अमृतस्य पुत्रः)' इत्यादि। दूसरी तरफ 'अब मैं पहले वाला व्यक्ति नहीं रहा,' 'पूर्णरूप से बदल गया हूँ', 'शारीर व मानस रोगों से सर्वथा मुक्त हो गया हूँ', 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेष मुझमें कुछ भी नहीं रहा', 'असहिष्णुता सदा-सदा के लिए समाप्त हो गई है', 'अब मुझमें किञ्चित् भी मानसिक प्रमाद नहीं है या नहीं रहा' इत्यादि।

इनका तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यों का उच्चारण केवल मन में करना है। वाणी को नहीं हिलाना है। ये सुझाव देते समय अत्यन्त सतर्क रहना है। कदाचित् उस समय प्रमादवश यदि कोई विपरीत बात आ गयी तो उसका भयंकर दुष्परिणाम होगा, इसलिए दो-तीन मिनट तक पूर्ण स्थिर चित्त से यह क्रिया सम्पन्न करनी है। दिन-भर में पचास बार या सौ बार जितना अधिक-से-अधिक किया जाएगा, उतना ही अधिक लाभ होगा। यह आवश्यक नहीं कि यह क्रिया करते समय आँखें बन्द ही हों। खुली आँखें भी रख सकते हैं। ऑफिस में कुर्सी पर बैठे हैं, वहीं थोड़ा अवकाश मिलते ही दो मिनट के लिए इस मुद्रा में पहुँचा जा सकता है।

मूल बात यह है कि इस क्रिया को करते हुए शरीर व मन को स्थिर रखें। शेष सब बातें, बैठकर करना या लेटकर करना या किसी स्थान विशेष या काल विशेष में करना, ये सब गौण हैं, इन सबका कोई नियम नहीं है। जीवन-प्रवाह में जब भी कभी किसी विषय में प्रमाद हो जाए या अपने आप को जो सुझाव दिये जा रहे हैं, उनसे विपरीत आचरण हो जाए तो धैर्य छोड़कर निराश होने की आवश्यकता नहीं है, आत्मनिन्दा या पश्चात्ताप करने की भी आवश्यकता नहीं है। बल्कि तुरन्त उसी शान्त मुद्रा में पहुँचकर उस विषय को यह कहते हुए धो डालना चाहिए कि 'वस्तुतः मेरा स्वरूप यह नहीं है, मेरा सच्चा स्वरूप तो वही है जो मेरे इस अस्तित्व की गहराई में शान्त, स्थिर व पूर्ण सन्तुष्ट है, जो सदा अपरिवर्तनशील, निर्विकार व शुद्ध है'। यह आत्म-सम्प्रेषण की क्रिया इतनी सरल, सहज व सशक्त है कि कोई भी इसका आसानी से प्रयोग करके देख सकता है व लाभ उठा सकता है। यह लम्बा ध्यान लगाने की तरह कठिन नहीं है कि जिसे कुछ व्यक्ति ही कर पाते हैं।

प्रार्थना व आत्म-सम्प्रेषण में भेद यह है कि प्रार्थना एक पुकार है कि मुझे अमुक चीज चाहिए। आत्म-सम्प्रेषण पुकार नहीं है बल्कि अपने-आपको बहुत गहराई तक अनुभव करना है कि 'मैं यह हूँ', 'यह नहीं हूँ'। अब आप स्यात् (शायद) यह पूछना चाहेंगे कि जब हम वैसे हैं नहीं तो वैसा अनुभव कैसे करें? व्यवहार में तो क्रोधी हैं, असहनशील हैं और अनुभव करने लग जाएँ कि मैं शान्त हूँ, मैं सहनशील हूँ? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक रूप से मनुष्य **'गुह्य ब्रह्म'** है। जैसा कि वेदव्यास ने महाभारत में कहा है-

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।(शा०पर्व १८०.१२)

कितना भी बड़े-से-बड़ा पाप, स्खलन या अशुभ क्यों न हो, मनुष्य के अमरत्व को कुछ देर के लिए ढक तो अवश्य सकता है, पर उसे नष्ट नहीं कर सकता। दैवासुर संग्राम या इन्द्र-वृत्र के

युद्धों की आख्यायिकाओं के माध्यम से यही रहस्य प्रकट किया गया है। कभी-कभी मेघ सूर्य को यहाँ तक ढक लेते हैं कि दिन में ही अन्धकार हो जाता है, पर उस समय भी सूर्य का तेज कहीं चला नहीं जाता, बराबर उस अँधेरे को पार करने के लिए प्रयास करता रहता है।

सो प्रकृत में भी हम वास्तव में सूर्य की तरह ज्योतिःस्वरूप हैं, पर बीच-बीच में शरीर, मन व इन्द्रियों के आसुरी-भाव रूपी मेघ भी ज्योति के सामने आते रहते हैं। आत्मसम्प्रेषण के द्वारा उस आन्तरिक ज्योति या प्रकाश को ढाँपने वाले इन हीन, दुर्बल व निकृष्ट भाव रूपी मेघों को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है। 'मैं पूर्ण हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं ज्योति हूँ', 'मैं शुद्ध ज्ञान हूँ', 'मैं पूर्ण बल हूँ', 'मैं आनन्द हूँ', 'मैं प्रेम हूँ', 'मैं करुणा हूँ', इत्यादि भावना रूपी हवा के झोंकों से 'मैं अपूर्ण हूँ', 'मैं तुच्छ हूँ', 'मैं निर्बल हूँ', 'मैं अशक्त हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ', इत्यादि रूप में आत्म-ज्योति के समक्ष आये धूलि कणों को सहज में ही उड़ा दिया जाता है। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपने आपको क्रोधी या असहनशील होते हुए भी यह सुनाता है कि 'मैं शान्त हूँ, मैं अनन्त हूँ, मैं सहनशील हूँ' तो उसके पीछे यही भाव काम करता रहता है कि अशुभ या पाप या चाञ्चल्य मुझ चिन्मय तत्त्व में नहीं है। ये सब तो मेरे बाहरी दिखावे में प्रतीत होने वाले क्षणिक बुलबुले हैं। अब मैं अपने बाह्य व्यक्तित्व में भी उसी अन्तःप्रकाश को फैलाना चाहता हूँ। पानी के ऊपर आयी हुई इस काई को हटाकर स्वच्छ निर्मल जल के समान जो मेरा वास्तविक स्वरूप है, उसी को देखना चाहता हूँ।

यद्यपि कुछ साधक 'मैं दीन-हीन-पापी-पतित-अधम व नीचातिनीच हूँ' इस साधना-पद्धति से भी उस परम सत्य तक पहुँच जाते हैं, पर वह प्रक्रिया अलग है। किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कई मार्ग हो सकते हैं। अपने को दीन-हीन समझकर जब साधक साधना के मार्ग में आगे बढ़ता है, तो वहाँ अपने से बड़ी शक्ति को मानकर उसके हाथों में अपने आप को डाल देना होता है। बच्चा चाहे मल-मूत्र में कितना भी सना हुआ हो, माँ के लिए तो वह कभी भी घृणा का पात्र नहीं होता। बल्कि माँ का ध्यान उस अवस्था में तो सब काम छोड़कर बच्चे पर ही केन्द्रित हो जाता है। वह उसे तत्काल उठाती है, सर्वथा स्वच्छ कर देती है। इसी प्रकार जो साधक अपने को अकिञ्चन, असहाय मानकर भगवान् को पूर्ण समर्पित हो जाते हैं तो फिर शुद्धि-अशुद्धि की जिम्मेदारी भगवान् पर आ पड़ती है। निश्चित ही इस अवस्था को प्राप्त साधक क्योंकि अपनी कोई भी अतिरिक्त इच्छा नहीं रखते, इसलिए उनका रास्ता भी निरापद रहता है।

साधकों की रुचि व प्रकृति के भेद से वे दोनों ही मार्ग इष्ट फलदायक हैं। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है कि मैं शान्त स्वरूप हूँ, मैं महान् हूँ, मैं ज्योतिःपुञ्ज हूँ, मैं पूर्ण हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं सत्य हूँ, मैं ज्ञान हूँ और दूसरी तरफ नेति-नेति से कहें तो मैं शरीर नहीं हूँ, मैं विकारयुक्त नहीं हूँ, मैं परिवर्तनशील नहीं हूँ, मैं निर्बल नहीं हूँ, मैं क्रोधी नहीं हूँ, मैं चञ्चल नहीं हूँ, मैं असहिष्णु नहीं हूँ, मैं मोही नहीं हूँ, मैं वासनामय नहीं हूँ, मैं क्षुद्र नहीं हूँ, मैं तुच्छ नहीं हूँ, मैं अस्वस्थ नहीं हूँ इत्यादि रूप में साधना करने वाले साधक अपने मन को शनैः-शनैः क्षुद्रभाव से हटाकर महान् भाव से युक्त

कर लेते हैं। समस्त विकार ही तो क्षुद्र भाव हैं। विकार ही अशुद्धि है। यही मर्त्य भाव है। इसके विपरीत निर्विकार अवस्था ही महद्भाव या भूमाभाव है। इस प्रकार इस आत्मसम्प्रेषण की प्रक्रिया से अपने तुच्छ स्वरूप से उठकर भूमाभाव को प्राप्त कर लिया जाता है। स्पष्ट है, इन साधकों की समस्त साधना 'मैं' को पकड़कर चलती है। शास्त्रीय शब्दावली में इसका नाम ज्ञान-मार्ग है।

दूसरी प्रक्रिया है 'भक्ति-मार्ग'। ये साधक 'तू' को पकड़कर साधना करते हैं। भक्ति-मार्ग में अपने को दीन-हीन-असमर्थ-निर्बल-अज्ञानी-पतित-अधम इत्यादि मानते हुए भगवान् के सहारे सम्पूर्ण यात्रा तय करनी होती है। ऊपर जो प्रार्थना विषय के बारे में लिखा गया, इसी पद्धति में अर्थात् इसी भक्ति-मार्ग में उसकी मूल्यता है। जो 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसा कह रहा है वह फिर किसलिए किसी से प्रार्थना करेगा? प्रार्थना तो अपूर्ण की ही पूर्णता के लिए माँग हो सकती है या हुआ करती है। इन प्रार्थनाओं के द्वारा अपने दुर्गुणों, दुर्व्यसनों व दुःखों की निवृत्ति के लिए अपने से भिन्न जो 'सर्वथा पूर्ण, शुद्ध, पवित्र व आनन्द स्वरूप है', उसे पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है। लेकिन ज्ञान-मार्ग में साधक को अपनी स्वयं की आन्तरिक पूर्णता को बार-बार याद करना होता है क्योंकि वह अपनी अन्तर्निहित पूर्णता को बार-बार भूलता रहता है। वस्तुतः दोनों मार्गों का अन्त एक ही है- शुद्धि-मुक्ति-ज्ञान-बल-आनन्द-अभय व पूर्ण स्वतन्त्रता।

पृथक्-पृथक् दो मार्ग होते हुए भी प्रायः सभी साधक यथासमय दोनों ही मार्गों का उपयोग लेते रहते हैं। जब वे भगवान् के स्तोत्र पाठ गा रहे होते हैं या हृदय से प्रेम की हिलोरें उठ रही होती हैं तो वे भक्त होते हैं और जब वे ही कभी अपने शान्त स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं तो ज्ञानी होते हैं। भक्ति के लिए द्वैत चाहिए (**द्वैतं भजनहेतवे**), मैं और मेरा भगवान्। पर ज्ञान में अद्वैत होता है '**अहं ब्रह्माऽस्मि**' या '**सोऽहम्**' अथवा साधक जब यह प्रार्थना करता है कि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जा (**यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम्।**) तो उसी अद्वैत स्थिति में पहुँचने की इच्छा प्रकट कर रहा है।

यहाँ सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार में तो सदा द्वैत ही है। **अहं ब्रह्माऽस्मि, सोऽहम्, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म**- ये सभी कथन व्यवहार-अवस्था से सम्बन्धित नहीं हैं, बल्कि जब साधक बाहर से अपने को खींचकर अपनी अन्तःसत्ता में चला जाता है तो उस भावमय विशेष अवस्था का ये सब वाक्य बोध कराते हैं। उस अवस्था में जाने के बाद जब वहाँ से निकलकर बाहर आते हैं तो इन वाक्यों में उस अपनी पूर्व समाधि-स्थिति की अनुभूतियाँ कही गई हैं। अब जब कि काम-क्रोध-लोभ-मोह-असहिष्णुता आदि क्षुद्र भावों का आक्रमण होता है तो इन उपर्युक्त अनुभूतियों के सहारे जैसे ही व्यक्ति अपने असली स्वरूप को स्मरण करता है तो तत्काल शान्त हो जाता है। मृत्यु-प्रमाद-पतन-अशुद्धि से बच जाता है। मन के समक्ष उसका अपना असली अमृत रूप सामने आ जाता है।

आनन्द-प्राप्ति के अभिलाषी व्यक्तियों को सहिष्णुता रूप अपना पहला कदम मजबूती से गाड़ना होता है, जिसकी विस्तार से ऊपर चर्चा हुई है। किसी भी उपाय से जो भी उसकी पहुँच के भीतर है, साधक का सबसे आवश्यक काम यही है कि अपने अन्दर और बाहर चल रही इस तमाम उथल-पुथल को सहने में समर्थ हो जाए।

आनन्द-प्राप्ति की **दूसरी सीढ़ी है- 'समता';** अथवा यों कहना चाहिए कि सहिष्णुता ही अपनी परिपक्व अवस्था में समता में परिणत हो जाती है। सहिष्णुता के बिना समता को अधिगत नहीं किया जा सकता। सहिष्णुता कारण है और समता उसका फल। समता का यही तो अर्थ है कि व्यक्ति के समक्ष जो भी घटना या स्थिति उत्पन्न हो (अनुकूल या प्रतिकूल) उसमें अडोल बना रहे, इधर या उधर चलायमान न हो। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति उन-उन घटनाओं या परिस्थितियों को सहने में समर्थ हो जाए। तराजू का काँटा समता की सर्वोत्तम व्याख्या है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, इष्ट-अनिष्ट, आकर्षण-विकर्षण, अपना-पराया, मेरा-तेरा, हमारा-तुम्हारा, हर्ष-शोक, अनुकूल-प्रतिकूल, जय-पराजय, भूख-प्यास, जीवन-मरण, प्रिय व्यक्ति-वस्तु या विचार का संयोग-वियोग, अप्रिय व्यक्ति-वस्तु या विचार का संयोग-वियोग, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, यदि इन समस्त रूपों को तराजू के दो पलड़ों के रूप में देखा जाए तो समता का अर्थ होगा- किसी भी पलड़े का एक तरफ न झुकना, दोनों पलड़ों का बराबर तुल जाना। जब इस प्रकार दोनों पलड़े तुल जाते हैं तो तराजू के बीच का काँटा स्थिर हो जाता है, न इधर झुकता है और न उधर।

जीवन है तो व्यक्ति को इन द्विविरुद्ध भावों का सामना चाहे-अनचाहे करना ही पड़ता है। सामान्यतः यही होता है, जो भी भाव प्रबल होकर जब व्यक्ति पर झपट पड़ता है तो उसकी फटफेड़ (चपेट) में आया हुआ व्यक्ति अपने हौसले खो बैठता है। अर्थात् उस-उस भाव का बढ़ा हुआ वेग व्यक्ति को अपने अधीन कर लेता है और इस प्रकार व्यक्ति का मन उस भाव के साथ बह जाता है या बहने लगता है। बस यही है जीवन रूपी तराजू के मनरूपी काँटे का एक तरफ झुकना। लेकिन जब व्यक्ति का मन सहिष्णु हो जाता है तो राग-द्वेषादि के वेग को सह लेने के कारण उनके साथ बहता नहीं और इसलिए बीच में स्थिर बना रहता है। इस प्रकार तथ्य का विश्लेषण करने से ज्ञात हुआ कि सहिष्णुता से ही मन की समता का जन्म होता है।

महाभारत में एक कथा आती है कि एक तुलाधार ने जाजलि मुनि को धर्म की शिक्षा दी। कथा में कहा गया है कि तुलाधार सदा अपने मन को समता में रखने के लिए तराजू को प्रतीक बनाकर लोगों के साथ अपने सब व्यवहार किया करता था। ऐसा करते-करते उसने धर्म के गम्भीर रहस्य को प्राप्त कर लिया। उसकी दुकान पर चाहे कोई परिचित आता या अपरिचित, बच्चा या बूढ़ा, पुरुष या महिला, उपकारी या अपकारी, सबके साथ राग-द्वेष रहित होकर समान व्यवहार करता। किसी दिन वस्तु विक्रय कम होता और किसी दिन ज्यादा दोनों ही अवस्थाओं में अपने मन को एक समान रखता। ग्राहकों को शान्त मन से वस्तुओं का भाव बता देता। किसी ग्राहक के द्वारा सामान खरीदने पर उसे किञ्चित् भी खुशी नहीं होती तथा न खरीदने पर कष्ट नहीं होता। चाहे कोई उसके माल को खराब बताता या प्रशंसा करता, उसका उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। समस्त भूतों के प्रति अद्रोहभाव से जीविका साधन में तत्पर तुलाधार के द्वारा बोले गये सुन्दर शब्द इस प्रकार हैं -

तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले। (शान्ति पर्व २६२.१०)

गीता में श्री कृष्ण के द्वारा अर्जुन को आदेश दिया गया –

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। (२.४८)

हे अर्जुन! आसक्ति का त्याग करके सिद्धि और असिद्धि में सम होकर अपने अवसरप्राप्त कर्त्तव्य कर्मों को करते जाओ। समता ही योग है। गीता में अन्यत्र **'समोऽहं सर्वभूतेषु', 'निर्दोषं ही समं ब्रह्म'** इत्यादि वाक्यों में भगवान् का 'सम' रूप में वर्णन किया है। जैसे भगवान् 'सम' हैं, उनका भक्त भी समस्त घटनाओं या परिस्थितियों में 'सम' बना रहता है।

व्यक्ति के 'सम' हो जाने पर न तो वह आत्म-निन्दा करता है और न आत्म-प्रशंसा। हीनता और अहंता दोनों से ही ऊपर उठ जाता है। न अपने को किसी से विशेष समझता है, न अविशेष। उसमें न अधीरता होती है और न ही आवेश। न तो वह किसी घटना या परिस्थिति से दूर भागता है, न उसकी ओर। बस उसका मन अपनी पूर्ण शान्त व अचञ्चल स्थिति में अवस्थित रहता है। उस व्यक्ति का जीवन सबके लिए कल्याण-कारक हो जाता है। चहुँ दिशाओं में सहज शान्त सौरभ बिखेरने लगता है। वह व्यक्ति प्रसन्नता का मूर्त्तरूप हो जाता है।

किसी भी प्रकार का आकर्षण या विकर्षण व्यक्ति के मन को अपनी तरफ खींचकर उसके शान्त रूप से उसको हटा देता है। उसके साथ ही मन में तुरन्त हलचल पैदा हो जाती है। यहीं से समता का टूटना आरम्भ हो जाता है। कोई सुशब्द, सुरूप, सुस्पर्श, सुस्वाद, सुगन्ध या फिर कोई अन्य अभीष्ट मनोकामना, व्यक्ति के चित्त को हठात् आकृष्ट कर अपने साथ एकीभूत कर लेती है। व्यक्ति आत्मविस्मृत-सा होकर उस-उस घटना के साथ तदाकार हो जाता है और फिर रात-दिन उसी के बारे में सोचने लगता है। यह आवश्यक नहीं कि अनुकूल विषय में ही ऐसा होता हो। प्रतिकूल के द्वारा भी चित्त अपने आपको खो बैठता है। किसी व्यक्ति ने किसी को शारीरिक, वाचिक या मानसिक कोई गहरी चोट पहुँचा दी। अब चित्त बार-बार उसी का चिन्तन करता रहता है। उस विचार को व्यक्ति हटाना चाहता है पर घूम-फिरकर पुनः-पुनः वही विचार सामने आ जाता है।

किसी व्यक्ति ने किसी की कोई प्रिय वस्तु चुरा ली तो न जाने कितने दिनों तक अब उसी का ध्यान आता रहता है। किसी प्रिय व्यक्ति का वियोग तथा अप्रिय व्यक्ति का संयोग भी इसी प्रकार व्यक्ति के चित्त को उद्विग्न कर देता है। किसी प्रकार का भय भी चित्त को विषम करने वाले कारणों में प्रमुख स्थान रखता है। जो कुछ व्यक्ति के पास अच्छे-से-अच्छा होता है मान-सम्मान, लोक-प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र-परिवार, मित्र, सर्विस, सत्ता, जीवन, इन सबके बिछुड़ जाने की आशंका का नाम ही तो भय है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि व्यक्ति जिन चीजों को नहीं चाहता जैसे अपमान, भयानक जीव-जन्तु, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, शत्रु, मृत्यु, निर्धनता, रोग, शोक, पाप, पतन, अमंगल, दुर्बलता इत्यादि, इन सबकी प्राप्ति की सम्भावना ही भय है। मिथ्याचरण (अन्दर कुछ, बाहर कुछ), समस्त कुटिल जीवन, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, इन अशुभ व्यवहारों से

भी व्यक्ति में भय का जन्म हो जाता है। फिर उसके कारण मन अशान्त रहने लगता है। किसी भी समाज की मर्यादाओं के विरुद्ध आचरण करने से भी मन की समता टूट जाती है। मन को क्लान्त करने में अपेक्षाओं का भी बहुत बड़ा हाथ है। जहाँ कटुता भरी बातें व्यक्ति के मन को जलाती रहती हैं, वहाँ आसक्ति-पूर्ण मधुर स्मृतियाँ भी चित्त को खूब झूला झुलाती हैं।

अन्त में कहना होगा कि अहङ्कार का कोई भी रूप जैसे ही जाग उठता है, मन अपनी सम-स्थिति को छोड़कर उसी के साथ मिलकर एक हो जाता है। जो चाहते हैं कि प्रत्येक स्थिति में हमारा मन शान्त बना रहे, उन्हें मूल रूप में इस अहङ्कार की कुटिल गतियों का धैर्य पूर्वक निरीक्षण करते रहना होगा, तो ही इस विषय में अनुकूल परिणाम प्राप्त किये जा सकेंगे, क्योंकि अहङ्कार है तो अवश्य ही कामनायें भी हैं। उसकी अपनी आग्रहपूर्ण माँगें भी हैं और कामनाओं या उन-उन आग्रह सहित माँगों के रहते कहाँ मन की शान्ति और कहाँ मन की समता? सो इस प्रकार आनन्द की ओर प्रस्थान की गयी इस महायात्रा में व्यक्ति को पहले अपने महान् प्रयास और अभीप्सा के द्वारा जैसे भी हो, समता को प्राप्त करना होता है।

ज्यों ही व्यक्ति का मन समता में दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित हो जाता है, इसका अवश्यंभावी परिणाम **'आनन्द'** के रूप में परिवर्तित हो जाता है। सहिष्णुता का काम है व्यक्ति को समता तक पहुँचा देना और आगे समता का काम है व्यक्ति को आनन्द तक पहुँचा देना। गहरा ध्यान, सजगता, सतत आत्म-स्मृति, आन्तरिक जागरूक चेष्टा के द्वारा व्यक्ति जो कुछ करता है, वह सब-का-सब प्रयास सीधा आनन्द प्राप्त करने में निमित्त नहीं बनता, बल्कि उस सबके द्वारा केवल मन की समता को साधा जाता है। समता के सध जाने पर आनन्द तो उसका सहज स्वाभाविक फल है। व्यक्ति के अपने प्रयासों की जो पहुँच है वह समता पर्यन्त ही है। यहाँ पहुँचने पर वैयक्तिक प्रयासों का अन्त हो जाता है। कल्पना की जा सकती है कि वह व्यक्ति इस धरती का कितना सौभाग्यशाली होगा जिसका मन समस्त द्वन्द्वों में, विषम परिस्थितियों में, अपमान व तिरस्कार में, घृणा और वैमनस्य में, सोने की चमक और यौवन की दमक में, सम्मान व वैभव की लहरों में, निन्दा और स्तुति में, हानि और लाभ में, हर्ष व शोक में, सुख व दुःख में, सफलता और विफलता में पूर्ण धीर, गम्भीर, शान्त व अचञ्चल बना रहे! इसी का तो नाम है 'पूर्ण जीवन'।

इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए संसार के समस्त सचेतन मनुष्य अपने-अपने ढंग से महान् पुरुषार्थ करने में जुटे हुए हैं। कितने ही लोगों ने इसे सिद्ध कर दिखाया है और वर्तमान में भी दिखा रहे हैं कि ये सब बातें कोरी कल्पनायें नहीं हैं बल्कि सर्वथा मनुष्य की पहुँच के भीतर हैं। कठिन प्रयास तो सदा अपेक्षित है ही, इसका कौन निषेध कर सकता है? जिन्हें ठीक दिशा मिल गयी है और तमाम बाधाओं के रहते हुए भी जिन्होंने इस दुर्गम पथ पर चलने का एकतरफा निश्चय कर लिया है, कोई भी बड़ी-से-बड़ी असफलता जिनके उत्साह और धैर्य को नहीं तोड़ पा रही, एक शब्द में, जो चाह में या अपनी प्यास में पूर्ण सच्चे हैं, वे देर-सवेर अपने संकल्पित लक्ष्य पर अवश्य ही पहुँच जायेंगे, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं है।

१७. अपनापन रखना प्रभो!

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे।। (ऋग्० ८.९८.११)
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।। (ऋग्० १.१.९)

महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन के पास एक जिज्ञासु आता है। वैज्ञानिक महोदय को इसने अपनी सेवा से सन्तुष्ट कर उनका हृदय जीत लिया है। जिज्ञासु सदा-सदा के लिए अपने बन गये हैं। एक शास्त्रों के गूढ़ अभिप्राय को जानने वाले महान् आचार्य हैं। सर्वशास्त्र निष्णात हैं। सरस्वती इनकी वाणी पर सदा नृत्य करती है। इनके बहुत से अन्तेवासी हैं, पर एक ने सदा स्खलन-रहित प्रिय आचरण के द्वारा अपने आचार्य के मन को विशेष रूप से आकृष्ट कर लिया है। आचार्य देव इनको सदा 'मेरा प्रिय अन्तेवासी' कहकर पुकारते हैं। इधर एक विश्व विजयी टेनिस खिलाड़ी हैं। इनका अभ्यास कराने के लिए एक व्यक्ति सदा इनके साथ रहता है। इसके निःस्वार्थ प्रेम और त्याग ने टेनिस चैम्पियन को असाधारण रूप से मोह लिया है। ये अपने साथी को सदा ही My Beloved Friend कहकर पुकारते हैं।

इधर एक अरबपति श्रेष्ठी हैं। इनकी प्रतिदिन एक करोड़ रुपये की Sale है। इनका एक विश्वास पात्र Manager है, जिसके सहारे इन्होंने औद्योगिक जगत् में इतनी प्रतिष्ठा पायी है। उद्योगपति सदा उसे अपना दायाँ हाथ स्वीकार करते हैं। श्रेष्ठी महोदय इसके समर्पण-भाव से सदा ही अति प्रसन्न रहते हैं। और देखिए ये एक बहुत चर्चित अभिनेता हैं। इनके साथ रहने वाला इनका यह प्रिय मित्र है। अभिनेता महोदय जहाँ भी जाते हैं, इनके मित्र भी इनके साथ ही रहते हैं। ये इन्हें अपना दूसरा हृदय (**द्वितीयमिव हृदयम्**) जैसा समझते हैं। और भी देखिए, ये प्रशान्त व सोम्य मुद्रा में लीन श्री महाराज बैठे हैं। इनका एक प्रिय विद्वान् शिष्य है। वह इनके प्रति अतीव श्रद्धालु व भक्तिमान् है। इस शिष्य पर इनकी सदा ही कृपा-वृष्टि होती रहती है।

अपने-अपने क्षेत्र के इन विविध अग्रणी लोगों का आपने परिचय पाया। उनके समीप रहने वाले प्रिय मित्र, सेवक, सहायक व शिष्यों का भी विस्तृत ब्यौरा प्राप्त किया। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि इन महान् आत्माओं या शिरोमणि पुरुषों के निकटस्थ लोगों को क्या कुछ मिल सकता है? उन पूज्य लोगों की प्रसन्नता पाकर ये लोग अपने जीवन के किन-किन अभावों को पूरा कर सकते हैं या पूरा कर रहे हैं? क्या आप इस बात को सोच सकते हैं? क्या आप यह भी कल्पना कर सकते हैं कि यदि वे आज इन महापुरुषों के निकट न होते तो उनकी क्या स्थिति होती? क्या इस सबको देखकर इस विषय में आपके मन में कोई चित्र बना है कि अपने से किसी उच्चतर शक्ति का अनुग्रह प्राप्त करने के क्या नियम हैं? और वह अनुग्रह हमारा किस रूप में सहयोगी होता है?

जैसे संसार में उच्च पद-धन-बल-विद्या व गुण प्राप्ति की इच्छा से व्यक्ति को उस-उस विषय के अधिकारी (Authority) के साथ सम्बन्ध स्थापित करना होता है, वैसे ही काम, क्रोध, लोभ, मद, मोहादि शत्रुओं से अपने को बचाने के लिए दिव्य ज्ञान, सहज बल और अखण्ड मनःसमाधि या मनःशान्ति की

स्थिति में सदा अपने आपको बनाए रखने के लिए व्यक्ति को उस करुणामय भगवान् का प्रिय पात्र बनना होता है। श्री महाराज एक बार सन्त तुलसी की ऐसी ही दो-तीन पंक्तियाँ उच्चारण कर रहे थे कि **"एक बार करुणामय कह दे, तुलसी दास मेरो।"** अर्थात् एक बार उसकी ओर से यदि 'मेरा' इस रूप में मुझको स्वीकार कर लिया जाता है, तो फिर मेरी समस्याओं को दूर करने की जिम्मेदारी उसकी हो जाएगी। इसलिए सन्त तुलसीदास दूसरी जगह प्रार्थना करते हैं- **'अपनापन रखना मेरे घनश्याम।'**

मैं भगवान् से और कुछ भी नहीं चाहता, सिवाय इसके कि वे मेरे प्रति 'अपनापन' बनाए रखें। मेरी ओर से जो करना है वह तो इतना ही है कि भगवान् में मेरी अनन्य निष्ठा, अविचल श्रद्धा, दृढ़ भक्ति, पूर्ण प्रेम व उसके प्रति सतत-उद्घाटन बना रहे। माँ के प्रति बच्चे की जैसी निर्भरता होती है, वैसा मैं भगवान् को अपना आश्रय समझूँ। मैं हृदय से ऐसा उच्चारण कर सकूँ, **'सियाराम बिन दुःख कौन हरे। दीनों का पालन कौन करे।।'** भक्त के द्वारा जो दुःख दूर करने की बात कही जाती है उसके माध्यम से 'दुःख देने वाले कारणों से भगवान् मुझे बचाओ'- ऐसा कहा जाता है। दुःख देने वाले कारणों में प्रमुख कारण धन, काम-सुख (विषय सुख) व शक्ति (Power) के प्रति आकर्षण कहा जा सकता है।

इन तीनों के प्रति आसक्ति होने से जो इन तीनों को कम या अधिक हमारे लिए उपलब्ध कराने में सहयोगी हैं, अनुकूल हैं, उनके प्रति राग और जो प्रतिकूल हैं उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होकर दुःख की शृंखला चालू हो जाती है। राग के कारण उस इच्छित प्रिय वस्तु व व्यक्ति के वियोग में दुःख होता है। इसी प्रकार द्वेषवश अप्रिय की प्राप्ति होने पर दुःख होता है। इस सबके मूल में रहने वाला अज्ञान तो सभी दुःखों का कारण है ही। सब प्रकार के भयों से भी दुःख मिलता रहता है। किसी भी कारण से मन का चञ्चल हो जाना, यह भी दुःख का एक कारण है। इस प्रकार दुःख के जो भी कारण हो सकते हैं, उन सबसे बचने के लिए भगवान् को स्मरण किया जा रहा है।

साथ में हे करुणानिधान! जो मैंने जाने या अनजाने में भूलें की हैं, तेरे सत्य नियमों को तोड़ा है, उसका तो मुझे फल अवश्य मिले, पर मुझे ऐसी शक्ति दो जिससे मैं उन कष्टों को सहर्ष स्वीकार कर सकूँ। मेरे धैर्य का बाँध न टूटे। अनन्त सहनशील बनकर चट्टान की तरह अविचल खड़ा रह सकूँ। किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्रकार का भय मुझे न सताए। सदा ही हर पल, हर घड़ी, हर अवस्था में निर्भय बना रहूँ। और एक बात- आगे के जीवन में तेरे सत्य नियमों का उल्लंघन करने का एक क्षण के लिए संकल्प भी न उठे। हे करुणामय! इसी रूप में तेरा सहयोग चाहता हूँ। मेरी कोई भी प्रार्थना कोई भी आत्मनिवेदन श्रम और तप से जी चुराने के लिए नहीं है, बल्कि तेरे ऋत नियमों के पालन करने से मेरी बुद्धि में सदा ज्ञान का प्रकाश बना रहे, इतनी ही चाह है।

भक्त लोग इसी भाव से भगवान् से निवेदन, प्रार्थना या समर्पण करते हैं कि वे हमें अपना समझें, जैसे माँ बच्चे को अपना समझती है। जिससे प्रतिपल उनका मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सके। जिसके फल स्वरूप प्राप्त दुःखों का सहन व भावी दुःखों का निवारण हो सके।

१८. अरस्तु और सिकन्दर

धन्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्।। (वाग्भट्ट)
स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्। अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः।।
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्।। (मनु० २.२१३-२१४)
इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या। तद्दुष्टज्ञानम्। अदुष्टं विद्या। (वै० दर्श० ६.२.१०,११,१२)

अरस्तु और उनके शिष्य सिकन्दर के बीच घटी एक घटना महाराज सुनाया करते हैं, जो इस प्रकार है- अरस्तु अपने शिष्य सिकन्दर को प्रायः स्त्रियों से सावधान रहने के लिए शिक्षा दिया करते थे कि राजा को इस विषय में कभी मार नहीं खानी चाहिए।

उधर एक युवति सिकन्दर से विवाह करना चाहती थी। उसे पता चला कि उसकी इस इच्छा में गुरुजी अरस्तु बाधक बन रहे हैं। युवति को किसी के माध्यम से पता चला कि अरस्तु कर्णरस प्रेमी हैं। वह स्वयं एक अच्छी गायिका थी ही। सो उसने एक उपाय निकाला। अरस्तु के आश्रम में जाकर किसी एक गाने की टेक गुनगुनाने लगी। अरस्तु भी युवति के द्वारा गाये जा रहे गाने की उस पंक्ति को ध्यान देकर सुनने लगे। कुछ देर सुनने के बाद स्वयं ही उसके पास जाकर सम्पूर्ण गाना सुनाने के लिए प्रार्थना करने लगे। युवति तो ऐसा चाह ही रही थी। उसने झट सुना दिया। अरस्तु ने कहा- अच्छा! कोई एक गीत और सुनाओ। महिलाओं को तो भगवान् की ओर से या कुदरत की ओर से इस बात का सहज बोध होता है कि पुरुषों की कमजोरी क्या है? और उन्हें कैसे वश में किया जा सकता है? सो अब युवति ने अवसर का लाभ उठाया और यह कहते हुए गाना बन्द कर दिया कि अच्छा अब और कल। सिकन्दर भी प्रायः अपने गुरु से मिलने के लिए आता रहता था। रास्ते में युवति की सिकन्दर से भेंट होनी ही थी। युवति ने कहा कि कल आप एक तरफ छिपकर देखना, आपके गुरुजी क्या खेल खेल रहे हैं?

अगले दिन निश्चित समय पर सिकन्दर छिपकर खड़ा हो गया। उधर युवति ने अपना गाना प्रारम्भ किया। एक गाना पूरा होने पर अरस्तु की ओर से और भी माँग की जाने लगी। इन्द्रियाँ तो विषयों को पाकर और-और की रट लगाना शुरू कर ही देती हैं। अग्नि घी की आहुति से बुझे, तो इन्द्रियाँ भी विषयों से शान्त होवें। जितना-जितना अरस्तु सुनने के लिए व्यग्र होने लगे, युवति को भी अपनी मनोकामना पूरी होती हुई दिखाई देने लगी। युवति ने कहा- देखो! और तो मैं तब सुना सकती हूँ, जब आप घोड़ा बनें, आपके मुँह में घोड़े की तरह ही लगाम डली हुई हो, और मैं आपके ऊपर सवार के रूप में बैठी हुई होऊँ।

हाय! विषयों की मार कितनी बुरी है? ज्ञानी पुरुष भी कितना जल्दी बहक जाता है? किसी भी

इन्द्रिय के विषय को पूरा करने के लिए अपने समस्त आदर्शों को, उस समस्त वस्तु को जो परम पवित्र है तथा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करती है, तुरन्त बलि चढ़ा देता है। अपने उस उच्च वैभव को भुला देता है, जिसको उसने बहुत वर्षों तक परिश्रम करके अर्जित किया था। क्षणिक सुख के लिए अनन्त सुख को ताक पर रख देता है। विशुद्ध अमृत को छोड़कर हलाहल विष मिश्रित मधु को चाटने लगता है। अपनी उस गौरवपूर्ण गाथा को भुला देता है जिसके कारण हजारों लोगों का श्रद्धास्पद बना हुआ होता है। परिणाम में हृदय को छेद डालने वाले तीक्ष्ण शूल भी विस्मृत हो जाते हैं। चित्त की शान्ति से उत्पन्न परम सुख को छोड़कर उत्तेजन भरे परम चञ्चल सुख की तरफ लपक पड़ता है।

कहाँ चले जाते हैं इसके वे सभी उपदेश जो कितने ही भ्रान्त लोगों को राह दिखाया करते थे। कहाँ चली जाती है इसकी दृढ़ता जो कभी पर्वत की तरह अकम्पित दिखायी देती थी। कहाँ चली जाती है इसकी धीर-गम्भीर वाणी जो गिरे-से-गिरे लोगों में भी जान डाल देती थी! कहाँ चला जाता है उसका वो पौरुष जो कभी सिंहों और हाथियों को भी उलट देता था। सचमुच जिस व्यक्ति ने लम्बी-चौड़ी सैकड़ों पुस्तकें लिख डाली हैं, जो ज्ञान का समुद्र जैसा लगता है, वह भी इन विषयों के समक्ष बहुत ही सरलता से घुटने टेक देता है। वर्षों प्रचण्ड कठोर साधना के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि अब प्रतिपल सजग रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य शरीर के द्वारा कितने अद्‌भुत पराक्रम कर दिखाता है- सुनते ही चक्कर आने लगते हैं, पर फिर भी विषयों की तरफ से सदा-सदा के लिए सोये हुए शुकदेव जैसे ज्ञानियों के ज्ञान की महिमा बताने के लिए कहाँ से कोई उपमा लायी जाए!

वस्तुतः मनुष्यों के लिए विषयों पर पूर्ण विजय प्राप्त करना सबसे गौरवशाली कार्य है। जिसने इस एक काम को कर दिखाया, चाहे उसने लोकोपकार के लिए कुछ भी न किया हो- एक शब्द भी किसी को कुछ न सिखाया हो, तो भी उसने इस समष्टि के लिए बेमिसाल कार्य कर दिखाया है। जीवन की गम्भीरतम और उच्चतम उपलब्धियों को प्राप्त करने का मार्ग उद्‌घाटित कर दिया है। यों तर्क के द्वारा किसी भी विषय को काट डालना तो बहुत सहज है कि ऐसे ब्रह्मचर्य का क्या लाभ जिससे लोक का कुछ उपकार ही नहीं हो रहा? उस व्यक्ति से अच्छे तो ये पेड़-पौधे हैं जो कम-से-कम छाया-फल-फूल तो देते हैं। ये बातें वे लोग ही कह सकते हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्य के रास्ते पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया है। अन्यथा वे ऐसी उथली बात कभी नहीं कहते। इस प्रकार के कुतर्क प्रस्तुत करने वालों को क्या कहा जाए? ऐसे लोगों के समक्ष तो मौन धारण करना ही अच्छा है।

क्या विषयों से पूर्ण वैराग्य यों ही हो जाता है? क्या उसके लिए मन का सदा सर्वदा अत्यन्त सुस्थिर होना आवश्यक नहीं है? और क्या यह मन बिना विशिष्ट ज्ञान, साधना और उपाय के बस सामान्य रूप से विचार कर लेने मात्र से ही शान्त हो जाता है? क्या ऐसा नहीं है कि मन को सर्वथा शान्त रखने के लिए या तो व्यक्ति पूर्ण ज्ञानी हो, चित्त को सदा निरुद्ध रख सकने की विद्या में पारङ्गत हो या फिर अपने इष्ट देव के प्रति ऐसा पूर्ण समर्पित भक्त हो, जिसके हृदय सागर

से अहर्निश उठती भक्ति-तरङ्गों ने सब कुछ को ऐसा सुवासित कर दिया हो कि जिसकी दिव्य महक के सामने बड़े-से-बड़े लुभावने विषयों की अनुपम गन्ध भी फीकी पड़ जाए? यद्यपि विषयों पर विजय पाने के लिए 'सेवा' को भी उपाय बताते हैं, पर यह तो ज्ञान और भक्ति का ही एक भाग है। इनसे अलग हटकर कोई पृथक् स्वतन्त्र साधन नहीं है। भक्त लोग या ज्ञानी पुरुष सेवक तो होते ही हैं।

कहना अनावश्यक है कि विषय के प्रलोभन के समक्ष अरस्तु ने अपना सिर झुका दिया। अपने मन को यह कहकर समझा दिया कि चलो मेरा क्या बिगड़ता है? ऐसे ही सही। मनुष्य दूसरों को धोखा देने के लिए तो थोड़ा प्रयास भी करता है, पर अपने आप को धोखा देने के लिए कुछ उपाय ही नहीं करना पड़ता। केवल अपने मन को अपने अन्दर ही धीरे-से कोई बात सुनानी होती है। अरस्तु युवति के प्रस्ताव को स्वीकार कर घोड़े के रूप में अपने शरीर को झुका लेते हैं। मुख में लगाम की तरह एक रस्सी डाल दी जाती है। युवति उनके ऊपर बैठ जाती है व विद्वान् अरस्तु, जिसने अपने जीवन में लगभग ४०० पुस्तकें लिखीं, स्यात् इतना लम्बा-चौड़ा साहित्य कोई न लिख पाया हो, लगभग सब विषयों पर अपनी लेखनी चलायी, ऐसा वह अरस्तु घुटनों के बल घोड़ा बना हुआ चल रहा है। युवति बीच-बीच में ऊपर से धीरे-धीरे चाबुक मार रही है।

इतने में ही वहीं पर छिपकर यह सब दृश्य देख रहा सिकन्दर सामने आता है और कहता है- गुरुजी! यह क्या? गुरुजी ने जो उत्तर दिया वह सभी साधकों द्वारा ध्यान देने योग्य है। अरस्तु ने कहा- यह वही है, जिसके लिए मैं आपको सावधान करता रहता था। आप ही यह सोच लो, जब मेरा यह हाल है तो तुम्हारा क्या होगा?

यह घटना रोदिन के द्वारा प्रकट की गई कलाकृति जिसका उन्होंने नाम दिया है- शाश्वत प्रतिमा (Eternal Idol), की याद दिलाती है। इसकी चर्चा शील-सौरभ प्रबन्ध में विस्तार से कर दी गई है। इसके अतिरिक्त अपने प्राचीन धर्मग्रन्थ मनुस्मृति में मनु महाराज के द्वारा इन्द्रियों को लक्ष्यकर कुछ महत्त्वपूर्ण सन्देश दिये गये हैं, वे भी मूर्त्तिमान् हो उठते हैं। वे कहते हैं-

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्।।(मनु० २.९८)

सब इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त होने लगती है तो उसी के कारण इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है जैसे कपड़े या चमड़े के बर्तन=मशक में छिद्र होने से सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार-

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।।(मनु० २.९३)

चाहे जो कोई हो, इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसंदेह दोषी हो जाता है और उन दस इन्द्रियों को वश में करने के पश्चात् ही सिद्धि को प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के भी दूसरे अध्याय के

स्थित-प्रज्ञ प्रकरण (२.५५-७२) में इन्द्रियों के स्वभाव पर और उनके निग्रह पर महान् बल दिया गया है। मनु एक अन्य प्रसंग में कहते हैं- माँ, बहन, बेटी के साथ भी एकान्तवास न करें **(बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति)**। यद्यपि यह कथन अर्थवाद के रूप में ही है, केवल मात्र तात्पर्य इन्द्रियों के सन्दर्भ में सदा सावधान रहने में है क्योंकि सामान्य रूप से तो माँ-बहन-बेटी के साथ व्यक्ति को यही पता नहीं होता कि वह किसी स्त्री के साथ है।

*****

- ☞ जब हम किसी सुदूर के **सत्यं शिवं सुन्दरम्** के दर्शन-स्पर्शन-पूजन को जाते हैं तो यह परम सत्य है कि हमारे इस आगमन के मूल में उस पूज्य चरण का आकर्षण ही हमें यहाँ तक लाया है। अपने अन्दर के सत्य को कुछ दूर जाकर पूजने की यह आदत पुरातन है।
- ☞ यह भी परम सत्य है कि वह करुणामय अपने भक्त को अपने से बहुत दूर विपदा, संकट, दैन्य अभावों और यातनाओं के बीहड़ कंटकाकीर्ण कलल में फेंकते हैं; ताकि उसमें छटपटाहट, व्याकुलता और मिलन की भूख जगे और हर घटक का रस लेते-लेते नेति-नेति से मेरी ओर आए और मेरा स्तन्यपान करे।
- ☞ वृत्ति= इसका केन्द्र नहीं, परिधि अनन्त।
- ☞ ये अवस्थाएँ करुणामय ने इसलिए दी हैं कि हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर उतरना सीख कर बल-विवेक-श्रद्धापूर्वक अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय कोषों से आरोहण की शिक्षा ले सकें।
- ☞ ये सब योनियाँ नित्य नियत विश्व-न्याय और नियमों के अन्तर्गत एक ठोस और निरपेक्ष स्तर हैं।
- ☞ त्याग (वैराग्य) का प्रयास ही त्यागी के मार्ग का कंटक है।
- ☞ अपनी विशेष कृपा से वह करुणामय भौतिक अनुकूलताओं में वैराग्य प्रदान करता है।
- ☞ भगवत्परिनिष्ठितबुद्धि ही 'शम' है। भागवत कर्म ही 'निष्काम कर्म' है।
- ☞ कर्म का विहित नियन्त्रण धर्म है।
- ☞ वासना का विहित नियन्त्रण 'उपासना' है।
- ☞ वृत्ति का विहित नियन्त्रण 'योग' है।
- ☞ आसन से द्रव्य शक्ति को, प्राणायाम से क्रिया- शक्ति को और प्रत्याहार से विविध ज्ञानात्मक इन्द्रिय-शक्ति को समाधिस्थ किया जाता है।
- ☞ यम-नियम की स्थिरता में 'धर्म', आसन-प्राणायाम की स्थिरता में 'अभ्यास', और प्रत्याहार की स्थिरता में वैराग्य हेतु है।
- ☞ तीन पाश= बन्धन! व्याधि= अधम पाश (शारीरिक रोग)। आधि= मध्यम पाश (मानसिक रोग)। उपाधि= उत्तम पाश (अहंकार के रोग)। जितना अहम् छोटा होगा, उतना ही हृदय बड़ा होगा।

१६. बच्चों के प्रति विधायी दृष्टि

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्। (यजु० २.३३)

प्रश्न- स्वामी जी! छोटे बच्चों को माता-पिता अथवा गुरुजनों के द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए अथवा नहीं?

उत्तर- 'दण्ड देने की आवश्यकता' यह सिद्ध करती है कि बच्चे की देख-भाल में कमी है। यदि बच्चे के समक्ष सदा-सर्वदा-सर्वत्र विधायक वायुमण्डल ही उपस्थित किया जाए तो दण्ड देने या न देने का प्रश्न ही नहीं उठता। निषेध वर्ग से बचाने के लिए ही तो बच्चे को दण्डित किया जाता है, पर जब निषेध वर्ग को बच्चे के सामने आने ही न दिया जाए तो दण्ड का क्या प्रयोजन?

प्रश्न- विधायक वायुमण्डल व निषेध वर्ग से आपका क्या अभिप्राय है? थोड़ा खोलकर समझायें।

उत्तर- सुनिए! हम बच्चों को दो तरह की शब्दावली में शिक्षा देते हैं- यह करो, यह मत करो। गाय का दूध ही पीओ, भैंस का नहीं। शाकाहारी बनो, मांसाहारी नहीं। सच बोलो, झूठ नहीं। अच्छे बच्चों के साथ रहो, गन्दे बच्चों के साथ मत रहो। प्रातःकाल शीघ्र उठो, देर से मत उठो। धूम्रपान-चाय-सुरापान आदि मत करो, इत्यादि।

माता-पिता व गुरुजनों का परम कर्त्तव्य है कि बच्चों के समक्ष सदा विधायक भाषा में ही सोचें-विचारें या करें और जो कुछ भी बालकों को सिखाना चाहते हैं उसका स्वयं दृष्टान्त बनें। केवल जबानी जमा-खर्च से काम पूरा हुआ न समझें। बच्चों के लिए अच्छे-से-अच्छा नमूना (Model) बनकर रहें। इस बात का सदा ध्यान रखें– शिक्षण से दृष्टान्त सदैव अधिक श्रेष्ठ होता है। पर यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि बच्चों के साथ जितना प्रयत्न किया जाना चाहिए, सम्भवतः कोई विरला ही माता-पिता उतना प्रयास करता हो। न तो उनके लिए माता-पिता के पास समय होता है और न कोई उत्तम दृष्टान्त। पर आशा तो उत्तम-से-उत्तम बनाने की जाती है।

जब वे गलती करते हैं तो दण्ड के द्वारा उन्हें ठीक रखने का प्रयास किया जाता है। उसके कारण उनकी सारी संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है। **दण्ड निश्चित रूप से भय को जन्म देता है और भय मिथ्यात्व को। इन तीनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। एक के होने से दूसरा और दूसरे के होने से तीसरा स्वतः ही उपस्थित हो जाता है।** इसलिए मैं कहता हूँ कि यह एक ऐसा त्रिक है, जिससे पीछा छुड़ाने के लिए माता-पिता या गुरुजनों को असाधारण रूप से सजग होने की आवश्यकता है। तभी वे उनके लिए अपने अमूल्य समय और ऊर्जा का दान कर सकेंगे। जिन कामों को माता-पिता स्वयं तो करते जा रहे हैं और बच्चों को उन कामों से दण्ड के द्वारा बचाना चाहते हैं, उन्हें अन्त में निराशा ही हाथ लगेगी। कभी भी वे अपने सन्तान का मन चाहा स्वरूप नहीं देख सकेंगे।

केवल मात्र एक प्रेम ही है जो बच्चों के अन्दर गुप्त रूप में निहित अच्छाइयों को बाहर प्रकट होने में सहयोग कर सकता है। पर यह सदा ध्यान रखना चाहिए– प्रेम का अर्थ अनावश्यक

लाड़-प्यार नहीं, बल्कि सदा उनको **'प्रशान्त-निरीक्षण'** में रखना है। स्पष्ट है– बच्चों के कोमल मनों पर **'यह करो,वह मत करो'** की कठोर आज्ञाएँ थोपना प्रेम नहीं है, बल्कि बच्चों के साथ घुल-मिलकर ऐसे रहना जैसे उन्हीं का एक साथी उनके साथ रह रहा है। उन्हें कभी ऐसा आभास ही न हो कि कोई शासक हमें शासित कर रहा है। बल्कि ऐसा प्रतीत हो कि हम सब मिलकर कोई खेल खेल रहे हैं।

बच्चों को निषेध वर्ग से कैसे अलग रखा जाता है? इस विषय में महाराज अपने पूर्व जीवन की एक घटना सुनाया करते हैं। वे कहते हैं कि एक बार हम किसी गाँव के पास से गुजर रहे थे। हमने देखा कि यहाँ १४-१५ वर्ष के बड़े-बड़े बच्चे नंगे ही खेलकूद रहे हैं और वहीं पास में कुएँ पर माता-बहनों का बहुत आवागमन भी है। यह देखकर हमसे रहा नहीं गया। गाँव के एक बुजुर्ग व्यक्ति के पास जाकर हमने कहा– क्यों जी! ये इतने बड़े-बड़े बालक नंगे खेल-कूद रहे हैं। क्या कोई इन्हें समझाने वाला नहीं है? उस व्यक्ति ने जो अद्‌भुत उत्तर दिया, उसे सुनकर तत्काल हमारी आँखें खुल गयीं। वे कहने लगे– खैर! मुझसे तो यह बात कह दी, कोई बात नहीं। पर इन बच्चों के समक्ष यह शब्द मत उच्चारण कर देना, क्योंकि इन्हें तो पता ही नहीं है कि नंगा क्या होता है, यहाँ तक कि इनको तो लड़के-लड़की के भेद तक का भी ज्ञान नहीं है। इस घटना से महाराज समझाया करते हैं कि यह है विधायक वायुमण्डल में जीने का नमूना, जहाँ पूर्ण रूप से शासन-मुक्त होते हुए भी पराकाष्ठा का अनुशासन है।

महाराज से जब यह प्रश्न किया जाता है कि क्या आजकल जो जीवन-क्रम चल रहा है, उसमें ऐसा कर पाना या ऐसा हो पाना सम्भव है? इसके उत्तर में और ऐसे सभी प्रश्नों के उत्तर में वे सदा एक ही बात कहा करते हैं कि भाई! (वे प्रायः ही सम्बोधन के लिए इस शब्द का उच्चारण किया करते थे) स्वस्थ स्थिति तो यही है, अब जब कोई रोगी पड़ जाता है तो फिर उसी के अनुसार आहार-विहार और दिनचर्या अपनानी पड़ती है। पर कठिनाई यह है कि पूरा समाज ही अपनी इस रुग्ण अवस्था को नहीं देख पा रहा है। जो अपने को रुग्ण समझ रहा है, वह अवश्य ही प्रयास भी करेगा कि किसी तरह उस रोग से मुक्ति पायी जाए, पर जिसने रोगी होते हुए भी अपने को स्वस्थ मान लिया है, वह तो उसी में सन्तुष्ट रहेगा और जाने या अनजाने में रोग के अवश्यंभावी दुःख रूप फल को भी भोगता रहेगा।

इसलिए इतनी समझ का तो व्यक्ति या समाज में विकास होना ही चाहिए कि वह 'जो है' उसे यथार्थ रूप में देख सके। इस प्रकार महाराज का कहना है कि 'स्वस्थ का आचरण' और 'रोगी का आचरण' अवश्य ही ये दो भिन्न अवस्थायें हैं। इन दोनों अवस्थाओं को गड्‌ड-मड्‌ड नहीं करना चाहिए। जिस अवस्था में जो है, उस अवस्था के अनुसार ही आचरण होगा तो वह निश्चय ही अधिक फलप्रद होगा। प्रकृत सन्दर्भ में श्री महाराज के कथन को सार रूप में यों रखा जा सकता है कि बच्चों के साथ निषेध का प्रयोग कम-से-कम करना चाहिए। रोगी के लिए औषध की भाँति अत्यावश्यक होने पर ही। जहाँ तक सम्भव हो विधि का ही सहारा लेना चाहिए। संरक्षण और प्यार ही अधिक चाहिए।

२०. बलख का बादशाह

अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्। (याज्ञ० स्मृ० १.८)
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।। (गीता० ३.१०)

बलख का बादशाह इब्राहिम बिन आदम एक धार्मिक आस्तिक राजा था। वह अपने गुरु की शिक्षा का बहुत आदर करता था। उन्हीं का यह प्रभाव था कि उसके दिल में ईश्वर का विश्वास जमता जा रहा था। इस प्रकार वह प्रसन्नता पूर्वक अपने राज-कार्य को करता हुआ स्वयं को तथा प्रजा को धन्य कर रहा था।

एक दिन उनके गुरु के मन में विचार आया कि इब्राहिम बिन आदम को राज-काज करते बहुत दिन हो गये। अब इन्हें वैराग्य का उपदेश देना चाहिए। सो जब रात को सब सो रहे थे, तो गुरुजी छत पर चढ़कर कुछ खट-पट करने लगे। बादशाह के कानों में जैसे ही आहट पहुँची तो कहने लगे– कौन? गुरुजी ने झट से उत्तर दिया– 'मैं अपना ऊँट ढूँढ रहा हूँ'। विचित्र उत्तर पाकर बादशाह की ओर से पुनः प्रश्न होना ही था, पर अब तक बादशाह यह नहीं समझ पाया था कि उनके गुरुजी ही यह सब लीला कर रहे हैं। बादशाह ने पूछा कि छत पर ऊँट का क्या काम? अब तो गुरुजी को जो कुछ वे राजा को सुनाना चाहते थे, सुनाने के लिए मौका मिल गया। कहने लगे क्यों नहीं? जब तुम्हें इस राजगद्दी पर बैठकर खुदा मिल सकता है, तो मुझे इस छत पर ऊँट क्यों नहीं मिल सकता है?

गुरुजी यह कहना चाहते थे कि इन ऐश्वर्य के सभी साधनों के बीच में रहते हुए अपने मन को इन सबके प्रभावों से मुक्त रख पाना मुझे असम्भव-सा लगता है। चित्त को चञ्चल करने वाले बाह्य आलम्बनों का व्यक्ति के चित्त पर कुछ भी असर न पड़े, यह असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। हो सकता है कोई सिद्ध पुरुष जिसने जन्म-जन्मान्तरों की साधना के फलस्वरूप अपने चित्त को पूर्ण रूप से साध लिया है, अरबों में से कोई एक यह दुर्धर्ष कार्य भी कर दिखाए, पर सामान्य रूप से नियम यही है कि साधना की प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्ति को आलम्बनों से दूर ही रहना चाहिए।

इन्द्रियों को सक्रिय कर देने वाले, प्रिय या अति प्रिय लगने वाले ये नाम-रूप जिनको सुशब्द, सुस्पर्श, सुरूप, सुरस, सुगन्ध के रूप में जाना जाता है, यदि चित्त के सामने उपस्थित होते हैं, और उस-उस सुख के संस्कार यदि भीतर हैं तो यह वैसी ही स्थिति हो जाती है, जैसी पैट्रोल से भीगी हुई मशाल किसी के हाथ में हो और दियासलाई की तिल्ली जलाकर उसके ऊपर डाल दी जाए। हाँ, यदि चित्त के भीतर से वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति राग-संस्कार सर्वथा हट गये हैं तब तो बात अलग हो जाती है। चित्त का सर्वथा राग विहीन होना कोई साधारण कार्य नहीं है। सतत ज्ञान की स्थिति में रहने से ही यह अवस्था प्राप्त हो सकती है।

कोई भी ऊँचे-से-ऊँचा श्रुतज्ञान या युक्तिपूर्ण अनुमान ज्ञान भी विषयों के प्रति तीव्र आकर्षण को कभी समाप्त नहीं कर सकता। व्यक्ति ने किसी से सुनकर या पढ़कर जान भी लिया कि शरीर-मन-बुद्धि- चित्त-अहङ्कार-ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, इनमें से कोई भी मेरा असली चेतन स्वरूप अपना आपा (मैं) नहीं है। ये सब उससे (चैतन्य से) प्रकाशित होने वाले दृश्य हैं, वह द्रष्टा रूप इन सबसे अलग है। वह सदा ही प्रकाशक है। ये प्रकाश्य हैं। वह विज्ञाता है, ये विज्ञेय हैं। वह भोक्ता है, ये भोग्य हैं। वह केवल चिन्मय तत्त्व है, सर्वथा निर्धर्मक है। शान्त घोर मूढ़ (सुख-दुःख-मोह) ये सब इस दृश्य के धर्म हैं। किसी इष्ट विषय की प्राप्ति से उत्पन्न प्रियता-हर्ष-मोद या प्रमोद सब अन्तःकरण रूप दृश्य के ही धर्म हैं। इतना सब समझ लेने पर भी यदि व्यक्ति सुखकर या दुःखकर स्थिति में सुखी-दुःखी हो जाता है तो समझना होगा कि अभी ज्ञान की स्थिति परिपक्व नहीं हुई है। ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था में यदि बाह्य आलम्बनों के बीच में व्यक्ति रह रहा हो तो सफलता प्राप्त कर पाना दुर्लभ-सा ही है।

बादशाह के गुरुजी ने इसी बात को लक्ष्य कर अपने शिष्य को वैसी दिशा देनी चाही। अन्यथा प्राचीन भारत में जनक व शुकदेव आदि के अनेक उदाहरण मिलते हैं जो सब विषयों के बीच रहते हुए भी सर्वथा शान्त चित्त रह पाने में पूर्ण समर्थ थे।

एक यह भी पक्ष है कि साधना तो प्रतिकूलता में ही होती है। जहाँ कुछ भी प्रतिकूलता नहीं है, वहाँ तो मन स्वतः ही समाहित रहता है। श्री महाराज को एक बार मा० चेतन जी अपनी हिमालय-यात्रा के अनुभव सुना रहे थे कि जी! वहाँ तो एकदम मन की समाधि लग जाती है। महाराज ने उनकी बात में सुधार करते हुए तत्काल कहा– वहाँ क्या समाधि? वहाँ तो समाधि ही है। समाधि की आवश्यकता तो इस खच-पच में है। **महाराज का एक अनमोल साधना सूत्र है– 'प्रपञ्च में पूर्ण प्रज्ञ प्रशान्त'**। प्रपञ्च में भी जो प्रशान्त रह पाए, वही सिद्ध है। यह सर्वथा सत्य है, पर इसका एक दूसरा पहलू भी है– जिसने अभी-अभी कार चलाना प्रारम्भ किया है, वह यदि किसी महानगर की व्यस्त सड़कों पर पहुँच जाए तो अवश्य ही दुर्घटना-ग्रस्त होगा। हाँ, अभ्यास होने पर कहीं भी चला सकता है। प्रारम्भ में तो उसे अभ्यास के लिए उन्हीं सड़कों का सहारा लेना होगा जहाँ ट्रैफिक कम-से-कम है। साधना के क्षेत्र में भी ठीक यही नियम प्रयोज्य है।

एक और भी बात है। सबके चित्त की संरचना पिछले जन्मों से चले आ रहे प्रवाह के अनुसार अलग-अलग ही है। इसलिए कोई एक स्थिर नियम भी नहीं बनाया जा सकता कि केवल यही एक राजमार्ग है और इसी से सबको चलना चाहिए। ऐसा लगता है कि जितने साधक हैं और होंगे, उतने ही मार्ग होते हैं। साधकों का गत इतिहास भी इसी सत्य को उद्घाटित करता है। साधकों के लिए जो यह कहा जाता है कि ये तो उसके करने के काम हैं और ये न करने के। इस बात को सदा सामान्य नियम के रूप में ही लेना चाहिए। अर्थात् साधना की उतनी प्राथमिक भूमिका (Primary Condition) तो सबको निभानी ही है। इससे आगे चित्त जिस रूप में तृप्त हो, वह व्यक्ति को स्वयं अन्वेषण करना होगा।

कोई एकान्त के द्वारा ही शीघ्र आगे बढ़ते हैं, तो कोई समूह में रहकर सेवा करते हुए, कोई लेखन के माध्यम से, तो कोई शारीरिक श्रम करते हुए, कोई निरन्तर स्वाध्याय-चिन्तन-मनन करते हुए, कोई उपदेश देते हुए तो कोई मौन रहते हुए। हाँ, सभी के लिए समान रूप से यह विधेय है कि साधक सदा उदार व शिष्ट रहे। किसी को किसी भी रूप में (शरीर, वाणी, मन से) चोट न पहुँचाए। किसी को भी कभी भी नीचा दिखाने का प्रयत्न न करे। मन-वचन-कर्म में व्यवहार की एकरूपता रखे। किसी का दिल दुःखा कर उससे कुछ भी न ले। मन-वचन-कर्म से ब्रह्मचारी रहे। अपने लिए वस्तुओं का अधिक संग्रह न करे। अन्दर-बाहर से शुद्ध रहे। परिश्रम करते हुए जो भी स्थिति बने, उसमें सन्तुष्ट रहे। तपस्वी हो। मान-अपमान, लाभ-हानि, सुख-दुःख में सम रहे। कुछ-न-कुछ चिन्तन-मनन भी करता रहे। अपने से बड़ी शक्ति को मानकर उसके आगे सब स्थितियों में सिर झुकाता रहे। दूसरों के सहयोग करने का भाव रखे।

साधना में काल का भी कोई नियम नहीं है कि कोई कितने दिन में ज्ञान प्राप्त करेगा? यह तो व्यक्ति की अपनी रुचि-प्यास-लगन-प्रयत्न पर निर्भर करता है कि सिद्धि के लिए कितना समय लगेगा। तीव्र संवेग व तीव्र अभीप्सा वाले शीघ्र ही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। बाकी जन्म-जन्मान्तरों में से गुजरते हुए बहुत धीरे-धीरे। इस प्रकार बादशाह को उनके गुरुजी ने उनकी स्थिति का आकलन करके एक झटका दिया कि जो बाधा है, उसे तो हटाना ही होगा।

*****

- ☞ जिह्वा का काम यह बताना है कि यह मीठा है या खट्टा, न कि यह भला है या बुरा, शुभ है या अशुभ! इसी तरह आँख कान इत्यादि! शुभ-अशुभ का बोध तो प्रज्ञा से होता है।
- ☞ जब हम भगवान् को अपनाते हैं तो यह भी ध्रुव सत्य है कि हम पहले ही भगवान् के द्वारा अपना लिये गये हैं।
- ☞ 'इदन्न मम' की भावना में सारा जीवन ही पावन यज्ञ है।
- ☞ बाहर के दिखावे में सहजता लुप्त हो जाती है।
- ☞ सारा जीवन ही श्राद्ध है, तर्पण है, भुगतान है, बँटवारा है, समर्पण है।
- ☞ मैं सोम का अधिकारी बनूँ; सोम आत्मसंयम का पुरुषकार! सोम विषय वासना के दावानल की आग को बुझाने वाला शीलोदक! सोम जरामृत्युविनाशाय! सोम आत्मसंयम का अमरफल!
- ☞ अहं अपने थैले में से संसारी लोगों को सुख-चैन की चटपटी चूर्ण चटनी दिखाकर कहता है कि जरा इसको 'थोड़ी सी' चख कर देखो! बस यही सुख-चैन की मिठास हमें प्रेय मार्ग में खींच ले जाती है। इसी 'जरा से' 'थोड़े से' के मार्ग से हमारे भीतर चोर घुस जाते हैं।
- ☞ **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति।** भगवान् के पथ में प्रवेश वेदनाओं (कष्टों के सहने) से होता है। यहीं से मानव जीवन का उत्तरायण आरम्भ होता है, यही श्रेय मार्ग है।

ॐॐॐ

२१. ब्राह्मण और बछिया

अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते। (गीता ३.२७)

एक ब्राह्मण ने बहुत सुन्दर बाग लगाया। कतारबद्ध पेड़ों की पंक्तियाँ, फलों से झुकी उनकी डालियाँ, स्थान-स्थान पर विविध पुष्पों से महकती हुई लतायें, उन पर मँडराती हुई रंग-बिरंगी तितलियाँ ऐसा दृश्य उपस्थित करती थीं मानो स्वर्ग का नन्दन-वन ही इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हो गया हो। बाग में प्रातः-सायं भ्रमण करने के इच्छुक लोगों का ध्यान रखकर उस परिश्रमी व बुद्धिमान् ब्राह्मण ने बाग के बीचों-बीच दायें-बायें अनेक रास्तों का भी निर्माण किया था। जो भी सज्जन वहाँ उपस्थित होते, बाग के सौन्दर्य से उनकी आँखें तृप्त हो जातीं तथा फलों व पुष्पों की गन्ध से नासिका। दर्शक भी और बाग का मालिक ब्राह्मण भी आनन्द की लहरों में इसी प्रकार कुछ काल तक नहाते रहे।

एक दिन अकस्मात् एक बछिया दौड़ती हुई बाग में घुस गयी और वहीं पर इधर-उधर चक्कर काटने लगी। पशु तो बेचारा पशु ही होता है। उसे क्या पता कि तेरी इस तरह अव्यवस्थित उछल-कूद से बाग की शोभा नष्ट हो रही है। सो उसे तो अपनी मस्ती में कूद-फाँद मचानी ही थी। ब्राह्मण ने जब यह दृश्य देखा तो उसका अहं जागरित हो गया कि अरे! इसने तो मेरा बाग ही उजाड़ दिया। अहं जब अपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाता है, तो उसका अवश्यंभावी परिणाम कभी कामवासना के रूप में तो कभी क्रोध के रूप में, कभी लोभ के रूप में तो कभी मोह के रूप में, कभी किसी मद (बल, विद्या, रूप आदि के नशे) के रूप में तो कभी ईर्ष्या-द्वेष के रूप में, कभी स्वयं मरने के लिए तो कभी दूसरों को मार डालने के लिए, कभी हीन भावना के रूप में तो कभी अभिमान के रूप में परिलक्षित होता है।

सो इस समय ब्राह्मण देवता का अहं बाग को उजड़ता हुआ देखकर क्रोध में परिणत हो गया। उसने अपनी लाठी उठायी और बछिया के मस्तक में दे मारी। चूँकि चोट सीधी मर्म स्थान पर लगी, इसलिए बछिया तत्काल वहीं पर ढेर हो गयी। बछिया के गिरते ही ब्राह्मण को होश आया कि यह क्या हो गया? जैसा कि सदा ही किसी भी काम, क्रोधादि का तीव्र आवेग पश्चात्ताप में बदल जाया करता है, ब्राह्मण भी अपने कुकृत्य के पश्चात्ताप में डूब गया। पर अब चाहे कितना भी पश्चात्ताप करे, रोए, बिलखे, उससे क्या आना-जाना था? कारण, भाटा (पत्थर) तो हाथ से छूट चुका था। लेकिन मनुष्य प्राणी बहुत चालाक होता है। कोई-न-कोई ऐसा रास्ता निकाल ही लेता है- यद्यपि वह काल्पनिक होता है, वस्तु स्थिति से पलायन मात्र होता है, तो भी कुछ समय के लिए तो अपने दुष्कर्म रूप आग की लपटों की झुलस से बच ही जाता है। सो ब्राह्मण सोच में पड़ गया, यह तेरे हाथ से क्या हुआ?

एक तरफ तू ब्राह्मण और तेरे हाथ से गौ हत्या? तू तो स्वप्न में भी ऐसा काम नहीं कर सकता। यह हो न हो, भगवान् की ही ऐसी इच्छा थी कि मेरे को निमित्त बनाकर इस बछिया को मार दिया।

ब्राह्मण के मन में यह विचार आते ही उसे कुछ शान्ति मिली, क्योंकि अब वह घटना की अपने अनुकूल व्याख्या करके दोष मुक्त हो चुका था। उसने इस अशुभ का सम्पूर्ण श्रेय भगवान् को सौंप दिया था। भगवान् तो सर्व समर्थ है। मनुष्य की इन चालाकियों और धूर्त्तताभरी विचारणाओं से उस पर क्या फर्क पड़ता है? खैर!

उधर देवों की सभा हुई कि अमुक ब्राह्मण ने गौ-हत्या जैसा पाप कर्म कैसे किया? उससे जाकर पूछा जाए। देवों ने अपना एक प्रतिनिधि इन्द्र के रूप में चुनकर ब्राह्मण के बाग में घटनास्थल पर भेज दिया। इन्द्र गुप्त वेश में बाग में घूमने लगता है, इस बीच वह ब्राह्मण से मिलता है। बाग के अद्‌भुत सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। पूछता है- यह इतना सुन्दर बाग किसने लगाया? खाद-पानी का प्रबन्ध कैसे किया? कहाँ से पौधे लाये गए? इन महक रही विविध लताओं को कहाँ से प्राप्त किया? इत्यादि। गुप्तवेशधारी इन्द्र की बात सुनकर ब्राह्मण का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठता है। अहङ्कार को और क्या चाहिए? जब उसकी सबसे प्रिय वस्तु उसे मिल रही हो तो क्यों न प्रसन्न हो? तत्काल अपने पौरुष का वर्णन करना प्रारम्भ कर देता है कि यह सब जो कुछ भी आपको सुन्दर या शुभ दिखाई दे रहा है, मैंने ही अपने महान् पुरुषार्थ से इसको यहाँ तक पहुँचाया है।

आप खाद-पानी की क्या बात पूछ रहे हैं- यों समझ लीजिए मैंने अपने पसीने की धाराओं से इन पौधों की जड़ों को सींचा है। न मैंने कभी दिन देखा न रात, निरन्तर भूखा-प्यासा लगा रहा। बीस वर्ष तक इस प्रकार घोर परिश्रम करने के पश्चात् आज आपको यह बाग इस रूप में देखने को मिल रहा है। ये जो इसमें तरह-तरह की लतायें और रंग-बिरंगे पुष्प दिखाई दे रहे हैं, इसके लिए बहुत खोज-बीन करनी पड़ी है। जिसने जहाँ बता दिया- चाहे वह स्थान सैकड़ों मील दूर ही क्यों न हुआ, वहीं से जाकर लाया। फलदार पौधों की तो कितनी सुरक्षा करनी पड़ी है- बस! इसको तो क्या बताऊँ? यह समझ लीजिए कि मैंने अपनी समस्त ऊर्जा इसके लिए झोंक दी। पैसा तो मैंने कितना खर्च कर दिया, इसका कोई हिसाब ही नहीं है। इस प्रकार रात और दिन सोचते-सोचते इसका यह नक्शा उभर कर आ पाया है। भ्रमण के लिए मार्गों का निर्माण, विश्राम के लिए जगह-जगह शिलापट्टों का स्थापन, सभी पौधों का अपना-अपना उचित स्थान, इस सबके लिए मैंने विचार करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। यही है इस बाग का इतिहास।

जैसे ही ब्राह्मण बाग के निर्माण-सम्बन्धी अपने पौरुष का वर्णन करके चुप हुआ तो इन्द्र ने कहा- हमने सुना है कि यहाँ कुछ दिन पहले कोई बछिया भी मर गयी। इन्द्र की बात सुनकर ब्राह्मण का चेहरा एक क्षण के लिए उतर जाता है, पर हिम्मत करके बछिया वाली घटना की व्याख्या करना प्रारम्भ करता है- हाँ, ऐसा हुआ। बछिया दौड़ती हुई बाग में घुस गयी और उछल-कूद मचाने लगी। कितने सारे पौधे तोड़-फोड़ डाले। जब तोड़-फोड़ मचाते इसे बहुत देर हो गयी तो स्वयं भगवान् ही मुझे निमित्त बनाकर उसे बाहर निकालने लगा। यह भी कभी इधर तो कभी उधर जब कूद रही थी तो भगवान् ने मेरे हाथ को ऐसा झटका दिया कि लाठी सीधी बछिया के मस्तक पर लगी और वह वहीं मर गयी। आगे ब्राह्मण कहता है- यह तो कोई उसी की लीला थी। वह लीलाधारी मनुष्यों के रूप

में बड़े-बड़े विचित्र खेल खेलता रहता है, उसकी लीलाओं को समझ पाना मनुष्य-बुद्धि के बाहर की बात है।

न जाने पल से पल में वह क्या कर दे! जीवन-मरण सब उसी के हाथ है। जिसको जीवित रखना चाहता है- क्या मजाल! संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति उसका बाल भी बाँका कर सके, पर जब उसी की इच्छा हो जाती है तो किसी भी माध्यम से उसके प्राण तत्काल ले लेता है। उस समय चक्रवर्ती राजा की भी क्या औकात जो उसे बचा ले। फिर तो स्वयं ही साक्षात् काल बनकर मनुष्य के अन्दर विचरण करने लगता है। उसकी शक्ति अपरिमेय है। उसका कोप अव्यर्थ है। उसके बल की पार इस त्रिलोकी में कोई नहीं पा सकता। किसको कितना समय इस धरती पर रहना है- यह सब वही जानता है। जब उसका समय पूरा हो जाता है तो तत्काल उसे अपने पास खींच लेता है। सो उस महाकाल रूप भगवान् की इच्छा से ही बछिया की उस समय मौत आ गयी थी। उसमें फिर कौन आड़े आ सकता था? उसकी अमोघ इच्छा को रोक पाने की किस जीव में सामर्थ्य है?

ब्राह्मण जैसे ही भगवान् की अनन्त शक्तियों का वर्णन करने वाला अपना प्रवचन समाप्त करता है, इन्द्र अपने गुप्त रूप को त्यागकर ब्राह्मण के समक्ष प्रकट हो जाता है और कहता है- अच्छा! यह बाग और इसका अद्भुत सौन्दर्य तो तुम्हारे परिश्रम का फल है तथा बछिया की मौत तुम्हारे माध्यम से स्वयं भगवान् ने की है। बात समझ में नहीं आ रही। यह तो अर्धजरतीन्याय बन गया (कोई व्यक्ति बुढ़िया का धन तो चाहता है पर उसके शरीर की सेवा नहीं- यही अर्धजरतीन्याय है)। जब मैंने पूछा कि यह बाग किसने लगाया?, तब या तो आपको इसका भी सारा श्रेय भगवान् को ही देना चाहिए था। जैसे कि अब बछिया की मौत भगवान् के सिर मढ़ रहे हो। या फिर बाग के विषय में भी आपको कहना चाहिए था कि मैं तो निमित्त मात्र था, शक्ति-सामर्थ्य बुद्धि व धीरज तो सब वही दे रहा था।

यह कहने के बजाए आप तो अपनी ही महिमा गाने लगे। चलो आपने अपनी गौरव-गाथा सुना दी, पर फिर इस दूसरी गाथा का रचयिता भी तो आपको ही बनना चाहिए था। 'शुभ' तो आपके परिश्रम का फल और 'अशुभ' भगवान् की इच्छा। विचार कीजिए, क्या यह न्याय की बात है? बल्कि गहरी आँखों से देखा जाए तो कहना होगा- शुभ के रूप में जो कुछ भी हो रहा है, वह तो भगवान् की इच्छा का फल है और अशुभ नाम से यदि कुछ है तो वह निश्चित ही मनुष्य के अहङ्कार की करतूत है। कारण **अच्छाइयाँ होती हैं, बुराइयाँ की जाती हैं।** 'मैं' पने का सम्बन्ध यदि जोड़ना है तो वह बुराइयों के साथ ही जोड़ने योग्य है। अच्छाइयाँ तो सहज स्वाभाविक सृष्टि-नियमों (ऋत-नियमों) का परिणाम मात्र हैं।

श्री महाराज ने अपने प्रिय आख्यान के माध्यम से एक गहन मनोवैज्ञानिक तथ्य सहज में ही प्रकट कर दिया है। वे एक और भी सरल उदाहरण इस तथ्य की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत किया करते हैं- किसी विद्यालय का कोई छात्र जब प्रथम स्थान पर आता है तो उस विद्यालय के अधिकारियों के द्वारा उस छात्र का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। उन-उन विशिष्ट छात्रों के नामों से उपलब्धि-पत्र लिखवाये जाते हैं। संस्था के कार्यालय (Reception Room) में श्यामपट्ट पर उनके

नाम (कभी-कभी चित्र भी) अंकित किये जाते हैं। विद्यालय में अध्ययन की समुचित व्यवस्था तथा अध्यापकों के महान् परिश्रम की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की जाती है, अखबार व टी० वी० विज्ञापन के रूप में भी उन विशिष्ट उपलब्धियों को प्रस्तुत किया जाता है।

पर जब कभी परीक्षा-परिणाम प्रतिकूल (Negative) होता है और यदि कोई हिम्मत करके प्रधानाचार्य जी से पूछ बैठता है कि क्या कारण है आपके विद्यालय का परीक्षा फल बहुत खराब (Weak) रहा, तो उस समय प्रधानाचार्य जी झट से एक ही उत्तर देते हैं (यदि वह विद्यालय +१२ तक है) कि क्या करें उच्चमाध्यमिक विद्यालयों का स्तर बहुत ही गिर गया है। नकल आदि के द्वारा छात्रों को आगे धकेल दिया जाता है। पढ़ाई बस नाममात्र को ही रह गयी है। अब वहाँ से चलकर हाईस्कूल में अध्यापकों के समक्ष यह समस्या प्रस्तुत की जाती है तो वे ठीक इसी रूप में माध्यमिक विद्यालय पर डाल देते हैं। आगे-आगे यदि बढ़ा जाए और माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के समक्ष शिकायत लेकर पहुँचा जाए तो वे प्राथमिक विद्यालयों पर अपना बोझ उतार कर हल्के हो जाते हैं।

उनके सामने भी यदि कोई इस ज्वलन्त समस्या को पेश करे तो उनका सीधा-सा उत्तर होता है कि क्या करें, बच्चों की तरफ माता-पिता ध्यान नहीं देते। माता-पिता के जागरूक हुए बिना बच्चों को कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता। माता-पिता से भी यदि पूछा जाए कि आप तो अपने बच्चों को बहुत प्रेम करते हो, फिर आप लोग उनकी तरफ ध्यान क्यों नहीं दे रहे हैं? उनका जबाब होता है, हम क्या करें? यह सब तो उस प्रभु की माया है। मायापति की जैसी इच्छा है वैसा हो रहा है, इसमें कौन क्या कर सकता है? महाराज कहते हैं- अमङ्गल को कोई अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं है। कैसे-न-कैसे झट अपने ऊपर से टाल दिया जाता है। पर कोई माङ्गलिक अवसर आता है तो व्यक्ति उसका श्रेय लेने के लिए बहुत जल्दी अपना हाथ आगे बढ़ा देता है।

महाराज का कहना है, जिस चीज पर भी व्यक्ति अपने 'मैं' पने की मुहर लगा देता है- वह चीज व्यक्ति के पास से चली जाती है- अच्छाई, शुभ या मङ्गल का कर्त्ता जब व्यक्ति अपने अहं को बना देता है तो धीरे-धीरे अच्छाई का विलोप होने लगता है। कारण? उस अवस्था में व्यक्ति के अन्दर 'प्रमाद' को ठहरने के लिए जगह मिल जाती है। ज्ञानियों ने इसीलिए तो अभिमान को समस्त श्री (शोभा) का नाशक बताया है **(अभिमानः श्रियं हन्ति)**। इसके विपरीत यदि व्यक्ति बुराइयों को, अशुभ, पाप, अमङ्गल व निर्बलता को अपने ऊपर ले लेता है तो वह अपने पूरे वेग से अविलम्ब उस न्यूनता को दूर करना चाहता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने पैर को मल में सना हुआ देखकर तत्काल ही उसे साफ करना चाहता है, एक क्षण का भी स्थगन पसन्द नहीं करता। उसी प्रकार अपनी कमियों व कमजोरियों को अनुभव करने वाला व्यक्ति भी अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य का प्रयोग कर उन्हें हटाना चाहता है।

यह समस्त संसार ही इस खेल को खेल रहा है। जिस किसी को भी ध्यान से देखा जाए, यही कहता मिलेगा कि मैं तो ठीक हूँ, पर यह दुनिया गलत है। कोई दुनिया को गलत न कहकर

दूसरे शब्दों में यह कह देता है- वही हो रहा है जो मंजूरे खुदा है। दुनिया को दोष दे दिया जाए या भगवान् की इच्छा कहकर अपने ऊपर से बला को टाल दिया जाए, दोनों अवस्थाओं में बात एक ही है कि मैं इस अशुभ के कुचक्र से बाहर हूँ। त्रुटि मुझमें है, ऐसा बोलने का साहस कोई नहीं कर पाता।

जिस उत्साह के साथ व्यक्ति अपनी सफलताओं, अपने पुरुषार्थ, अपने वैभव, अपने गौरव, अपनी प्रगति व विकास का वर्णन करता है, उसी बोली में यदि अपनी न्यूनताओं, अपनी दुर्बलताओं व अपनी भूलों को भी स्वीकार कर लेवे तो सचमुच मनुष्य का यह दुःखद रूप कदापि देखने को न मिले। जो रूप हम सबके सामने है, उसका आमूल परिवर्तन हो सकता है। प्रजा नेताओं को दोष देती रहती है, नेता प्रजा को, अधिकारी अपने मातहतों को निकम्मा बताते रहते हैं, मातहत अपने अधिकारियों को। समाज सुधारक जिन्होंने समाज सुधार का ठेका लिया हुआ है, वे तो सबसे अधिक दूसरों को कोसते रहते हैं। उपदेशक-प्रचारक बड़ी ढूँढ-तलाश करने के बाद कोई ही शान्त मिलेगा, अन्यथा शिकायत पुस्तिका की तरह उनके जीवन का हर पृष्ठ शिकायतों पर शिकायत उगलता हुआ दिखाई देगा कि सब स्वार्थी हो गये हैं, कोई अच्छी बात सुनने के लिए राजी नहीं है, ये लोग उपदेशकों की कीमत समझते नहीं हैं, इत्यादि।

अध्यापक छात्रों को उच्छृंखल बताते हैं, तो छात्र अध्यापकों को दोषी ठहरा देते हैं। पति पत्नी पर तो पत्नी पति पर, सास बहू पर तो बहू सास पर परस्पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते रहते हैं। एक बार श्री सुभाष जी माँदी निवासी ने महाराज के सामने अपनी श्रीमती जी की शिकायत की, कि स्वामी जी! ये हमारी देवी जी क्रोध बहुत करती हैं। महाराज ने तुरन्त उन्हें टोकते हुए कहा- और तुम? क्या तुम नहीं करते? सासें अपनी बहुओं के लिए इतना कुछ कह जाती हैं कि शर्म को भी शर्म आने लगे, तो उधर बहुएँ भी पीछे नहीं रहतीं, अभद्रता की पराकाष्ठा को भी पार कर जाती हैं।

प्रसङ्गतः परस्पर दोषारोपण का यह सिलसिला इतना व्यापक है कि और तो और, संसार से अपने को विरक्त कहने-समझने वाले साधु-महात्मा भी इससे नहीं बच पाते। जब एक-दूसरे की निन्दा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है तो ऐसे चटखारे लेकर अपनी बात कहते हैं कि मानो उन्हें स्वर्ग का राज्य ही मिल गया हो। विद्वानों के लिए तो यह समाज में उक्ति ही प्रचलित हो गयी है कि वे आपस में ईर्ष्यालु स्वभाव के होते हैं **(बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः)**।

विद्वानों के स्वभाव का दिग्दर्शन कराने वाली एक कहानी है कि अकस्मात् दो विद्वान् एक गृहस्थ के यहाँ भोजन करने के लिए एक ही साथ उपस्थित हो गये। उनमें से जब एक स्नान करने के लिए गया तो गृहस्वामी ने दूसरे विद्वान् के समक्ष उनकी चर्चा चला दी कि ये आपके साथ जो विद्वान् हैं- ये कैसे हैं? विद्वान् महाशय के लिए यह प्रश्न बहुत ही रुचिकर था, उन्होंने चट से कहा- निरा गधा है, कुछ भी तो नहीं आता-जाता। गृहस्वामी ने शान्ति से सुन लिया।जब पहले वाला विद्वान् स्नान से निवृत्त होकर आया और ये वाले स्नान के लिए चले गये, तो गृहपति ने अपना वही प्रश्न इनके समक्ष भी दोहरा

दिया। इन्होंने भी अपने साथी की तरह झट से उत्तर दे दिया-निरा बैल है, कुछ भी नहीं जानता। गृहपति ने इनकी भी बात सुन ली। अब भोजन के लिए श्रद्धालु गृहस्थ ने उनके मन पसन्द खाने का विचार करके अलग-अलग दो टोकरों में एक में घास और एक में भूसा लाकर दोनों के सामने रख दिया। विद्वान् महोदय पूछने लगे- ये क्या कर रहे हैं? गृहस्थ ने कहा कि गधे और बैल का यही तो भोजन होता है। आप लोगों ने ही तो एक-दूसरे का परिचय मुझे दिया है कि वह गधा है, वह बैल है। विद्वान् महानुभाव अपने इस व्यवहार से बहुत लज्जित हुए।

श्री महाराज मनुष्य की इस कमजोरी को अच्छी तरह से जानते हैं। इसलिए जो भी कोई उनके पास अपने साथी, पिता, पुत्र, पति, देवी, सास, बहू, गुरु या शिष्य की शिकायत लेकर जाता है तो उसे यही सलाह देते हैं कि आप अपने को ठीक करो, दूसरों की चिन्ता मत करो, वह स्वतः ही ठीक हो जायेगा। और नहीं भी होगा तो इससे आपके आनन्द में कुछ बाधा नहीं पड़ेगी। अपने रोग का यदि इलाज कर लिया तो यह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। दूसरे का रोग ठीक हो भी गया तो उससे आपको कदापि सुख नहीं मिलेगा। **समस्या का मूल खुद व्यक्ति के अन्दर होता है। समाधान बाहर खोजता है, इसी कारण समस्या सदा अनुत्तरित बनी रहती है।** जैसे एक पिता, महाराज के समक्ष अपने दुःख का रोना रोता हुआ अपने पुत्र को लक्ष्य करके कहने लगा- जी! क्या करें? मेरा लड़का, यदि कुछ कहता हूँ तो साँप की तरह काटने को दौड़ता है? महाराज उस दुःखित पिता को राहत देते हुए कहने लगे भाई! थोड़ा धैर्य से सोचो- जब आप अपने बेटे को साँप बता रहे हो तो आप क्या हुए? इस प्रश्न का यदि हल खोज लिया तो तत्काल समाधान हो जायेगा- साँप से ही तो साँप पैदा होता है, पुत्र साँप है तो पिता तो स्वतः ही साँप बन गया। सो पहले अपने सर्प भाव को मारो, अपने अन्दर बैठे हुए साँप को यदि मार दिया तो क्या फिर भी आपकी समस्या शेष बचेगी? सोचो।

इसी प्रकार महाराज के समक्ष एक पति अपनी देवी की शिकायत करता है कि वह सदा ही मुँह सुजाए रहती है। मैं कहता कुछ हूँ और वह करती कुछ है। महाराज समझाते हैं- आप अपने को शासक और देवी को शासित समझना छोड़कर उनका सहयोगी बनकर रहना प्रारम्भ कर दीजिए। उनके काम में प्रसन्नता पूर्वक हाथ बटाना आरम्भ कर दीजिए। झाड़ू लगाना, बर्तन साफ करना- जैसे छोटे-छोटे कामों को भी हँसते-मुस्कुराते हुए जब आप उनके साथ करने लगेंगे तो आपके प्रश्न का हल आपको स्वतः ही मिल जायेगा। व्यक्ति जिन प्रसन्नतादि गुणों को दूसरों में देखना चाहता है, यदि पहले उनको अपने पर लागू कर ले तो सचमुच जीवन बहुत ही सरल हो जाता है। अपने को बचाने की प्रवृत्ति व्यक्ति में बहुत गहराई तक बैठी हुई है। इसलिए वह सदा ही किसी भी घटना की ऐसी व्याख्या कर लेता है कि मैं तो बिल्कुल ठीक हूँ, पर इस या उस व्यक्ति के कारण अमुक परेशानी उत्पन्न हो रही है। देवियों को भी महाराज जब वे अपने पतियों का कोई दुर्गुण-दुर्व्यसनादि व्यवहार-दोष प्रस्तुत करती हैं— तो यही सलाह देते हैं कि तुम अपने को और अधिक तपस्विनी बनाओ, अपने को कष्ट और उन्हें अधिक-से-अधिक प्रेम दो, अपने अन्दर मृदुता को बढ़ाओ, उनकी कटुता कम होने लगेगी।

एक बार महाराज के समक्ष यह समस्या रखी गयी कि दो मित्र हैं, उनमें अच्छी खासी मैत्री है, कोई तीसरा व्यक्ति इन दोनों मित्रों के मैत्रीपूर्ण व्यवहार से ईर्ष्यालु होकर दोनों में फूट डालना चाहता है। एक के पास जाकर कुछ ऐसा कहना प्रारम्भ कर देता है कि आपको नहीं पता, आप तो उस अमुक व्यक्ति को अपना मित्र ही समझ रहे हैं, पर वह आपके बारे में ऐसा-ऐसा कहता रहता है। ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिए? महाराज कहते हैं- उससे यह कहो कि भाई! वह व्यक्ति यह नहीं कह सकता। फिर भी यदि वह आग्रह करे कि मैंने स्वयं अपने कानों से सुना है तो क्या करें? उससे कहो कि उसका अभिप्राय कुछ और होगा। नहीं, मैंने ठीक से समझा है, उसका यही अभिप्राय था। यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो महाराज कहते हैं कि सरलता के साथ अपनी गलती को स्वीकार करते हुए कह दो, फिर तो वह ठीक ही कह रहा है, मेरी ही गलती है। मैं अपने में सुधार करूँगा। महाराज कहते हैं कभी भी अपने को गलत मान लेने के बाद आगे चर्चा ही नहीं चल सकती है।

लोक में भी एक कहावत है **'हार मानी और झगड़ा टूटा'**। वैदिक शब्द-कोष निघण्टु में युद्ध के पर्यायवाची शब्दों में एक शब्द यह भी है **'मम सत्यम्'**। मेरी बात ठीक है, इसका अर्थ है युद्ध (संघर्ष)। यदि व्यक्ति अपने को झुका लेता है तो संघर्ष वहीं समाप्त हो जाता है। अपने को ठीक सिद्ध करना और दूसरे को गलत बताना, ये दोनों एक ही चीज के दो पहलू हैं। सो जो लोग संघर्षमय जीवन के कष्टों से ऊब कर शान्त रहना चाहते हैं, उन्हें **'मम सत्यम्'** के इस आग्रहपूर्ण विचार को वापस लेना ही होगा। लेकिन इस अहङ्कार के सामने यही तो एक बड़ी समस्या है कि वह अपने आपको कैसे झुकाए?। महाराज कहते हैं- अहङ्कार अन्य सब कुछ कर सकता है, वह पर्वतों को चीर सकता है, पाँच-पाँच दिन लगातार नृत्य कर सकता है। अपने सिर पर मधुमक्खियों का छत्ता लेकर घूम सकता है, पर कभी भी छोटा बनना नहीं चाहता।

हाँ! कहीं छोटे बनने के नाम पर इसकी कीर्ति हो रही हो, अलग पहचान बन रही हो कि यह व्यक्ति तो बड़ा ही विनम्र है, तो उसके लिए भी कोई बड़ा त्याग कर सकता है। पर बिना अपने प्रयोजन की सिद्धि के ही यदि उसे छोटा बनना पड़ रहा है तो उसे वह अपनी हार समझता है। अहङ्कार का जीवन इसी एक बात पर टिका हुआ है कि उसके सामने उससे बड़ा बनकर कोई न दिखाए। अहङ्कार अपने जीते जी कभी भी दूसरे के बड़प्पन को सहन नहीं कर सकता। यही एक ऐसी स्थिति है कि जिसमें अहङ्कार को सबसे अधिक कष्ट में से गुजरना पड़ता है। अहङ्कार के स्वरूप तथा उसकी सम्पूर्ण प्रकृति का अध्ययन करने से पता चलता है कि उसके शहंशाह बनकर रहते हुए यह नहीं हो पाएगा कि 'शुभ' तो किसी अन्य उच्चतर शक्ति की कृपा का फल है और 'अशुभ' का कर्त्ता मैं हूँ। वह तो इसी बोली में बोलेगा कि मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ। जितनी भी गड़बड़ है वह या तो 'इसके' कारण है या 'उसके' कारण है।

किसी भी भूल-भ्रान्ति के साथ अहं यदि अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए तैयार हो गया है तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि उसने अपने से किसी बड़ी शक्ति को मान लिया है। चाहे उसका नाम

भौतिक गुरु, नैतिक मूल्य, अन्तर्यामी पथ प्रदर्शक, प्रेम या करुणा, जो कुछ भी रख दिया जाए। अहङ्कार व कोई उच्चतर शक्ति दोनों एक-दूसरे के विरोधी होकर साथ-साथ कदापि नहीं रह सकते। दोनों के साथ रहने का अर्थ है– एक राज्य में समान बलशाली दो राजा। यह सर्वथा अकल्पनीय है। राजा तो एक ही रह पाएगा। सो जब अहङ्कार राजा होता है तो उस समय उच्चतर शक्ति निश्चित रूप से राजा नहीं होती। उच्चतर शक्ति का तिरस्कार कर जब वह राजा बनकर रहता है तो उसे जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, उन अपार कष्टों से तंग आकर जब वह उस शक्ति के सामने आत्म-समर्पण कर देता है तो उच्चतर शक्ति के राज्य में सेवक बनकर आनन्दमय जीवन जीने लगता है। फिर वह अपनी मनमानी करना छोड़कर उस शक्ति से चलाया हुआ चलता है। इस विशेष अवस्था में यदि त्रुटियाँ भी करता है तो सहर्ष स्वीकार कर लेता है। पहले के समान अकड़कर खड़ा नहीं होता, बल्कि यदि कुछ अच्छा होता है तो उसका श्रेय उच्चतर शक्ति को ही देता है। **'मैं ऐसा, मैं वैसा'** इस प्रकार अपनी हेकड़ी दिखाने वाली प्रवृत्ति या सोच को छोड़कर मैं तो उसका यन्त्र हूँ, उस शक्ति का एक सेवक हूँ या उसका एक बालक हूँ- इस बात पर आ जाता है। मैं तो उसके हाथ की एक बाँसुरी हूँ- जो वह बजा रहा है। सचमुच अहं के द्वारा ऐसा समर्पण कठिन तो है, पर शान्ति का और कोई रास्ता भी नहीं है।

*****

- ☞ भय और क्रोध दुर्वासा के दो सिरे हैं!
- ☞ अनुभव की आँख से देखकर चलना ही वस्तुतः चलना है।
- ☞ जैसे आँख अपने को नहीं देख पाती, इसके लिए शीशा है। ऐसे ही सृष्टि भी आत्मा परमात्मा के देखने का शीशा है।
- ☞ सब कुछ शुभ है या शुभ की तैयारी!
- ☞ सुख अपने गिरोह के साथ आता है। सुख बाहर से जुटाए जाते हैं। आनन्द अकेला-निरपेक्ष है।
- ☞ तुम समरूप! जैसे सितार का तार! जैसे टेढ़ी-मेढ़ी बहने वाली नदी का जल!
  जैसे षड्रसों की व्यजंक जिह्वा! ऐसे ही सब अवस्थाओं में आत्मतत्त्व!
  जैसे रंगमंच पर नरलीला का प्रसंग! सम जैसे स्फटिक शिला!
- ☞ अग्नि= ओज-तत्त्व। इसकी कमी होने से मनुष्य सुपथ से जी चुराता है और कुटिलमार्ग अपनाता है।
- ☞ धरती पर प्रेम ही ईश्वर का रूप है। प्राणिमात्र से प्रेम ही आनन्द है।
- ☞ यज्ञ-भावना के मार्ग में 'संकोच' एक ग्रन्थि है।
- ☞ ब्रह्म में अवस्थाएँ नहीं हैं और अवस्थाओं में ब्रह्म नहीं।
- ☞ **पावन त्रिवेणी धाम**– समता= प्रकृति शरीर कर्म में; सरलता= हृदय भाव में; सौम्यता= आत्मभाव में; **एक अन्य दृष्टि से**- मन में सौम्यता; वचन में सरलता; कर्म में समता।

२२. दीर्घजिह्वी वै देवानां हविरलेट्

एक व्यक्ति कहीं से चावल लाया, कहीं से दाल, कहीं से ईंधन। वर्षाकाल था। इसलिए ईंधन में कुछ नमी थी। ठीक से अग्नि जल नहीं पा रही थी। फिर भी जैसे-तैसे प्रयास करके अग्नि जलायी। खिचड़ी पकाने के लिए अग्नि पर रख दी। पकने पर खिचड़ी को अग्नि से नीचे उतारा, ठण्डा होने के लिए थाली में फैला दिया। स्वयं कुछ इधर-उधर काम करने लगा। इतने में लम्बी जिह्वा वाली एक कुतिया आयी और तैयार भोजन को खाकर झट से भाग गयी। अब उस व्यक्ति को पुनः भोजन पकाने के उसी कष्ट से गुजरना पड़ा। पुनः वे सभी क्रियाएँ करनी पड़ीं।

जीवन में भी यही सब दोहराया जाता रहता है। व्यक्ति सत्संग करता है, स्वाध्याय-चिन्तन-मनन करता है। ध्यान करता है। आध्यात्मिक भोजन पककर जैसे ही तैयार होता है तो व्यक्ति अपने किसी दूसरे काम में लग जाता है। अब इस निर्मित भोजन को अकेला पाकर यह लम्बी जीभ वाली कामना रूपी कुतिया आती है और चट से खाकर भाग जाती है। व्यक्ति अपने प्रमाद पर पश्चात्ताप करता हुआ पुनः वही सत्संग, स्वाध्याय, भजन, कीर्तन करता हुआ आध्यात्मिक भोजन पकाना आरम्भ करता है।

श्री महाराज कहते हैं– वर्षों लगाकर जो भोजन हमने बनाया है और अब जबकि उससे अपनी भूख मिटाने का समय आया, हम प्रमाद कर बैठते हैं, और उसी पहले वाली स्थिति में पहुँच जाते हैं। यह कामना कभी सुशब्द, कभी सुस्पर्श, कभी सुरूप, कभी सुस्वाद, कभी सुगन्ध का रूप धारण करके आती है, तो कभी प्रतिष्ठा, कभी शक्ति (Power), कभी धनैश्वर्य के रूप में ही आ टपकती है। इसको लम्बी जीभ वाली कुतिया से उपमित किया गया है। यह इतनी भूखी होती है कि जो कुछ इसके सामने आता है, फटाफट चाट लेती है। जो हवि देवों के मुख में पहुँचनी थी, वह इस कुतिया के द्वारा चाट कर तुरन्त साफ कर दी जाती है। दीर्घजिह्वी कुतिया से रक्षा करने का एक ही उपाय है कि सदा सतर्क रहा जाए। एक क्षण के लिए भी आँख मिचौनी न की जाए। बस एक पल का प्रमाद होते ही यह झट-से टूट पड़ती है। महाभारत के ऋषि सनत्सुजात से धृतराष्ट्र ने पूछा कि 'हे भगवन्! मैंने सुना है कि मृत्यु नहीं है, यह आपका उपदेश है। देवता और असुरों ने भी मृत्यु को जीतने के लिए ब्रह्मचर्य धारण किया, क्या यह बात सत्य है?'

सनत्सुजात ने उत्तर दिया 'किसी का मत है कि कर्म से अमृत मिलता है। औरों का कहना है कि मृत्यु है ही नहीं। ये दोनों मत पहले से चले आते हैं और दोनों ठीक हैं। प्रज्ञावान् मोह को मृत्यु मानते हैं, पर मेरा मत है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है। प्रमाद से असुर हारे। अप्रमाद से लोग ब्रह्मपद पा लेते हैं। मृत्यु बाघ की तरह मनुष्यों को नहीं खाती और न उसका कोई प्रकट रूप है। एक मत यह है कि यम ही मृत्यु है। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य में वास करता हुआ आत्मा अमृत का

रूप है। मृत्यु कहीं बाहर से नहीं आती। वह मनुष्यों के भीतर से ही उत्पन्न होती है। क्रोध, प्रमाद, मोह– ये ही मृत्यु के रूप हैं।' जैन और बौद्ध दर्शनों ने भी प्रमाद मृत्यु है, अप्रमाद अमृत है, इसी सिद्धान्त को अपनाया है।

आखिर यह प्रमाद क्या है? शुभ स्मृति का हट जाना या डिग जाना ही प्रमाद है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनःसंयोग का नाम 'अवधान' है और वही अप्रमाद की स्थिति है। मन अपनी शान्त अवस्था में यदि ज्ञानेन्द्रियों को देखता रहे, तो अवश्य ही वे अचञ्चल बनी रहती हैं। मन कहीं अन्यत्र है, उसी अवस्था का नाम प्रमाद है। प्रमाद घटित होते ही कामना तत्काल प्रकट हो जाती है। कामना प्रकट हो गयी, तो वह अपना कार्य भी करेगी। कामना का कार्य है पके-पकाये भोजन को खा जाना। या तो देवों की ही तृप्ति होगी या फिर कामना की। दोनों की तृप्ति एक-साथ नहीं हो सकती। अवधान या अप्रमाद की स्थिति में कामना सर्वथा अप्रकट रहती है। इसलिए उस अवस्था में जो भी आध्यात्मिक भोजन तैयार होता है उससे अन्दर बैठे सभी देवगण तृप्त होते रहते हैं। वे भला कौन हैं, ये अन्दर बैठे देवगण? शुभ वृत्तियों से युक्त मन व इन्द्रियाँ ही ये देवगण हैं। जिन वृत्तियों से आत्मा रूपी स्वामी का भला हो, वे शुभ, तथा जिनसे पतन हो, वे अशुभ कही जाती हैं। देव भाव व असुर भाव दोनों ही मन व इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध हैं। स्वार्थ भाव ही असुर भाव है। इन्द्रियों के द्वारा जब अपनी तृप्ति के लिए देखना-सुनना-चखना-स्पर्श करना आदि और मन के द्वारा अपनी आहङ्कारिक तृप्ति के लिए संकल्प-विकल्प करना आदि किया जाता है तो वह मन व इन्द्रियों का असुरभाव है।

इसी प्रकार जब वे मन व इन्द्रियाँ अपनी तृप्ति के लिए देखना-सुनना आदि न करके अपने स्वामी के लिए करती हैं तो यही उनका देव भाव कहा जाता है। मन व इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को राग पूर्वक ग्रहण करना ही उनकी अपनी तृप्ति का साधन होता है। यही उनका स्वार्थ भाव है। राग व द्वेष से रहित होकर जब वे उन-उन विषयों को ग्रहण करती हैं, तो उनका देव भाव स्फुट हो जाता है। उस समय वे अपनी तृप्ति के लिए देखना-सुनना-स्पर्श करना आदि नहीं करतीं। यही उनका स्वार्थ-रहित भाव या निष्काम भाव है।

कामना के बीच में आते ही निश्चित रूप से आँख या तो अच्छा देखती है या बुरा। कान अच्छा सुनता है या बुरा। त्वचा अच्छा स्पर्श करती है या बुरा। नासिका अच्छा सूँघती है या बुरा। जिह्वा अच्छा रस ग्रहण करती है या बुरा। मन अच्छा संकल्प करता है या बुरा। अच्छा=प्रीतिकर, बुरा=अप्रीतिकर। पर जब कामना नहीं होती तो अच्छा या बुरा हट जाता है। केवल देखना, सुनना, स्पर्श करना, रस ग्रहण करना, सूँघना या मनन करना शेष रह जाता है। **इस प्रकार असुरों के साथ कामना का सम्बन्ध है और देवों के साथ निष्कामता का।**

भगवान् कृष्ण का कहना है- **"दैवी सम्पद् विमोक्षाय बन्धायासुरी मता।"** (गी० १६.५)। मन व इन्द्रियों की दैवी सम्पद् व्यक्ति को दिनों-दिन मुक्त करती जाती है और आसुरी सम्पद् बाँधती रहती

है। मुक्ति ही स्वतन्त्रता है और स्वतन्त्रता सच्चा सुख है। दूसरी तरफ बन्धन ही परतन्त्रता है और परतन्त्रता ही दुःख है। मन व इन्द्रियों की किसी भी प्रकार की माँग का न होना ही मुक्ति है। यही निष्कामता का स्वरूप है। मन व इन्द्रियों की विशिष्ट माँग का होना ही बन्धन है और यही कामना का रूप है। मनुष्य के अन्दर सतत चल रहे दैवासुर संग्राम में कामना ही देवों को लूटती और उन्हें निर्बल करती रहती है। कामना के अभाव में देव पुष्ट व बलवान् होते जाते हैं।

श्री महाराज का यही कहना है- ध्यान-भजन-स्वाध्याय-सत्संग आदि के द्वारा जो कुछ देवों की तृप्ति हेतु आध्यात्मिक भोजन (हविः) पकाया जाता है, वह तब तक उनको नहीं मिल पायेगा, जब तक इस कामना रूपी दीर्घजिह्वी कुतिया से उसकी रक्षा नहीं की जायेगी। एक-मात्र अप्रमाद (अवधान) ही वह साधन है जो उस कामना रूपी कुतिया को निकट नहीं आने देता। इस अप्रमाद (अवधान) को ही योगशास्त्र के **श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्** (१.२०) सूत्र में 'स्मृति' शब्द से कहा गया है। आओ! अपने अन्दर उस सच्चे अवधान को प्राप्त करें जिसकी उपस्थिति में जीवन अमृत से परिपूर्ण हो जाए।

*****

- ☞ आत्मा सम जैसे आकाश।
  जैसे भौतिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि (चेष्टाओं) का आधार भौतिक आकाश, ऐसे ही मनोमय लोक(भावलआधार आध्यात्मिक आकाश। चाहे हम रोयें या हँसें, हर अवस्था में हमें आध्यात्मिक आकाश (परमात्मा) प्राणवायु देता रहता है अन्यथा हम हँस या रो ही नहीं सकते। **रसो वै सः!**
- ☞ वराह= वर+अह= अच्छा दिन! जिस दिन कोई शुभ-कार्य=यज्ञ हो जाए वह वराह। वराह=यज्ञ। वराह= सन्तोष। हिरण्याक्ष= संग्रहवृत्ति= लोभ। 'लोभ' यज्ञ का शत्रु।
- ☞ मनुष्य के अहंकार शून्य होते ही कार्य स्वयं सम्पादित होते रहते हैं।
- ☞ सहजता की चाबी से 'है' का दरवाजा खुलता है।
- ☞ देहधारी सर्वसुखी नहीं हो सकेगा। यह प्राकृतिक नियम है और होना भी नहीं चाहिए क्योंकि दुःखों में उत्तरायण है। हमारे अपने घर में अन्दर आनन्द की चाह छिपी है, जो हमारे अपने केन्द्र (अपने स्वरूप) से मिलन कराती है।
- ☞ गुरु अपने अन्तेवासी को कुछ देकर अपने को धन्य मानता है! जैसे माँ अपने शिशु को स्तन्यपान कराने से! चिकित्सक आतुरों को आरोग्य प्रदान से! शिक्षक विद्यार्थियों को विद्यादान से! नेता जनता की सेवा से! पतिव्रता अपने पति की सेवा से! सेवक अपने स्वामी के प्रिय आचरण से! भगवान् अपने भक्त के अज्ञाननाश व संकल्प पूर्ति से पति अपनी पत्नी की रक्षा से! अपने को धन्य मानता है। ऐसे ही इसका दूसरा पहलू भी है अर्थात् शिशु माँ से धन्य होता है इत्यादि।

२३. दिन आथ्यो थाक्यो बलद

साधना जीवन के कठिनतम कार्यों में से एक है। इस विशाल संसार में साधना के नाम पर परिश्रम करने वाले लोगों की संख्या का गणन किया जाए तो सम्भव है, वह संख्या छोटी-मोटी नहीं रहेगी, काफी बड़ी बन जायेगी। पर साधना करते-करते जीवन के अन्तिम समय में पहुँचने पर भी बहुत से साधना करने वालों को साधना का कोई फल नहीं मिलता, इसका क्या कारण है? क्या वे सबके सब दम्भी होते हैं? या अन्य ही कोई बात है, जिसके कारण उन्हें सफलता नहीं मिलती? वे कौन से उपाय हैं– एक या अनेक, जिनके द्वारा लक्ष्य के कुछ तो निकट पहुँचें। ऐसा न हो कि जो स्थिति २० वर्ष पहले थी, वही बीस वर्ष बाद भी बनी रहे। इस प्रश्न की खोजबीन करते हुए एक राजस्थानी साधक ने अपनी भाषा में अन्योक्ति के द्वारा सारगर्भित उत्तर दिया है जो कि यहाँ विचार्य है। महाराज ने लेखक को कभी सत्संग करते हुए यह दोहा सुनाया था। कवि कहता है-

दिन आथ्यो थाक्यो बलद, भर्‌यो न क्यारो एक।
बिच में पाणी टूट गयो, हिया अन्ध टुक देख।।

दिन आथूणा को चला गया अर्थात् अस्त होने वाला ही है, बैल परिश्रम करते-करते थक गये हैं, पर क्यारी एक भी नहीं भरी। इसका कारण स्पष्ट है, पानी बीच में ही टूटता रहा। कुएँ से खेत तक पानी पहुँचाने वाली जो नाली होती है उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया गया, खेत का स्वामी (कृषक) अपने सेवक को सम्बोधन करके कहता है- ओ अन्धे! यह तुमने क्या किया, इतनी मामूली-सी बात को तुमने नहीं देखा। यह तो उसी समय साथ-साथ देखते-भालते रहने की चीज थी। इतने गाफिल क्यों हुए रहे?

हम साधकों के जीवन में भी यही होता रहता है। मन रूपी कुएँ में से निरन्तर विचार रूपी पानी निकालते रहते हैं, पर कर्म रूपी नाली के द्वारा जीवन रूपी खेत में जाते-जाते वह सारा का सारा जल इधर-उधर बह जाता है। जीवन के अन्त में जाकर होश आता है कि रात-दिन ताबड़-तोड़ प्रयत्न करने पर भी जीवन तो सूखा-का-सूखा ही रह गया। शास्त्र पढ़ना, कथा सुनना, चिन्तन-मनन करना, सत्संग में उपस्थित होना, जप-तप-ध्यान-भजन करना, एकान्त वास, मौन धारण, यज्ञ-हवन, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देना, उपवास करना, ये सब-के-सब उपाय ऐसे हैं जैसे कोई व्यक्ति अपने मन रूपी कूप में से पुरुषार्थ रूपी बैलों की सहायता से जल निकाल रहा हो, फिर उस विचार के रूप में कुएँ से बाहर निकाले हुए जल को आचरण या कर्म की नाली से जीवन रूपी खेत तक पहुँचाना होता है। यदि आचरण की नाली बीच-बीच में खण्डित नहीं होती तो पानी जीवन के क्षेत्र को सींचता रहता है, जिसके फलस्वरूप जीवन की सम्पूर्ण नीरसता व शुष्कता समाप्त होकर जीवन हरा-भरा हो उठता है, लावण्य व सौन्दर्य से भर जाता है, दर्शकों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

कवि ने थोड़े-से शब्दों में साधना का सरल नुस्खा या रोग का सहज निदान खोजकर सबके

सामने रख दिया। जीवन को सींचने के लिए आचरण रूपी नाली का तनिक भी न रिसना कितना आवश्यक है? इसका बड़ी सहजता से अनुमान लगाया जा सकता है। सत्संग से या स्वयं चिन्तन-मनन करने से या शास्त्र-श्रवण से व्यक्ति को ज्ञान-जल मिला कि इन्द्रियों का संयम करना चाहिए, मित-भाषी व मिताहारी होना चाहिए, शारीरिक तप व श्रम का सतत अनुष्ठान चलते रहना चाहिए। अपने हृदय में तृष्णा रूपी आग को नहीं जलाना चाहिए, सेवा को वैष्णव पूजा का अमोघ साधन समझना चाहिए। सत्य, प्रेम व ब्रह्मचर्य को अपने जीवन की आधार भित्ति के रूप में स्वीकार करना चाहिए, इत्यादि। अब सतत सावधान रहते हुए आचरण नाली को मजबूत रखते हुए इस मधुर जल से जीवन-वाटिका को सींचना है।

आचरण-रूपी नाली को न रिसने देने का अर्थ है- दीर्घकाल पर्यन्त (मरण पर्यन्त) सतत अनुष्ठान। एक मास तक श्रद्धापूर्वक इन सभी नियमों का पालन किया और फिर तोड़ दिया। क्रोध नहीं कर रहा था, क्रोध करने लगा। असत्य बोल दिया। मन में द्वेष को स्थान दे दिया, इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण में खुली छूट दे दी। लोभ में फँस गया। मन चञ्चल हो उठा। होश आया कि नाली टूट गयी, सँभला और पूर्ववत् फिर तपोमय जीवन जीना आरम्भ किया। अबकी बार दो मास तक गाड़ी को खींचा, फिर वही हाल हो गया। नाली को पुनः बन्द किया। कुछ समय तक पुनः उत्तम क्रम को चलाया पर फिर वही अनुत्तीर्णता। इस ढंग का जिस साधक का जीवन होता है, वह जीवन के अन्त समय में अन्तरात्मा-मन-शरीर व इन्द्रियों के द्वारा किये गये कृत्यों को देखकर वैसे ही पछताता है, रोता है, आँसू बहाता है, जैसे वह किसान अपने सेवकों के कारनामों को देखकर सायंकाल पश्चात्ताप कर रहा था।

यदि किसानों से पूछा जाए कि नाली कभी भी न टूटे, इसका क्या उपाय है? लेखक के विचार से इस प्रश्न का वे यही उत्तर देंगे कि नाली को अच्छा पुख्ता बनाना चाहिए। नाली यदि बालू रेत से ही बना दी गयी तो धीरे-धीरे टूट जायेगी। किसी चतुर किसान ने स्थिति का ठीक अवलोकन कर यदि नाली को पहले ही सीमेंटेड कर दिया, तो फिर क्यों टूटने वाली है? तिस पर भी सेवक अपने काम में निरलस होकर सदा जागरूक रहता हुआ मध्य-मध्य में नाली की देखभाल करता रहता है। प्रकृत में भी इच्छाशक्ति रूपी सीमेण्ट से जिन उत्तम साधकों ने अपनी आचरण प्रक्रिया को मजबूत बना लिया है। अब बताओ! ऐसी स्थिति में उनके आचरण में शैथिल्य कैसे आ सकता है? यदि ये दोनों बातें नहीं हैं- इच्छाशक्ति की भी कमी है और उधर प्रमाद भी चल रहा है, तो आचरण-नालिका का बीच-बीच में भंग होना अवश्यम्भावी परिणाम होगा। इसको कौन रोक सकता है?

आओ! कवि के द्वारा रूपक की भाषा में प्रकट किये गये इस गहन सत्य को समझें और अभी सावधान हो जाएँ। महाराज वैदिक साहित्य में आये 'इह' और 'अद्य' शब्दों की व्याख्या इसी रूप में किया करते हैं कि यदि किसी सत्य को भली-प्रकार जाँच परख लिया है तो अब देरी, दूरी, मजबूरी किस बात की? तत्काल क्रिया होनी चाहिए। सजग मन को स्थगन कभी नहीं सुहाता। प्रमाद के भावी परिणामों को देखते हुए अभी सँभल गये तो ठीक है, अन्यथा **'महती विनष्टिः'** महाविनाश का मुँह देखना पड़ेगा।

२४. दो भिक्षु

यदतीतं व्यतीतं तद् भविष्यच्चाप्यनागतम्।
वर्तमानेन कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणाः।। (चाणक्य)

श्री महाराज दो भिक्षुओं का एक दृष्टान्त सुनाया करते हैं जिसमें एक भिक्षु ऐसे जीवन का प्रतीक है जो सदा विचार मुक्त रहता है। हर अगला क्षण उसका नया होता है। क्योंकि वह सदा वर्त्तमान क्षण में जी रहा होता है, इसलिए अतीत की स्मृतियाँ उसे बोझ बनकर कष्ट नहीं देतीं और न ही भविष्य की कल्पनायें उसको चञ्चल और दोलायमान करती हैं। उसका सम्बन्ध उन्हीं वस्तुओं, व्यक्तियों व विचारों के साथ होता है, जो उसके सामने होते हैं। इसलिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति या विचार के साथ उसका सम्बन्ध स्थिर रूप धारण नहीं करता। जिस भूमि पर वह खड़ा है, उसके इर्द-गिर्द ही उसका चित्त रहता है। मानो कि वह अपने प्रकोष्ठ में है तो उसका चित्त भी उतने समय प्रकोष्ठ में ही रहता है। प्रकोष्ठ से बाहर निकल कर आ गया है तो चित्त भी साथ-साथ बाहर ही आ जाता है। ऐसा नहीं होता कि शरीर से बाहर खड़ा है और चित्त से अन्दर।

जो देश-काल-घटना-परिस्थिति-वस्तु-व्यक्ति को नित्य नये रूप में देखता है, उसी के अनुसार उनका प्रत्युत्तर देता है, पीछे छूट गयी घटना को आधार बनाकर वर्त्तमान काल में कभी प्रतिक्रिया नहीं करता, उसके लिए कोई भी वस्तु, व्यक्ति या विचार न प्रिय होता है न अप्रिय। वह सदा समता में प्रतिष्ठित रहता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु को सम दृष्टि से निहारता है। आसक्ति व द्वेष कभी उसके बीच में नहीं आते। वह सुखी जनों के प्रति सदा मैत्रीभाव रखता है। फिर वे चाहे निकटस्थ हैं या दूरस्थ, शत्रु हैं या अपकारक। दुःखियों के प्रति उसमें करुणा भाव होता है। सामान्यतः शत्रु यदि दुःखी होते हैं तो व्यक्ति में निष्ठुर हर्ष उत्पन्न होता है, पर वह उन बाह्यतः प्रतीयमान अपकारी व्यक्तियों के भी दुःखी होने पर करुणा से भर जाता है।

सधर्मा या विधर्मा पुण्यात्मा हैं तो वह उनके प्रति मुदिता (प्रसन्नता) से युक्त रहता है। विरोधियों के प्रति उसका मन शान्त रहता है। न वह किसी को भय देता है और न किसी से भयभीत होता है। न ही किसी को दबाता है और न किसी से दबता है। मान में हर्षित नहीं होता, अपमान में कष्ट नहीं मानता। लाभ-हानि, सुख-दुःख को सहज परिवर्तन के रूप में देखता है। किसी भी जड़-चेतन चीज को सुखदायक समझकर उसके साथ नहीं जुड़ता। यह पाठकों के समक्ष प्रथम भिक्षु का चित्र प्रस्तुत किया गया है। दूसरे भिक्षु का स्वरूप घटना-क्रम में से गुजरने पर स्वतः प्रकट हो जायेगा। तब तक थोड़ी प्रतीक्षा कीजिए।

वे दोनों भिक्षु चले जा रहे हैं। रास्ते में एक नदी आ जाती है। वहाँ एक युवति नदी पार करने के लिए उत्सुक है, पर कोई उपाय नहीं सूझ रहा। प्रथम भिक्षु जिसकी अभी ऊपर चर्चा की गयी, युवति को कन्धे पर बिठाकर नदी पार करा देता है। दोनों आगे बढ़ जाते हैं। दूसरा भिक्षु राह

चलता हुआ भी उसी के बारे में सोचता जा रहा है- भिक्षु युवति को कन्धे पर बिठाए! हम भिक्षुओं को अपनी मर्यादाओं का ध्यान रखना चाहिए। यह संसार भाड़ में जाए। इसका हमने ठेका नहीं ले रखा। यह सब विचार करता, सोचता, अन्दर-अन्दर दुःखी होता हुआ आश्रम में पहुँचता है। गुरु के समक्ष समस्या रखता है। प्रथम भिक्षु विनम्र भाव से उत्तर देता है- ''मैंने तो उसे वहीं किनारे पर छोड़ दिया था। क्या आप अब भी साथ ही लिये आ रहे हैं?''

भिक्षु के द्वारा दिये गये इस उत्तर में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या समायी हुई है। घटना प्रातः ७ बजे घटती है, कष्ट सायंकाल, अगले दिन, उससे भी अगले दिन तक साथ-साथ चलता रहता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का अपमान करता है, उसकी कटुता अपमानित व्यक्ति के दिल में सदा-सदा के लिए बैठ जाती है। एक-एक दिन वह उस दुर्भाग्य को ढोता रहता है। व्यापार में घाटा आ गया, किसी कारण से पूरे समाज में अप्रतिष्ठा हो गयी, प्रिय पुत्र का वियोग हो गया, परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया, ओलों के कारण कृषि नष्ट हो गयी। इस प्रकार के एक नहीं अनेकानेक कष्टों व मर्मान्तक पीड़ाओं का व्यक्ति को सामना करना पड़ता है। ये अवसर तो कभी-कभी आते हैं। बड़ी-बड़ी दुःखद घटनायें रोज नहीं घटती, पर उनकी स्मृति वर्षों तक व्यक्ति के साथ चलती रहती है। उसे स्मरण करके व्यक्ति अपने आँसू बहाता रहता है।

भगवान् बुद्ध कहते हैं– धरती पर अब तक जन्मे प्राणियों के यदि उस अश्रुजल को इकट्ठा किया जाए तो सागर के जल से भी वह ज्यादा हो जायेगा। मनुष्य के कदम जहाँ पड़ रहे हैं, उसका चित्त उससे या तो बहुत पीछे रह जाता है या बहुत आगे चला जाता है। बस इसी प्रक्रिया में छिपा हुआ है जीवन के समस्त सौन्दर्य का विनाश। कोई यदि जीवन के सौन्दर्य व सरसता का दर्शन करना चाहता है तो उसे अपने शरीर व चित्त का दैशिक या कालिक दृष्टि से वियोग नहीं होने देना चाहिए।

वस्तुतः जीवन रसस्वरूप है। पर चित्त में उठने वाली अनियन्त्रित वृत्तियाँ उसे नीरस बना देती हैं। स्यात् प्लेटो ने इसीलिए सुन्दर जीवन की व्याख्या इन शब्दों में की है- ''प्रतिक्षण जो मरने का अभ्यास कर रहा है वही श्रेष्ठ जीवन है''। कटुता का मरण कितना कठिन है? किसी आसक्तिपूर्ण मधुर स्मृति का मरण तो और भी अधिक दुष्कर कार्य है। इन दो भिक्षुओं के दृष्टान्त से जीवन को रसमय बनाने का नुस्खा प्रस्तुत किया गया है। आओ, इस सत्य को समझें और वर्तमान में जीना सीखें। क्या यह हमारे लिए अद्भुत उपलब्धियों में से एक नहीं होगी?

*****

☞ सहजकृति केवल वर्तमान को जानती है। भूत-भविष्य से उसका परिचय नहीं है। सहजकृति में कोई अन्तर्विरोध नहीं, वह नित्य नवीन है।

☞ प्रकृति ब्रह्म की सक्रिय अवस्था!

☞ शून्यम्! (यह हृदय है= अपना घर है) सहज सुलभ शरण है। **मन-मणि का कमठाण है।**

२५. दो गरीब भाई

देवदत्त नाम का एक व्यक्ति है। गरीब लोगों के प्रति उसके मन में बहुत घृणा का भाव बैठा हुआ है। यह उनको सदा हीन दृष्टि से देखता है और चोर-चालाक-बेईमान-ठग आदि विशेषणों से विशेषित करता रहता है। उनके प्रति इसके मन में दया-करुणा व प्रेम के स्थान में क्रूरता का भाव भरा हुआ है।

दो गरीब भाइयों ने अपने महत् कर्म के द्वारा देवदत्त की गरीबों के प्रति बनी अवधारणा को सदा-सदा के लिए साफ कर दिया। सो कैसे? सुनिए; एक दिन देवदत्त अपने घर से माचिस लेने के लिए निकला। टहलता हुआ आगे बढ़ा, तो उसने देखा कि सड़क के किनारे पर दो बच्चे रेहड़ी लगाकर अपना छोटा-मोटा सामान बेच रहे हैं। देवदत्त ने बच्चों से माचिस की माँग की। बच्चों ने माचिस उसके हाथ में देते हुए उसका मूल्य पचास पैसे बता दिया। देवदत्त के पास टूटे पैसे नहीं थे। सौ रुपये का नोट था। सो उनमें से एक बच्चे को नोट देकर किसी दुकान पर तुड़वा लाने के लिए भेज दिया। बच्चा जिस दुकान पर गया, वह थोड़ी दूर थी। वह पैसे लेकर वापस आ ही रहा था कि एक कार ने उसको तेज टक्कर मार दी। बालक वहीं बेहोश होकर गिर पड़ा। खैर, कार वाले ने तत्काल उसे अपनी गाड़ी से हॉस्पिटल पहुँचा दिया और उपचार चालू हो गया।

इतने में इधर रेहड़ी पर बैठे हुए, उसके छोटे भाई को भी सूचना मिल गयी कि उसके भाई के साथ दुर्घटना (Accident) हो गयी है, और वह हॉस्पिटल में है। इसलिए वह भी जल्दी से हॉस्पिटल पहुँच गया। तब तक ग्राहक देवदत्त उनकी रेहड़ी के पास ही खड़ा रहा। दुर्घटनाग्रस्त बच्चे को जैसे ही थोड़ा होश आया, उसने इधर-उधर देखा। उसको पता चला कि तू तो हॉस्पिटल में है। अब तुरन्त उसके मन में चिन्ता हुई कि वह व्यक्ति जिसने मुझे पैसे तुड़वा लाने के लिए भेजा था, अब तक प्रतीक्षा कर रहा होगा। अपने भाई को उसने बचे हुए पैसे देते हुए कहा कि शीघ्र जाओ और अकस्मात् मैं मर गया तो मेरे मर जाने से पहले उनसे उनके कष्ट के लिए क्षमा माँगते हुए उनकी यह राशि लौटाओ, अन्यथा वह कहेगा कि ये सब ठग होते हैं।

दुर्घटना-ग्रस्त भाई के द्वारा दी गई ग्राहक की अवशिष्ट राशि लौटाने के लिए वह बालक ज्यों ही उसके पास पहुँचता है और अपने भाई का सारा वृत्तान्त सुनाता है तो देवदत्त का हृदय भर आता है। उसकी गरीबों व निर्धनों के प्रति सारी अवधारणायें एक ही साथ ढह जाती हैं। वह कह उठता है– मैंने निम्न वर्ग कहकर आज तक उसके प्रति जो परिकल्पनायें बनायी थीं, वे छोटे-छोटे इन दो बच्चों ने एकदम मिथ्या सिद्ध कर दीं। मिथ्या ही नहीं, यदि उनके स्थान पर उच्च वर्ग के बच्चे होते तो मैं ऐसा सोचता हूँ– कभी भी इस उत्कृष्ट ईमानदारी का परिचय नहीं दे पाते। अब तो वही देवदत्त निर्धनों के सैकड़ों-सैकड़ों गुणगान करने लगता है।

वस्तुतः धन-ऐश्वर्य को उच्चता व निम्नता का पैमाना बनाकर उच्च वर्ग और निम्न वर्ग जो यह

विभाजन किया जाता है, यह ठीक नहीं है। निर्धन लोग साधन-सम्पन्न लोगों से अधिक परिश्रमी, अधिक ईमानदार, सत्य प्रेमी, कर्त्तव्यनिष्ठ, चरित्रवान्, संयमी आदि प्रायः होते ही हैं। अपवाद तो सब जगह रहते हैं। उनके हृदय में प्रेम, करुणा, दया, धनवानों की तुलना में कहीं ज्यादा होती है। यद्यपि भोगों की भूख तो ज्ञानी पुरुषों को छोड़कर मनुष्य मात्र या जीव मात्र की होती ही है। फिर भी यदि कोई तुलना ही करने लग जाए तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि निर्धन कम भूखे हैं। जो जितना अधिक धनवान् है, वह उतना ही अधिक भूखा है। निर्धन व्यक्ति कम साधनों से बहुत अधिक मात्रा में सन्तुष्ट मिलेगा। तथाकथित धनवान् जितना शीघ्र पैसे के लोभ में बहक जाता है, अपना जमीर बेच देता है, कितना नीचे उतर सकता है- यह सब अकल्पनीय है।

सोने व चाँदी के टुकड़ों के प्रति धनवानों का जो आकर्षण है और उसके कारण ये लोग जो कुछ कर रहे हैं, करते रहते हैं, कर सकते हैं, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। जैसे आँख के रोगी को सूर्य का प्रकाश कष्टकारी होता है, उसी प्रकार माया की चमक से धन-मुग्ध व्यक्तियों की आँखें ही शीघ्र प्रभावित होती हैं। निर्धन यदि अपना बलिदान देना बन्द कर दें तो इस सृष्टि का भौतिक सौन्दर्य ही समाप्त हो जाए। समस्त उत्पादन का मूल शरीर-श्रम है। श्रमिक लोग बेचारे अपना पसीना बहाते हुए इस धरती को हरा भरा किये रखते हैं। इन तपस्वी श्रमिकों को श्री महाराज धरती का देवता कहा करते हैं। उनके स्वनिर्मित भजन की एक टेक है-''श्रमिक जन जीवित पीर फकीर"। और भी उनका एक प्रिय वचन है- ''गरीबी सदाचारियों का भूषण है, श्रद्धालुओं का जीवन है और परानुरागियों का स्वरूप है"।

यद्यपि हमारे प्राचीन वैदिक साहित्य में समृद्धि (Prosperity) की बहुत महिमा गायी गयी है; पर वहाँ 'समृद्धि' का यह अर्थ कतई नहीं है कि एक-दूसरे की देखा-देखी साधनों का अम्बार लगा लिया जाए बल्कि अपनी सही समझ के प्रकाश में अपनी भौतिक आवश्यकताओं का निर्धारण किया जाए और उसके लिए ईमानदारीपूर्वक मेहनत पुरुषार्थ करते हुए जो कुछ साधन उपलब्ध हो जाएँ, उनमें व्यक्ति पूर्ण सन्तुष्ट रहे। श्री महाराज की साधन-सुविधाओं के सम्बन्ध में ठीक यही दृष्टि है।

*****

- हमारे उद्धार में! पहल भगवान् की ओर से! **एकोऽहं बहु स्याम्!** श्वास-प्रश्वास!
  शिशु के जन्म का आदि कारण माँ का संकल्प! शिशु की भूख से पूर्व माँ के स्तन्य का अस्तित्व!
  मीन-कमठ-क्रौञ्च का उदाहरण! चुम्बक-पारस तथा भृङ्गी का उदाहरण!
- **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः** = सोई जानहि जेहि देहु जनाई!
- आत्मस्पर्श में न तो साधक दैन्य भाव के अभिनय से घटता है और न सर्वभूमण्डल के साम्राज्य या प्रतिष्ठा से बढ़ता है!
- जवानी में कमाया हुआ पैसा बुढ़ापे में इतना काम नहीं देता, जितनी जवानी में की हुई सेवा!
- शिवरात्रि सोमवती अमावस्या अपना घर है।

२६. दोहरी खेती दोहरी सफाई

आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा।।

कर्म के सन्दर्भ में महाराज का प्रतीकात्मक भाषा में एक विशेष संकेत यह भी है कि 'दोहरी खेती' या 'दोहरी सफाई' करनी चाहिए। खेती करते समय कृषक को यह समझना चाहिए कि एक तो मैं बाहर भूमि को जोत रहा हूँ। समय-समय पर खाद पानी देता हूँ। फसल जब कुछ बढ़ने लगती है तो घास-पात से उसे बचाता हूँ। निराई-गुड़ाई करता हूँ। इस प्रकार निरन्तर फसल की रक्षा करता हुआ अन्त में अन्न- धान्य रूप में फल प्राप्त करता हूँ। इसके साथ मेरे अन्दर भी एक कृषि-कार्य चल रहा है। जैसा कि बुद्ध ने भी कहा है- 'हे भारद्वाज! यह जो आत्मा की खेती है, इसका बीज श्रद्धा है, वृष्टि तप है और फल प्रज्ञा है। शरीर का संयम, वाणी का संयम और आहार का संयम, ये क्षेत्र की मर्यादायें (बाड़) हैं। मनुष्य का पुरुषार्थ बैल है और उसका मन जोत है। जो इस प्रकार की खेती करता है, वह अमृत की फसल उत्पन्न करता है और दुःखों से छूट जाता है'।

महाराज का कहना है- जब भी इस अन्तःकरण रूपी भूमि में घृणा-काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेषादि स्वाग्रही (Self-asserting) भाव रूपी खरपतवार सिर उठाने लगे तो पुरुषार्थ रूपी कस्सी से तुरन्त उसे उखाड़ देना चाहिए। भक्ति रूपी जल से इसे सींचते रहना चाहिए तथा प्रेम रूपी खाद से इसकी शक्ति को निरन्तर बढ़ाते रहना चाहिए। इस प्रकार प्रयत्न विशेष से सम्पादित अन्तःकरण रूपी उर्वर भूमि में जो भी सेवा रूपी कर्म के उत्तम-उत्तम बीज बोये जायेंगे, वे इस आन्तरिक कृषि करने वाले साधक को अनन्त समृद्धि से युक्त कर देंगे।

इसी प्रकार महाराज कहते हैं- जब तुम झाड़ू लगा रहे हो, उस समय अपने मन में ऐसे भाव जागरित करो कि इस सेवा रूपी झाड़ू के द्वारा मेरे अन्तःकरण में काम-क्रोध-लोभ-मोह-डाह-ईर्ष्या-निन्दा-तृष्णा इत्यादि के रूप में पड़ा हुआ गन्दगी का ढेर भी साफ हो रहा है। बाह्य शुद्धि के साथ मेरा मन भी स्वच्छ होता जा रहा है।

जब तुम गायें चरा रहे हो, उस समय सोचो कि कैसे ये गायें दिन-भर जंगल में चरती हुईं दूध से भर जाती हैं और सायंकाल अपने स्वामी को तृप्त कर देती हैं। पर ये गायें उसी अवस्था में अच्छा दूध बनाकर लाती हैं जब इनका ग्वाला सावधान हो और सचेतन होकर इस बात की निगरानी रख रहा हो कि कहीं गायें मल विष्ठा आदि अभक्ष्य पदार्थ तो नहीं खा रहीं, ध्यानपूर्वक उनको ऐसे स्थान से बचाता रहे। अच्छी आरोग्यदायक पुष्टिकारक हरी-हरी घास वाले स्थान में ही इन्हें ले जाता रहे। जो ग्वाला प्रमाद कर जाता है, सदा गायों के साथ पीछे-पीछे नहीं रहता, उसकी गायें स्वच्छन्द होकर एक तो मल-विष्ठा खाने लग जाती हैं (यह पूर्णतः सत्य बात है)। दूसरा, पर-क्षेत्र में प्रवेश कर अनधिकृत शस्य खाने लगती हैं। अकस्मात् उसी समय यदि वहाँ क्षेत्र स्वामी आ पहुँचता है तो इनकी पिटाई करने लगता है तथा गोस्वामी के पास

आकर उपालम्भ भी देता है। इस प्रकार ग्वाले के प्रमाद करने से अनेकानेक अनर्थ उपस्थित हो जाते हैं।

इस सम्पूर्ण रूपक को अपने अन्दर भी घटाना चाहिए- हमारे शरीर में इन्द्रियाँ ही गायें हैं। मन ग्वाला है। बुद्धि उस ग्वाले को अपार सहयोग देने वाली ज्ञान व बल का समुच्चय स्वरूप उसकी देवी है। आत्मा स्वामी है। इन्द्रिय रूपी गायों के द्वारा विषय रूपी चारा (घास) चरने के लिए संसार रूपी जंगल में प्रातः ही प्रस्थान कर दिया जाता है। बुद्धि रूपी देवी का यदि अपने पतिदेव मन के साथ पूर्ण सामञ्जस्य व पूर्ण प्रेम है तो मन अपनी देवी का ध्यान रखता हुआ सावधान हो अपने कर्त्तव्य-पालन में तत्पर रहता है। एक क्षण के लिए भी वह गाफिल नहीं होता कि इन्द्रिय रूपी गायें किसी के खेत में घुसकर उत्पात मचाने लगें या कहीं इधर-उधर विष्ठा खाने लगें, जिसके परिणाम स्वरूप अपनी देवी जी को शर्मिन्दा होना पड़े। इस प्रकार बुद्धि व मन दोनों के सहयोग से इन्द्रिय रूपी गायें, आत्मा रूपी अपने स्वामी (मालिक) को उत्तम से उत्तम ज्ञान रूपी दूध पिलाती हैं तो आत्मा तृप्त हो जाता है।

महाराज कहते हैं- यदि तुम कोई भवन बना रहे हो तो विचार करो- जैसे एक के ऊपर एक ईंट रखते हुए बड़े परिश्रम से यह भवन बन कर तैयार होता है जिसके बन जाने पर हम आनन्दपूर्वक इसमें निवास करते हैं, उसी प्रकार इस जीवन रूपी भवन के निर्माण के लिए भी सतत जागरूक रहते हुए पसीना बहाना पड़ेगा। एक-एक सद्विचार रूपी ईंट और सद्भावना रूपी सीमेण्ट से शनैः-शनैः कुशल शिल्पी की तरह धैर्य पूर्वक लगे रहकर इसके भव्य रूप को प्रकट करना होगा। तत्पश्चात् इसके ऊपर प्रेम व करुणा की मीनाकारी से इसके सौन्दर्य को निखारना होगा। इस प्रकार महाराज प्रत्येक बाह्य क्रिया व बाह्य निर्माण के साथ अन्तःक्रिया व अन्तर्निर्माण का उपदेश देते हैं। यही है महाराज की दोहरी खेती व दोहरी सफाई का भाव।

*****

☞ विश्व के परमोदार सर्वोच्च न्यायालय से हमें मानव जीवन के रूप में न्याय मिल चुका है। जीने का अधिकार मिल चुका है। बस! अब हमारी ओर से कृतज्ञता!

☞ **अनागसो अदितये स्याम**। ऋचाएँ और सब देव, एकत्व और बहुत्व, सत् और असत्, मूर्त्त और अमूर्त्त, निरुक्त और अनिरुक्त, सब सन्निविष्ट हैं जिसमें, वही परात्पर सत्ता 'पुरुषोत्तम' है, 'अदिति' है।

☞ पवित्र तथा विशाल न्याय और नियमों की आदि स्रोत- विश्व की अदिति माँ! पूर्ण ब्रह्म की आज्ञा पालन के लिए हम श्रद्धापूर्वक सहजभाव से निकट दुःखी जीव सृष्टि की सेवा-साधना द्वारा अपना हृदय शुद्ध करें। यह 'हृदय-शुद्धि' एक व्रत है; तप है; ऋण-मुक्ति है। आस्तिकता तथा प्रभु मिलन का खुला महाद्वार है। **अदितये स्याम**।

☞ इस लोक के फाटक का नाम है 'निश्चल नीरवता'; प्रहरी है वरुण (तीन पाश वाला), इन्द्र (वज्र), यम (दण्ड) और शिव (त्रिशूल=ज्ञान, वैराग्य, लय)।

☞ धूली धूसर किन्तु उजले मुँह और पवित्र हृदय वाले सौम्य शिशुओं के लिए सबकी मय्या सांझ!

२७. लकड़हारा और चन्दन-वन

मृत्कुम्भबालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिनः।
दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त चूर्णीकृतो मया।। (साहित्यदर्पण ३.१४२)
स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलकणाँश्नान्दनैरिन्धनोघैः।। (नी० श० ६२)

श्री महाराज रूपक शैली में जीवन की अमूल्यता का दिग्दर्शन कराने वाली एक दीन-हीन लकड़हारे तथा चन्दन के वन से सम्बन्धित कहानी सुनाया करते हैं। कहानी इस प्रकार है कि एक गरीब निर्धन व्यक्ति है, उसके पास चन्दन का वन है, पर उसे यह नहीं पता कि वह इतना मूल्यवान् है। सो एक दिन आजीविका के लिए अपने साथ कुल्हाड़ी लेकर अपने चन्दन के जंगल में पहुँच जाता है, लकड़ियाँ काटता है, उनके कोयले बनाता है और निकटवर्ती शहर में लाकर बेच देता है। उसके बदले जो पैसे मिलते हैं, उनसे अपना तथा अपने परिवार का गुजारा चलाता हुआ हँसी खुशी में अपना समय बिताने लगता है। यह क्रम बहुत लम्बे समय तक चलता रहता है। आखिर एक दिन उसके मन में विचार आता है कि अब तो तेरे पास यह थोड़ा-सा ही जंगल शेष रह गया है। इसलिए कोयला बनाकर बेच आने के बजाए; क्योंकि कोयला बनाने में अधिक लकड़ियाँ अपेक्षित होती थीं, सो बेशक थोड़ा कष्ट उठाकर ही सही, सीधे लकड़ियाँ ही बेचने के लिए ले चलनी चाहिएँ।

अतः एक वृक्ष से कुछ लकड़ियाँ काटकर अपने सिर पर उठाकर शहर में बेचने के लिए चल देता है। चन्दन की लकड़ियाँ देखकर बाजार में कई विशेषज्ञ लोग इसे घेर कर पूछने लगते हैं कि भाई ये सब चन्दन की लकड़ियाँ कहाँ ले जा रहे हो? क्या बेचने के लिए हैं? इस व्यक्ति की स्वीकृति पाकर उनमें से एक व्यक्ति पाँच सौ रुपये निकालकर देने लगता है, तो दूसरा छः सौ, तीसरा सात सौ, चौथा आठ सौ, पाँचवा नौ सौ, छठा एक हजार रुपये की अधिकतम बोली लगा देता है। इतने में एक और व्यक्ति आ पहुँचता है, देखता है, यह तो बहुत पुराने पेड़ का एकदम असली चन्दन है, वास्तव में कीमती चीज है, सीधे ही १५०० रुपये बोल देता है।

अब तो लकड़हारा यह सब देखकर, उन सब की ये बातें सुनकर धाड़ मारकर गिर पड़ता है। चारों तरफ अरे भाई! क्या हो गया, क्या हो गया- ऐसी आवाज आने लगती है। तुझसे हम कोई जबरदस्ती थोड़े ही छीन रहे हैं। तुझे अपनी चीज का कम पैसा दिखाई दे रहा है, तो मत दे। साफ-साफ बता, कितना पैसा माँग रहा है? अब वह अपनी बीती कहानी सुनाता है कि मैं तो इस हिसाब से अरबों का स्वामी था। मैंने यह क्या नादानी कर डाली? प्रतिदिन एक पेड़ को काटता और थोड़ी-सी सुविधा के लिए उनका कोयला बनाकर यहाँ लाकर बेचता रहा। मैंने अपने बड़े जंगल को जो मुझे मेरे माता-पिता से मिला था, उसी प्रकार समाप्त कर डाला, क्यों मुझे होश नहीं आया? क्यों मैं इतने अँधेरे में रहा? अब मैं क्या करूँ? बहुत थोड़े से पेड़ ही मेरे पास शेष बचे हैं। बस! और

कोई बात नहीं, मैं तो अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ।

श्री महाराज कहते हैं- केवल उस लकड़हारे की नासमझी पर ही हमें नहीं हँसना चाहिए। अपनी तरफ भी देख लेना चाहिए। ऐसा न हो कि कहीं हम भी उस परम पिता के द्वारा दिये गये मनुष्य जीवन रूपी चन्दन-वन को विषयों की आग में जलाकर कोयला बना रहे हों? ध्यान से मनुष्य-जीवन का निरीक्षण किया जाए तो यही लगता है, मनुष्य अपने ही हाथों इस महान् जीवन को कुछ थोड़े से सुखों के लिए सस्ते भाव बेचे चला जा रहा है। सम्पूर्ण जीवन ही क्षुद्रताओं व तुच्छताओं में बीत जाता है। जब थोड़ा-सा समय शेष रहता है, तब आँखें खुलती हैं (वे भी सबकी नहीं) कि यह क्या हो गया? मनुष्य अपने तुच्छ अहं की तृप्ति के लिए, अपनी तुच्छ इच्छाओं व मनोकामनाओं को पूरा करने के लिए क्या उस अज्ञानी लकड़हारे की तरह अपने ही हाथों अपने ऊपर कुल्हाड़ी नहीं बरसाता रहता? प्रातः से सायं यावत् यह सारी की सारी मारा-मारी, जो वह कर रहा है, क्या उसके अपने अमूल्य जीवन की बलि नहीं चढ़ायी जा रही? व्यक्ति या तो जमीन-जायदाद, रुपया-पैसा, भवन-निर्माण इत्यादि वस्तु-संग्रह में लगा रहता है या फिर शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि के विषय-सुख में डूब जाता है अथवा लोगों में अपनी पहचान बनाने के लिए महान् संघर्ष करता है। यह सब पाने के लिए दूसरों को दाँव पर रखना पड़े, किसी का कितना भी दिल दुखाना पड़े, बस वह निरन्तर करता चला जाता है। उसके लिए ये सब बहुत ही सामान्य-सी बातें होती हैं। वास्तव में क्या यह जीवन रूपी चन्दन-वन इन्हीं सब अत्यन्त सतही चीजों को पाने के लिए मिला है? मनुष्य क्या कभी इस बात को देख पाता है कि उसका मन किस प्रकार दूसरों का शोषण व हिंसा करने में जुटा रहता है? हिंसा के द्वारा जो उसके मन को सुख मिलता है क्या वह परिणाम में उसी के लिए दुःख में नहीं बदल जाता?

जिन विषय-सुखों को वह हँस-हँसकर भोगता है– क्या वे ही उसके लिए हलाहल विष का रूप धारण नहीं कर लेते? लकड़हारे की मूर्खता पर तो हम झट से हँस देते हैं, पर उसकी अन्धता व जड़ता पर उपहास करने वाले व्यक्ति को स्वयं की मूर्खता क्यों नहीं नजर आती? यह बुद्धिमान् मनुष्य दूसरों के सन्दर्भ में जितना चतुर, गम्भीर, महामति दिखाई देता है- जब स्वयं के अवलोकन की बात आती है- तो क्यों बेहोश हो जाता है? क्यों अपनी आँखें बन्द कर लेता है? यह मनुष्य यदि एक क्षण रुककर अपने आप को पूरी तरह देख ले, तो क्या यह बात उसके समक्ष सर्वथा स्पष्ट नहीं हो जायेगी कि यात्रा की दिशा तो तूने लक्ष्य से विपरीत पकड़ी हुई है। क्या दूसरों के रिझाने में ही अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्य की इतिश्री हो जाती है?

क्या इस अमूल्य जीवन की यही कृतार्थता है कि निरन्तर द्वन्द्वों में अर्थात् आन्तरिक व बाह्य संघर्ष में जीते रहना? क्या इस सृष्टि के सर्वोत्कृष्ट प्राणी मनुष्य ने सुख व दुःख के सतत चल रहे चक्र को तोड़ने में भी कभी अपना मन लगाया है? क्या कभी यह भी इच्छा करता है कि मैं आन्तरिक स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त करूँ? क्या कभी विचार करता है कि जीवन की धन्यता वस्तुसंग्रह और भोग में नहीं है, बल्कि सेवा में या ज्ञान में और पूर्ण स्वाधीन होने में है? क्या कभी भयमुक्त जीवन जीने के

उपायों को खोजने के लिए भी प्रयास किया है? यदि यह सब नहीं कर रहा है तो क्या स्पष्ट ही इस जीवन रूपी चन्दन-वन को कोयला बनाकर सस्ते भाव बेचने-जैसा नहीं हो रहा और उस लकड़हारे की भाँति क्या उसे अन्त समय में रोना नहीं पड़ेगा? यदि व्यक्ति बुद्धिमान् है तो अवश्य ही उसे अपनी जीवन-यात्रा की दिशा का अवबोध प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा सिवाय रोने व पश्चात्ताप करने के उसके हाथ-पल्ले कुछ भी नहीं पड़ने वाला है।

अपने आपको प्रज्ञावान् समझने वाले व्यक्तियों को तो समय रहते सचेत हो ही जाना चाहिए! वस्तुतः वे ही सार्थक जीवन जी पाते हैं, जिनकी दीर्घदृष्टि वर्तमानकालिक क्रियाओं के परिणाम को सदा देख रही होती है। लक्ष्य को बिना देखे ही वे तीर नहीं छोड़ते, प्रत्येक कर्म का चुनाव उसके परिणाम को देखकर ही करते हैं। यदि ऐसा है तो फिर रोना क्योंकर हो सकता है!

- अदिति= यह पराज्योति है और अन्य ज्योतियाँ तथा प्रकाश-घटक इसी दिव्य माँ के शिशु हैं। परा असीम सत्ता है। देवमाता है। प्रत्येक सत्ताधारी नामरूपात्मक घटक की आदि जननी है; आदि स्रोत है। अविभक्त चेतना है। पूर्ण सत्य, अखण्ड आनन्द और निस्सीम प्रेममय है। अदिति माँ की करुणा सब पर समान रूप से बरस रही है और अपने स्वभाववश लोककल्याण रूपी दया की तरंगों के रूप में भी कभी-कभी उभार लेती है। ऐसे पावन स्फुरण में सामान्य तड़प वालों का भी सहज ही उद्धार हो जाता है। परन्तु अदिति माँ की कृपा-पात्रता प्राप्त करना महान् आरोहण है। दिव्य माँ की पूर्ण कृपा-पात्रता प्राप्त करने के लिए सर्वांगी अनागस् होना है। **अनागसो अदितये स्याम**।
- अदिति=वाक्तत्त्व। पृश्निमाता। ऋतावरी। परमव्योम। परा मातृशक्ति। देवता समष्टि का बीजकोश। मैत्रावरुण की आदि जननी।
- त्याग के लिए भोग है और अपवर्ग के लिए यह लोक जीवन।
- कर्म हों ऋणमुक्ति, चित्तशुद्धि और कृतज्ञता के लिए।
- प्रेम का फल आनन्द! वासना का फल शोक! वासना शाप है, तप से इस शाप का निराकरण!
- व्यक्ति प्रतीक है। कृति की पूजा करो, व्यक्ति की नहीं।
- सात पाप (Seven Sins)
  Politics without Principle.
  Wealth without Work.
  Pleasure without Conscience.
  Knowledge without character.
  Commerce without Morality.
  Science without Humanity.
  Worship without Sacrifice.

२८. उदारता-निर्भयता-संयम

गरीबी में उदारता, संकट में निर्भयता (प्रपञ्च में शान्त), एकान्त में संयम- श्री महाराज साधकों के लिए सूफी सन्तों के इस त्रिसूत्री कार्यक्रम का संकेत किया करते हैं। ये थोड़े-से शब्द इतने व्यावहारिक व अर्थगर्भित हैं कि यदि कोई इनकी साधना कर ले तो वह अपने जीवन को महान् सौभाग्य से भर सकता है। आइए! इन सटीक व सारभूत उपदेशों पर विचार करते हैं-

गरीबी में उदारता :- 'उदारता' मानव हृदय की एक विशेष स्थिति है। हृदय का जब संकोच भाव समाप्त होकर विशालता में परिवर्तित हो जाता है, तो उस अवस्था का नाम है- 'उदारता'। हृदय इतना अधिक संकुचित हो सकता है कि उसमें किसी भी चीज को स्थान न मिले, और इतना विशाल भी हो सकता है कि सब कुछ ही उसमें समा जाए। वैदिक ऋषि भी जब **'ओ३म् महः पुनातु हृदये। ओ३म् मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'** इत्यादि प्रार्थनायें करते हैं, तो उनका भाव अपने हृदय को विशाल बनाने का ही होता है।

समय-शक्ति-विद्या-बुद्धि-धन-ऐश्वर्य, भौतिक साधन, जमीन-जायदाद, समझ (ज्ञानशक्ति) इत्यादि व्यक्ति के पास जो कुछ भी शुभ होता है, वह उनके लिए होता है जिनको वह अपना समझता है। इस अपनेपन का जितना विस्तार होता जाता है, उसी अनुपात में हृदय की विशालता या उदारता बढ़ती जाती है। एक व्यक्ति का अपनापन अपने शरीर तक होता है, दूसरे का परिवार तक, तीसरे का गाँव तक, चौथे का अपने इलाके तक, पाँचवें का प्रान्त तक, छठे का देश तक, सातवें का विश्व तक। इनमें भी कुछ के प्रति अपनापन प्रधानरूप से होता है और शेष के प्रति गौणरूप से। जिसको प्रधानरूप से अपना मान लिया है उसके लिए तो सभी अपने-अपने स्तर पर त्याग कर रहे हैं- उसमें कुछ कहने-सुनने की बात ही नहीं है। पर उदारता की आवश्यकता वहाँ पड़ती है, जब कोई अपरिचित भी सहयोगापेक्षी होता है। यह उदारता ही है जो व्यक्ति का ध्यान अपने 'स्व' से हटाकर 'पर' पर केन्द्रित कर देती है।

इस समस्त संसार को देखने से ऐसा लगता है कि तीन प्रकार के लोग हैं- **एक** वे हैं 'जो सारी सृष्टि को अपने सुख के लिए समझते हैं'। **दूसरे** 'सारी सृष्टि के सुख के लिए अपने आपको समझते हैं'। **तीसरे** 'परस्पर के सुख के लिए यह सृष्टि है ऐसा समझते हैं'। पहली विचारधारा के लोग सर्वथा क्रूर, हृदयहीन, संकुचित, अनुदार हो जाते हैं। वे सृष्टि का उपयोग अपने सुख के लिए करते तो हैं, पर वैसा चाहते हुए भी वे सुख ले नहीं सकते। वे मात्र अपने अहं की तृप्ति, वह भी कुछ आंशिक रूप में ही कर सकते हैं। सुख उन लोगों के हिस्से में नहीं आता, क्योंकि **सृष्टि नियम ही कुछ ऐसे हैं- व्यक्ति जो कुछ दूसरों को देता है वही उसे मात्रा में कई गुणा बढ़कर वापस मिलता है।** जब व्यक्ति दूसरों के लिए अच्छा-बुरा कुछ कर रहा होता है तो मानो उस समय उन कर्मों के

बीज बो रहा होता है, जो बाद में फल के रूप में व्यक्ति को मिल जाते हैं। फल हमेशा अधिक ही होता है। बीज तो एक होता है, उस पर फल सैकड़ों लगते हैं। सो दूसरों को दुःख देने वालों को दुःख तथा सुख देने वालों को सुख और उसमें भी जिस तारतम्य भेद से वह दिया जा रहा है, उसी तारतम्य से प्राप्त होता रहता है।

दूसरे प्रकार के लोग जो पूर्ण रूप से अपने आप को सृष्टि के सुख के लिए समझते हैं, वे अवश्य ही संख्या में इतने कम होते हैं कि उनकी गिनती अङ्गुलियों पर की जा सकती है। पर युगों-युगों तक वे ही अपने प्रकाश से सम्पूर्ण मानवता को आलोकित करते रहते हैं। सृष्टि के सूर्य, चन्द्र, वायु इत्यादि समस्त प्राकृत पदार्थ बिना भेदभाव के जैसे अपनी सेवायें अर्पित करते हैं, उसी प्रकार वे भी निष्पक्ष होकर अपने प्रेम व करुणा को निरन्तर प्राणिमात्र के ऊपर उडेलते रहते हैं। उनके लिए न कोई अपना होता है न कोई पराया। न कोई शत्रु न कोई मित्र, न कोई उपकारी न कोई अपकारी, न कोई भाई न कोई सखा, न कोई बड़ा न कोई छोटा, न कोई हीन न कोई महान्, न कोई उच्च न कोई नीच- सब प्राणियों में सम रूप से अवस्थित उस आत्म-तत्त्व को ही वे देखते रहते हैं।

इसलिए वे भी सबके लिए 'सम' हो जाते हैं और देश-काल परिस्थिति के अनुसार जो उनके पास उत्तम से उत्तम ज्ञान, विद्या, धन, औषधादि होता है उसकी समान रूप से अपने 'निकटवर्ती जीव जगत्' पर वृष्टि करते रहते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है, जैसा कि कहा गया मनोवैज्ञानिक स्तर पर न कोई उनके निकट होता है न कोई दूर, इसलिए 'निकटवर्ती' शब्द उन लोगों की ओर संकेत मात्र है जो शरीर से उन महान् आत्माओं के समीप उनकी सेवायें लेने के लिए उपस्थित होते हैं। सचमुच ऐसे ज्ञानी पुरुषों का हृदय इतना विशाल होता है, जिससे बाहर कुछ भी शेष नहीं बचता। ये तो उदारता के मूर्त्त रूप ही होते हैं।

तीसरे प्रकार के लोग जो सृष्टि को परस्पर एक दूसरे के सुख के लिए मानते हैं, वे दूसरों के जीवन व स्वतन्त्रता में बाधक न बनते हुए उनसे सुख लेते हैं तथा बदले में जो उनके पास है उसे देते भी रहते हैं। इस मान्यता वाले लोगों के अनेक स्तर भेद होते हैं, कुछ दूसरों से अधिक सुख लेना चाहते हैं और बदले में कम सुख देना चाहते हैं, दे पाते हैं या देते हैं। कुछ दूसरे ऐसे भी होते हैं, जो दूसरों से कम-से-कम अपेक्षा रखते हैं और अधिक-से-अधिक सहयोग करना चाहते हैं।

सर्वत्र उदारता के मूल में प्रेम व करुणा का ही हाथ रहता है। जितना-जितना व्यक्ति में यह भाव बढ़ता जाता है, उतना-उतना उसका ध्यान अपने से हटने लगता है तथा दूसरे पर टिकने लगता है। जब व्यक्ति दूसरे को अपने से अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है, तो दूसरे के दुःख, या दूसरे की आवश्यकता पर तत्काल ध्यान जाता है। और उस अवस्था में जो उसके पास है उसी से उसकी सेवा करना चाहता है। किसी के पास लाखों रुपये हैं, उनमें से सौ-दो-सौ रुपये किसी को दे देता है। दूसरे के पास सौ-दो-सौ ही हैं- वे ही अर्पित कर देता है। श्री महाराज कहते हैं- 'यही है गरीबी में उदारता'।

एक और उदाहरण लीजिए- एक भिखारी कटोरा लिये भीख माँग रहा है। राजा का उधर से गुजरना हुआ कि राजा ने उसके कटोरे में चार आने डाल दिये। इतने में एक कोई दूसरा भिखारी आ

निकला और उसने उस भिखारी के सामने हाथ फैला दिया- भिखारी ने कटोरे सहित चार आने उसको दे दिये। यह है गरीबी में उदारता। राजा ने तो चार आने दिये, इसने चार आने भी दे दिये और कटोरा भी।

महाभारत में भी इसका तेजस्वी उदाहरण मिलता है- जबकि कई दिन बाद एक ब्राह्मण परिवार को भोजन मिला। अकस्मात् उसी समय एक भूखे व्यक्ति का आना हो गया। उस ब्राह्मण परिवार के चार सदस्य थे, सबने अपना-अपना हिस्सा बारी-बारी करके भूखे अतिथि को प्रसन्नता-पूर्वक खिला दिया। बोझ मानते हुए या दुःखी होते हुए नहीं, बल्कि आनन्द के साथ। वस्तुतः यह हृदय का एक महान् सद्गुण है। कोमलता (Humility) की पराकाष्ठा है। ऐसा हृदय अहित व दुरित से स्वतः ही निवृत्त हो जाता है, क्योंकि अहित करने के लिए हृदय का कठोर होना आवश्यक है। कोमल हृदय का तो भला करना स्वभाव ही हो जाता है।

संकट में निर्भयता :- संकट में आत्मनिष्ठ, प्रपञ्च में पूर्णप्रज्ञ प्रशान्त, प्रतिकूलताओं में समाहित, संकट में समाधिस्थ, संकट में निर्भयता, ये सभी शब्द मूल रूप में एक ही अर्थ को प्रकट कर रहे हैं कि जिस प्रकार अनुकूलताओं में व्यक्ति का मन शान्त व समाहित होता है, उसी प्रकार प्रतिकूलता में भी रह सके तो समझना चाहिए कि जीवन यात्रा की दिशा ठीक है। संकट, प्रतिकूलता और प्रपञ्च व्यक्ति के लिए परीक्षा की घड़ी होते हैं। उस अवस्था से ही व्यक्ति की साधना का निश्चय होता है कि वह कहाँ खड़ा है? कितनी प्रगति हुई है? श्री महाराज एक बात और कहा करते हैं कि आचरण के क्षेत्र में शत-प्रतिशत अङ्क लेने पर ही उत्तीर्णता मानी जाती है। सो यहाँ पर या तो व्यक्ति उत्तीर्ण होता है या अनुत्तीर्ण बीच की और कोई सीमा रेखा नहीं है। संकट के समय यदि व्यक्ति का चित्त थोड़ा-सा भी डाँवाडोल हो जाता है तो यही समझना चाहिए कि वह असफल हो गया।

अनुकूल समय तो किसी साधक के लिए वैसा ही होता है जैसा कोई परीक्षार्थी या कोई मल्ल अपनी तैयारी कर रहा होता है। यह कहना अनावश्यक है कि तैयारी जितनी अच्छी होगी, परीक्षा देने में सुविधा उतनी अधिक होगी। एक मल्ल बिना ही व्यायामादि और स्वास्थ्य के नियमों का आचरण किये, यदि अखाड़े में उतर पड़ता है, तो विजय के लिए क्या आशा की जा सकती है? मन को लक्ष्य करके ही सजगता व शान्त ध्यान आदि साधनों के द्वारा व्यक्ति को अपनी सत्ता की गहराई में बार-बार उतरना होता है। विषम परिस्थितियों के उपस्थित होने पर मन को कैसे शान्त रखा जाता है, यह इस विद्या को अधिगत करने पर ही आशा की जा सकती है कि व्यक्ति संकट के समय भी निर्भय बना रहे।

जैसे दूध दुहने की या नदी में तैरने की एक कला होती है। जो लोग इन कलाओं में पारङ्गत हो जाते हैं उन्हें इन कामों को करने में कोई कठिनाई नहीं होती। बाकी लोगों के लिए इस प्रकार के सरल कार्य भी असम्भव जैसे प्रतीत होते हैं। सतत व्यायाम के अभ्यास के द्वारा जैसे व्यक्ति अपनी क्षमताओं को धीरे-धीरे बढ़ाता चला जाता है। माँसपेशियाँ सर्वथा उसके अनुकूल हो जाती हैं। उसी प्रकार मन को भी प्रशिक्षित किया जाता है। नट लोग एक पतले तार पर चलने जैसा कठिन कार्य अभ्यास बल से ही तो कर पाते हैं। आचरण के क्षेत्र में भी अभ्यास का यही महत्त्व है। श्री महाराज तो अभ्यास को इतना महत्त्व देते हैं कि उनका यहाँ तक कहना है- **'यदि अभ्यास अपूर्ण है तो कोई भी ऊँची से ऊँची**

जानकारी किसी समस्या के समाधान में कुछ भी मदद नहीं कर सकती, और यदि अभ्यास पूर्ण है तो फिर तथ्यात्मक ज्ञान का वस्तुतः कोई अर्थ नहीं रह जाता'। सो वे कहते हैं- **'ज्ञान का अर्थ जानना नहीं, बल्कि वैसा हो जाना है'।**

वे एक बात और भी कहते हैं- 'आवश्यक नहीं कि विचारों की भूल का तत्काल पता लग जाए, पर आचरण की भूल उसी समय प्रकट हो जाती है'। सो आचरण को भूल-रहित बनाने का श्री महाराज के अनुसार एक ही अनन्य साधन है- 'अभ्यास'। मन की शान्त स्थिति को बनाए रखने के लिए जो आन्तरिक प्रयत्न किया जाता है उसी का नाम है 'अभ्यास'। महाराज का कहना है कि **सत्य को बुद्धि के द्वारा समझ लेना कोई कठिन काम नहीं है, उस पर निरन्तर चलना या चलते रहना, यही आवश्यक, मुख्य व असाधारण कार्य है।** इस विषय में आश्रम में एक शिलालेख भी है- **'अभ्यास के बिना सिद्धान्त एक विडम्बना है'।** प्रायः व्यक्ति विभिन्न सिद्धान्तों को समझने में जितना व्यग्र रहता है उतना उस जाने हुए सत्य का अभ्यास करने के लिए नहीं होता।

मन को निरन्तर साधने का अभ्यास ही तो 'साधना' है, जिसके द्वारा प्रपञ्च में शान्त रहा जा सकता है। यही वह प्रमुख व अन्तरङ्ग साधन है जिसके बल पर आज तक ज्ञानी-सन्त-महात्मा-विप्र-ऋषि-महर्षि-योगी-तपस्वी जनों ने महान् पद को प्राप्त करके मनुष्य जीवन की उच्चतम सम्भावनाओं को चरितार्थ करके दिखाया है।

स्वाध्याय-सत्संग, उच्च-उद्देश्य, कार्मिक-व्यस्ततायें व्यक्ति की मदद तो करती हैं, पर उस साधन की अपेक्षा ये सब बहिरङ्ग ही हैं। इस प्रकार **मन को साधने की विद्या में ही समस्याओं का अन्तिम समाधान छिपा हुआ है।** महाराज ऐसे सन्तों को अपनी प्रणामाञ्जलि भेंट करते हुए कहा करते हैं- **'हम तो उन सन्तों के दास जिन्होंने मन साध लिया'।** यों तो मन को साधने के लिए साधकों ने अपने-अपने ढंग से विभिन्न आविष्कार किये हैं, पर योग-सूत्रकार पतञ्जलि ने **दो प्रमुख साधनों** का निर्देश किया है— या तो व्यक्ति नेति-नेति के द्वारा अपने-आपको पहचाने कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं पञ्चभूत नहीं हूँ, मैं पञ्चतन्मात्र नहीं हूँ, मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ, मैं मन भी नहीं हूँ और मन की वृत्तियाँ भी नहीं हूँ, मैं सद्-असद् भावनायें भी नहीं हूँ, मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, मैं वह अहङ्कार भी नहीं हूँ जिसके द्वारा व्यक्ति अपने-आपको, 'मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ' इस रूप में समझता है, इन सबका निषेध करने पर जो बचा रहता है— वह पूर्ण चिन्मय रूप ही मेरा सच्चा रूप है।

एक तो इस स्वरूप प्राप्तिरूप आश्रय के द्वारा व्यक्ति प्रकृति के सूक्ष्म व जटिल बन्धनों को तोड़ सकता है। बन्धनों के टूटते ही व्यक्ति अभय हो जाता है। जब तक व्यक्ति बन्धन में होता है, तभी तक किसी प्रकार का 'भय' उसका पीछा करता है। भय-बाधा-कठिनाइयाँ-अशान्ति-दुःख, ये सब मन व बुद्धि के अविवेक की ही तो उपज हैं। सो मन व बुद्धि को ज्ञान से आलोकित रखने के लिए 'प्रकृति-पुरुष विवेक' एक उपाय है। या फिर **दूसरा उपाय** है मन को उच्चतर शक्ति के प्रति पूर्ण समर्पित रखना, भक्ति से सदा ही लबालब भरे रहना, अपनी समस्त शारीरिक-वाचिक क्रियाओं, मन के विचारों व हार्दिक भावनाओं की उस परम शक्ति के प्रति आहुति देते रहना— इस भक्तिरूप

उपाय से भी मन शान्त हो जाता है। सम्पूर्ण संसार भी यदि उसके विरोध में खड़ा हो जाए, तो भी वह अपने आप को पूर्ण सुरक्षित समझता है।

कैसी भी विषम से विषम घटनाओं व परिस्थितियों का भी वह हँसते-हँसते स्वागत करता है। घोर अपमान, तिरस्कार व घृणा से सर्वथा अलिप्त रहता है। किसी के द्वारा उस पर क्रोध की दनादन वर्षा किये जाने पर कछुए की भाँति अपने आप को अन्दर खींच लेता है। विरोधियों के द्वारा कष्ट पहुँचाये जाने पर कभी भी प्रतिहिंसा व प्रतिशोध का भाव नहीं लाता। चारों तरफ शोक व मोह का सागर उमड़ पड़ने पर भी ऐसी मुक्ति प्राप्त कर लेता है कि उस शोकसागर या मोहसागर में अपने-आपको डूबने नहीं देता। स्वामी दयानन्द ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में निज अनुभव बल से उपासक की महती उपलब्धि का इन्हीं शब्दों में वर्णन किया है कि **'कष्टों का साक्षात् पहाड़ टूट पड़ने पर भी वह शान्ति से सह सकने में समर्थ हो जाता है'**। वस्तुतः केवल एतद्विषयक संकल्प मात्र कर लेने से अथवा किसी महापुरुष का प्रवचन सुन लेने से या ऊँचे-से-ऊँचे शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर लेने मात्र से 'प्रतिकूलताओं में प्रशान्त' नहीं रहा जा सकता। इसके लिए मन का सतत जागरूक रहना परम आवश्यक है।

एकान्त में संयम :- व्यक्ति समूह में जो आचरण करता है, उसमें मान-अपमान का भाव बीच में आ जाने के कारण बाह्य दिखावा अधिक विद्यमान रहता है। अन्दर से व्यक्ति चाहे संयमी न भी रहे, पर बाहर से संयम का प्रदर्शन करना होता है। कारण? समाज के द्वारा दण्डित होने का भय व पुरस्कार का प्रलोभन बराबर ही उसके समक्ष बना रहता है। अन्दर-अन्दर कोई भी कामना अपनी जड़ जमाए रहती है, प्रलोभन व्यक्ति को खींचता रहता है, पर सामाजिक भय के कारण व्यक्ति शरीरतः वैसा कर नहीं सकता और इसलिए बाह्य दिखावा मात्र करता रहता है अर्थात् उस अवसर पर व्यक्ति का मन तो असंयमी हो जाता है, पर शरीर को व्यक्ति जैसे-तैसे वैसा करने से रोके रखता है। महाराज कहते हैं कि यदि व्यक्ति का मन संयमी है तो ही समझना चाहिए कि व्यक्ति संयमी है।

व्यक्ति के मन के संयम-असंयम की परीक्षा तब होती है, जब उसे किसी प्रकार का बाह्य भय नहीं होता। सर्वथा एकान्त निर्जन स्थान में भी किसी को यौवन का सौन्दर्य किञ्चित् भी आकृष्ट न कर सके या फिर कहीं इसी प्रकार प्राप्त हुए सोने का आकर्षण उसे लुभा न सके तो समझना चाहिए कि अमुक व्यक्ति ने अपने मन पर संयम कर लिया है। कहने का भाव यह है कि व्यक्ति बुराई से या तो आन्तरिक धर्मनिष्ठा और ईश्वर विश्वास के द्वारा रुकता है, अथवा बाह्य सामाजिक मर्यादाओं के द्वारा अर्थात् किसी बाह्य भय के द्वारा। एकान्त में संयमी वे ही हो सकते हैं जिनका अपनी अन्तःसत्ता में पूर्ण विश्वास हो। अपनी अन्तरात्मा में जिन्होंने सत्य-असत्य को पहचान लिया हो। वस्तुतः इस स्थिति को प्राप्त हुआ व्यक्ति सर्वथा सर्वदा निर्भय हो जाता है। सरलार्थ यह है– एकान्त में संयमी होना **देवत्व** है। बाह्य भयवश अपने आपको किसी बुराई से बचाना सामान्य **मनुष्यत्व** है। किन्तु साधक का तो लक्ष्य यही है कि वह मनुष्यत्व से देवत्व की ओर सतत आरोहण करता रहे।

२६. धर्म की आत्मा और शरीर

ज्ञान को धर्म की आत्मा माना जाए तो कर्म उसका शरीर होगा। आत्मा और शरीर के स्वरूप और सम्बन्ध पर विचार करें तो कहा जायेगा कि आत्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं। उधर शरीर के बिना आत्मा अनभिव्यक्त रहता है, अर्थात् शरीर के माध्यम से ही आत्मा अभिव्यक्ति पाता है या अभिव्यक्त होता है। प्रकृत में भी ज्ञान और कर्म एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान नहीं तो कर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं तथा कर्म के बिना ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं। केवल आत्मा या केवल शरीर जैसे अधूरे रहते हैं या यों कहें कुछ भी फलप्रद नहीं होते, उसी प्रकार कोई व्यक्ति धर्म सम्बन्धी ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानार्जन में लगा रहे अथवा ज्ञान की उपेक्षा करके केवल कर्म करने में ही व्यस्त रहे तो धर्म का आधा हिस्सा ही पकड़ा हुआ माना जायेगा। इसलिए कोई व्यक्ति धर्म से सुख चाहता है तो ज्ञान और कर्म दोनों को साथ-साथ लेकर चलना होगा।

यहाँ ज्ञान से तात्पर्य है जगत् और जीवन के बीच सामञ्जस्य या सन्तुलन स्थापित करने वाले उन नियमों की जानकारी, जिनकी परिणति जीवन में सुख के रूप में होती है। उन नियमों में से कुछ नियम तो ऐसे होते हैं जो दूसरों से सम्बन्ध रखते हैं तथा कुछ केवल अपने से ही। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दान व दया का सम्बन्ध प्रायः दूसरों के साथ है। व्यक्ति यदि अकेला हो तो धर्म के इन रूपों की प्रायः कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। मुख्यरूप से दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध में ही हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, चौर्य-अचौर्य, ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य, परिग्रह-अपरिग्रह, दान-अदान, दया व क्रूरता का अर्थ समझा जा सकता है। अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध में ही इन उपर्युक्त विविध नियमों का स्वरूप पूर्णतः प्रकट हो सकता है। दूसरे शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान, ये धर्म के इस प्रकार के रूप हैं जो प्रायः स्वयं व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। व्यक्ति केवल अकेला हो तो भी इनकी आवश्यकता है या इन शब्दों के द्वारा संकेतित अर्थ की प्रयोजनीयता है। पवित्रता, सन्तोष आदि के चरितार्थ होने के लिए सामाजिक पारस्परिकता की आवश्यकता नहीं है बल्कि ये तो व्यक्ति की निजी वस्तुएँ हैं। इन गुणों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति को स्वयं के द्वारा स्वयं का मूल्यांकन करना होता है।

इसी प्रकार धैर्य-क्षमा-मनोनिग्रह-इन्द्रियसंयम, उत्तम बुद्धि, उत्तम विद्या या शिक्षा, अक्रोध आदि विशिष्ट गुण भी धर्म के स्वरूप को प्रकट करने वाले कहे जाते हैं। बुद्ध ने इन सभी नियमों को 'शील' इस शब्द से अभिहित किया है। सार रूप में कहें तो कहना होगा कि जीवन और जगत् (चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक) जिन नियमों के ऊपर टिका हुआ है, जिनके न होने से व्यक्ति का स्वरूप ही बिखर जाता है, सर्वथा विखण्डित हो जाता है, उन नियमों का नाम है 'धर्म'। हर वस्तु का अपना एक धर्म होता है। उसी के आधार पर उस वस्तु का टिकाव या ठहराव होता है। यदि वह धर्म न रहे तो वह वस्तु भी न रहेगी। जैसे अग्नि का धर्म है उष्णता, मधु का धर्म है मिठास, सूर्य का धर्म है ऊर्जादान।

इसी प्रकार मनुष्य का भी एक धर्म है जिसको 'मनुष्यता' नाम से प्रकट किया जाता है। मनुष्यता में जिन-जिन अर्थों का समावेश है वे हैं- धृति-क्षमा-इन्द्रियनिग्रह-मनोनिग्रह-सहयोग-शान्ति इत्यादि।

यह हुआ धर्म का ज्ञान पक्ष। इसे अब कर्म के रूप में प्रकट करना होता है। ज्ञान धर्म का बौद्धिक स्वरूप है तो कर्म होगा व्यावहारिक स्वरूप। कोई व्यक्ति धर्म की उत्तम से उत्तम व्याख्या कर दे, बुद्धि के द्वारा अच्छी प्रकार समझ ले और दूसरों को भी समझा दे, पर यदि वह व्याख्या कर्म में नहीं उतर पा रही, कर्म के साथ सुसंवादी न होकर विसंवादी है, तो कहना होगा कि धर्म का शरीर प्रकट नहीं हो रहा या नहीं हो पा रहा। और शरीर के बिना आत्मा से क्या लाभ उठाया जा सकता है? कुछ नहीं। इस विषय पर थोड़ा भी ध्यान दें तो बहुत सरलता से समझ में आ जाता है कि शरीर के बिना आत्मा की स्थिति वैसी ही है जैसे विद्युत् तो है पर उसके प्रवाहित होने के लिए आगे कोई यन्त्र नहीं है- बल्ब, पंखा, कोई बड़ी मशीन इत्यादि। विद्युत् को चरितार्थ होने के लिए अवश्य ही कोई यन्त्र चाहिए। तद्वत् धर्म के स्वरूप का जो बौद्धिक-पक्ष 'ज्ञान रूप' है उसे भी सफल होने के लिए कर्म रूपी ढाँचे की आवश्यकता है, जहाँ ज्ञानरूपी विद्युत् कर्मरूपी यन्त्र में प्रकट हो सके। धर्म के ज्ञान व कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को इस रूप में देख व समझकर यदि लाभ उठाया जाए तो ही धर्म हमें अपना सम्पूर्ण लाभ दे सकता है। वे लोग भी अधूरे ही रहते हैं जो कर्म करने में तो अन्धा-धुन्ध लगे रहते हैं, पर ज्ञान को कोई महत्त्व नहीं देते। उस अवस्था में उनके कर्म धर्म के विरुद्ध भी जाते रहते हैं। इसलिए उनको दुःखरूपी फल भोगना ही पड़ता है।

*****

- ☞ नामजप=मनन। भक्ति में संक्रमण शक्ति होती है। चाहे वह वैधीभक्ति हो या प्रेमाभक्ति।
- ☞ कुण्डलिनी हृदय में ही स्थित है। षट्चक्रों का आधार हृदय ही है।
- ☞ योग= अवर से पर की ओर खुलना।
- ☞ इस पृथ्वी पर हमारा जीवन एक दिव्य काव्य है, जिसका अनुवाद हम पार्थिव भाषा में कर रहे हैं। अथवा वह दिव्य संगीत की एक तान है जिसे हम शब्दों में रूपान्तरित कर रहे हैं।
- ☞ पाँच कोष- १. यह हाथ-हाड़ मांस चमड़ा आदि **अन्नमय कोष।**
  २. इन हाथ आदि में क्रिया शक्ति– **प्राणमय कोष।**
  ३. जिस इच्छा से यह शक्ति कार्य करती है वह **मनोमय कोष।**
  ४. इच्छा का अभिमानी- **विज्ञानमय कोष।**
  ५. इन सब व्यापारों में जो सुख हो रहा है वह **आनन्दमय कोष।**
  इन सब व्यापारों में जिसको सुख हो रहा है वह **'आत्मा'** सुख का भोक्ता।
- ☞ वासनाओं का केन्द्र मस्तिष्क नहीं हृदय है।
- ☞ मस्तिष्क तो केवल हृत्-स्पंदनों के खेल की रंगभूमि है।

३०. हजरत का क्षमा-न्याय

अरब में हजरत उमर नाम का एक बादशाह हुआ है। इन्हें खलीफा उमर भी कहते हैं। अरब में उस समय धर्मगुरु और बादशाह एक ही व्यक्ति होता था। इसलिए कोई-कोई बादशाह आध्यात्मिक दृष्टि से भी बहुत उन्नत होता था। हजरत उमर भी एक ऐसा ही आध्यात्मिक विभूति सम्पन्न महापुरुष था।

ऐसा हुआ कि हजरत उमर का इनके एक प्रतिद्वन्द्वी राजा के साथ बहुत समय से युद्ध चला आ रहा था। वह राजा पर्याप्त सबल था। एक बार उस राजा के लड़ाई में परास्त होने के बाद द्वन्द्व युद्ध होने लगा। हजरत उमर ने उसको नीचे गिरा लिया और उसकी छाती पर बैठ गया। उमर अभी उसके ऊपर भाले का प्रहार करने ही जा रहा था, इतने में प्रतिद्वन्द्वी राजा ने नीचे पड़े-पड़े सोचा अब मरना तो है ही, अपमान करने में क्यों पीछे रहा जाए? उसने हजरत उमर के मुँह पर थूक दिया। थूकते ही हजरत उमर उसे वहीं छोड़कर अलग खड़ा हो गया। उमर के सैनिकों ने पूछा- जहाँपनाह! यह क्या किया? यह इतने समय के बाद बड़ी मुश्किल से तो पकड़ में आया, और फिर नीचे पड़े हुए को आपने छोड़ दिया?

हजरत ने इसका जो उत्तर दिया, सचमुच उस के द्वारा कर्म के सम्पूर्ण रहस्य को प्रकट कर दिया गया है कि मनुष्य को किस भाव के साथ कर्म करना चाहिए? हजरत उमर ने कहा- मैंने उसे इसलिए छोड़ दिया, जैसे ही उसने मेरे मुँह पर थूका, मेरे हाथ में जो भाला था जिससे मैं उसका वध करने जा रहा था, वह अहङ्कार (क्रोध) के हाथ में चला गया और इस प्रकार मैं आत्म-भाव से शरीर-भाव में उतर आया। निश्चय ही इस स्तर पर खड़ा हुआ यदि मैं उसे मार देता तो मुझे एक मनुष्य की हत्या का पाप लगता और यदि मैं आत्म-भाव में ही अवस्थित हुआ-हुआ उसे मारता तो फिर कोई पाप नहीं लगता।

आत्मभाव का अर्थ है कर्तृत्व-अभिमान से रहित होकर कर्म करना। सम्पूर्ण भारतीय योगशास्त्र इसी दर्शन पर टिका हुआ है। श्रीमद्भगवद् गीता में भी शतशः स्थलों पर यह बात अनेक रूपों में दोहरायी गयी है। कहीं कहा गया- **'युध्यस्व विगतज्वरः।'** तो कहीं -

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२.३८)
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। (२.४८)
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। (२.६४)
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। (२.७१)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।। (३.१९)
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। (३.२५)
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। (५.११)
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः।। (८.७)
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (११.५५)
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।। (१६.३)
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।। (१६.४)
कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।। (१८.९)
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।। (१८.१०)
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।। (१८.१२)
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।। (१८.१७)
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते।। (१८.२३)
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।। (१८.२६)
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।। (१८.४९)

वस्तुतः कर्म सिद्धान्त (Theory ofActions) को समझना आवश्यक है, पर जटिल भी है। जीवन और कर्म कोई दो चीज नहीं, बल्कि एक ही हैं। जीवन क्या है- अच्छे-बुरे विविध कर्मों का समुच्चय। मनुष्य जो भी कर्म करता है, 'पर' या 'अवर', अच्छे या बुरे, वे कर्म अपने सजातीय संस्कार को जन्म देते हैं। उन संस्कारों से पुनः वे-वे ही कर्म किये जाते हैं। इस प्रकार

अनादिकाल से संस्कार व कर्म की धारा चली आ रही है। यह अनादि तो अवश्य है पर अनन्त नहीं। इस कर्म-चक्र की धारा को व्यक्ति अपने आन्तरिक पुरुषार्थ या ज्ञान के द्वारा काट सकता है। इस बात में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता है। ऊपर कहानी में निर्दिष्ट हजरत उमर का उत्तर उसी ज्ञान की ओर संकेत करता है कि कैसे कोई व्यक्ति कर्म तो करे पर कर्म-फल से मुक्त हो जाए और आगे के लिए अवशभाव से वही कर्म पुनः न करना पड़े। प्रायः यही होता रहता है। एक बार किसी ने कोई कर्म किया, चाहे वह सुखदायक है या दुःखदायक, तो फिर उसी कर्म को वह दुबारा या तिबारा भी करता है और ज्यों-ज्यों यह शृंखला आगे बढ़ती जाती है, पराधीन होकर करता ही जाता है, क्योंकि जिस कर्म से व्यक्ति ने एक बार सुख ले लिया तो फिर अवश्य ही उसका 'राग संस्कार' व्यक्ति के चित्त में बैठ जाता है। उसी प्रकार कर्म से प्राप्त दुःख के द्वारा 'द्वेष-संस्कार' बन जाता है। ये राग और द्वेष पुनः व्यक्ति को खींचकर परानुग्रह या परपीड़ा में प्रवृत्त कर देते हैं अर्थात् जिन वस्तु, व्यक्ति या प्राणियों से सुख प्राप्त हुआ है, उन पर अनुग्रह तथा जिनसे दुःख मिला है उन पर कोप या पीड़ा का क्रम चालू हो जाता है। परानुग्रह से पूर्ववत् सुख व परपीड़ा से दुःख का स्रोत फूट पड़ता है। इसको पातञ्जल योगभाष्य में षडर चक्र (छः अरों वाला चक्र) का नाम दिया गया है जो नित्य प्रवृत्त है और अविद्या रूपी दण्ड इस चक्र को घुमा रहा है।

जो चीज जैसी है उसे वैसा न समझना ही अविद्या है। अहङ्कार भी अविद्या का ही एक रूप है या यों कहें उसका ही परिणाम है। अपने चिन्मय-स्वरूप को मन, बुद्धि, शरीर व उससे आगे संसार की कुछ वस्तुओं, कुछ व्यक्तियों, कुछ प्राणियों (सबके साथ नहीं) या कुछ विचारों के साथ एक करके देखना, एक ही समझना अहङ्कार है। अहङ्कार समस्त वैश्व घटना-चक्र को मैं और तू, मेरे या तेरे में विभाजित करके देखता है। या यों कहें चिन्मय-तत्त्व को जड़तत्त्व के साथ मिला हुआ देखता है और उस मिश्रण को भी दो भागों में बाँटकर उनमें से एक हिस्से को सुखी-दुःखी होता हुआ देखता है और दूसरे हिस्से को सुख-दुःख का निमित्त समझता है। फिर सुख देने वाला जो भाग है उसे सुखी होने वाले भाग में मिलाकर उसकी वृद्धि करता है और दुःख देने वाले भाग का नाश करता जाता है।

परानुग्रह (धर्म), परपीड़ा (अधर्म), सुख-दुःख, राग-द्वेष, अहङ्कार का यह खेल जीव मात्र के द्वारा खेला जा रहा है। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-ईर्ष्या-द्वेष-असूया-मत्सर-घृणा, ये सबके सब अहङ्कार के ही अपत्य (सन्तान) हैं। अहङ्कृत भाव के द्वारा ही इनकी उत्पत्ति होती है। पुत्र पिता के वंश को आगे-आगे बढ़ाता है, वंश परम्परा को उच्छिन्न नहीं होने देता। इसलिए ही 'अपत्य' अन्वर्थ नाम माना जाता है- **'अपतनाद् अपत्यम्।'** अहङ्कार पिता है- ये सब उसकी सन्तति हैं।

यद्यपि अहङ्कार की कुछ सन्तानें अच्छी भी होती हैं- जैसे दानी, याज्ञिक, सकाम उत्तम सेवक इत्यादि, पर अन्ततोगत्वा ये भी हेय ही हैं। पुत्र से पिता का अनुमान होता है। जहाँ भी काम-क्रोध आदि हैं– इसका अर्थ है– इनका पिता अहङ्कार विद्यमान है। या अहङ्कार पिता रूप में जब तक है– सन्तानोत्पत्ति रूप कार्य का भी तब तक चालू रहना स्वाभाविक है। काम-क्रोध आदि का समूल

नाश तो अहङ्कार के पूर्ण नाश पर ही अवलम्बित है। पर यह रावण की तरह इतना मायावी है कि इसके एक सिर को काट भी दिया जाए तो एक और सिर निकल आता है। उसको भी काट दिया जाए तो और एक आ जाता है। राम को यदि भागवत शक्ति का प्रतीक मानें तो कह सकते हैं कोई राम ही इस अहङ्कार रूप रावण का सर्वथा वध कर सकता है। उससे नीचे यह किसी के वश में आने वाला नहीं है।

उपर्युक्त कहानी में हजरत उमर यह कहना चाहता है कि जब तक हम आत्मभाव में होते हैं तो उस समय अहङ्कार-मुक्त होते हैं। इसलिए काम-क्रोध आदि से भी मुक्त होते हैं। उस अवस्था में किये गये 'कर्म' जल की लहरों की तरह उत्पन्न होकर तत्काल विलीन होते रहते हैं। कर्त्ता पर अपना कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव=छाप (Impression) नहीं छोड़ते। इसलिए बन्धन के हेतु नहीं होते। आत्मभाव में अनुकूलता-प्रतिकूलता, प्रियता-अप्रियता, मेरा-तेरा, मैं-मेरा, ये सब हैं ही नहीं क्योंकि वहाँ द्वैत नहीं है। द्वैत में ही ये सब भाव अस्तित्व में आते हैं। सरलार्थ यह है- मैं और मेरा रूपी वस्त्र को हमने अपने दायें-बायें हाथों में पकड़ा हुआ है जिसकी ओट में आत्मतत्त्व छिपा हुआ रहता है।

अपने हाथों से उस वस्त्र को नीचे डालते ही आत्मतत्त्व स्वतः प्रकाशित हो जाता है। सो वहाँ उस आत्मतत्त्व के प्रकाश में केवल अवसर प्राप्त कर्म होते हैं, पर उनका कोई आहङ्कारिक कर्त्ता नहीं होता। इसलिए उनका कोई संस्कार भी नहीं होता और उनका कोई फल भी नहीं मिलता। बाह्य रूप से देखने में यह बात विचित्र-सी लगती है कि कर्म तो होते हैं, पर कर्त्ता नहीं होता। बिना कर्त्ता के कर्म कैसे सम्भव हैं? लेकिन गम्भीर दृष्टि से जब देखते हैं तो यह तथ्य प्रकट होता है कि हाँ! अवश्य ही कर्म होते हैं, पर उनका कोई आहङ्कारिक कर्त्ता नहीं होता। अहङ्कार बीच में आने पर ही संस्कार व फल का चक्र चालू होता है, उससे पहले नहीं। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है– कर्म से उत्पन्न परिणाम या प्रभाव का निषेध नहीं किया जा रहा, केवल उसके सुख-दुःख रूप फल का निषेध किया जा रहा है।

मनोवैज्ञानिक स्तर पर जो सुख-दुःख की उपज होती है, जैसे मैं सुखी, मैं दुःखी, वह है अहङ्कृत भाव। अच्छे भोजन से जिह्वा को सुख होना तथा मन में उस सुख की अनुभूति होना, ये दोनों बिल्कुल अलग-अलग बात हैं। यद्यपि सामान्य समझ को तो यह दिखाई देता है कि जो चीज जिह्वा को अच्छी लग रही है, वह मन को भी अच्छी लगनी चाहिए, पर यह आवश्यक नहीं। इन्द्रियों के विषय में तो यह माना जा सकता है– अच्छी चीज अच्छी लगेगी और बुरी बुरी। यह भी केवल स्वरूपतः क्योंकि अच्छा-बुरा निर्धारण तो प्रायः अन्दर मन से किया जाता है, पर यहाँ भाव इतना ही है– जिह्वा को मीठा मीठा लगता है, कटु कटु ही।

मन में यह सामर्थ्य है कि प्रत्येक घटना में शान्त या उदासीन रह सके। जिह्वा ने जिसको मधुर कहा और उसको अच्छा लगा, लेकिन भीतर मन उससे सर्वथा अनासक्त या उदासीन रह सकता है। ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में यही तो कहा है- **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** भोग बेशक कर, पर मन को उससे अलग रखते हुए, मन को उस भोग के साथ न जोड़ते हुए। मन के जुड़ते ही

उसका तत्काल वैसा संस्कार और संस्कार से तदनुरूप स्मृति व उससे पुनः आसक्ति सहित कर्म का अन्तहीन सिल-सिला चालू हो जाता है। सो 'अहम्' वह केन्द्र है जो सुख-दुःख को परिधि के रूप में धारण करता है और जब वह केन्द्र 'मैं' के साथ सम्बद्ध नहीं रहा तो सुख-दुःखरूपी परिधि कहाँ से उत्पन्न हो सकती है? परिधि के लिए केन्द्र का होना आवश्यक है। इस प्रकार आसक्तिहीन कर्म केवल आत्मभाव में ही सम्भव हैं।

इस प्रकार देखा गया कि अज्ञान से अहङ्कार, अहङ्कार से इच्छा (कामना), इच्छा से प्रवृत्ति। प्रवृत्ति दो रूपों में होती है- सुख पाने के लिए तथा दुःख से बचने के लिए। प्रवृति से परानुग्रह-परपीड़ा, उन से धर्माधर्म, धर्माधर्म से सुख-दुःख, सुख-दुःख से राग-द्वेष, राग-द्वेष से पुनः प्रवृत्ति आदि। इस अहर्निश आवर्तमान चक्र से निकलने के लिए अज्ञान से मुक्त होना होता है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है। ज्ञान वह है जो सब भूतों में पिरोये हुए एक अन्तर्यामी सूत्र को देखता है। उसी चेतना के महासागर से ये नाम-रूप की विविध लहरें सतत उठ रही हैं। इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर विभाजनकारी ज्ञान जो सब भूतों को अलग-अलग रूप में देखता है, उसका अन्त हो जाता है। द्वैत के दर्शन करने वाले ज्ञान का परिणाम ही तो अहङ्कार है, सो जब वह अहङ्कार ज्ञान से हट जाता है, तो तत्सम्भूत या तत्सहभावी इच्छा, प्रवृत्ति आदि भी समाप्त हो जाती हैं, केवल सहज कर्म रहते हैं- इच्छामूलक या प्रवृत्तिमूलक नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि अहङ्कार के साथ इच्छा का ऐसा क्या निकट सम्बन्ध है जो अहङ्कार के होने से ही उसका जन्म होता है और अहङ्कार न रहने से इच्छा भी नहीं रहती? इच्छा का स्वरूप समझ लिया जाए तो इस प्रश्न का उत्तर सहज ही मिल सकता है। इच्छा, कामना या स्पृहा, ये तीनों शब्द व्यक्ति की किसी विशिष्ट माँग के सूचक हैं। वह माँग दो रूपों में होती है– या तो ऐसा होना चाहिए, या फिर ऐसा नहीं होना चाहिए। इस आकार में उस माँग को करने वाली अहङ्काररूप सत्ता (Entity) यदि होगी, तो ही वह माँग हो सकती है। जिसको वह माँग होती है, वही अहङ्कार है। प्रत्येक वैयक्तिक माँग के मूल में अहङ्कार रहता ही है। कल्पना की जा सकती है- जब कोई कहता है या सोचता है कि अमुक चीज मुझे मिले, तो 'मैं-मेरे-मुझे' आदि को अस्तित्व में आना ही होगा, जो कि दूसरों से पृथक् होगा। उस इच्छा में जो बाधा डालेगा, उसे हटाना होगा तथा जो सहयोग करेगा उसे अपने साथ जोड़ना होगा। इस प्रकार अहङ्कार ही इच्छा का मूल सिद्ध होता है।

जब कोई यह सोचता है कि सबका भला हो, तो यह अहङ्कृत इच्छा नहीं है बल्कि एक श्रेष्ठ भावना है। इन दोनों में जो मूल भेद है वह समझना होगा। 'सबका भला हो' यह सोचने वाला व्यक्ति यदि साथ में यह भी सोचने लगे कि सबका भला मेरे ही द्वारा हो, मेरे ही नाम से हो या अमुक तरीके से ही हो, तो यह भी एक इच्छा बन जायेगी और उस प्रकार की इच्छा की भी परिणति आगे परम्परा क्रम में चलते-चलते सुख-दुःख में होगी। उस इच्छा में जो सहयोगी होंगे उनसे उसका लगाव (राग) होगा, जो बाधक होंगे उनसे द्वेष। इसीलिए तो ऊँचे-ऊँचे उद्देश्य रखने वाले सेवारत सामाजिक

कार्यकर्त्ता भी एक-दूसरे के साथ लड़ते-झगड़ते देखे जाते हैं। सदा ही इस अज्ञानजन्य 'इच्छा' का केन्द्र 'मैं' (अहङ्कार) होता है और उसका 'पूरा होने' का भी तीव्र आग्रह होता है।

भावना का केन्द्र भी 'मैं' तो हो सकता है, पर उसमें आग्रह न होने के कारण उसके साथ 'अहं' का सम्बन्ध नहीं होता। हाँ! जैसा कि अभी-अभी दिखाया गया, भावना के साथ भी जब आग्रह जुड़ जाता है तो वह भी 'अहं' से युक्त हो जाती है। यहाँ एक बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि घृणा-ईर्ष्या-द्वेष आदि जो निकृष्ट भावनायें हैं, वे आग्रह सहित हों या आग्रह रहित, वे तो हर अवस्था में 'अहं' की ही सन्तान होती हैं। 'अहं' होने पर ही वे प्रकाश में आती हैं, क्योंकि अहं का स्वभाव ही है अपने को महत्त्व देना। घृणा-ईर्ष्या-द्वेष आदि में स्पष्ट ही दूसरे को गौण कर दिया जाता है। सो वह भावना 'अहं' की ही उपज मानी जायेगी। उत्तम भावनाओं में चूँकि 'दूसरा' प्रधान होता है, अतः वहाँ 'अहं' नहीं होता– बशर्ते वे आग्रह रहित हों, उनके द्वारा अपनी कोई इच्छा पूरी न की जाए।

मेरी इच्छा है कि मैं श्रेष्ठकर्मा सात्त्विक पुरुष बनूँ। यहाँ तक तो ठीक है, पर मैं इसलिए श्रेष्ठ पुरुष बनना चाहता हूँ कि इस नाम से मेरी पहचान (Recognition) हो तो निश्चित ही यह एक अहङ्कार की माँग होगी। और एक बात– यदि व्यक्ति किसी माँग को अपने मन में बिठा ले कि यह तो किसी भी तरह पूरी होनी चाहिए, चाहे फिर बाहर उसका किसी को भी पता न चलने दे, फिर भी वह अहङ्कार की ही इच्छा कही जायेगी, क्योंकि किसी भी बात के पूर्ण होने का आग्रह अहङ्कार का ही धर्म है। आग्रह न होने पर केवल कार्यमात्र होगा। इसीलिए तो अहङ्कार-मुक्त होने पर जय-पराजय, लाभ-हानि व मान-अपमान में व्यक्ति 'सम' हो जाता है।

आग्रह रहित होकर कर्म करने का यह अर्थ नहीं है– ढीले ढाले, जैसे-तैसे मौज मस्ती में किसी काम को करते रहना। यदि ऐसा है तो वह भी अहङ्कार की ही एक माँग होगी। निश्चित समय में निश्चित सीमा में किसी काम को करना है, ऐसा मन में संकल्प करना तो हानिकर नहीं, पर किसी भी कारण से उसके पूरा न होने पर यदि दुःख होता है, कार्य करते समय मन में उतावलापन (Haste) बना रहता है, तो वह अहङ्कार का ही परिणाम माना जायेगा। व्यग्रता और आलस्य दोनों ही 'अहम्' की उपज हैं। समता में कोई 'अहं' नहीं होता।

और देखिए- दूसरों से अपने को विशेष समझना रूप अहं भावना तो स्पष्ट ही अहङ्कार का रूप है। उसी प्रकार 'हीन भावना' दूसरों से स्वयं को अपकृष्ट समझना भी उसी अहङ्कार का दूसरा पहलू है। न मैं किसी से हीन हूँ– न मैं किसी से उच्च हूँ– इस समभाव में रहना ही निरहङ्कारिता है। किसी भी प्रकार का शारीरिक-मानसिक-वाचिक आवेग-आवेश-उत्तेजन ये सब 'अहं' के ही विविध रूप हैं। आत्मभाव में इनमें से कोई भी नहीं होता। मिथ्याचार, मिथ्या-व्यवहार, छल-कपट-धोखा सब अहं की ही विकृतियाँ हैं। अहं रहित होने पर व्यक्ति ये सब क्यों करना चाहेगा? इसी प्रकार हिंसा-क्रोध स्पष्ट ही अहं के परिणाम हैं। अहं का अन्त सुख या दुःख में होता है तो आत्मभाव में शान्ति शेष रहती है। ऊपर कहानी के माध्यम से यही मूलभूत उत्तम शिक्षा दी गयी है, ऐसा श्री महाराज का भाव है।

३१. मर्त्यलोक में आगमन

कथा प्रचलित है कि हजरत मूसा एक दिन के लिए स्वर्ग से मृत्यु लोक में आये- यह जानने के लिए कि मेरे भक्तों का क्या हाल है। वे मस्जिद के पीछे छिपकर मुल्ला-मौलवियों की बातें सुनने लगे। सायंकाल अपनी दिनचर्या समाप्त करके मस्जिद में कुछ मुल्ला-मौलवी इकट्ठे होकर बातें कर रहे हैं कि भाई! हजरत मूसा हमारे लिए तो बड़ा ही अच्छा काम कर गये, हम लोगों को केवल पाँच बार नमाज ही तो पढ़नी होती है, साथ में थोड़ी अजान लगा देते हैं और इसके बदले खूब दान-दक्षिणा-खैरात आती है। मौज-बहार से रहते हैं। मेहनत, परिश्रम आदि कुछ करना नहीं पड़ता। खूब खाने-पीने व सोने को मिलता है। कोई किसी प्रकार की चिन्ता नहीं।

यह है धर्म गुरुओं के अनुयायियों का चित्र। हजरत मूसा व उनके शिष्य मुल्ला-मौलवी तो उदाहरण मात्र हैं। जिस किसी भी धर्मगुरु के शिष्यों की जीवनचर्या का ध्यान से अवलोकन किया जाए तो यही सब दृश्य देखने को मिलेगा। वस्तुतः जो भी महापुरुष हो चुके हैं, या हो रहे हैं, वे केवल इतने मात्र के लिए अपने जीवन को तप की भट्टी में नहीं झोंकते कि जगह-जगह उनके नाम पर मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे या चर्च बना दिये जाएँ और उन धर्म-स्थानों में कुछ पुरोहित-पण्डे-पुजारी स्थूल क्रिया-काण्ड पूरा कर मौज करते रहें। क्या यही उनके महान् जीवन के बलिदान का फल है?

उत्तर यही मिलेगा- यह तो सर्वथा अपर्याप्त है। उनके अमूल्य जीवन की आहुति, आने वाले शिष्यों से इस बात की माँग करती है कि वे भी उनके पद-चिह्नों पर चलते हुए जीवन को उसी प्रकार देखने-परखने की कोशिश करें। किसी भी महापुरुष के जीवन को ध्यान से देखा जाए तो यही समझ में आता है कि वे सब-के-सब पुरुषार्थ के मूर्त्त रूप थे। सो वे यह चाहते हैं कि हमारे शिष्य-प्रशिष्य भी पुरुषार्थी हों। उनमें सत्य-दया-करुणा-प्रेम-ब्रह्मचर्य-निष्ठा-अपरिग्रह इत्यादि गुण पराकाष्ठा में होते हैं। शिष्यों को भी वे इन्हीं गुणों से युक्त देखना चाहते हैं। वे सब आहार-संयम, वाक्-संयम, शरीर-संयम, मनः-संयम को बहुत महत्त्व देते हैं। फिर शिष्यों से क्यों न चाहेंगे कि वे भी इन चीजों को उसी प्रकार महत्त्व दें? उनमें आन्तर-बाह्य-पवित्रता और शील-सन्तोष-ईश्वर के प्रति अनन्य निष्ठा सदा बनी रहती है। शिष्यों से भी यही अपेक्षा करते हैं।

यह बात ठीक है कि वे महापुरुष हैं। संसारी लोग जैसे अपने पुत्रों को अपने जैसा नहीं पाते तो दुःखी होने लगते हैं, वैसे दुःखी तो वे नहीं होते, पर चाहते तो यही हैं कि न केवल शिष्य बल्कि सब-के-सब मनुष्य लोग मनुष्य की अन्तर्निहित समस्त सम्भावनाओं को चरितार्थ कर दिखाने वाले हों। सब आपस में प्रेम से रहें। एक-दूसरे का सहयोग करें। तपस्वी बनकर रहें। पशुओं जैसा जीवन, खाना-पीना, सोना, सन्तान को जन्म देना, इतने मात्र से सन्तुष्ट न हों। हृदय की क्षुद्र प्रवृत्तियों

का नाश कर विशालता को प्राप्त करें। धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझें। जीवन के सच्चे सुख की खोज करते रहें। निरन्तर उठते हुए विचारों और भावों के लोक को देखते रहें और स्वाग्रही (Self-asserting) भावों से ऊपर उठकर स्वातीत (Self- Transcendental) भावों को महत्त्व दें। एक शब्द में वे लोग जीवन को सतत विकासशील अवस्था में देखना चाहते हैं।

यदि कोई सचमुच महापुरुषों की तपस्या का मूल्य चुकाना चाहता है तो वह स्वयं महापुरुष बनकर ही चुका सकता है। उनके द्वारा निर्दिष्ट पूजा-पद्धति को यथाविधि पूरा कर देने से, प्रतिदिन उनके नाम के जयकारे लगाने से, अपने कमरे में उनके चित्र रख लेने से, वार्त्तालाप प्रसङ्ग में उनके वचनों को उद्धृत कर देने से, उनके नाम पर मन्दिर-मस्जिद में दान के रूप में विपुल धनराशि दे देने से, उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों को प्रकाशित करने से या उनको पढ़ने के लिए लोगों को प्रेरणा देने मात्र से कभी भी वे महापुरुष शिष्यों के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेते, बल्कि वे चाहते हैं कि उनके शिष्य आन्तरिक जीवन को पूर्ण बनाएँ। मनुष्य चलता-फिरता भगवान् का मन्दिर बन जाए। मन्दिर को जैसे पवित्र रखा जाता है, वैसे इस मन्दिर को भी विषय-सुख की दुर्गन्ध से बचाकर इसमें भगवान् के दिव्य सुख रूपी गुग्गल की धूनी नित्य लगाते रहें।

यदि शिष्य लोग इतना कुछ कर रहे हैं, तो अवश्य ही उन्हें प्रसन्नता होगी, साथ में शिष्य भी ऋणमुक्त होते जायेंगे। महाराज कहते हैं- **''महापुरुषों के तप को कभी भी अपने भौतिक सुख का साधन न बनायें "।** श्री महाराज के ही शब्दों में- आश्रम क्या है? आत्मजागरण! कार्य क्या है? जय जीव (सब जीवों की जय होती रहे)। सार क्या है? बहती नवल (नई) नशीली धार (नशा उतरे ही नहीं)। 'यह है मेरा जीवन सार, मेरी देहपुरी में राजा करो भेंट स्वीकार'।

*****

- ☞ 'एकम्' अनेकत्व की क्रीड़ा में खोजा जाता है।
- ☞ महामाया की रस्सी 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' इन दो को नहीं बाँध सकती। अणु=शिशु, महत्=सन्त। सन्त सूर्य की तरह होता है। शिशु भी सर्वथा निरहंकार। सन्त पूर्ण जिम्मेदार, शिशु पूर्ण समर्पित।
- ☞ राजा के लक्षण (शान्तिपर्व)- राजा को वसन्त ऋतु के सूर्य की भाँति प्रजारंजन करने वाला होना चाहिए और प्रजा पालक।
- ☞ प्रभु का अर्चना-मन्दिर है– मेरा पावन साधन-धाम शरीर!
- ☞ सरलता ही शिष्टाचार है! सदाचरण में सब कुछ विधायक!
- ☞ सक्रिय प्रभाव अपने आप में एक बहुत बड़ा कर्म है।
- ☞ ऋत की रम्भाती हुई दुधैल गायें आत्मा रूपी बछड़े के मुँह में दूध उडेल रही हैं। सोम-सरोवर शान्त तरंग।

३२. हातिमताई गिर नहीं सकता

यह एक सूफी सन्त हैं जिनका नाम हातिमताई है। इन्होंने अपने वैयक्तिक प्रयत्न तथा भगवान् की कृपा से साधना के मार्ग में बहुत उच्च स्थिति प्राप्त कर ली है। दूर-दूर तक इनके जीवन की सुगन्ध पहुँच गयी है। जिज्ञासुओं का सदा इनके पास ताँता लगा रहता है। दुःखित हृदय अपनी समस्याओं को लेकर इनके पास आते हैं और इनके द्वारा उचित समाधान पाकर प्रसन्न मुख वापस लौटते हैं। इनकी मधुर व प्रिय वाणी, सौम्य आकृति, सरल व्यवहार से प्रभावित हुए-हुए क्रूर व कुटिल हृदय वाले व्यक्ति भी दयापूर्ण व ऋजु हो जाते हैं। करुणा व प्रेम इन दोनों ने तो मानो इनके हृदय को अपना घर ही बनाया हुआ है।

इनका चित्त ज्ञान से निर्मल हो गया है। उस निर्मल चित्त से उठती हुई भक्ति-तरङ्गों ने सम्पूर्ण आश्रम को भक्तिमय बना दिया है। आश्रम में वृक्षों, पौधों, लताओं, पुष्पों व विविध पक्षिगणों का बाहुल्य है। जहाँ पक्षिगण अपना-अपना मधुर गीत सुनाते हैं, वहीं रंग-बिरंगे पुष्प अपने सौन्दर्य की आभा से दर्शकों के मन को हर्षाते रहते हैं। वृक्षों की वायु-वेग से हिलती हुई शाखायें आश्रम में पधारे हुए प्रेमी जनों का स्वागत करती हुई दिखाई दे रही हैं। ये सन्त सहज व बच्चों जैसे सरल जीवन पर बहुत बल देते हैं। यहाँ कोई किसी को आदेश नहीं देता, फिर भी सब अपने-अपने काम में लगे हुए निष्काम कर्म का आनन्द लेते रहते हैं। कोई पौधों में पानी दे रहा है तो दूसरा झाड़ू लगा रहा है। कोई अभ्यागतों को शीतल जल पिलाने में लगा हुआ है, तो कोई सन्त जी के उपदेश के लिए दरियाँ बिछा रहा है। आश्रम में सब कुछ अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित है।

सभी महानुभाव अति प्रेमपूर्वक एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। यहाँ किसी के मुख से कटुवचन नाम मात्र के लिए भी सुनने को नहीं मिलता। विषयों की तीखी गन्ध तो परमाणु जितनी भी दिखायी नहीं देती। बस केवल मैत्री-करुणा-मुदिता की सदा दिव्य महक उठती रहती है। जैसे बाह्य वायुमण्डल विविध पुष्पों की गन्ध से सुरभित होता रहता है, उसी प्रकार सबके अन्तःकरण दिव्य गुणों की सुगन्ध से सुगन्धित हो उठे हैं। यहाँ 'अप्रतिरोध' है, फिर भी मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं है। पूर्ण स्वतन्त्रता तो है, पर वह कभी भी स्वेच्छाचारिता का रूप धारण नहीं करती। नियम हैं, पर वे आरोपित नहीं हैं।

यहाँ सब कुछ कर्म से ओत-प्रोत है। आलस्य के लिए कोई स्थान नहीं, पर वह समस्त कर्म प्रवाह प्रयत्न-साध्य नहीं है। आश्रम में चलते-फिरते कार्य करते सभी लोगों की चाल न तेज है न मन्द है। अपनी सम चाल से सब सेवा-निरत दिखायी दे रहे हैं। 'समता' मानो यहाँ का जीवन ही है। काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेषादि निषेधवर्ग से पूर्ण मुक्ति है। अहङ्कार तो यहाँ है ही नहीं। विधि का ही पूर्ण राज्य है, पर वह शासनात्मक नहीं, किन्तु सहज है। लूट-खसोट, मारा-मारी का तो नाम-निशान नहीं है, बल्कि पूर्ण शान्ति है। ऐसा है यह हातिमताई का आश्रम, जहाँ सतत आध्यात्मिक प्रसाद का

वितरण होता रहता है।

सन्त लोग भी कई बार बड़ी विचित्र साधनायें प्रारम्भ कर देते हैं। सन्त के मन में विचार आया- यह चित्त लोगों का सम्मान पाते-पाते मीठे से ऊब-सा गया है। अब कुछ ऐसा करना चाहिए, जिससे अपमान मिले, कुछ कड़वा भी मिले। सो यह विचार कर अगले दिन आश्रम के बाहर कुछ झाड़ियाँ साफ करने लगे। एक दर्शनार्थी सज्जन आया, उनसे पूछा, मुझे हातिमताई से मिलना है। हातिमताई ने कहा- हाँ! बोलिए, मैं ही हातिमताई हूँ। कैसे आना हुआ? बस दर्शन करने आ गया था। अब हातिमताई थोड़ा डाँटकर उसे बोलने लगे– 'तुम्हारे पास कोई काम नहीं है। चले आते हैं, हातिमताई से मिलना है। अपना भी समय खराब करते हैं और दूसरों का भी। अच्छा! अब जाओ और जाकर अपने काम को सँभालो'।

वह बेचारा वहीं से वापस चल पड़ता है। अब हातिमताई जानना चाहते हैं, तू अपनी योजना में कितना सफल रहा? वेश बदलकर घोड़े पर सवार होकर दूसरे रास्ते से उससे आगे पहुँच जाते हैं। पूछते हैं– कहाँ से चले आ रहो हो? राहगीर उत्तर देता है– हातिमताई से मिलने गया था। फिर मिल गये? हाँ! मिल गये। कैसे लगे? बड़े अच्छे। घुड़सवार के रूप में हातिमताई पूछता है- सुना है, वह तो आजकल बहुत डाँटने-फटकारने लग गया है। राहगीर उत्तर देता है– 'नहीं'। ऐसा नहीं है, उसकी डाँट-फटकार में भी रस है, उसमें भी शिक्षा भरी हुई है। दुनियादारी के लोगों की तरह उसकी डाँट-फटकार नहीं है, कितना ही डाँट रहा हो, वह अपने हृदय के प्रेम को नहीं छिपा सकता। उसकी स्निग्ध दृष्टि बड़ी ही आकर्षक है।

उस दर्शनेच्छु का उत्तर पाकर हातिमताई अपने आश्रम चला आता है। आश्रम पहुँचकर स्वयं को ही कुछ सुनाना प्रारम्भ करता है– 'हातिमताई! अब तुम स्वयं भी अपने स्तर से नीचे नहीं गिर सकते। तुम्हारा यह कृत्रिम नाटक एक बिन्दु से नीचे कभी नहीं आ सकता। जब यह नाटक सफल नहीं हो पा रहा, तो छोड़ो इसको, अपने सहज रूप में ही अनासक्त भाव से रहो'।

वस्तुतः व्यक्ति जो कुछ भी कर्म करता है– 'ऊँचा' या 'नीचा', उसके मूल में उसके ज्ञान का स्तर तथा उसके संस्कार ही उससे वैसा करवाते हैं। ज्ञानशक्ति (प्रज्ञा) और संस्कार का यदि बहुत विकास हो गया है, वे यदि बहुत ही उन्नत अवस्था को प्राप्त हो गये हैं, उसके साथ-साथ तदनुकूल अभ्यास (बोलना, व्यवहार करना इत्यादि जो भी) यदि बहुत दृढ़ीभूत हो गये हैं, तो अब व्यक्ति का नीचे उतर पाना असम्भव-जैसा होगा। निम्न प्रकृति में जीने वाले व्यक्ति के लिए जैसे उच्च प्रकृति के गुण, कर्म व स्वभाव को तत्काल धारण करना असम्भव है, शनैः-शनैः तो उन्नति सब लोग करते ही हैं, पर एकाएक वैसा नहीं होता या नहीं हो सकता। तद्वत् उच्च प्रकृति में आरोहण करके यदि व्यक्ति अपने को उसमें अच्छी प्रकार प्रतिष्ठित कर लेता है, तो फिर निम्न प्रकृति के गुण-कर्म-स्वभावों का आचरण कर पाना भी असम्भव-सा ही होगा।

श्रीअरविन्द ने भी 'माता' पुस्तक में यही बात अपने अनुभव से अपने शब्दों में कही है। वे

कहते हैं– तुम साधना की इच्छा लेकर अपने आपको अर्थात् अपने 'अहम्' को माता को समर्पित करना चाहते हो तो उस समर्पण को कभी भी वापस भी ले सकते हो– इसमें तुम पूर्ण स्वाधीन हो। हाँ! उस समर्पण को वापस लेने से जो आध्यात्मिक पतन होगा, उसे भी भोगने के लिए यदि साथ-साथ तैयार हो। यहाँ तक तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। पर श्रीअरविन्द कहते हैं– साधना की राह में चलते हुए एक ऐसा समय आता है जब रूपान्तर-साधन उस अवस्था तक पहुँच जाता है कि फिर व्यक्ति चाहे तो भी नीचे नहीं आ सकता, अपने समर्पण को किसी भी उपाय से वापस नहीं ले सकता। उसके चित्त की स्थिति ही ऐसी बन जाती है कि उस समय दूसरा ही एक व्यक्ति बन जाता है। पहले वाला व्यक्ति एक अर्थ में मर ही गया होता है।

हातिमताई की घटना में भी हमें यही देखने को मिल रहा है। सचमुच यह कितनी सुखद व उच्च स्थिति है कि व्यक्ति इच्छा करके भी नीचे न गिर सके। श्री महाराज साधक-साधिकाओं की यही स्थिति देखना चाहते हैं। यही है उनके द्वारा सुनाई गयी इस कहानी का निहितार्थ

❋❋❋❋❋

- ☞ निषेध (प्रतिबन्ध) का कोई केन्द्र नहीं जैसे रोग, पाप, उलझन आदि। जैसे धागे के सुलझने पर उलझन का कोई केन्द्र शेष नहीं। रोग का निराकरण होने पर कोई रोगी नहीं। पाप का निराकरण होते ही कोई पापी नहीं।
- ☞ **परोक्षप्रिया इव हि देवाः** (परोक्ष=रात्रि=अन्तस्=भावलोक) में अखण्डरस! जल **(तज्जलानिति शान्त उपासीत)** का सागर है। देवलोग वहाँ से उस रस का पान कर लोकहिताय उसका बाहर वितरण करते हैं।
- ☞ राजसिक-मन संकल्पों से भरा रहता है।
- ☞ सात्त्विक-मन संकल्पों से मुक्त रहता है। एकाग्र-मन ही दिव्य चक्षु है!
- ☞ सात्त्विक शुद्ध प्राणधारा श्रद्धा में परिवर्तित हो जाती है।
- ☞ जीवन यात्रा में कोई प्रेरक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध कभी-कभी ऐसा प्रत्यक्ष होता है कि जो शरीर के सारे अंगों को छू जाता है, उस अजनबी (अद्भुत) अतिथि को अपने अन्तस् में, स्मृति में, हृदय में, अपने घर में, भाव लोक में सादर जमा लें। स्यात् यह मुहूर्त्त न जाने फिर आये न आये।
- ☞ यह शरीर! प्रकृति माँ के अहैतुकी प्रेम की पावन देन! इसके साथ यह अशिष्ट खिलवाड़! यह अति-हीन-मिथ्या और अयोग..... बस करो! कहीं ऐसा न हो यह छिन जाये।
- ☞ वह अवस्था जो वाणी और संकल्प से परे है- मौन है।
- ☞ मानसिक क्रियाशीलता के बिना ध्यान करना मौन है।
- ☞ मन को वश में करना ही ध्यान है, गम्भीर ध्यान मौन है, नित्यवाणी है।

३३. राजकुमार की रसोई

खुरासान के राजा और राजकुमार दोनों को ही उनके प्रतिद्वन्द्वी राजा ने बन्दी बना लिया। राजकुमार को जिस कमरे में रखा गया, वहीं पर स्वयं भोजन पका कर खाने के लिए निर्देश दे दिया गया और खिचड़ी पकाने के लिए उन्हें एक हाण्डी दे दी गयी। एक दिन ऐसा हुआ, खिचड़ी पकाकर राजकुमार उसको चूल्हे से नीचे उतारकर स्वयं कुछ अन्य स्नानादि आवश्यक कार्य करने के लिए चला गया। इतने में एक कुत्ता आया और हाण्डी में रखी हुई पकी-पकाई खिचड़ी को लेकर चल दिया। जब वह कुत्ता उस हाण्डी को ले जा रहा था– उसी समय स्नान करके राजकुमार भी आ गया। अब कुत्ते को देखकर राजकुमार उसके पीछे दौड़ने और दुःखी होने के बजाए वहीं खड़ा-खड़ा हँसने लगा। राजकुमार को हँसता हुआ देखकर किसी ने पूछा– आपको तो इस स्थिति में कष्ट होना चाहिए था; आप हँस क्यों रहे हैं? राजकुमार ने कहा– मैं हँस इसलिए रहा हूँ कि कभी मेरी भोजन-सामग्री को लेकर ३६ ऊँट चलते थे, आज एक कुत्ता ही उठाए लिये चला जा रहा है।

कहानी में समय के दुर्धर्ष-चक्र का वर्णन किया गया है। किसी का भी समय सदा एक-जैसा नहीं रहता। समय सदा ही बदलता रहता है। यहाँ 'समय' से तात्पर्य समय में निरन्तर घट रही घटनाओं से है। कल जो राजकुमार था, आज एक बन्दी है। कल जो वैभवशाली राजा था, आज भोजन के लिए भी तरस रहा है। कल तक जिसके निर्देश पर सब कुछ नाचने लगता था, जिसका हुक्म पालन करने के लिए हजारों लोग सामने खड़े रहते थे, आज वही दूसरों का मोहताज बना हुआ है। आज जो जिस स्थिति में है, वह कल भी इसी स्थिति में रहेगा– ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आज जो विश्वविजयी है, कल दूसरा कोई ही उसका स्थान ले सकता है। आज जो हँसता-खेलता उत्सव-मनाता नृत्य-करता दिखाई दे रहा है, वही कल किसी भी कारणवश मायूस होकर ऐसा गिर पड़ सकता है जिसके रोकने से भी आँसू न रुकें।

देखो इधर एक नवदम्पति है। ऐसा लग रहा है जैसे स्वर्गिक दिव्य सुख इनके पास उतर आया हो। अभी एक सप्ताह भी विवाह को पूरा नहीं हुआ था कि पति देव दुर्घटनाग्रस्त होकर शरीर छोड़ जाते हैं। यह उनकी देवी कैसे विलाप कर रही है, जिसे कोई भी धीरज बँधाने में समर्थ नहीं हो पा रहा है? ये एक बड़े व्यापारी हैं, जिनका करोड़ों-अरबों में व्यापार चलता था। स्वयं भी तथा इनसे जुड़े सभी लोग भी आनन्द मनाया करते थे। अकस्मात् आज व्यापार में बीस करोड़ रुपये का एक ही दिन घाटा आ गया; उसके कारण सब-के-सब बड़े ही उदास हो रहे हैं। यह विश्वविजयी टेनिस खिलाड़ी जो १४ वर्ष से निरन्तर विजय प्राप्त करता चला आ रहा था और अब यह अपने जीवन का अन्तिम मैच खेलने जा रहा है, विजयश्री दूसरे प्रतिद्वन्द्वी के गले का हार बन जाती है, इसे इस घटना से बहुत ही कष्ट हो रहा है।

कल जो प्रधानमन्त्री था, आज उससे कोई बात तक नहीं करना चाह रहा है। यह सब परिवर्तन

का चक्र ही तो था, जो कि चक्रवर्ती युधिष्ठिर और राम जैसे धर्मात्मा जंगलों में घूमने लगे और उनकी सुकुमार देवियाँ भी उनके देखते-देखते दुःखों के सागर में डूब गयीं। कहीं द्रौपदी का चीरहरण हो रहा है तो सीता को रावण उठाकर ले जा रहा है। जो इस घूमते हुए तीव्रगामी चक्र को अपनी गहरी आँखों से देख लेते हैं, वे फिर रोना बन्द करके खुरासान के राजकुमार की तरह हँसने लगते हैं। जिन्हें यह परिवर्तन का चक्र दिखाई नहीं दे पाता केवल मात्र वे ही लोग शिकायत किया करते हैं, रोते हैं, बिलखते हैं और अपनी आन्तरिक सम्पत्ति 'धैर्य' को खो बैठते हैं।

वस्तुतः परिवर्तन का यह सततगामी चक्र जिसकी बुद्धि में स्थिर हो गया– बड़े-से-बड़े परिवर्तन में भी उसे क्यों दुःख होगा तथा बहुत बड़ी अनुकूल घटना घटने पर क्यों सुख होगा? उसे तो परिवर्तन मात्र दिखाई देगा– आज दुःख, कल सुख, परसों दुःख फिर सुख। इस दृष्टि को पाने पर व्यक्ति सुख व दुःख दोनों में ही 'सम' हो जाता है, तथा जो स्थिति या परिस्थिति सामने आती है उसे सहज रूप से स्वीकार करता रहता है। अनुकूल या प्रतिकूल कुछ रहता ही नहीं। जिन लोगों की यह अभीप्सा है कि हम आनन्दमय जीवन जीयें। सुख या दुःख दोनों ही हमें स्पर्श न कर पायें– उन्हें चाहिए कि अपनी आँखें खोलें और निरन्तर चल रहे इस परिवर्तन के साथ तादात्म्य स्थापित न करें। द्रष्टा बनकर उससे अलग खड़े होकर उसे देखते रहें। इसी बात को महाभारतकार वेदव्यास युद्ध के बाद निराश हुए युधिष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं-

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम्। बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च।।
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्।।(शान्ति० १०.१२)

जैसे पानी में बुलबुले उठते हैं और मिट जाते हैं, इसी प्रकार संसार में उत्पन्न प्राणियों के जो आपस में संयोग होते हैं, उनका अन्त निश्चय ही वियोग में होता है। समस्त सञ्चयों का अन्त विनाश है। सारी उन्नतियों का अन्त पतन है। संयोगों का अन्त वियोग है। जीवन का अन्त मरण है। और भी- वृद्धावस्था और मृत्यु ये दोनों ही दो भेड़ियों के समान हैं, जो बलवान् और दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियों को खा जाते हैं। कोई भी मनुष्य बुढ़ापे और मृत्यु को कभी लाँघ नहीं सकता, भले ही वह समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वी को जीत चुका हो।

प्राणियों को जो दुःख या सुख प्राप्त होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालने का कोई उपाय नहीं है। अप्रिय वस्तुओं के साथ संयोग और अतिप्रिय वस्तुओं का वियोग, अर्थ-अनर्थ, सुख तथा दुःख, इन सबकी प्राप्ति होती रहती है। सभी प्राणियों के लिए बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना, ये सभी कार्य होते रहते हैं। कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं। परिस्थितियों का उलट-फेर अत्यन्त अनोखा है।

उत्तम कुल में जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूपसम्पदा, सौभाग्य और उपभोग की सामग्री, ये सब प्रारम्भ में प्रारब्ध के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। जो दरिद्र हैं और जिन्हें सन्तान की इच्छा नहीं होती, उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं। जो धनवान् हैं, उनमें से किसी-किसी को एक पुत्र भी प्राप्त नहीं होता।

विधाता की लीला बड़ी विचित्र है। जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं। दूसरी ओर धनवान् कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट पतङ्गों के समान नष्ट हो जाते हैं। संसार में प्रायः धनवानों में खाने और पचाने की शक्ति ही नहीं होती और दरिद्र लोग लक्कड़ों को भी हजम कर जाते हैं। विद्वान् लोग शिकार और जुआ खेलने, स्त्रियों के संसर्ग में रहने और मद्यपान के प्रसङ्गों की बड़ी निन्दा करते हैं, परन्तु शास्त्रों के श्रवण और अध्ययन से सम्पन्न पुरुष भी पाप कर्मों में लिप्त देखे जाते हैं।

इस प्रकार परिस्थिति संस्कार व प्रयत्न के प्रभाव से सभी प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थों को प्राप्त करते रहते हैं। अनेक इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति का अदृष्ट के अतिरिक्त और कोई कारण दिखाई नहीं देता। सर्दी-गर्मी और वर्षा का चक्र काल से ही चलता है। इसी प्रकार मनुष्यों को युवावस्था-वृद्धावस्था भी काल से ही प्राप्त होती हैं। वृद्धावस्था और मृत्यु के मुख में पड़े हुए मनुष्य को औषध, मन्त्र, होम और जप कुछ भी नहीं बचा सकते। जैसे समुद्र में एक लक्कड़ एक ओर से, दूसरा दूसरी ओर से आकर, दोनों कुछ देर के लिए मिल जाते हैं, और मिलकर पुनः बिछुड़ जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियों के संयोग-वियोग होते रहते हैं। हमने संसार में अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के सुख का अनुभव किया है। परन्तु अब वे किसके हैं अथवा हम उनमें से किसके हैं? इस जीव का न तो कोई सम्बन्धी है और न यह किसी का सम्बन्धी है। जैसे मार्ग में चलने वालों को दूसरे पथिकों का साथ मिल जाता है, वैसे ही यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदों का समागम होता है। विवेकी पुरुष को अपने मन में चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, मैं कौन हूँ, मैं यहाँ किस लिए आया हूँ और किसलिए किसका शोक करूँ?'

आलस्य सुख स्वरूप प्रतीत होता है, परन्तु उसका अन्त दुःख में है, और कार्य करना दुःख रूप प्रतीत होती है, परन्तु वह सुख-उदय का कारण है। ऐश्वर्य-लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति, ये कार्य-दक्ष पुरुष में ही निवास करती हैं, आलसी में नहीं। बिना पुरुषार्थ के न तो सुहृद् सुख देने में समर्थ हैं और न हम शत्रु के दुःख से बचने में। इसी प्रकार बिना पुरुषार्थ के न तो प्रजा धन दे सकती है और न धन सुख देता है। अन्त में वेदव्यास युधिष्ठिर को एक बात कहकर मौन हो जाते हैं– हे पार्थ! विधाता ने जैसे कर्मों के लिए तुम्हारी सृष्टि की है, तुम उन्हीं का अनुष्ठान करो, उन्हीं से तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। हे नरेश्वर! तुम कर्म-फल के स्वामी व नियन्ता नहीं हो।

वस्तुतः मनुष्य 'कर्म' का तो स्वामी है, पर कर्मफल का नहीं। सो जैसे मनुष्य के कर्म हैं यदि वे फलोन्मुख हो चुके हैं, तो उन्हें फल देने से कोई नहीं रोक सकता। हाँ! संचित कर्मों को व्यक्ति अपने नये कर्म-प्रवाह के द्वारा क्षीण (दुर्वल) कर सकता है, यह तो उसके सामर्थ्य में है। इस प्रकार खुरासान के राजकुमार की इस कहानी में जीवन के उतार-चढ़ाव, उत्थान-पतन, सुख-दुःख के प्रति उदासीन रहते हुए समभाव में रहने का उपदेश दिया गया है। श्री महाराज का यह सन्देश उनके प्रिय सन्देशों में से एक है।

३४. अहं का खूँटा

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। (गीता १८.१७)
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। (गीता २.७१)
अहं ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नपूर्वः प्रतिमन्त्रोऽति मोहजित्।। (उपाध्याय यशोविजयकृत ज्ञानसार)

जब हम जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि इसके बीच एक 'मैं' नाम की चीज बैठी हुई है। या यों भी कह सकते हैं कि जीवन ऐसी नौका है, जो 'अहम्' (मैं) के खूँटे से बँधी हुई है। संसार को सागर समझा जाए या नदी, इसे इस जीवन नौका के द्वारा पार करना है। अच्छा! पहले यह तो समझें, आखिर यह जीवन है क्या, जिसे नौका के द्वारा उपमित किया जा रहा है?

जीवन का अर्थ है- खाना-पीना, सोना, उठना, जागना, कृषि-व्यापार आदि करना, पढ़ना-लिखना, खेलना-कूदना, बातें करना, युद्ध करना, संग्रह करना, त्याग करना, सोचना-विचारना, उपदेशादि करना, शास्त्रों का समझना, इन्द्रिय भोगों को भोगना, सन्तान का पालन-पोषण करना, घर-परिवार-समाज-राष्ट्र या वैश्व संस्था का सञ्चालन करना, दान देना, दान लेना, अच्छा-बुरा अनुभव करना, मन को शान्त करने के लिए प्रयत्न करना, ध्यान करना, साधना करना, निःस्वार्थ भाव से सेवा करना, लूटना, चोरी करना, छल-कपट करना, धोखा देना, विश्वासघात करना, सहयोग लेना, उदासीन रहना; एक शब्द में- मनुष्य जो कुछ भी जीवित रहता हुआ कर रहा है– उत्कृष्ट या निकृष्ट, प्रवृत्ति या निवृत्ति, धर्म या अधर्म, पुण्य या पाप, साधु या असाधु, भोग या त्याग, सब कुछ ही जीवन का रूप है।

इसमें इतना विशेष समझा जा सकता है कि जीवन के कुछ क्रिया-कलाप ऐसे होते हैं, जिनके द्वारा स्वयं को तथा दूसरों को भी सुख मिलता है, और कुछ के द्वारा केवल दुःख मिलता है। कुछ मनोभाव या मनोदशायें ऐसी होती हैं जिनसे व्यक्ति अपने आप को भारी, बोझिल, तनाव-युक्त अनुभव करने लगता है और किन्हीं के द्वारा हल्का। कभी मन की ऐसी अवस्था होती है कि व्यक्ति अपने को अत्यन्त फँसा हुआ, पराधीन व चारों ओर से भय के द्वारा घिरा हुआ पाता है, तो दूसरे समय एकदम मुक्त, स्वतन्त्र व अभय की स्थिति का अनुभव करता है। विद्वानों ने इन दोनों स्थितियों का शुभ या अशुभ अथवा सत्य या असत्य के रूप में विभाजन किया है।

एक दूसरे दृष्टि-बिन्दु से भी इस तथ्य या घटना का आकलन किया जा सकता है। व्यक्ति के मन की चाल या तो बाहर की तरफ होती है या भीतर की तरफ। व्यक्ति जब बाहर देखता है तो उसके 'मैं' का तादात्म्य बाह्य वस्तु, व्यक्ति या विचार के साथ हो जाता है और उसे ही वह अपना स्वरूप समझने लगता है। जो वस्तु-व्यक्ति-विचार सुखदायी प्रतीत होते हैं– उन्हें 'अपना', 'मेरा', 'हमारा' नाम दे दिया जाता है तथा जिनसे दुःख मिलता है, या सुख नहीं मिल रहा होता है, उन्हें

'पराया', 'दूसरा', 'तुम्हारा' इत्यादि। जो-जो मेरा होता है, उसके साथ सम्बन्धित हुआ व्यक्ति कभी 'मैं' बन जाता है तो कभी उसके साथ 'मेरा' भाव बना रहता है। यह हम सबका ही प्रतिदिन का अनुभव है। व्यक्ति कभी 'मेरा मन' तो कभी 'मन को ही अपना स्वरूप' समझता है। कभी हम शरीर को 'मैं' कहते हैं तो कभी 'मेरा शरीर'। इसी प्रकार मेरा मकान, मेरी सम्पत्ति इत्यादि।

कभी उनके वियोग या विनाश में कहते-सुनते देखा जाता है कि मैं तो मर ही गया और उनकी वृद्धि से अपनी वृद्धि आँकते हैं। कभी 'प्रतिष्ठा' मेरी होती है और कभी मैं प्रतिष्ठा रूप होता हूँ। अप्रतिष्ठा होने से अपनी मौत और प्रतिष्ठा वृद्धि से अपनी वृद्धि मानने का सिलसिला चालू रहता है। इसी प्रकार किसी विचार को व्यक्ति अपना कहकर पुकारता है और जब उस विचार पर कोई चोट पहुँचाता है तो विचार के साथ एकीभूत हुआ वह व्यक्ति उस चोट को अपने पर ही पड़ती हुई समझता है। उसकी प्रशंसा या समर्थन से अपने को ही प्रशंसित या समर्थित हुआ मानता है। मेरा सिद्धान्त, मेरा घर, मेरा समाज, मेरा भाई इत्यादि में भी यही होता है। कहीं विदेश में अपने देश का कोई व्यक्ति मिलने पर 'मेरे देश का', 'मेरा मित्र','मेरा सम्बन्धी' इत्यादि विविध क्षेत्रों में 'मेरा' शब्द का व्यवहार होता रहता है।

जैसा कि देखा गया, जो मेरा होता है– वह निश्चित रूप से 'मैं' का ही एक भाग होता है या दूसरे शब्दों में जिस सीमा तक व्यक्ति का 'मैं' फैल जाता है वहाँ तक 'मेरा' इसकी सीमा का अवधारण होता है। संक्षेप में मन-बुद्धि-विद्या-बल-सद्गुण-प्राण-शरीर-पुस्तक-रुपये-पैसे-भूमिखण्ड-कार-कोठी-बँगला या झोंपड़ी-घर-परिवार-आश्रम-पुत्र-पौत्र-शिष्य-प्रशिष्य-माता-पिता-गुरु-सम्बन्धी-जाति-समाज-प्रान्त-देश-मित्रदेश-विश्व, ये सब ही विवक्षाभेद से कभी 'मैं' होते हैं तो कभी मेरे। इस 'मैं' और 'मेरे' का खेल संसार के सब प्राणी, मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी भी, अपने-अपने स्तर पर खेल रहे हैं। इस प्रकार जीवन की यह नौका सदा 'मैं' के खूँटे से बँधी रहती है। यह बहिर्मुखी जीवन का क्रम है। अन्तर्मुखी जीवन के लिए सबसे पहले इस 'मैं' के खूँटे से अपनी जीवन-नौका को खोलना होता है; क्योंकि बहिर्मुखी जीवन का उद्देश्य है संसार तथा अन्तर्मुखी जीवन का उद्देश्य है भगवान्।

इस प्रकार देखा गया कि व्यक्ति जिस किसी को अपना आपा (मैं या मेरा) मान लेता है, निकटतम मन-बुद्धि या विद्या-बल-शरीर से लेकर दूरतम देश जाति तक, तो अपने ज्ञान व समझ के अनुसार उस माने हुए मैं या मेरे की सुख-अभिवृद्धि व उन्नति के लिए भरसक प्रयास करता है। उस अपने अङ्गीकृत 'मैं' के विकास में जो वस्तु, व्यक्ति व विचार बाधक प्रतीत होते हैं, उनको दूर हटाता हुआ, उन्हें नष्ट करता हुआ या फिर वे अधिक बलवान् हों तो उनसे बचता हुआ जीवन जीता है।

यदि ज्ञान-शक्ति (विवेक) का विकास कम है तो उचित-अनुचित का ध्यान न रखते हुए जिस किसी उपाय से भी (Good or bad means) अपने उस स्वीकृत 'मैं' को बढ़ाना ही जीवन का प्रमुख उद्देश्य होता है, पर यदि ज्ञान-शक्ति (विशेष समझ) का विकास हो गया है, सत्संग के द्वारा या स्वयं

के अनुभव से या शास्त्र वचनों से, चाहे जिस उपाय से, तो अपने 'मैं' को बढ़ाने के लिए या अपने 'मैं' को सुखी करने के लिए और अपने उस 'मैं' के दुःखों को कम करने के लिए दूसरों की बलि नहीं चढ़ाता। उसकी बढ़ी हुई संवेदन-शीलता उसको सोचने के लिए बाध्य कर देती है कि प्रत्येक का ही अपना-अपना 'मैं' है, सो मुझे किसी के 'मैं' को चोट (Hurt) नहीं पहुँचानी चाहिए। ज्ञान-शक्ति के विकास के तारतम्य के अनुसार ही व्यक्ति में इस संवेदनशीलता का विकास होता है।

हाँ! अपने कल्पित 'मैं' के गौण-मुख्य भाग तो सदा बने ही रहते हैं। इसलिए अपने 'मुख्य मैं' के लिए 'गौण मैं' का विसर्जन, कष्ट-सहन आदि होते रहते हैं। एक अर्थ में सदा ही 'मुख्य मैं' व्यक्ति का साध्य होता है और 'गौण मैं' उसका साधन। जो व्यक्ति व्यसनासक्त है, उसका 'मुख्य मैं' उसका व्यसन ही होता है। अतः यद्यपि कुल-परिवार-धन-सम्पत्ति भी उसका 'मैं' हैं, तो भी इस 'गौण मैं' के विविध रूपों की 'मुख्य मैं' में आहुति लगती रहती है। इसके विपरीत जहाँ 'मुख्य मैं' स्त्री-पुत्र-परिवार-धन-सम्पत्ति होती है तो उसके लिए व्यक्ति अपने निज शरीर, जो कि दैशिक दृष्टि से निकटतम होता है, फिर भी भावना के स्तर पर गौण हो जाने के कारण उसके दुःख व कष्टों की किञ्चित् भी परवाह नहीं करता।

किसी राष्ट्रवादी देशभक्त का 'मुख्य मैं' देश-जाति इत्यादि होता है। इसलिए उसके लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण, जो कि प्रायः सामान्य स्थिति में 'मैं' के मुख्यतम भाग माने जाते हैं, उन्हें भी भेंट चढ़ाने में अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है। जिस महापुरुष ने सम्पूर्ण समष्टि को ही अपने 'मैं' के द्वारा घेर लिया है, जीवमात्र को जो अपना कहकर पुकारता है, इतना ही नहीं बल्कि उन्हें प्रथम स्थान पर देखता है, वह उनकी सेवा में अपने समझे जाने वाले समय व शक्ति को सहर्ष अर्पित करता रहता है।

पूर्ण आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए महाराज कहते हैं कि या तो इस 'मैं' को इतना बढ़ाना चाहिए कि सब कुछ 'मैं' बन जाए, ऐसा न हो कि बाहर थाली में तो 'रोटी' और अन्दर जाते ही 'मैं'। या फिर बाहर भी 'रोटी' और अन्दर भी 'रोटी'। यदि अन्दर जाने से वह 'मैं' हो जाती है तो बाहर भी उसे 'मैं' ही होना चाहिए। इस प्रकार महाराज का कहना है कि या तो 'मैं' को इतना हटाओ कि किसी भी दूसरी संज्ञा का 'मैं' के रूप में आभास ही न हो या 'मैं' को इतना फैलाओ कि सर्वभूत-सृष्टि अपना आप (मैं) ही बन जाए। दोनों ही अवस्थाओं में जीवन-नौका 'अहम्' के खूँटे से खुल जाती है। जो अनन्त की उस महायात्रा के लिए प्रस्थान करना चाह रहे हैं, उनके मन की उपर्युक्त भाव-दशा होनी चाहिए। जो केवल नैतिक जीवन जीना चाहते हैं, उनसे केवल इतनी ही माँग की जाती है कि उन्होंने जो भी अपने 'मैं' का स्वरूप गढ़ा है, अपना मन-बुद्धि-प्राण-स्त्री-पुत्र-परिवार इत्यादि जो कुछ है, वे अपने 'मैं' को सुख देने के चक्कर में दूसरे के 'मैं' को कष्ट न दें और एक परिवार में भी पति अपने 'मैं' के लिए पत्नी के 'मैं' को क्लेश न पहुँचाए। इसी प्रकार पुत्र अपने 'मैं' के लिए पिता के 'मैं' को पीड़ा न दे। जितना बन सके अपने 'मैं' से दूसरे के 'मैं' का सहयोग करें। अपने 'मैं' की प्रसन्नता के लिए दूसरे के 'मैं' की अपेक्षा रखें, उपेक्षा न करें। इस प्रकार करते-करते काल-क्रम में 'मैं' का यह बन्धन ढीला पड़ जायेगा। यदि इस नैतिक दृष्टि का भी आलम्बन नहीं

लिया जाता, तो व्यक्ति जो भी करेगा, 'अहम्' की ग्रन्थि दृढ़ से दृढ़तर होती जायेगी और उसकी जीवन-यात्रा का वही हाल होगा जो उन व्यक्तियों का हुआ था, जिन्होंने भाँग के नशे में सायंकाल नौका में बैठकर मथुरा से वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया, पर खूँटे से बँधे हुए नौका के लंगर को खोला ही नहीं। रात-भर चप्पू चलाते रहे। प्रातः काल जब देखते हैं तो नौका वहीं खड़ी है। एक इंच भी यात्रा तय नहीं हुई श्री महाराज इसे कदम ताल (Standing Running) कहा करते हैं। यों तो देखने में पसीना-पसीना हो जाते हैं, पर खड़े वहीं के वहीं रहते हैं। यही मनुष्य के जीवन का भी हाल है। अध्यात्म के नाम पर बहुत से व्यक्ति सत्संग-भजन-कीर्त्तन-रामायणपाठ-यज्ञ-हवन-तीर्थाटन-गुरुधारण, मौन-उपवास-दान-दक्षिणा आदि बड़े-बड़े पुरुषार्थ करते हैं, पर यात्रा एक इंच भी तय नहीं होती।

जहाँ कल खड़े थे वहीं आज खड़े हैं। कल जितना क्रोध, जितना लोभ, जितना मोह, जितना इन्द्रिय-असंयम, जितना असत्य, जितना मद, जितनी ईर्ष्या, जितना द्वेष, जितनी आसक्ति, जितना आलस्य-प्रमाद, जितनी मन की अशुचिता, राग-द्वेष थे, उतने ही आज भी हैं और आने वाले कल में भी कुछ सुधार की आशा नहीं दिखाई पड़ रही। इस सबका एक ही कारण है- जिस 'अहम्' के खूँटे से अपनी जीवन-नौका को मनुष्य ने बाँधा हुआ है, उसको खोलने का या कुछ वह ढीला ही हो जाए उसके लिए कुछ भी उपक्रम नहीं किया जाता। बल्कि सत्संग, भजन, कीर्तन आदि इन बाहरी प्रतीयमान साधनों के द्वारा झटकम-झटका करते-करते वह ग्रन्थि और भी मजबूत ही होती जाती है।

क्या आपने उन तथाकथित भक्तों को इस भाषा का प्रयोग करते हुए नहीं देखा कि 'मैं' इतनी लम्बी सन्ध्या करता हूँ, दैनिक अग्निहोत्र करते हुए मुझे इतने वर्ष हो गये, मेरे गुरु इतने बड़े सिद्ध पुरुष हैं, मैंने इतना सत्संग किया है, इतनी बार मैंने पारायण यज्ञ किया है, इतनी दान-दक्षिणा दी है, इतने-इतने दिन तक मैंने मौन साधना व एकान्तवास किया है इत्यादि। इन स्थूल साधनों के अनुष्ठान से वे अपने आपको दूसरों की तुलना में कितना विशेष अनुभव करने लग जाते हैं। क्या इसकी कल्पना की जा सकती है? **साधना का लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि निर्विशेष पूर्णता उपलब्ध हो जाए। नाम-रूप की उठती हुई लहरों के पीछे 'समं ब्रह्म' या 'सत्य ब्रह्म' के दर्शन से चित्त पूर्ण शान्त हो जाए।** हीनभाव और अभिमान दोनों से ऊपर उठकर चित्त 'समता' में प्रतिष्ठित हो जाए। कामनायें और तृष्णायें विलय को प्राप्त होकर सहज सन्तोष में स्थिर हो जाएँ। महाराज ने निरहङ्कार स्थिति का स्वरूप दर्शाते हुए एक बार **इंग्लिश कवि वड्र्सवर्थ** की घटना सुनायी।

वड्र्सवर्थ कहता है- पहाड़ की उस सुदूर उपत्यका में पहुँचना। वहाँ तुम्हें बहुत सारे पत्थर पड़े हुए मिलेंगे। उनमें से किसी एक पत्थर को उठाना, वही 'बहुतों में कोई एक' मेरी मृत्यु के बाद प्रतीक रूप में मेरा स्मारक होगा। अर्थात् ये जो अनन्त आत्मायें हमारे समक्ष हैं, वे सब आत्मायें समान ही हैं– न कोई किसी से हीन है और न कोई विशेष। जो कुछ भेद है वह प्रकृति व उससे बने मन, बुद्धि व शरीर की संरचना में ही है या फिर संस्कारों में कहा जा सकता है। महाराज का कहना है– आज जिसके मन-बुद्धि व संस्कारों की विशेषता दिखाई दे रही है, वह सदा से वैसी नहीं थी, कभी

वे भी निश्चित रूप से इसी स्थिति में थे, जिसको आज हीन समझा जा रहा है। आज जो कछुए के रूप में है वही किसी समय खरगोश भी रहा हुआ हो सकता है तथा आज का खरगोश परस्थितिवश कभी कछुए के रूप में बदल सकता है। इन परिवर्तमान अवस्थाओं का सामने से गुजरता हुआ क्षणिक रूप पकड़कर किसी को विशेष या अविशेष फतवा देना ठीक नहीं है।

देश और काल में जो प्रकट हो रहा है, वह अनन्त काल की दृष्टि से देखा जाए तो ठीक वैसा ही प्रतीत होगा जैसे कोई चीज हर क्षण नये-नये रूप धारण करती हुई हमारे सामने से गुजर रही हो। वर्तमान में खड़े होकर भी यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो गतिशील परमाणुओं का यह पुञ्ज क्रिया की अधिकता के कारण अलातचक्र की भाँति ठोस दिखाई दे रहा है। वास्तव में सतत परिवर्तन ही इस जगत् और जीवन का स्वभाव है। यदि वैसा है तो हम किस रूप को पकड़कर 'अच्छा' या 'बुरा' विशेषण दे रहे हैं? अज्ञानवश ही यह सब व्यवहार चलता रहता है। पर सत्य तो नहीं है।

हाँ! तो बात चल रही थी इस जीवन-नौका के द्वारा संसार-सागर या संसार नदी को पार करने की। उसके लिए सबसे प्रथम व आवश्यक काम यही करना है कि जो-जो हमने 'अहम्' के खूँटे गाड़े हुए हैं– मैं विद्वान्, मैं मूर्ख, मैं अधर्मात्मा, मैं पापी, मैं महान्, मैं क्षुद्र, मैं याज्ञिक, मैं चोर, मैं डाकू, मैं दानी, मैं स्वार्थी, मैं क्रोधी, मैं योगी इत्यादि, यद्यपि इनमें से कुछ खूँटे तो बहुत ही आकर्षक व लुभावने प्रतीत होते हैं; जैसे मैं योगी, मैं दानी, मैं विद्वान् इत्यादि। फिर भी हैं तो खूँटे ही। इसलिए उन सब खूँटों से अपनी नौकाओं को खोल देना है।

अपने-अपने द्वारा निर्मित इन खूँटों के खुलते ही जीवन अनन्त या भूमाभाव से जुड़ जायेगा। ये 'अहं' के खूँटे ही मनुष्य को मर्त्य या सीमित या अल्पभाव से युक्त कर देते हैं। मैं विद्वान् हूँ, मैं याज्ञिक हूँ, मैं दयालु हूँ– इन सबमें सीमा का बन्धन है– मैं इतना हूँ या ऐसा हूँ, यही तो सीमा का रूप है। 'मैं हूँ' इसमें कोई सीमा नहीं है। इसलिए यह पूर्ण है, यही भूमा का स्वरूप है। अल्प में कभी भी सुख नहीं होता; भूमा में ही सुख होता है। भूमा पूर्ण है, शान्त है, रस स्वरूप है, क्षोभरहित है, जबकि अल्प में संघर्ष है, क्षीयमाणता है, पुनः पुनः वृद्धि के लिए सतत प्रयास करना होता है, स्पर्द्धा है, भय है, विक्षोभ है। इन सब कारणों से अहं का खूँटा शान्ति के लिए कथमपि विधेय नहीं है– यह सदा याद रखना है।

*****

☞ जीवन यात्रा में ठीक दिशा का महत्त्व! घर की तलाश है तो सरल बनो!
☞ पूर्ण सत्य कौन कह पाया (**क इह प्रवोचत्**)? अतः यह न कहें कि सत्य इतना ही है!
☞ **द्वैतं भजनहेतवे**! द्वैत भक्ति सेवा के लिए, प्रेमोपासना के लिए।
☞ तर्क से सत्य की रक्षा तो होती है पर सत्य जाना नहीं जाता या जाना नहीं जा सकता।
☞ छूटी हुई चीज कभी याद नहीं आती; छोड़ी हुई याद आती रहती है।

३५. क्रोध पर विजय

क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं संकल्पवर्जनात्।।
न द्विषन्तं क्षयं यान्ति यावज्जीवमपि घ्नतः। क्रोधमेव तु यो हन्यात् तस्य सर्वे द्विषो हताः।।

बात बहुत वर्ष पहले की है- रिवाड़ी में एक सज्जन होते थे- लाला रामानन्द। वे महाराज के एक श्रद्धालु भक्त थे और प्रायः महाराज के चरणों में सत्संग के लिए उपस्थित होते रहते थे। उन्होंने महाराज से क्रोध पर विजय पाने का उपाय पूछा। महाराज ने उनको ६-७ बातें बतलाईं। पर एक बात ने उनको सबसे अधिक प्रभावित किया। वे अपने परीक्षण में सफल रहे। इसलिए प्रसन्न मुद्रा में अपनी दुकान बन्द करके वैदिक आश्रम रिवाड़ी में महाराज के पास पहुँचे और कहने लगे- स्वामीजी! आपके द्वारा बतलाई गई इस बात ने तो मेरा उद्धार ही कर दिया कि **"तुम भगवान् से उनका प्रेमी भक्त बनकर प्रतिदिन यह प्रार्थना किया करो कि हे भगवान्! मुझे शक्ति व सुमति दो। मैं सदा इस बात का ध्यान रखूँ कि दिन भर व्यवहार करते हुए कोई व्यक्ति मुझ पर क्रोध करे तो यही समझूँ कि वह आपका भेजा हुआ मेरी परीक्षा लेने के लिए मेरे पास आया है"।**

क्रोध के मूल को यदि खोजा जाए तो उत्तर मिलेगा- कामना (**कामात् क्रोधोऽभिजायते);** और वह कामना अपना विशिष्ट आग्रह लिये हुए दो रूपों में व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होती है- 'ऐसा होना चाहिए', 'ऐसा नहीं होना चाहिए'। यदि इस आग्रह में व्यतिक्रम होता है, तो अवश्य ही क्रोध भी उत्पन्न होगा। सो किसी व्यक्ति को यदि तीव्र इच्छा जागरित हो गयी है कि मैं क्रोध न करूँ अर्थात् सर्वदा शान्त रहूँ, तो उसे अपने 'उपरि निर्दिष्ट आग्रह' के प्रति सचेत होना होगा। व्यक्ति प्रायः जीवन को सुखमय बनाना तो चाहता है, उसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न भी करता है, पर उसकी मूल समस्या यह है कि यह शुभ स्मृति या शुभ संकल्प मौके पर गायब हो जाता है। जब घटना घट चुकी होती है, तब याद आता है- यह क्या हुआ?

महापुरुष और सामान्य व्यक्ति के जीवन में ध्यान से देखा जाए तो यही अन्तर दिखाई देगा कि **महापुरुष घटना के घटित होने से पहले सावधान हो जाते हैं और सामान्य व्यक्ति उस समय सावधान होता है जब 'चिड़िया चुग गयी खेत'।** सो किसी संकल्प को अभ्यास में लाने के लिए किसी अन्य एक संकल्प के साथ उसे जोड़ दिया जाए या अन्य किसी एक आलम्बन अथवा घटना का सहारा लेकर यदि उसे स्मृति-पटल पर रखा जाए तो उस संकल्प को स्मरण रखने में व्यक्ति को पर्याप्त सहयोग मिल सकता है। जैसे 'मैं सब परिस्थितियों में शान्त रहना चाहता हूँ,' इस संकल्प को पूरा करने के लिए इसे अपने किसी गुरुजी के साथ जोड़ दिया जाए कि पूज्य गुरुजी का मेरे लिए ऐसा आदेश है और यह मुझे ध्यान रखना है।

श्री महाराज के द्वारा सुझाया उपाय भी इसी रूप में सहयोगी है कि प्रतिदिन प्रातःकाल मैं स्वयं ही हृदय से भगवान् के सामने प्रार्थना कर रहा हूँ कि हे भगवन्! आज मेरी परीक्षा के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को भेजिए कि वह मुझ पर क्रोध करे और मैं सदा याद रख सकूँ कि वह आपका ही भेजा हुआ

मेरे पास आया है। सो जब किसी क्रोधी व्यक्ति का आगमन होगा, उस समय मन उसको सहज रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार रहेगा, अन्दर विद्रोह का वायुमण्डल नहीं बनेगा। प्राप्त परिस्थिति को स्वीकार न करने का नाम ही तो क्रोध है। यदि जो भी है- अनुकूल या प्रतिकूल, इच्छित या अनिच्छित, उसे सहज स्वीकृति दे दी जाती है, तो फिर कैसा क्रोध? इस प्रकार महाराज के द्वारा निर्दिष्ट उपाय, क्रोध पर विजय पाने के लिए सर्वथा वैज्ञानिक है, तर्कसंगत है।

एक बात का तो अवश्य ही ध्यान रखना होगा। चाहे क्रोध है या कोई अन्य उसका भाई-बन्धु, यदि उसको हम नहीं चाहते हैं तो सर्वथा एक तरफ होना होगा। प्रायः व्यक्ति उस चीज को नहीं भी चाहता रहता है और एकदम से छोड़ना भी नहीं चाहता, अर्थात् उससे कुछ रस भी लेना चाहता है, उसकी आवश्यकता भी अनुभव करता रहता है। इसलिए उसके समर्थन में कुछ तर्क भी देता रहता है कि क्रोध करना सर्वथा त्याग दिया तो बहुत हानि हो जायेगी, बच्चे बिगड़ जायेंगे, कुछ तो करना ही पड़ेगा। यदि ऐसी मानसिकता बनी हुई है तो विजय कठिन ही है।

जब किसी भी चीज की पूर्ण रूप से व्यर्थता समझ ली जाती है, किञ्चित् भी किसी स्तर पर लाभ नहीं दिखाई देता, तो निश्चित ही उस चीज को त्यागने में बहुत सरलता हो जाती है। हो सकता है शरीर व मन के कुछ पुराने अभ्यास कुछ सीमा तक पीछा करें, पर वे दूर तक साथ नहीं चल पायेंगे।

किसी बात की व्यर्थता को पूर्ण रूप से समझने का अर्थ यह है जैसे काले सर्प को काला सर्प समझा जाता है, एक हजार फिट गहरी खाई को एक गहरी खाई के रूप में समझा जाता है, अग्नि की दाहकता को बिना भ्रम के समझ लिया जाता है कि यह तुरन्त जला देती है। यदि उसकी व्यर्थता का इतना स्पष्ट चित्र नहीं बन पा रहा है तो समस्या पर विजय पाना अवश्य ही कठिन होगा। 'रस आना', 'किञ्चित् भी रस न आना, किन्तु पीड़ा भी महसूस न होना' और 'पीड़ा दिखाई देना'- इन तीन स्थितियों में जब तक पीड़ा नहीं दिखाई देती, तब तक जीवन के लिए कितनी भी घातक चीज हो उससे ऊपर उठ पाना कठिन ही है, और जब वह व्यक्ति के स्वभाव का अङ्ग बनी हुई हो, तब तो और भी ज्यादा कठिन है।

इसलिए अभ्यस्त मन को नई दिशा देने के लिए अनेक प्रकार से उपायों का सहारा लेना आवश्यक है। सारी बात व्यक्ति की चाहत पर आकर टिक जाती है। वह क्या चाहता है, जो चाहता है वही मिलता है। क्रोध चाहता है तो क्रोध, शान्ति चाहता है तो शान्ति। मिलता है आचरित कर्म के आधार पर। देखिए एकनाथ महाराज ने एक देवी के क्रोध को कैसे शान्त किया? सन्त महात्माओं का जीवन, उनका व्यवहार, उनकी वाणी, उनकी कर्म-पद्धति, सब कुछ अद्भुत होता है। ऐसा ही सन्त एकनाथ महाराज की इस निम्नलिखित घटना में देखने को मिलता है-

एकनाथ महाराज, जो महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं, एक गाँव में भिक्षा के लिए गये। एक घर के समक्ष खड़े होकर आवाज लगायी- माई! भिक्षा। घर में जो देवी उपस्थित थी, वह बहुत क्रोधी स्वभाव की थी। सन्त जी के बहुत प्रतीक्षा करने के बाद हाथ में एक मुट्ठी बाजरा लिये हुए निकलकर बाहर आयी। सन्त जी के पास आकर क्रोध अवस्था में ही कहने लगी- 'ले जल्दी से'! सन्त जी ने जैसे

ही झोली फैलायी तो देवी जी के द्वारा सन्त जी की ओर फेंका हुआ बाजरा झोली में न पहुँचकर नीचे गिर पड़ा। अब सन्तजी प्रसन्नता के साथ, वहीं नीचे बैठकर बाजरे का एक-एक दाना चुगकर खाने लगे।

स्पष्ट है उन सब दानों को चुगने में सन्तजी को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, कितना समय उन्होंने उसमें लगाया होगा- अनुमान किया जा सकता है। सन्तजी के इस व्यवहार को देखकर देवी जी का सब-का-सब क्रोध हवा हो गया। वह बहुत विनम्र और मधुर स्वर में कहने लगी– कोई बात नहीं, महाराज जी, मैं और ला देती हूँ, आप इसे यहाँ नीचे ही पड़ा रहने दीजिए। सन्तजी ने भी बड़े प्रेम से कहा– नहीं माता! आप तो भिक्षा दे चुकी हैं। मेरा नियम है एक ही दिन एक घर से दो बार भिक्षा नहीं लेता। अब तो यही पर्याप्त रहेगा। देवी जी को सन्तजी के साथ किये गए अपने व्यवहार पर बहुत खेद व पश्चात्ताप हुआ। इस प्रकार सन्त ने अपनी सहनशीलता से हृदय-परिवर्तन जैसा दुष्कर कार्य कर दिखाया।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे प्रसङ्ग लगभग प्रतिदिन ही आते रहते हैं। स्थिति को समस्या बनाकर यदि व्यक्ति न देखे, तो स्थिति से बहुत आसानी के साथ निपटा जा सकता है। पर व्यक्ति प्रायः प्रमाद में जीता है और स्थिति को समस्या समझने की भूल कर बैठता है। **स्थिति और समस्या का प्रत्युत्तर (Response) कभी भी एक नहीं हुआ करता। जब व्यक्ति के समक्ष कोई 'स्थिति' होती है, तो व्यक्ति का मन पूर्ण शान्त होता है, उसको देखकर विचलित नहीं होता, पर जब किसी चीज को 'समस्या' के रूप में देखता है, तो उस समय मन की अवस्था अलग प्रकार की हो जाती है। धैर्य भी साथ छोड़ देता है। अतः व्यक्ति असहनशील हो जाता है।**

घटना का जो भी रूप सामने है, दूसरा व्यक्ति भी उसी स्तर पर पहुँच सकता है। एक व्यक्ति के मुख से अपशब्द निकल रहे हैं तो सुनने वाला भी उन्हीं शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ कर सकता है। एक ने हाथ उठा लिया तो उत्तर में दूसरा भी वही कर सकता है। इसलिए बेशक समस्या ही हो, पर उसका नामकरण 'स्थिति' शब्द से यदि कर दिया जाता है तो लगभग सभी झंझट उसी समय समाप्त हो सकते हैं। सन्त एकनाथ ने ऊपर उद्धृत घटना में यही तो किया। देवी जी किसी कारण क्रोध में हैं, यह एक स्थिति है। बस! सन्तजी उसे देख रहे हैं। यदि उसे वे समस्या के रूप में देखने लगते तो स्यात् उनके मन की वह स्थिति न रहती जो अब बनी रही।

यह पूर्णतः व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है कि वह अपनी ज्ञान-शक्ति, अपने विवेक का प्रयोग कर हर समस्या को स्थिति में बदल दे, लेकिन यदि वह समझ के क्षेत्र में प्रमाद कर बैठता है तो उसे प्रत्येक स्थिति ही समस्या के रूप में दिखाई देगी। समस्या छोटी है या बड़ी है- सवाल इस बात का नहीं। तथ्य यह है, हमारे देखने का स्तर क्या है? हमारी दृष्टि कैसी है? इस बात पर ही सब कुछ निर्भर करता है। जीवन में जो व्यक्ति बड़ी-से-बड़ी घटना (Challange) को भी शान्त होकर स्थिति के रूप में देख सकता है, वही सन्त एकनाथ जी की तरह शान्त जीवन जीता हुआ औरों को भी शान्ति का दान कर सकता है। यही कहानी का सार है।

३६. लक्ष्मी का स्वयंवर

लक्ष्मी ने अपना स्वयंवर रचाया। सब राजाओं को आमन्त्रित किया। घोषणा यह की गयी कि मैं उसको अपना पति वरण करूँगी जो मुझे नहीं चाहेगा। मेरे प्रति सदा निःस्पृह रहेगा। अपने संकल्प के अनुसार जिस पर भी उसने अपनी दृष्टि डाली सबको सकाम पाया। खोज करते-करते आखिर उसे एक ऐसा दिव्य पुरुष मिल ही गया जो लक्ष्मी के द्वारा उसके समक्ष साक्षात् उपस्थित होने पर भी अपनी अनन्त शान्ति में डूबा रहा। लक्ष्मी को देखने पर भी उसके मन में किञ्चित् भी हल-चल पैदा नहीं हुई पूर्ण उदासीन बना रहा। ऐसे परम संयमी के गले में लक्ष्मी ने अपनी वरमाला डाल दी।

स्यात् पाठक गण जानते ही हैं- ऐसे अद्‌भुत पराक्रमी देव पुरुष का नाम है- 'विष्णु भगवान्'। इस संसार के समस्त वैभव को यदि लक्ष्मी का रूप माना जाए, तो उसके स्वामी हैं सर्वत्र कण-कण में व्याप रहे स्वयं भगवान्। यह एक ऐसा रूपक है, जिसने अपने अन्दर प्रचुर अर्थ समेटा हुआ है। मनुष्य मात्र ही लक्ष्मी को अपनी अर्धाङ्गिनी बनाना चाहता है। पर उसने तो पहले ही यह प्रतिज्ञा कर ली है कि ऐसे कामुक व्यक्ति को मैं कभी पसन्द नहीं करूँगी जो मेरा प्यासा है, चाहे फिर वह कितना भी रूपवान्, गुणवान्, विद्वान्, बलवान्, पुरुषार्थी जो कुछ भी हो, मेरे लिए उसका कोई मूल्य नहीं है। मेरी तो बस एक ही शर्त है- सर्वथा निःस्पृह, अकाम।

स्यात् संसार में इसलिए प्रायः यह दृश्य देखने को मिल रहा है। रात-दिन मारा-मारी करने पर भी मनुष्य उसे प्राप्त नहीं कर पा रहा। यदि उसने प्राप्त कर लिया होता, तो उसकी चाह मिट जाती। पाने के लिए प्रयास तो तब तक किया जाता है जब तक वह चीज अप्राप्त रहती है। किसी भी चीज को व्यक्ति ने अभी तक प्राप्त नहीं किया है, इसमें यही प्रमाण है कि वह असन्तुष्ट है।

चाहे कोई व्यापार कर रहा है या उद्योगपति है, श्रमिक है या शिल्पी है, अध्यापक है या प्राध्यापक है, सैनिक है या पुलिस कर्मचारी है, साधु है या गृहस्थ, सब-के-सब ही तो लक्ष्मीपति बनना चाहते हैं। पर, कोई भी तो नहीं बन पा रहा। सब अपने-अपने स्तर पर नये-नये उपाय खोजने में लगे हैं- एक उपाय से नहीं तो दूसरे उपाय से ही वह प्रसन्न हो जायेगी, ऐसी मन में आशा लगाये रात्रिंदिवा अपना भरसक प्रयत्न कर रहे हैं, पर सब व्यर्थं उसकी प्राप्ति का जो मूल उपाय है, उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं दे पा रहा। इसलिए सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, होते जा रहे हैं।

लक्ष्मीपति बनने का अर्थ है— व्यक्ति का पूर्ण शान्त, सन्तुष्ट, अकाम व स्पृहारहित हो जाना और सन्तुष्ट व निःस्पृह होने का अर्थ है— लक्ष्मीपति बन जाना। यद्यपि मोटी नजर से देखने पर ये दो चीजें दिखाई देती हैं पर वस्तुतः एक ही तथ्य के ये दो पहलू हैं। दो स्थानों से एक ही चीज को देखा जा रहा है। लक्ष्मीपति का अर्थ है विष्णु की तरह पूर्ण निःस्पृह, जो अपने लिए कुछ भी नहीं चाहता। दूसरी तरफ से कहना होगा- पूर्ण सन्तुष्ट होने का अर्थ है- लक्ष्मीपति। कारण? उसकी कोई

चाह नहीं है। इसी बिना पर तो लक्ष्मी का स्वामी बना है। जो अपने दिल में चाह लिये बैठे हैं– लक्ष्मी के स्वामी तो वे त्रिकाल में भी नहीं बन सकते, क्योंकि उसका ऐसा ही व्रत है।

हाँ! लक्ष्मी उन लोगों को दया करके अपने दास, अपने भृत्य के रूप में अवश्य स्वीकार कर लेती है। यह उसकी कृपा ही समझनी चाहिए जो कम-से-कम उन सकाम लोगों को अपना किंकर, अपना नौकर, अपना दास बनाकर रखने के लिए तो वह सहमत हो गयी। आखिर तो विष्णु की पत्नी है। अपने घर पर आये लोगों को सर्वथा निराश करके कैसे लौटा सकती है? यह समस्त संसार ही लक्ष्मी की सेवा करने में जुटा हुआ है। यह जगत् रूपी विशाल उद्योग लक्ष्मी ने ही चालू किया हुआ है। विभिन्न विभागों में उसने कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति कर दी है। उनके प्रयत्न व बुद्धि-कौशल को देखते हुए उनका अंशदान उन्हें देती रहती है। इन नौकरों के असंख्य भेद व स्तर हैं। कुछ एक हजार रुपये मासिक पर काम कर रहे हैं तो कोई दस लाख रुपये मासिक पर। किसी को केवल भोजन मात्र पर रखा हुआ है तो किसी को कुछ नाम मात्र सुविधाओं पर।

इस महासमृद्धिशालिनी देवी के राज्य में कोई-कोई नौकर तो अरबों-खरबों तक भी सैलरी पाने वाला है। विद्या विभाग में जो लोग काम कर रहे हैं, उनमें से किसी को तो यह पूरी तपस्या कराती है, किसी को माला-माल भी कर देती है। तपस्या उन्हें करनी पड़ती है, जो न तो लक्ष्मीपति बनने की शर्त पूरी कर पाते हैं और न ही उसके नौकर बनकर रहना चाहते हैं अर्थात् जो इसके आज्ञापालक सेवक या दास के रूप में भी नहीं रहना चाहते, उन्हें इसकी तरफ से कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। हाँ! कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनका कि इसने मित्र बनकर रहना स्वीकार कर लिया है। उनका यह अवश्य ही उनकी आवश्यकतानुसार समय-समय पर सहयोग करती रहती है। यह तो पूर्ण रूप से ही इसकी इच्छा पर निर्भर करता है कि किसको यह अपना मित्र बनाती है या नहीं बनाती।

लक्ष्मीपति, लक्ष्मी के दास, लक्ष्मी के मित्र, लक्ष्मी के द्वारा उपेक्षित, संसार में चार प्रकार के लोग देखने में आते हैं। मित्रों की भी यद्यपि आंशिक सेवा लक्ष्मी के द्वारा कर दी जाती है, पर यह हाथ जोड़े सतत जिसकी सेवा में उपस्थित रहती है वह तो वही व्यक्ति होगा जो पूर्ण अकाम, सर्वथा निःस्पृह हो गया है। लक्ष्मी के जो दास हैं, वे लक्ष्मी के यन्त्र बने हुए हैं। लक्ष्मी उनसे अपना काम करवाती है और उनकी मजदूरी दे देती है। जो कुछ भी काम नहीं करना चाहते- सर्वथा निकम्मे हैं– लक्ष्मी उन्हें उनके भाग्य पर छोड़कर मुँह फेर लेती है।

संसार में ऐसे सन्त पुरुष देखने में आते हैं जो पूर्ण निःस्पृह जीवन जीते हैं, एक मात्र वे ही लक्ष्मी के स्वामी बनकर सर्वथा दुःख रहित जीवन जिया करते हैं। ऐसे ही महान् आत्माओं की सेवा करने के लिए लक्ष्मी राजी होती है- ऐसी श्री महाराज की शिक्षा है। कवि कहता है-

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
तस्यार्थस्तु सदा दासो य एनं समुपेक्षते।।(महाभारत)

(तुलना करें– महाभारत भीष्मपर्व ४३.४१-५६-७९-८२) अर्थात् अर्थ के सभी दास हैं, चाकर हैं, अर्थ किसी का दास नहीं। अर्थ उसी का सदा दास है, जो उसकी उपेक्षा करता है। सचमुच, अर्थ जिसको अपनी ओर आकृष्ट न कर सके, वही ज्ञानी है। वेद में भी कहा गया है-

अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।। (अथर्व० १०.८.४४)

*****

☞ दिव्यज्ञान, आनन्द और प्रेम की पतितपावनी ब्रह्मद्रवी अविरल रूप से बह रही है। इस शरीर के पावन हृदयघाट पर उतर कर कौन इसमें से कितना पी सकता है, यह पात्र पर निर्भर है।

☞ अग्नि एक ध्रुव है जो ज्ञान से आविष्ट शक्ति के रूप में अपनी धारा को पृथ्वी से ऊपर द्यौ में ले जाता है और इन्द्र दूसरा ध्रुव है जो शक्ति से आविष्ट प्रकाश के रूप में अवतरण करता है।

☞ धर्म उन शाश्वत नियमों की संज्ञा है जिनसे यह सृष्टि-प्रक्रिया चालू है; गतिशील है। **धारणाद् धर्मः।**

☞ 'मैं कौन' सत्य के खोजियों का आधार-वाक्य। ऐसे खोजियों के लिए बाह्य- भौतिक अपर्याप्त। **न हि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः** (कठोप०)। **अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन** (बृ० उप०)।

☞ जो जीवन का लोभ-मोह छोड़कर जीता है वही **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** को जान सकता है। अर्थात् इस शिक्षा को चरितार्थ कर रहा है या कर सकता है।

☞ विज्ञान हमें भौतिक सच्चाइयाँ, दर्शन हमें मानसिक सत्यों और प्रज्ञा (योगचक्षु) हमें ऋत= आध्यात्मिक सत्यों के आधार बताते हैं।

☞ जो भगवान् को जान जाता है, उसका तथाकथित बोलना बन्द हो जाता है। इसीलिए सारी सृष्टि मौन है।

☞ ऊपर के संकल्प से सञ्चालित रहें। विचार आत्मा का आंशिक प्रकाश।

☞ अ+उ+म्=ओम् पावन त्रिवेणी धाम! विश्वव्यापी विष्णु भगवान् के वामन भाव के तीन चरण।

☞ स्थिति और गति, केन्द्र और परिधि की समष्टि– विश्व।

☞ अपने व्यक्तित्व का त्याग ही संन्यास है। सत्य पर टिकना समाधि है।

☞ यज्ञ= विश्वरूपी कामधेनु का स्तन। यज्ञ=सुपथ; आदि-मध्य-अन्त में उत्तम।

☞ जब जीवन में रस की अनुभूति होने लगे तो समझो हृदय शुद्ध है।

☞ 'मन' हृदय में जीवन-शक्ति का प्रत्यक्षीकरण है! भूत-भविष्य-वर्तमान सब वृत्ति में हैं!!

३७. लोभ का परिणाम

लोभमूलानि पापानि रसमूला व्यथाः स्मृताः।
स्नेहमूला हि शोकाश्च त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।
मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।। (यजु० ४०.१)

एक किसान है, पर इसके पास जितनी भूमि है, उसे अपने आनन्दपूर्ण जीवन-निर्वाह के लिए काफी नहीं समझ रहा। वैसे हर प्रकार से खुश है, पर यही एक कमी अनुभव कर रहा है। मनुष्य जब किसी चीज की सचमुच आवश्यकता अनुभव करने लगता है, तो देर-सवेर, कम या ज्यादा उसे प्राप्त कर ही लेता है। कारण? उस समय उसकी समस्त ऊर्जा, उसके सब प्रयास, उसकी बुद्धि, उसकी विचार-शक्ति तथा कर्म-शक्ति उसकी अपनी उस चाह को पूरा करने में जुट जाती है। सवाल यह नहीं होता है कि चाह अच्छी है या बुरी, बल्कि वह जितनी तीव्र होती है, चाहे फिर वह कैसी भी हो, भले ही भविष्य में अनन्त दुःखों को देने या दिलाने वाली क्यों न हो, उस तीव्रता के अनुपात में अवश्य पूरी होती है।

सो इस किसान में भी जमीन बढ़ाने की चाह तीव्रता पकड़ती गयी। किसान ने जैसे-तैसे कुछ पैसों का प्रबन्ध किया, बाकी बची राशि को एक वर्ष के बाद चुकाने का वचन दिया, और इस प्रकार ४० एकड़ जमीन खरीद ली। अब जमीन बढ़ जाने से कुछ समय तक तो किसान बहुत खुश रहा, अपने खेतों तथा उसकी हरियाली को देखकर इसका दिल तृप्त हो जाता। पर परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं की गाँव के अन्य लोगों, जिनके पास जमीन कम थी, उनके साथ सम्बन्धों में कटुता आ गयी। इसी बीच किसी व्यक्ति से इसे सूचना मिली कि अमुक जगह पर सस्ते भाव पर पर्याप्त जमीन मिल रही है, और इस जमीन से वह उपजाऊ भी अधिक है। अब, यह तो शीघ्र ही इसे बेच-बाचकर वहाँ पहुँच गया।

जब व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, तो कुछ समय के लिए उसका मन प्रायः शान्त रहता है। कारण, नवीनता का अपना एक सुख है, मन को नित्य नवीनता मिलती रहे तो वह फिर ऊबता नहीं। नवीनता के कारण ही तो लोग उत्सवादि में बहुत खुश दिखाई देते हैं। पुरानापन आते ही मन में जड़ता आ जाती है, उसकी तरङ्गित अवस्था समाप्त हो जाती है। इसीलिए तो साधक लोग अपने मन को ऐसा प्रशिक्षण देते हैं कि वह वर्त्तमान क्षण में ही रहे, और अगला क्षण सदा नवीन रूप में उनके समक्ष उपस्थित हो। सो स्थान परिवर्तन से वह नवीनता कुछ समय के लिए सहज ही प्राप्त हो जाती है। दूसरे, नये स्थान पर व्यक्ति को कुछ काल के लिए अन्य व्यर्थ की कामनाओं से अनजाने ही मुक्ति मिल जाती है, क्योंकि उसे वहाँ जमने के लिए व्यस्त रहना पड़ता है।

किसान भी तीन वर्ष तक तो खूब प्रसन्न रहा। यहाँ उसके पास पहले की अपेक्षा कई गुणा भूमि थी। अनाज भी पहले से बहुत अधिक पैदा होता था, सुविधायें भी बढ़ रही थीं। **पर यह एक शाश्वत सत्य है- वस्तुओं से, द्रव्य से या सुविधाओं से शरीर तो तृप्त हो सकता है, लेकिन मन को जितना भी मिलता है,**

कम ही पड़ता जाता है। घी से जैसे अग्नि तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार मन रूपी वेदी में जल रही कामना रूपी अग्नि वस्तु-पदार्थ-भूमि-स्त्री-धन-वैभव से कभी शान्त नहीं होती, बल्कि बढ़ती ही है। कवि ने कितना सुन्दर कहा है-

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नैकस्यापि हि पर्याप्तं तस्मात् त्यक्त्वा शमं व्रजेत्।। (उद्योग० १२.४८)

समस्त पृथिवी का धन-धान्य-स्वर्ग-पशु और स्त्रियाँ यदि एक व्यक्ति को भी प्राप्त हो जाएँ, तो भी उसके लिए ये पर्याप्त नहीं होंगी। इसलिए ज्ञानियों का यह अनुभव है कि मन यदि वस्तुओं की प्राप्ति के फेर में पड़ गया, तो कभी भी 'न' नहीं करेगा। उसका तो बस एक ही उपाय है- 'त्याग'। **त्यागात् शान्तिरनन्तरम्** (गीता १२.१२)। यहाँ त्याग का अर्थ है- परिश्रम करते हुए फल की उपलब्धि में सन्तोष। मन जब त्याग का आश्रय ले लेता है, तब तो तत्काल शान्त हो जाता है। अन्यथा इसकी भूख बढ़ती ही जाती है।

चूँकि किसान का मन 'और-और' के फेर में पड़ा हुआ था, अतः इस सौ-एकड़ भूमि से भी असन्तुष्ट होकर कुछ और जमीन पाने का उपाय सोचने लगा। अकस्मात् एक व्यक्ति से पता चला कि अमुक जगह हजारों एकड़ भूमि यों ही पड़ी है, जो जितनी चाहे कौड़ियों के भाव खरीद सकता है। सो अपने बच्चों को यहीं छोड़कर एक आदमी को साथ लेकर चल देता है। जाकर देखा तो बात बिलकुल ठीक निकली। वहाँ एक उच्च अधिकारी से बातचीत की। जमीन का दाम पूछा। उसने कहा- हमारे यहाँ तो एक ही दाम है- एक हजार रुपया तथा सूर्योदय से सूर्यास्त तक जितनी भूमि नापी जा सके, वह सब उसकी। पर साथ में एक शर्त है- जहाँ से चले वहीं पर सूर्यास्त से पहले-पहले वापस अवश्य पहुँच जाना चाहिए, अन्यथा आपकी सम्पूर्ण राशि जप्त हो जायेगी। हम सब आपको देखते रहेंगे।

किसान बहुत खुश हो गया कि ३५-४० मील तो मैं पूरे दिन में चलकर पार कर ही दूँगा। अपने अन्दर-अन्दर कल्पना के महलों में बड़ी कठिनाई से रात गुजारी। प्रातःकाल जल्दी ही नित्य कर्म से निवृत्त होकर भूमि अधिकारी तथा गाँव के कुछ लोगों के साथ पहुँच गया- जमीन नापने के लिए। **मनुष्य की यह कमजोरी कहिए या अज्ञानता। वह प्रतीयमान खुशियों में इतना बह जाता है कि समझ ही नहीं पाता कि इन्हीं में तेरी मौत छिपी हुई है।** बस इस किसान के साथ भी यही कुछ हुआ।

किसान अपनी पूरी तैयारी के साथ एक फावड़ा कन्धे पर रखकर पूर्व-दक्षिण-पश्चिम का हिसाब लगाकर जमीन नापने का काम प्रारम्भ कर देता है। स्थान-स्थान पर चिह्न के रूप में कुछ घास व मिट्टी के द्वारा ऊँची टेकड़ी बनाता हुआ तेजी से आगे बढ़ता चला जा रहा है। थोड़ी-सी यह और नाप लेता हूँ- इस प्रकार 'और-और' के लोभ में बहुत दूर निकल जाता है। ध्यान आता है, कभी सूर्यास्त से पहले वापस न पहुँच पाऊँ और सारी मेहनत मिट्टी में मिल जाए, इसलिए पूर्व से दक्षिण और दक्षिण से पश्चिम तक पहुँचने के बाद उत्तर की तरफ घूम जाता है। सुन्दर जमीन मिल रही है, इस करके तो खुश है। पर सूर्य को अस्ताचल की तरफ बढ़ता देख चिन्तित हो उठता है। विचार करता है- अपने गन्तव्य बिन्दु से तू इतनी दूर है कि अब तो दौड़कर ही इस दूरी को तय किया जा सकता है। बस, पैरों में पहनी हुई जूतियों व वस्त्रों को निकालकर फेंक देता है और दौड़ना आरम्भ कर देता है। दौड़ते-दौड़ते

श्वास फूल जाता है। टाँगें काम करना छोड़ देती हैं, फिर भी जमीन का लोभ है, इसलिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर दौड़ता रहता है।

सूर्य भी अब छिपने के करीब पहुँच गया है। यह भी एक बार सूर्य को और एक बार लक्ष्य को देखता हुआ अपनी बची-खुची सब ताकत लगा देता है। मानो कि अब दो मिनट बाद ही सूर्य डूबने वाला है, इसलिए गाँव से आये सभी लोग इसे उत्साहित कर रहे हैं- हाँ भाई! बस अब तो पहुँच ही गया। थोड़ा-सा जोर और लगा दे। जोश में भरकर किसान भी अपना अन्तिम बल लगाकर गन्तव्य पर पहुँच तो जाता है, पर पहुँचते ही औंधे मुँह गिर पड़ता है। सब उसे शाबाशियाँ देते हुए उसकी पीठ थपथपाते हैं। उनका भूमि अधिकारी भी पास में आ जाता है। भाई! आज तो तुमने बड़ी हिम्मत की। इस प्रकार उसके पौरुष की प्रशंसा करता हुआ जैसे ही उसे उठाने के लिए हाथ बढ़ाता है, तो देखता है, किसान तो बोल ही नहीं रहा। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उसके मुख से खून आ रहा है तथा उसके प्राण निकल चुके हैं। कुछ दया और कुछ व्यंग्य भरी दृष्टि से सब-के-सब लोग उसे देख रहे हैं। लेकिन वे कर क्या सकते हैं?

अब सब मिलकर उसके लिए दुःखी हृदय से वहीं ६ फिट लम्बी-चौड़ी एक कब्र खोदकर तैयार करते हैं और उसमें उसे दफना देते हैं। इस घटना पर सबके मुख से एक ही बात निकलेगी कि **ऐ भोले! जमीन के भूखे! तुझे जमीन चाहिए कितनी थी और नापी कितनी? आखिर तो ६ फिट जमीन ही तुम्हारे काम आयी। ज्यादा करते और थोड़ी-सी नाप लेते। यह तुमने क्या किया?**

इस कहानी के मूल लेखक टॉल्स्टाय ने इस सन्दर्भ में बहुत अच्छा कहा है कि उस किसान की तरह ही मनुष्यमात्र असन्तोष की आग में जल रहा है। चाहे कोई उद्योगपति है या व्यापारी, मजदूर है या कोई विशिष्ट शिल्पी, विद्वान् है या अनपढ़, सभी को तो 'कुछ और, कुछ और' की यह लालसा आगे-आगे खींचती रहती है। कहाँ से चला था, कहाँ पहुँचना है, व्यक्ति यह सब कुछ भूल जाता है। हमारे महाराजश्री का कहना है कि **मनुष्य का हृदय ही वह केन्द्र बिन्दु है जहाँ हमारी माँ अपने अनन्त वैभव के साथ विराजमान रहती है। वही हमारा असली घर है। वहीं से प्रातःकाल उठते ही प्रतिदिन अपनी जीवन-यात्रा को आरम्भ करना होता है और सायंकाल अपने घर में वापस लौटना होता है।**

खेल बाहर खेला जाता है तो शक्ति अपने घर में प्राप्त की जाती है। जैसे बच्चा माँ के पास दूध पीता है, और खेलने के लिए बाहर दौड़ पड़ता है। जिनके जीवन में यह सन्तुलन बना रहता है- माँ के पास दूध पीना या विश्राम करना और फिर अपना खेल खेलना, उनका जीवन अपार खुशियों से भरा रहता है। जो बच्चे माँ के पास से खेलने के लिए तो बाहर जाते हैं किन्तु किसी भी प्रलोभन में भटक कर वापस नहीं पहुँच पाते, उनके भाग्य में लिखा होता है कष्ट-पीड़ा-दुर्भाग्य-आँसू। वह भगवती माँ भी यह नहीं चाहती कि ये बच्चे खेलना-कूदना बन्द करके बस मेरी गोद में ही पड़े रहें, बल्कि वह चाहती है कि दूध पीवें, रात भर मेरे पास विश्राम करें और दिन में अपना खेल खेलें, लेकिन ऐसा खेल खेलें कि किसी की कोई शिकायत सुनने को न मिले और किसी प्रकार के प्रलोभन में भी न फँसें। दर्शकों के मन को अपने क्रिया-कलाप से मुग्ध तो कर दें, पर उनसे बदले में कुछ

भी न लें, कुछ भी न चाहें, सदा निरपेक्ष ही बने रहें। संसार में अपना खेल खेलते समय किसी भी प्रकार की चमकीली चीजों (सोना, यौवन, पद, प्रतिष्ठा) से अपनी आँखों को अन्धा न कर लें।

वह माँ यह भी चाहती है कि खेल के दौरान कानों में पड़ रहे प्रशंसा व निन्दा के शब्दों से अप्रभावित ही रहें। प्रशंसा की वाणी के राग में भी और निन्दा की 'काँ-काँ' में भी एक समान ही बने रहें। जो लोग खेलते-खेलते माँ से इतनी दूर निकल जाते हैं कि फिर किसी भी उपाय से माँ के पास आना सम्भव नहीं हो पाता, उनकी उस लोभी किसान जैसी दुर्गति होती है। इसलिए बच्चों का कल्याण इसी में छिपा हुआ है कि वे बार-बार इस बात का ध्यान रखें कि जब भी कोई खतरा या असुरक्षा अनुभव करें या स्वयं ही जब भी माँ के पास आना चाहें तो तुरन्त एक छलांग में माँ के पास पहुँच जाएँ। हाय! यह लोभ, यह असन्तोष रूपी राक्षस इतना मायावी है, इतने रूप बदलना जानता है कि बच्चा अपनी माँ को भी भूल बैठता है और उस मायावी के किसी-न-किसी मोहक रूप के भुलावे में फँस जाता है। **क्या इस संसार में माँ से भी कोई अद्‌भुत चीज हो सकती है? फिर भी यदि कोई बालक बहक रहा है तो सीधा सा अर्थ है कि महती विपत्ति को उसने मोल ले लिया है।**

इस प्रतिदिन की जीवन-यात्रा को सम्पूर्ण जीवन के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। एक तो वे लोग होते हैं जो हँसते-खेलते आनन्द व उत्सव मनाते हुए जीवन के अन्त में अपनी भगवती माँ की गोद में पहुँच जाते हैं। ये लोग एक क्षण के लिए भी अहङ्कार रूपी शैतान के बहकावे में नहीं आते, उन्हें दुनिया की कोई भी चीज अपनी माँ से अच्छी दिखाई नहीं देती। चाहे वे सोने के टुकड़े हों या लम्बा भूखण्ड या इठलाता हुआ यौवन या ऊँची-से-ऊँची पद प्रतिष्ठा। माँ का प्रेम और उसके अमृतमय दूध के सामने ये सब चीजें उन्हें फीकी नजर आती हैं। इसलिए ये लोग संसार में अपना खेल तो खेलते हैं पर माँ से दूर नहीं हटते, उसके इर्द-गिर्द ही रहते हैं। खेल में इतने मस्त नहीं होते कि अपनी माँ को भूलकर इतने दूर निकल जाएँ कि तड़पते-कराहते हुए वापस लौटना पड़े और माँ को प्राप्त किये बिना ही प्राण-पखेरू उड़ जाएँ।

दूसरे लोग भगवती माँ को भूलकर दुनिया के प्यारे-प्यारे विषयों को चुन लेते हैं और अपने अन्दर अन्तहीन कामनाओं को जगह देकर उनसे भरमाये हुए उस भोले किसान की तरह दौड़ते रहते हैं। यह कामना रूपी चण्डी कभी एक तो कभी दूसरा रूप धारण करके इसके पास जो भी 'शुभ' होता है– धर्म, पुण्य, मङ्गल, शान्ति, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रेम ,करुणा, दया, सहानुभूति, अद्रोह, वैराग्य, ज्ञान, विद्या, बल, आनन्द, निर्लोभता, निर्भयता, स्वतन्त्रता या सद्‌गुण, उन्हें शनैः शनैः ठग लेती है और सर्वथा निर्धन व कंगाल बना देती है। जीवन के अन्त में वे उस किसान की तरह औंधे मुँह गिर पड़ते हैं, उनके मुख से खून बह रहा होता है। सभ्य पुरुष उनके उस दृश्य को देखकर अपनी दया व करुणा बहाते हैं तो अन्य उनको पागल कहकर उपहास करते रहते हैं। **चुनाव सर्वथा आप के हाथ में है– भगवती माँ चाहिए या यह मोहक संसार? जो चाहोगे, वही तो मिलेगा।**

३८. महापुरुषों की सच्ची पूजा

महाजनो येन गतः स पन्थाः।। (महाभारत)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। (मनु० २.६)

रिवाड़ी शहर में 'मानस मण्डल' की ओर से रामनवमी का उत्सव मनाया जा रहा था। लाला रामजस जी ने महाराज के पास पत्र लिखकर भेजा कि द्रौपदी के चीरहरण वाली बात है। आप कृपया पत्र पढ़ते ही आ जाएँ। महाराज ने उनके आग्रह को स्वीकार किया और उत्सव में उपस्थित हो गये।

श्री महाराज इस सभा के सर्वोच्च सम्मानित व्यक्ति के रूप में थे। उनको उच्च आसन पर बिठा दिया गया। कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। श्री राम का एक बड़ा-सा चित्र वहाँ रखा हुआ था। सब लोग आये और श्रद्धापूर्वक कोई ५ पैसे, कोई १० पैसे, कोई २५ पैसे चित्र के सामने चढ़ाकर अपने स्थान पर बैठते गये। महाराज लोगों के इस दृश्य को ध्यान से देखते रहे। अब सबके अन्त में श्री महाराज को भी बोलने के लिए निवेदन किया गया।

श्री महाराज ने अपना प्रवचन इस बात से प्रारम्भ किया– मैंने शास्त्रों में पढ़ा था और महापुरुषों से सुना था कि श्री राम से मिलने के लिए उनकी तरह ही तुमको अनेकानेक कठिन तपस्याओं में से गुजरना पड़ेगा। समस्त मर्यादाओं का साक्षात् मूर्त्त रूप ही बनना होगा। श्री राम एक अच्छे शासक थे– अजातशत्रु, प्रजा के हृदय सम्राट्। तुम्हें भी इस प्रकार का जो भी उत्तरदायित्व मिले, उन्हीं की तरह निभाना होगा। वे एक अच्छे पुत्र थे, श्री राम से मिलने के लिए एक अच्छा आदर्श पुत्र बनना पड़ेगा, जो प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिता की आज्ञाओं का पालन करने में उद्यत रहता हो। श्री राम एक उत्तम पति थे, तुम उनसे मिलना चाहते हो तो तुम्हें भी एकपत्नीव्रत नियम का पालन करते हुए गृहस्थ में भी अत्यन्त संयम का जीवन बिताना होगा।

श्री राम एक आदर्श भाई थे, तुमको भी अपने भाइयों के साथ उतने ही प्रेम से रहना होगा। वे एक उत्तम मित्र थे, तुम्हें भी उनका अनुगामी बनकर एक अच्छे मित्र का पार्ट अदा करना होगा। श्री राम एक विशेष योद्धा थे, तुम्हें भी जीवन-संग्राम में उपस्थित बाधाओं को रौंदते हुए एक अच्छे योद्धा के रूप में अपना मार्ग तय करना होगा। श्री राम अपने सेवकों और भक्तों पर सदा ही अपनी स्नेह-वर्षा करते रहते थे, श्री राम से मिलने के लिए तुम्हें भी उन्हीं की तरह कृपालु व दयालु बनना होगा। श्री राम ऋषियों के परम भक्त व उनके प्रति अतीव श्रद्धालु थे, तुम्हें भी उनके इस गुण को धारण करना होगा। श्री राम सर्वगुण सम्पन्न एक अत्यन्त तेजस्वी पुरुष थे, तुम्हें भी उनकी तरह विविध गुणों से ओत-प्रोत एक महान् आत्मा के रूप में जीवन जीना होगा।

श्री महाराज कहने लगे– मैं तो ऐसा सुनता था कि इतना कुछ करके ही श्री राम से मेरा मिलन हो पायेगा। पर आज यहाँ इस सभा में मुझे तो श्री राम से मिलने का अति सरल नुस्खा मिल गया।

श्री राम के दर्शन के लिए अब मुझे लम्बे-चौड़े तप करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना मात्र करना है कि उनके चित्र के समक्ष हाथ जोड़कर नमस्कार करना, और ५-१० पैसे हों तो साथ में उन्हें चढ़ा देना। देखो श्री राम को प्रसन्न करने के लिए कितना सरल और सहज रास्ता मिल गया! अब हम सबको ही इस बात का खूब प्रचार करना चाहिए कि श्री राम से मिलने, उनके दर्शन करने, उनको प्रसन्न करने का बहुत ही सरल मार्ग खोज लिया गया है– अब से आगे हम लोगों को अनेकानेक तपस्याओं व साधनाओं में से गुजरने की आवश्यकता नहीं है!

व्यक्ति के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है, वह महापुरुषों के चित्र की तो पूजा करता है, पर चरित्र की नहीं। वह उन वन्दनीय पुरुषों के नाम का तो उपासक बनना चाहता है, पर काम का नहीं। वह मुक्त कण्ठ से वाणी द्वारा उनके गीत गायेगा, श्रद्धा भक्ति के साथ उनके चरित श्रवण करेगा, उनके नाम पर उनके स्मृति चिह्न के रूप में लाखों रुपये खर्च करके कोई स्मारक या कोई मन्दिर भी बनवा देगा। समय-समय पर अधिकारी विद्वानों की कथाओं का कार्यक्रम रखेगा, उनके द्वारा लिखित पुस्तकें प्रकाशित करके सस्ते मूल्य पर या अमूल्य ही जनता जनार्दन में बाँट देगा। उनके नाम पर जगह-जगह आश्रम उद्घाटित करेगा। अधिक-से-अधिक उनके अनुयायी बनाने का भी प्रयत्न करेगा, यह सब तो सदा ही करने के लिए तैयार रहेगा।

पर उन महनीय महानुभावों ने जो-जो उपदेश दिये हैं, स्वयं जो जीवन जिया है, जिन साधनाओं के सहारे उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, जिन काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-अहङ्कार-ईर्ष्या-द्वेष आदि शत्रु गणों का समूल नाश करके अपना रास्ता साफ किया है, जिन मानवीय दुर्बलताओं पर उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त की है, जीवन की जिन उच्चतम सम्भावनाओं को उन्होंने चरितार्थ कर दिखाया है, मन को सदा शान्त रखने की जिस कुञ्जी को उन्होंने प्राप्त किया है। घृणा-वैर-वैमनस्य, हृदय के जिन क्षुद्र भावों को उन्होंने दूर हटा दिया है और उनके स्थान में दया-दान-दक्षिणा-सौहार्द-प्रेम-करुणा-सहानुभूति से अपने हृदय को भर लिया है, समस्त ही जिन अनित्य और अनात्म पदार्थों से अपने मन को हटाकर नित्य व आत्म तत्त्व के साथ मन को जोड़ दिया है।

जिन अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-भय आदि क्लेशों का बीज नाश कर दिया है। महान् पुरुषार्थ करके मन की जिस सत्त्वमयी अवस्था को उन्होंने प्राप्त किया है। कठोर साधना व तपश्चर्या करके समस्त आन्तर-बाह्य दुःखों का जो आत्यन्तिक नाश कर लिया है। प्रकृति के लुभावने आकर्षणों से जो कि सदा ही मनुष्य को अपनी तरफ खींचते रहते हैं, उनसे सदा-सदा के लिए अपने आप को खींच लिया है। चित्त पर पड़ी हुई जन्म-जन्मान्तर की अनन्त वासनाओं को साफ कर उसे स्फटिक जैसा निर्मल बना लिया है। सुशब्द-सुस्पर्श-सुरूप-सुरस-सुगन्ध के लहराते हुए सागर को जो कि उन्होंने मरुस्थल में बदल दिया है। माया के प्रचण्ड बन्धनों को तोड़-फोड़कर जो वे मुक्त हो गये हैं। इस जगत् और जीवन में विषयों की चल रही तेज आँधी से भी अपने आत्मदीप को कभी न बुझने देने का जो उन्होंने उपाय खोज लिया है।

और खोज लिया है मन को सदा शिव संकल्पों में रखने की अद्‌भुत विद्या को। मृत्यु के ही दूसरे रूप आन्तरिक-प्रमाद, जिसने प्रायः मनुष्य मात्र को ही अपने मजबूत पंजों में दबोचा हुआ है- उससे भी जिन्होंने अपने आपको मुक्त कर लिया है, सतत श्रम के द्वारा जिन्होंने आलस्य का सर्वथा नाश कर डाला है। असाधुता को जिन्होंने साधुता से, असत्य को सत्य से, लोभ को उदारता से, अधर्म को धर्म से, अशुभ को शुभ से, अभद्र को भद्र से, तृष्णा को सन्तोष से सदा-सदा के लिए जो कि उन्होंने जीत लिया है। अपनी महिमा को जो उन्होंने सर्वभूत हित में बाँट दिया है। जो कि उन्होंने अपने-आपको भगवान् का एक चलता-फिरता केन्द्र बना लिया है। काम-क्रोध-लोभ रूपी ग्राहों से भरी इस तेज बहने वाली संसार रूपी पथरीली नदी को भी जो तैर कर पार हो गये हैं।

श्रद्धा (अभिरुचिमती प्रसन्नता व दृढ़ विश्वास), वीर्य (अपार उत्साह), स्मृति (आत्म-स्मृति, शुभ स्मृति), समाधि (मन की एकाग्रता व शान्ति) से गुजरते हुए जिन्होंने जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि प्रज्ञा (सत्य को ही धारण करने वाली बुद्धि) को उपलब्ध कर लिया है। संसार से हटकर ईश्वर में जिनकी शाश्वत स्थिति हो गयी है। अपने साथ या औरों के साथ बड़ी से बड़ी उथल-पुथल भी जिनकी अविचल शान्ति को भङ्ग करने में अक्षम हो गयी है। जो वे मातृहृदय के मूर्त्त रूप बन गये हैं, सहिष्णुता व समता को जिन्होंने अपना आधार बना लिया है और इसलिए सदा ही जो आनन्द में प्रतिष्ठित रहते हैं। एकतत्त्व का दर्शन पाकर जिनकी बुद्धि समस्त जागतिक पदार्थों के मोह व शोक से ऊपर उठ गयी है। जो वे न किसी को भय देते हैं और न किसी से भयभीत होते हैं। उत्तेजन भरे सुखों से जिनका मन सदा-सदा के लिए एक तरफ हो गया है। जो वे सदा ही पर्वत की तरह धैर्य धारण कर बड़े से बड़े दुनियावी तूफानों में भी अकम्पित खड़े रहते हैं।

जिनके ज्ञान ने अज्ञान को वैसे ही नष्ट कर दिया है जैसे सूर्य ने अन्धकार को। जो ऐसे वे जिनकी स्निग्ध दृष्टि को पाते ही दुःखी से दुःखी जीव भी प्रसन्नता से खिल उठते हैं। जो वे भूत मात्र के प्रति निर्वैर हो गये हैं। जिनके शील की महक ने दिग्दिगन्त को व्याप्त कर लिया है। जो वे समाज के द्वारा निर्धारित मर्यादाओं को भागवत नियम व भागवत विधान की तरह महत्त्व देते हैं। अपनी सतत अभीप्सा के द्वारा जिन्होंने अपना दिव्य जन्म साधित कर लिया है। इसलिए सदा ही दिव्य कर्मों का सहज प्रवाह उनकी सत्ता से निःसृत होता रहता है, महान् आत्माओं का जो यह रूप है। मनुष्य को इसकी आंशिक प्यास भी जागरित नहीं होती, वह केवल अपने बाह्य पूजा-पाठ तक ही सीमित रहना चाहता है।

श्री महाराज का कहना है- महापुरुषों के समक्ष केवल शरीर से झुक जाना मात्र पर्याप्त नहीं है, बल्कि अपने 'अहम्' को उनके समक्ष झुकाना, अपनी आहङ्कारिक इच्छाओं का उनके चरणों में विसर्जन करना, उनके सारमय जीवन को अपने समक्ष रखकर अपने जीवन को भी उसके अनुरूप गढ़ना, उनकी तरह प्रसन्न व शान्त रहना ही उनका सच्चा भक्त होना है।

३६. तीर्थाटन और सेवा

तीर्थं परं किं स्वमनोविशुद्धम्।

ये शेख अब्दुल्ला हैं, जो कई वर्ष से काबा हज करने के लिए जाने का प्रयास कर रहे हैं, पर कभी कुछ तो कभी कुछ, कोई-न-कोई ऐसी बाधा उपस्थित हो जाती है कि इनकी इच्छा पूरी नहीं हो पा रही। अकस्मात् एक दिन ऐसी घटना घटती है कि उनकी आँखें खुल जाती हैं कि वास्तव में 'हज' काबा पहुँचकर ही नहीं होता, वह तो घर में रहते हुए भी किया जा सकता है।

ऐसा हुआ कि शेख अब्दुल्ला सोते हुए स्वप्न देखता है कि दो फरिश्ते आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। एक फरिश्ता दूसरे से पूछ रहा है- इस बार हज करने के लिए कितने लोग काबा पहुँचे? दूसरा उत्तर देता है कि ४० लाख। पहला फिर अपना प्रश्न रख देता है कि अच्छा, तो इस बार हज का फल किसको मिला? दूसरा फरिश्ता उत्तर देता है- हज करने के लिए जो गये, उनमें से तो किसी को नहीं मिला। पहला फिर पूछता है- तो क्या इस बार किसी को हज का फल मिला ही नहीं? दूसरे का उत्तर है- नहीं, वह तो मिल गया। पहले के द्वारा यह पूछने पर कि किसको मिला, दूसरा उत्तर देता है- दमिष्क नामक शहर में अली हुसैन नाम का एक मोची है, उसको मिला है।

शेख अब्दुल्ला को फरिश्तों की ये विचित्र बातें आश्चर्य में डाल देती हैं। प्रातःकाल उठकर वह किसी जानकार व्यक्ति से दमिष्क शहर का पता पूछता है और उस मोची से मिलने चला जाता है जिसे घर बैठे ही हज का फल मिल गया। वह यह जानना चाहता है कि ऐसा उसने क्या किया कि बिना पवित्र काबा पहुँचे ही उसे हज का फल प्राप्त हो गया जो कि दूसरे इतने सारे लोग वहाँ पहुँचकर भी प्राप्त न कर सके? शेख दमिष्क शहर में पहुँचकर पूछताछ करना शुरू करता है कि क्या यहाँ कोई अली हुसैन नाम का मोची भी है? चाह जब सच्ची होती है तो व्यक्ति रास्ता खोज ही लेता है। सो शेख को एक आदमी मिलता है, जो हुसैन को जानता था। वह शेख को अपने साथ लेकर हुसैन से मिला देता है।

शेख हुसैन से मिलकर बहुत खुश होता है। हुसैन भी जो कि प्रेम का साक्षात् देवता है, अपने अतिथि का आदर-सत्कार करने के बाद पूछता है- कहिए कहाँ से, कैसे आना हुआ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ? हुसैन का आतिथ्य स्वीकार कर, शेख अपनी जिज्ञासा रख देता है कि मैं यह जानने के लिए आपके पास आया हूँ कि आप हज करने के लिए कुल मिलाकर अब तक कितनी बार जा चुके हैं? शेख अब तक यही समझ रहा होता है कि सम्भवतः ये इस बार काबा नहीं पहुँचे होंगे, पर पहले अवश्य ही इन्होंने अनेक बार काबा पहुँच कर हज किया होगा, जिससे खुश होकर खुदा ने इनको हज का फल दे दिया।

शेख के प्रश्न का उत्तर देते हुए हुसैन बोलना प्रारम्भ करता है— मेरी इच्छा तो बहुत वर्षों

से चली आ रही है कि मैं पवित्र काबा पहुँचूँ, पर उसी मौके पर कुछ ऐसा होता आ रहा है कि मैं अब तक एक बार भी नहीं जा सका। इस बार भी मैंने ईमानदारी से काम करते हुए यात्रा के लिए कुछ पैसों का प्रबन्ध किया था, पर क्या करूँ? मेरी इच्छा मन की मन में रह गयी। ऐसा हुआ कि पड़ोस में एक विधवा और उसके बच्चे बीमार पड़ गये, और तो कोई उनकी देख-भाल करने वाला था नहीं– मेरे दिल में आया कि तुझे ही इस काम में जुट जाना चाहिए। सो मेरे पास जो भी पैसे थे, जो मैंने हज के लिए बचाये थे, वे सब के सब उनके औषध-उपचार में ही खर्च हो गये। इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते हज का समय निकट आ पहुँचा। मेरे लिए अब इतना शीघ्र और पैसों का प्रबन्ध कर सकना असम्भव था, इसलिए इस बार भी जाना बन नहीं पाया।

इसी प्रकार पहले भी एक बार मैं घर से अपनी शुद्ध कमाई से प्राप्त राशि लेकर हज के लिए जैसे ही रवाना हुआ तो मुझे ऐसा लगा कि पास में ही एक घर से महक-सी आ रही है। उत्सुकता वश मैं अन्दर जाकर पूछने लगा– क्या पका रहे हैं, आज तो बड़ी महक आ रही है? मेरी इस बात को सुनकर गृहपति बहुत उदास हो गया और कहने लगा– कम से कम इस हालत में तो हमारे साथ मजाक मत करो। अभी तीन रोज से घर में चूल्हा नहीं चढ़ा था, कहीं से खरतुवा उखाड़ कर लाये हैं और उसे उबाल कर उससे ही अपना पेट भरने का उपक्रम कर रहे हैं।

आप जैसे सहृदय व सभ्य पुरुष को तो इस प्रकार हम गरीबों पर व्यंग्य नहीं करना चाहिए। ठीक है आप लोग मौज में रहते हैं पर ऐसा तो हमने किसी के साथ कुछ किया नहीं कि हमारा उपहास ही करने लग जाएँ। उस अपने पड़ोसी के हृदय की दुःखित आहों को मैं सहन नहीं कर सका और हज के लिए जो कुछ राशि मैं साथ लेकर चला था, सब की सब उस भूखे परिवार की भेंट चढ़ा दी। इसलिए उस समय भी मेरा हज के लिए जाना बन नहीं सका।

शेख अब्दुल्ला ने अली हुसैन की जब ये बातें सुनीं तो विश्वास हो गया कि उसने स्वप्न में जो दो फरिश्तों का वार्त्तालाप सुना था, वह बिल्कुल सच्चा था। मनुष्य यदि सच्चे दिल से और निःस्वार्थ भाव से दीन-दुःखियों तथा असहायों की सेवा में अपना तन, मन और धन लगा देता है या लगा रहा है, तो फिर उसे मक्का-मदीना और काबा पहुँचकर हज करने की आवश्यकता नहीं है। वे बाह्य क्रियाएँ तो हृदय-शुद्धि की कुछ प्रतीक भर हो सकती हैं। जो लोग प्रतीक पूजा में खूब उत्साह दिखाते हैं और प्रतीक जिस बात का संकेत दे रहा है उस तरफ कुछ भी ध्यान नहीं देते, उन्हें उस पूजा से कुछ भी लाभ नहीं होता।

संसार में अधिकतर यही हो रहा है। हिन्दू अपने तीर्थों, नदियों व मन्दिरों में चक्कर काट रहे हैं। कोई हरिद्वार से काँवड़ ला रहा है, कोई बाला जी जा रहा है, कोई वैष्णो-देवी। सारे देश में अपनी आस्था के अनुसार यही कर रहे हैं। सिक्ख गुरुद्वारे जाकर अपना कर्त्तव्य पूरा समझ लेते हैं। मुस्लिम प्रतिवर्ष हज करने के लिए काबा पहुँच जाते हैं तो क्रिश्चियन चर्च में घूम आते हैं। भगवान् बुद्ध के अनुयायी अपने 'गया' नामक तीर्थ चले जाते हैं, तो जैन अपने-अपने तीर्थङ्करों की पूजा में व्यस्त हैं। बहुत स्वल्प लोग ही होते हैं जो धर्म के सच्चे स्वरूप को समझकर यथार्थता को पकड़

पाते हैं। यह सब दृश्य देखकर ही श्री महाराज ने शिलालेख में अपना अमूल्य महत्त्वपूर्ण अनुभव लिखवाया- **'मनमौजी तीर्थाटनों से निकटतम किसी दुःखी प्राणी की सेवा अच्छी'**।

कोई आदमी काबा से हज करके लौटा, तो एक सन्त ने उससे जो प्रश्न पूछे, उनसे भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि लोग गहराई में थोड़ा-सा भी नहीं घुसना चाहते, केवल ऊपरी क्रियाओं से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिए आन्तरिक जीवन पूर्ववत् रूखा-सूखा, द्वन्द्व व कष्टों से भरा रहता है। सन्त पूछता है-

१. जिस समय तुम अपने घर से सफर के लिए निकले तो गुनाहों से दूर होते गये या नहीं?
उत्तर- नहीं।

२. हर पड़ाव पर जहाँ तुम ठहरे, तुम एक पड़ाव और अल्लाह की तरफ बढ़े या नहीं?
उत्तर- नहीं।

३. तुमने अपने मामूली कपड़े उतार कर अहराम बाँधा (यानि हज के कपड़े पहने) तो कपड़ों के साथ तुमने अपनी बुराइयों को फेंककर उनकी जगह नेकियों को अपने ऊपर ओढ़ा या नहीं?
उत्तर- नहीं।

४. जब तुम इरफात की पहाड़ी पर खड़े हुए तो तुम्हारा दिल अल्लाह के ध्यान में डूबा हुआ था या नहीं?
उत्तर- नहीं।

५. जब तुमने काबे के चारों तरफ चक्कर लगाये तो तुमने निराकार अल्लाह की अलग-अलग सिफतों पर ध्यान किया या नहीं?
उत्तर- नहीं।

६. जब तुम सफा और मरवा की पहाड़ियों के बीच दौड़े तो तुम्हारे अन्दर सफा यानी पाकी मुरव्वत यानी दूसरों का लिहाज पैदा हुआ या नहीं?
उत्तर- नहीं।

७. जब तुम कुरबानी की जगह पहुँचे तो तुमने अपनी दुनिया की ख्वाहिशों का त्याग किया या नहीं?
उत्तर- नहीं।

८. तुमने वहाँ जब कंकरियाँ फेंकी तो कुछ वहशत के विचार जो तुम्हारे मन में रह गये थे, उन्हें भी फेंक दिया या नहीं?
उत्तर- नहीं।

अन्त में सन्त कहता है- तब तो हज करने के लिए काबा पहुँचना तुम्हारा व्यर्थ ही रहा। दूसरे शब्दों में, यदि कोई अपने घर पर रहते हुए ही यह सब कर रहा है तो समझना होगा कि वह काबा हज कर के ही आया है। बल्कि बाह्य क्रियाओं को ही धर्म मान लेने से जो महा अनर्थ होता है, वह यह है कि मनुष्य-जाति वर्गों में विभाजित हो जाती है, क्योंकि ये बाह्य प्रतीक सबके अपने अलग-अलग ही हैं।

उसके कारण धार्मिक असहिष्णुता बढ़ती जाती है और इस प्रकार एक मनुष्य समुदाय के दूसरे समुदाय के प्रति घृणा, द्वेष, वैमनस्य आदि नकारात्मक भावों को पैदा करने में धर्म ही कारण बन जाता है। जो धर्म मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम उत्पन्न करने का साधन होता है, वही हिंसा को जन्म देने में निमित्त बन जाता है।

शेख सादी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गुलिस्ताँ' में इस धार्मिक असहिष्णुता का एक उदाहरण दिया है कि एक व्यक्ति ने अपने अतिथि को भोजन पर से इसलिए उठा दिया कि वह अग्नि पूजक था। उसका अपना प्रतीक उस व्यक्ति के प्रतीक से अलग था। धर्म के बाह्य दिखावे में व्यस्त व्यक्ति के मन में यह बात कदापि नहीं आती अथवा नहीं आ सकती कि जिसको तू भोजन पर से उठा रहा है, अब तक भी तो कोई उसका पोषण करता रहा होगा? क्या तेरे इस व्यवहार से आगे उसकी रक्षा बन्द हो जायेगी? इसलिए महाराज कहते हैं कि **'धर्म को तो मेरा प्रणाम है, पर उस धर्म को, जो इन स्थूल आँखों से देखा-समझा नहीं जा सकता। उसे जो सर्वथा ही एक अमूर्त्त तत्त्व है, जिसे श्रद्धा-भक्ति-प्रेम-शील-सन्तोष- सेवा-समता-संयम-सहयोग के रूप में शान्त हृदय से केवल अनुभव किया जा सकता है।'**

इस सन्दर्भ में महाराज के कुछ अन्य प्रिय वचन हैं– हे विश्व की पवित्र तथा विशाल न्याय नियमों की आदि स्रोत अदिति माँ! पूर्ण ब्रह्म की आज्ञा-पालन के लिए हम श्रद्धापूर्वक सहज भाव से निकट दुःखी जीव-सृष्टि की सेवा-साधना द्वारा अपना हृदय शुद्ध करें। यह हृदय-शुद्धि एक व्रत है, तप है, ऋण-मुक्ति है, आस्तिकता तथा प्रभु-मिलन का खुला महाद्वार है।

सेवा का प्रारम्भ तो है, पर अन्त नहीं। अतः सेवक को कभी भी मुड़कर देखने का हक नहीं है कि मैंने इतनी सेवा कर दी या मेरे द्वारा इतनी सेवा हो गई सेवा में कोई नाप-जोख नहीं है। इस भाव से जो सेवा करते हैं निश्चय ही उनका हृदय श्रद्धा से भर जाता है। निःस्नेह हृदय को स्नेह में बदलने वाली सेवा ही है।

वस्तुतः **'यत्र जीवस्तत्र शिवः'** यह एक गूढ़ मन्त्र है। यह जिसकी समझ में आ जाता है, वह क्यों काबा और काशी की राह देखना चाहेगा? सन् १८९९ में इसीलिए तो स्वामी विवेकानन्द ने कलकत्ते के प्लेग सन्तप्त बीमारों के तर्पण के लिए बेलूर मठ तक को बेचने का संकल्प कर लिया था।

*****

- ☞ दो ज्ञानियों का मिलन ऐसा ही है जैसे शीशे के सामने शीशा।
- ☞ सेवक को सुनने के लिए हजारों कान चाहिए।
- ☞ अमीर के घर भगवान् बुलाने से आते हैं और अकिञ्चन दीन के घर बिना बुलाये ही योगक्षेम की झोली भरे आते हैं।
- ☞ मनुष्य की वास्तविक पूंजी है उसकी प्रकृति, उसे खोना नहीं चाहिये।
- ☞ दुःख- माँ के हाथ का आदि स्पर्श! सुख- माँ की गोद में स्तन्यपान!

४०. प्रकाश कहाँ से?

यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिः। इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूप-पररूपयोरवद्योतकाः। योऽयं जातवेदा यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशस्तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नु चरिष्णु चेति। तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः। (वाक्यपदीयम्—१.१२ वृत्तिभागः।)

श्री महाराज बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्यायान्तर्गत जनक-याज्ञवल्क्य संवाद को आधार बनाकर जीवन के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया करते हैं। याज्ञवल्क्य से जनक पूछता है- भगवन्! यह मनुष्य कहाँ से प्रकाश प्राप्त करता है? मनुष्य को राह दिखाने वाली ज्योति कौन-सी है? याज्ञवल्क्य सूक्ष्म तक पहुँचने के लिए एकदम स्थूल से आरम्भ करते हैं। वे कहते हैं— आदित्य का प्रकाश ही मनुष्य की ज्योति है। सूर्योदय होते ही सब चीजें साफ-साफ दिखने लगती हैं। हम कहाँ खड़े हैं? किस दिशा में हमारा घर है? कितनी दूरी पर है? रास्ता समतल है या ऊँचा-नीचा? जो भी दृश्य सामने आते हैं, उन्हें सरलता से पहचानते रहते हैं। सूर्य हमारा मार्ग दर्शक बना हुआ प्रतिदिन हमारी रक्षा कर रहा है, यह सुस्पष्ट है।

• जनक आगे पूछता है— जब सूर्य नहीं होता, तब मनुष्य को किसका प्रकाश सहायता देता है? याज्ञवल्क्य का उत्तर है— सूर्य के अस्त होने पर चन्द्रमा ज्योति बनकर मनुष्य की सहायता करता है। चन्द्रमा के प्रकाश में भी लगभग सूर्य की तरह ही व्यक्ति को अपने व्यवहार चलाने में सौविध्य प्राप्त होता रहता है।

• जनक का अगला प्रश्न है— अच्छा! जब चन्द्रमा भी नहीं होता, तब मनुष्य को कौन-सी ज्योति सहयोग करती है? याज्ञवल्क्य अपना उत्तर देते हैं— उस विशेष अवस्था में मनुष्य अग्नि के द्वारा अपने कार्य सिद्ध करता है। वह किसी घनघोर जंगल में खड़ा है, मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है, तो अग्नि के द्वारा अर्थात् दीपक, मशाल आदि से अपनी राह खोजने का प्रयत्न करता है और अपने अभीष्ट को पा लेता है।

• जनक फिर प्रश्न कर देता है— यदि कहीं ऐसे स्थान पर पहुँच जाएँ जहाँ अग्नि भी उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति में फँसा हुआ व्यक्ति भी क्या अपना मार्ग खोज सकता है? याज्ञवल्क्य कहते हैं- हाँ! उस स्थिति में भी व्यक्ति वाणी के द्वारा प्रकाश प्राप्त कर सकता है। जोर से आवाज लगाता है; दूसरा व्यक्ति उस ध्वनि को सुनकर आश्वासन देता है— हाँ! हम यहाँ पर हैं, इधर चले आओ। जीवन की कँटीली राह पर चलते हुए भी यही होता है। अनेक बार व्यक्ति को दिशा-भ्रम हो जाता है; एकदम किंकर्त्तव्यविमूढ़ता। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, कुछ भी पता नहीं चलता। आँखें चुँधिया जाती हैं।

जीवन के इस विशाल जंगल में व्यक्ति भ्रमित हो जाता है— अब क्या करें? जाएँ तो किधर जाएँ? अर्जुन जैसे वीर का भी जब यह हाल हो सकता है, तो सामान्य व्यक्ति का तो कहना ही क्या? सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के चौराहे पर बुद्धि कोई एक निर्णय लेने के लिए हतप्रभ हो

जाती है। पाप-पुण्य आपस में इतने मिल जाते हैं कि एक-दूसरे में विभेद कर पाना बड़े-बड़े बुद्धिमानों के लिए भी अति कठिन हो जाता है। ऐसी नाजुक घड़ी में व्यक्ति अपने गुरु-आचार्य-सन्त-ज्ञानी-महापुरुष की वाणी सुनता है और तत्काल संशय-रहित हो जाता है। मोह-ग्रस्त अर्जुन के लिए श्री कृष्ण की भाँति संकट और विपत्ति में पड़े मानव को कोई-न-कोई कृष्ण बनकर खींचकर बाहर ले आता है। याज्ञवल्क्य का कहना है– **वाणी एक ज्योति है, जो मनुष्य की तमोग्रस्त अन्तरात्मा को प्रकाश से भर देती है। हताश और निराश व्यक्ति में इसी वाणी को सुनकर आशा का महान् स्रोत फूट पड़ता है।**

पथभ्रष्ट हुआ व्यक्ति अपना असली मार्ग प्राप्त कर लेता है। इसी वाणी के द्वारा व्यक्ति दिखाई दे रहे नाम-रूपों के पीछे छिपे अदृश्य सत्य का पता पा लेता है। यह वाणी रूपी ज्योति का ही तो माहात्म्य है जो कि पशु रूप में जन्मे प्राणी को मनुष्य बना देती है। यह ज्योति न हो तो समस्त व्यवहार, मानव का सम्पूर्ण विकास अवरुद्ध होकर तीनों लोक अन्धकार से आच्छादित हो जाएँ (**इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।**)। यह वाणी हँसते हुओं को रुला देती है, रोते हुओं को हँसा देती है और मरे हुओं में जान डाल देती है। यह वाणी ही नीरस और सूखे हृदयों में प्रेम की गङ्गा बहा देती है। कायर और कमजोर व्यक्ति को तेज और ओज से भर देती है। व्यक्ति की क्लान्ति को शान्ति में बदल देती है। ईर्ष्या और द्वेष की आग को सदा-सदा के लिए बुझा देती है। धैर्य के टूटे हुए बाँध को पुनः और भी दृढ़ता से बाँध देती है। सचमुच वाणी एक ऐसी ज्योति है– जिसकी आभा ने सूर्य, चन्द्र व अग्नि से भी बढ़कर इस विशाल संसार को ज्योतिष्मान् किया हुआ है। इसकी महिमा को शब्दों में बाँध पाना कठिन ही है।

जनक इतना प्रवचन सुनने पर भी रुके नहीं। उन्होंने पूछा– अच्छा याज्ञवल्क्य! यदि किसी व्यक्ति को वाणी रूपी ज्योति भी न मिले, तब क्या होता है? क्या उस परिस्थिति में भी कोई ज्योति मनुष्य की मदद के लिए शेष रहती है? याज्ञवल्क्य ने कहा– हाँ! उस समय पुरुष स्वयं ज्योतिरूप ही होता है। जब व्यक्ति को बाहर से मिलने वाली सब सहायता बन्द हो जाती है तो एक बार ऐसा लगता तो है कि अब क्या करें? अब तेरा कौन? लेकिन वह अन्धकार शीघ्र ही प्रकाश में बदल जाता है। पुरुष का आत्म-प्रकाश ही उस समय उसकी रक्षा करता है। उसे आलोकित रखता है। यथायथ दिङ्निर्देश करता है। पर एक बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान रखने की है– मन की निश्चल नीरव स्थिति के बिना यह **'पुरुष-ज्योति' प्रकट नहीं होती। मन व इन्द्रियों की पूर्ण प्रशान्त अवस्था में ही उस आत्मज्योति की झलक मिलती है।**

दूसरे शब्दों में, अपने क्रियाशील अहं के तथा मन व इन्द्रियों की विविध माँगों के पूर्ण आत्मसमर्पण कर देने पर, वह स्वयंज्योति जो हमारी सत्ता की बहुत गहराई में छिपी हुई है, सतह पर आ जाती है लेकिन उस ज्योति के प्रकट होने के लिए अपने भीतर 'मैं' और 'मेरा' के चल रहे प्रभाव का खण्डित होना अत्यन्त आवश्यक है। कब कहाँ क्या करना चाहिए, किस विधि से करना चाहिए, या क्या नहीं करना चाहिए, क्या कल्याणकर है, क्या अकल्याणकर, सर्वत्र उस ज्योति के द्वारा पथ प्रदर्शन, उसका प्रत्यक्ष

आदेश, उसकी प्रेरणा प्राप्त होगी और उस-उस कर्म के क्या परिणाम होंगे, वह भी दिखा दिया जायेगा, पर उस प्रकाश को पाने की एक मात्र अन्तिम शर्त है— मन का सर्वथा खाली होना— शान्त होना, एकदम नीरव, क्योंकि मस्तिष्क में सतत चल रहे विचारों के कोलाहल में वह ज्योति कभी भी प्रकट नहीं हो पाती।

श्री महाराज उस अन्तर्ज्योति से प्राप्त होने वाली प्रेरणाओं पर बहुत बल देते हैं। उनका एक प्रिय वचन शिलालेख में भी आ गया है- **'अन्तः प्रेरणा के बिना सब कुछ दिग्भ्रान्त'।** महाराज का कहना है- हमारा हृदय शुद्ध व पवित्र है- विविध कामनाओं को हमने अपने अन्दर नहीं बसाया है तो हमें हमारे अन्दर से ही सहज प्रेरणायें प्राप्त होती रहेंगी। जीवन को धन्य करने का श्री महाराज के अनुसार यही श्रेष्ठतम उपाय है।

*****

- ☞ आत्म-ज्ञान=सांख्य-शास्त्र, निर्गुण। स्वधर्माचरण= योग, सगुण।
- ☞ निर्गुण ज्ञानमय है और सगुण प्रेम-भावनामय।
- ☞ सगुण-व्यक्तित्व को निर्गुण-तत्त्व चाहिए (तत्त्व-निष्ठा)।
- ☞ निर्गुण की सीमा (संरक्षण) में सगुण सुरक्षित। निर्गुण-सगुण दोनों एक दूसरे के पूरक।
- ☞ सगुण को पूर्णता की ओर जाने के लिए निर्गुण चाहिए और निर्गुण को आर्द्रता के लिए सगुण चाहिए।
- ☞ निर्गुण के बिना सगुण का अस्तित्व ही नहीं; सगुण के बिना निर्गुण अनभिव्यक्त=अप्रकट।
- ☞ जिस गुणी (निर्गुण) में गुण मूर्त्तिमान् हों वह सगुण।
- ☞ पाप का निराकरण और पापी से प्यार।
- ☞ जितनी स्वतन्त्रता उतना ही उत्तरदायित्व, संयम और समर्पण।
- ☞ आयु का सम्बन्ध शरीर से और जीवन का आत्मा से।
- ☞ जिज्ञासा निज घर की माँग है। इसका विषय आदि से अन्त तक एक ही बना रहता है। जिज्ञासा की तृप्ति माँ के दूध की भाँति सर्वांगस्पर्शी होती है।
- ☞ शान्ति-प्रेम-सन्तोष-ब्रह्मचर्य आदि निरपेक्ष निर्विषयक हैं। चित्त जब निर्विषय अनागस् हो जाए तो सच्चाइयाँ और अच्छाइयाँ दोनों ही सहज भाव से होने लगेंगी।
- ☞ इसको हम यों भी कह सकते हैं कि शुद्ध अन्तःकरण एक सद्गुण है (**असतो मा सद्गमय**) और सब दुर्गुण हैं। योगमार्ग में 'एकै साधे सब सधैं' अर्थात् 'चित्तशुद्धि' और अन्य शान्ति प्रेम सन्तोष ब्रह्मचर्य आदि सब शुद्ध चित्त रूपी मणि के भिन्न-भिन्न पहलू हैं।
- ☞ शुभ या श्रेष्ठ कर्म जब अभ्यासों में रम जाता है तो वह अकर्म हो जाता है।
- ☞ जो मिले उसे सन्तोष-भाव के साथ ग्रहण करते हुए सेवा, भक्ति और त्याग से जीवन-यात्रा चलती रहे और इस पर भी अपने जीवन के सूत्रधार को धन्यवाद देते रहें कि हमें यह खेल खेलने और लीला देखने का इतना अवसर तो मिला।

४१. माया या भगवान्

श्री महाराज नारद और विष्णु भगवान् के संवाद के रूप में एक आख्यायिका सुनाया करते हैं जिसके माध्यम से मानव की वास्तविक अभिलाषाओं को बड़े हृदयग्राही शब्दों में चित्रित किया गया है। कथा इस प्रकार है कि एक बार नारद वैकुण्ठवासी विष्णु भगवान् से कहने लगे कि आपके दर्शन के लिए जनता बड़ी प्यासी है, आपसे मैं समस्त जनता के प्रतिनिधि के रूप में निवेदन करता हूँ कि एक बार कृपा कर दीजिए। विष्णु भगवान् नारद की बात सुनकर कहने लगे– नारद! तुम नहीं जानते हो जनता मुझे कितना चाहती है। बस! जो है उसे वैसा ही रहने दो। पर नारद कहाँ चुप होने वाले थे? उन्होंने पुनः अपना आग्रह उन्हीं शब्दों में दोहरा दिया कि एक बार तो यह कृपा आपको करनी ही होगी।

नारद के द्वारा पुनः-पुनः किये गये आग्रह का ध्यान कर आखिर विष्णु भगवान् तैयार हो गए, पर साथ में यह तय किया गया कि मैं एक निश्चित स्थान पर बैठ जाऊँगा, वहीं आपको दर्शनार्थियों को बुलाकर लाना होगा। नारद ने कहा– ठीक है। यह काम मैं करूँगा। अब विष्णु भगवान् ने नगर व बस्ती से दूर कहीं एक स्थान पर अपना आसन लगा लिया। उधर नारद लोगों को निमन्त्रित करने के लिए बस्ती में पहुँचे और कहने लगे– लोगों! आज का दिन तुम्हारे लिए बड़ा सौभाग्यशाली है, तुम्हारे भाग्य जाग उठे जो विष्णु भगवान् वैकुण्ठ से स्वयं चलकर तुम लोगों को दर्शन देने के लिए अमुक स्थान पर आ गये हैं। लोगों ने तो अपने स्वभाववश नारद के द्वारा की गयी इस महत्त्वपूर्ण घोषणा को सुनकर भी इसका उलटा ही अर्थ ले लिया और यहाँ तक कह डाला– अरे! यह कोई एजेण्ट दीखता है, हम लोगों को माध्यम बनाकर अपना उल्लू सीधा करना चाह रहा है।

अब तो वास्तव में नारद के ऊपर समस्या आ खड़ी हुई क्योंकि विष्णु भगवान् ने पहले ही कह दिया था कि लोगों के मनोभाव को तुम नहीं समझते हो। नारद ने सोचा– यों तो अब ये भगवान् के दर्शनार्थ नहीं पहुँचेंगे और मेरी बात ही बिगड़ जायेगी। अतः एक युक्ति निकाली– कहने लगे कि उन्होंने मुझे ऐसा कहा है– जिसकी जो कोई कामना है वह आज पूरी कर दी जायेगी। आप लोग अपने-अपने मन में जो भी कामना लेकर उनके पास जायेंगे, वह अवश्य पूरी हो जायेगी।

नारद की यह बात लोगों को तुरन्त समझ में आ गयी और जिसकी जो इच्छा थी, मन में रखकर दौड़ पड़े विष्णु भगवान् की ओर। घर से कुछ दूर ही पहुँच पाये थे कि जिसने जो इच्छा की थी उसको भगवान् ने अपनी योग माया से पूरा कर दिया। किसी ने एक किलो सोना माँग लिया, दूसरे ने हीरा-मोती, तीसरे ने एक करोड़ रुपये, चौथे ने एक सुन्दर-सी कार, पाँचवें ने अपनी पुत्री के लिए योग्य वर, शेष ने भी इसी प्रकार किसी ने जमीन, किसी ने ट्यूबवैल, किसी ने अच्छा भवन, कोई रोगी था उसने आरोग्य, बूढ़ा था उसने यौवन, अन्धा था उसने आँखें, बहरा था उसने कान, लँगड़ा

था उसने टाँगें, किसी ने चुनाव में विजय, किसी ने बड़ा उद्योग, कहने का अर्थ है सबने अपनी-अपनी चाहत पूरी कर ली और खुशी-खुशी वहीं से लौटना आरम्भ कर दिया।

नारद ने भी दूसरे-तीसरे गाँवों में सूचना हेतु शीघ्र से शीघ्र पहुँचकर सोचा कि अब तो बहुत भीड़ हो गयी होगी, चलो कुछ बात तो रह ही गयी, अब भगवान् के पास चलते हैं। वहाँ जाकर देखते हैं तो इतने प्रयास के बाद भी मात्र एक व्यक्ति ही भगवान् के चरणों में उपस्थित है। नारद को देखते ही भगवान् उपालम्भ देते हुए कहने लगे– नारद! कैसे खाली चले आ रहे हो? भक्तों को सूचित नहीं किया? नारद ने कहा– महाराज मैंने तो सूचित कर दिया था कि विष्णु भगवान् आज हमारे मध्य इस धराधाम पर वैकुण्ठ से चलकर आये हैं– जिसकी जो भी कामना है– अपने मन में रखकर उनके दर्शन के लिए निकल पड़ो, उसकी वह कामना अवश्य पूरी होगी।

अब तो आश्चर्य चकित होकर नारद ही उलटा भगवान् से पूछने लगे कि क्या आपके पास सचमुच कोई नहीं आया? भगवान् ने कहा– नहीं, यहाँ तो केवल यह एक भक्त पहुँचा है– जिसे तुम देख ही रहे हो। यह सुनकर नारद की आँखें खुलीं कि भगवान् सच ही कह रहे थे कि मेरे दर्शन का कोई प्यासा नहीं है, वे तो मेरी माया के प्यासे हैं। एक तरफ 'भगवान्' दूसरी तरफ 'माया' तो लाखों लोगों में से बड़ी कठिनाई से कोई एक विरला व्यक्ति ही ऐसा निकल पायेगा जो माया का त्याग कर भगवान् का वरण करना चाहेगा। अन्यथा सब लोग धन-वैभव-पुत्र-प्रतिष्ठा, इन्हीं सब से तृप्त रहना चाहते हैं। भगवान् भी जिसको जो चाहिए उसको वही देते हैं- **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** (गी० ४.११)। 'माया' चाहने वाले को माया और भगवान् चाहने वाले को वे 'स्वयं' को ही दे देते हैं। पर निश्चित है लाखों-करोड़ों में कोई एक ही भगवान् को चाहता है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः।।(गी० ७.३)

यह है मनुष्य की चाहत का निरूपण। यों तो हजारों-लाखों लोग नित्य भगवान् की चर्चा करते हैं, पर प्रश्न यह है, जब चुनाव का ठीक मौका आता है कि इन दोनों में से एक उठा लो तो उस समय कितने 'नचिकेता' के रूप में या 'मैत्रेयी' के रूप में यह कह सकने में समर्थ हो पायेंगे कि हमें आत्मज्ञान चाहिए, हमें अमृत चाहिए?

प्रायः जिज्ञासुओं की मानसिक स्थिति ऐसी है कि प्रमुखता तो माया को ही दी जाती है, पर साथ में यदि भगवान् भी किसी तरह मिल जाए तो सोने में सुगन्ध। जबकि अध्यात्म की माँग यह है कि प्रमुखता भगवान् को ही दी जाए और साथ में यदि माया भी मिलती है तो सहज भाव से उसको भी ग्रहण कर लिया जाए, पर चेतना के इस स्तर पर खड़े साधक संख्या में नगण्य ही होते हैं। एक और श्रेणी के साधक होते हैं जो केवल भगवान् से या भगवान् में ही पूर्ण तृप्त रहते हैं, भगवान् को ही चाहते हैं और माया से पूर्ण रूपेण उदासीन रहते हैं।

इस युग में रमण महर्षि इसी प्रकार के सिद्ध पुरुष हो गये हैं। निश्चित ही इस स्तर के

साधक भी बहुत कम ही होते हैं। भगवान् को पाने के लिए सचमुच नचिकेता जैसी तीव्र जिज्ञासा चाहिए जिसके समक्ष संसार का ऊँचे-से-ऊँचा सुख उपस्थित है, सहज उपलब्ध है, फिर भी जो उसे अस्वीकार कर सकता है– एक मात्र ऐसे अभीप्सु को मिलते हैं भगवान्। एक तरफ मन अनुपलब्ध विषय-सुखों की तरफ दौड़ रहा है, साथ में दूसरी तरफ भगवान् की खोज भी चल रही है– ऐसी दोहरी चाल वाले मन को न ठीक से माया मिलती है न राम। न वह विषय-सुख भोग सकता है, क्योंकि भगवान् बीच में आ जाता है; और न भगवान् को प्राप्त कर सकता है क्योंकि विषय-सुख मन से निकला नहीं है।

नैतिक जीवन व आध्यात्मिक जीवन में बहुत भेद है, इसे अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए। नैतिक जीवन की माँग है– एक सीमा में संयम पूर्वक लौकिक भोगों को भोगते हुए सामाजिक मर्यादाओं का पालन करना। नैतिक जीवन में पूर्ण रूप से विषय-सुख त्याग की आवश्यकता नहीं है। स्त्री-पुत्र-धन-परिवार-समाज-प्रतिष्ठा सबके साथ हँसते-खेलते जीना, पर दूसरों से सम्बन्धित स्त्री-पुत्र-धन के प्रति उदासीन रहना। लेकिन आध्यात्मिक जीवन की पहली माँग है– ऐन्द्रियिक सुख मात्र (काञ्चन-कामिनी-कीर्ति, सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान) से मुख फेर लेना, मन में भी एक क्षण के लिए भी इच्छा न करना।

जो इस दुर्धर्ष कर्म को करने में समर्थ हो पाते हैं वे ही भगवत् प्राप्ति की प्रथम शर्त को पूरा करने में उत्तीर्ण माने जाते हैं। नचिकेता, शुकदेव, दयानन्द, शंकर, बुद्ध, श्रीअरविन्द, रमण महर्षि, रामकृष्ण ने बड़ी ही खूबी से अध्यात्म की इस शर्त को पूरा किया। आने वाले साधकों का मार्ग प्रशस्त करके उन लोगों ने दिखा दिया कि जो इसे चाहेगा सो इसे पायेगा; पर चाहत में अन्य किसी भी चीज की मिलावट नहीं होनी चाहिए। महाराज के द्वारा सुनायी गयी आख्यायिका का यही वह भाव है जो भगवान् की राह पर चलने वाले लोगों को उचित दृष्टि प्रदान करता है और श्री महाराज स्वयं भी जिसके मूर्त्त रूप बने हुए हैं।

*****

- ☞ प्रत्येक वस्तु को यथास्थान रख दो। विश्व को सामञ्जस्यपूर्ण पाओगे।
- ☞ जिस वस्तु का निराकरण हो जाए उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।
- ☞ मनुष्य की वास्तविकता शान्त है। शिव का त्रिशूल वैराग्य, ज्ञान और लय।
- ☞ अच्छाइयाँ होती हैं और बुराइयाँ की जाती हैं।
- ☞ ज्ञानमय तप की संज्ञा वेद है। शारीरिक तप से यह अनन्त गुणा होता है।
- ☞ सृष्टि का सत्य एक और अखण्ड है। कहीं से भी पकड़ो वस्त्र की भाँति खिंचा चला आता है।
- ☞ संन्यासी निरग्नि=निःशेष-अग्नि। यज्ञ करते-करते यज्ञमय=अग्निमय।
- ☞ क्रियाओं का मूल्य भावनाओं की सत्यता से मापा जाता है, बाह्य क्रियाओं से नहीं।

४२. मेरे मालिक! बहुत मीठा

राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है।

ये एक देवी हैं। परिवार में सब प्रकार के ठाठ-बाट हैं। कोई अभाव नहीं है। देवी जी अपने पति को अपना मालिक समझती हैं और वैसा कहती भी हैं। पति बहुत प्रबुद्ध है, उसने कभी मौका ही नहीं दिया, जिससे पत्नी को विरोध करना पड़े या असहमत होना पड़े। देवी जी की जब तक सब इच्छायें पूरी होती रहीं तब तक तो देवता के रूप में देखती रहीं, पर एक ऐसा बिन्दु आ गया कि पति उसको कथमपि पूरा नहीं कर सकता था। बस इतने से ही पत्नी के दिल में अब पति का पहले वाला चित्र नहीं रहा।

इधर यह एक विद्यार्थी है जो अपने आचार्य को अपना मालिक समझकर विद्या ग्रहण कर रहा है। विद्यार्थी प्रबुद्ध है। अपने जीवन के बारे में बहुत सोचता है और इसलिए आचार्य के प्रति बहुत श्रद्धा रखता है कि आचार्य उसके संकल्पित विषय में बहुत मदद कर रहे हैं। आचार्य ने विद्यार्थी को दो-तीन विषयों में उसकी इच्छा पूरी होने से रोक दिया। बस इसलिए अब विद्यार्थी की अपने आचार्य के प्रति पहले वाली श्रद्धा नहीं रही।

ये एक उद्योगपति हैं। इनके पास एक कर्मठ सेवक है। सेवक अपने मालिक का बहुत प्रशंसक है और सदा ही बहुत प्रसन्न रहता है। अपनी सब शक्ति अपने स्वामी की सेवा में दिल से लगाई हुई है। एक कोई ऐसा विषय आता है कि मालिक के निर्णय के साथ सेवक का मतैक्य नहीं हो पाता और इस बात को लेकर सेवक स्वामी से रूठ जाता है।

मालिक व सेवक के ये कुछ संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। इन चित्रों में हमें एक बात देखने को मिल रही है कि सेवक की समझ व रुचि के अनुसार यदि उसका स्वामी उसकी इच्छा पूरी करता चला जाता है तब तो सेवक को बहुत अच्छा लगता है, अन्यथा मन में खिन्नता का प्रवेश हो जाता है, होने लगता है। क्या इन उपर्युक्त प्रसङ्गों में वे सब 'सेवक' की उत्तम उपाधि से विभूषित करने योग्य हैं?

'सेवक' शब्द में तो फिर भी कुछ स्वतन्त्रता का भाव लक्षित होता है। इसकी जगह 'गुलाम' शब्द का प्रयोग करें, जिसमें पूर्ण पराधीनता का भाव निहित है। 'मालिक व एक गुलाम' विषय पर प्रसिद्ध लेखक फरीदुद्दीन अत्तार ने एक कहानी लिखी है, जो कि श्री महाराज को बहुत प्रिय है। कहानी का सार यह है कि एक गुलाम को उसके मालिक ने एक फल दिया जो कि कड़वा था। जब गुलाम उस फल को खा रहा था तो मालिक ने पूछा कि कैसा है? गुलाम ने उत्तर में कहा– मेरे मालिक! बहुत मीठा।

ऐसी ही एक घटना प्रसिद्ध हकीम लुकमान के विषय में मिलती है। अपने प्रारम्भिक जीवन में हकीम लुकमान एक गुलाम था। मालिक ने ककड़ी मँगवायी। वह कड़वी निकली। उसके मालिक ने उस ककड़ी को लुकमान को दे दिया। पूछा कैसी है? कहा– बहुत मीठी। मालिक ने कहा– यह मुझे तो

कड़वी लग रही है, तुम्हें मीठी कैसे लगी? उत्तर मिला– आपने अनेक बार मीठे फल भी तो खिलाये हैं। यदि यह कड़वी भी है तो क्या? मुझे तो इसे उन्हीं मीठे फलों की तरह प्रेम पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। कहते हैं, लुकमान के इस उत्तर को सुनकर मालिक ने लुकमान को बन्धन-मुक्त कर दिया।

वस्तुतः कहानीकार ने कहानी के माध्यम से जीवन को रसमय बनाने का नुस्खा हम सब के हाथ में दे दिया। कहानी का व्यंग्यार्थ है– भगवान् हम सब का मालिक है। हम सब उनके गुलाम हैं। गुलाम के मन की भाव-दशा अपने मालिक के प्रति क्या होनी चाहिए, यही कुछ चित्रित किया गया है।

यदि हमने हृदय से स्वीकार कर लिया है कि भगवान् हमारा मालिक है और हम उसके गुलाम हैं तो इस विचार के साथ ही जीवन के समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है, हो जाना चाहिए। मालिक अपने गुलाम को केवल सुख ही देगा यह आवश्यक नहीं। मालिक तो मालिक है, वह किसी भी रूप में प्रतिबन्धित नहीं है कि मालिक के द्वारा गुलाम के लिए अमुक चीजें देने की हैं और अमुक न देने की। वह गुलाम की योग्यता के अनुसार सुख या दुःख दोनों भी यथा अवसर देता है, दे सकता है। यह तो सर्वथा सच है कि मालिक कभी भी गुलाम का नाश नहीं करना चाहता, नहीं चाहेगा। पर बाह्य रूप में या व्यवहार में जो कुछ वह गुलाम को देता है या देगा, मालिक की उस देन में प्रतीयमान दुःख या कष्ट नाम की कोई चीज नहीं होती या नहीं होगी– ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।

यही दृष्टि लगभग सत्य प्रतीत होती है कि मालिक अपने गुलाम का दिल से तो सदा शुभ-चिन्तक होता है, पर बाह्य रूप से यदि देखेंगे तो मालिक की ओर से गुलाम को पर्याप्त कष्ट दिये जाते हुए भी दिखाई देंगे, तो भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक अच्छा गुलाम अपनी उचित मनोदशा से मालिक द्वारा प्रदत्त दुःखों व कष्टों को सुख में बदल लेता है, बदल सकता है। गुलाम यदि अपने मन की इस भाव-दशा में रहता है, इस भाव-दशा को प्राप्त हो जाता है कि मालिक की ओर से मेरे लिए जो कुछ भी आ रहा है, वह निश्चित ही मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है। मेरे मालिक के द्वारा मेरे समुचित विकास का ही इस तरीके से प्रबन्ध किया गया है, किया जा रहा है। मालिक की प्रत्येक भेंट में मुझे तो कम-से-कम कृपा के दर्शन हो रहे हैं, बेशक किसी की लौकिक आँखों को उसमें दुःख दिखाई देता हो, तो हर परिस्थिति में गुलाम परम तृप्ति का ही अनुभव करेगा व शान्त रहेगा।

मालिक की प्रत्येक देन के प्रति गुलाम की सहज स्वीकृति होती है और वह सदा ही उसे अपने लिए विशेष प्रसाद के रूप में आयी हुई समझता है। गुलाम कभी भी मालिक से न तो कुछ चाहता है और न ही उसके द्वारा भेजी किसी चीज को अस्वीकार करता है। अर्थात् ऊपर से जो कुछ मिलता है या मिल रहा है उसे फेंकता नहीं; चाहे फिर उसका रूप 'पर' या 'अवर' 'मीठा' या 'कड़वा' कुछ भी क्यों न हो, और अपनी तरफ से कोई इच्छा नहीं करता। सदा ही वह अपने मालिक से निरपेक्ष बना रहता है। ऐसा व्यवहार करना चाहिए, ऐसा तो नहीं करना चाहिए– इस प्रकार का कोई विचार नहीं आता, कोई विचार नहीं करता। केवल मालिक की खुशी ही उसके जीवन

का समस्त वैभव होती है।

भगवान् उस समय तो मालिक हैं ही जब वे मनुष्य की इच्छित सामग्री को उसके लिए जुटाते हैं, पर उस समय भी मालिक ही हैं जब कोई अनिच्छित चीज मनुष्य के हाथ में रख देते हैं। बच्चे को स्तन्यपान कराते समय भी माँ 'माँ' है और थप्पड़ मारते समय भी माँ तो माँ ही है। प्रियवादिनी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, धन-वैभव, मान-सम्मान, उत्तम बुद्धि, उत्तम मित्रादि, यदि ये मधुर फल कहे जाएँ, जो मालिक की ओर से उसके गुलाम को दिये गये हैं या दिये जा रहे हैं, तो धन का समय-समय पर अभाव, अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओलापात, किसी प्रिय व्यक्ति-वस्तु का बिछोह, अपमान, सब जगह अप्रतिष्ठा, अपकीर्ति, ये सब वे कटु फल होंगे जो हमारे मालिक के द्वारा अपने बन्दों (गुलामों) को दिये जाते हैं। पर आनन्द की बात यह है कि गुलाम प्रिय फलों को जितने प्यार से ग्रहण करता है, उतने प्रेम के साथ कड़वे फलों को भी स्वीकार करता है। किसी भी सच्चे गुलाम का यह सिद्धान्त कभी नहीं होता कि 'अच्छा अच्छा गप, कड़वा कड़वा थू'। हर एक भेंट के लिए उसके दिल से कृतज्ञता भरा एक ही वाक्य निकलता है– 'वाह! मेरे मालिक! बहुत मीठा फल है'। इस मनोदशा में जीने वाले व्यक्ति को जीवन में कैसे कोई कष्ट हो सकता है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

कष्ट तब होते हैं जब हमारी इच्छाओं का व्याघात होता है। जिस मनुष्य ने अपने को भगवान् का गुलाम समझ लिया और गुलाम होने के क्या मायने हैं, यह भी भली प्रकार जान लिया– वह अपने दिल में कैसे कोई अतिरिक्त इच्छा रख सकता है, क्योंकि गुलाम है तो इच्छा नहीं और यदि इच्छा है तो गुलाम नहीं। इच्छा और गुलाम, ये विप्रतिषिद्ध अर्थ हैं। एक-दूसरे के विरोधी हैं। वस्तुतः किसी भी गुलाम की पहचान ही तब होती है जब उसके हाथ में मालिक कोई कड़वा फल रख देता है। केवल दिखावे के लिए नहीं, ऊपर से हँसता रहे, धन्यवाद के रूप में बड़े-बड़े बोल बोलता रहे और अन्दर-अन्दर रोता रहे, यह तो स्वयं को ही बहुत बड़ा धोखा देना होगा, सो केवल दिखावे के लिए नहीं, बल्कि अन्दर से ही उस प्रतिकूल घड़ी में भी भगवान् का धन्यवाद अदा कर सके कि 'मेरे मालिक! बहुत मीठा फल है।' वह है सच्चा गुलाम या सच्चा सेवक।

क्या किसी व्यक्ति में है इतना सामर्थ्य कि २० किलो दूध देने वाली गाय अचानक दूध से चली जाए या मर जाए, पुत्रवधू अनुकूल न आये, पुत्र कहने में न चले, व्यापार फेल हो जाए, I.A.S. का परिणाम प्रतिकूल चला जाए, चुनाव में टिकट न मिले चुनाव में हार जाए, फिर भी हर क्षण उसके अन्दर से गीत की एक ही टेक निकलती रहे– 'मेरे मालिक! बहुत मीठा फल है'।

मनुष्य ने भगवान् का धन्यवाद करना तो अवश्य सीखा है। बड़े-बड़े रसीले शब्दों में भगवान् का स्तोत्र पाठ करने का ढंग भी जाना है। उसे यह कहते भी सुना गया है, भगवान् की कृपा है, धन-धान्य, दूध-घी की नदियाँ बह रही हैं, बेटे-पोतों की सब मौज है। सब अपने-अपने पैरों पर खड़े हैं। बेटों की बहुएँ भगवान् की दया से बहुत ही अच्छी मिली हैं। भगवान् की कृपा से व्यापार दिन दूना रात चौगुना बढ़

रहा है। पर अच्छे मनचाहे फल के मिलने पर ही व्यक्ति प्रायः भगवान् का इस प्रकार शुक्रिया अदा करता है। अन्यथा थोड़ी-सी भी प्रतिकूलता आने पर या मनोनुकूल फल न मिलने पर सर्वथा उसका दिल मायूस हो जाता है, टूट जाता है। ढेर सारी शिकायतें उगलने लगता है। चेहरा मुर्झा जाता है। आँखों से आँसुओं का बाँध टूटकर बह निकलता है और विलाप करने लगता है– यह सब क्या है? ऐसा क्यों हो रहा है?

अब देखना यह है, उसके मन की वह ज्योति कहाँ चली गयी, जो कल तक धन्यवाद कर रही थी? यह क्या हुआ जो उसका मन गहरे अन्धकार में डूब गया? क्यों उसको अब अकेलापन महसूस हो रहा है? किस कारण से वह सब की सब प्रसन्नता एक मामूली झटके में हवा हो गयी? यह क्या बात हुई जो घण्टों का सत्संग, लम्बे-लम्बे भजन-कीर्त्तन, बड़े-बड़े तीर्थाटन, वर्षों की मौन साधना और एकान्तवास, वेद-स्वाध्याय, यज्ञ-हवन सब-के-सब फेल हो गये? इनमें से कोई भी तो मनुष्य के आँसुओं को रोकने में समर्थ नहीं हो पाया। इस सबका बस एक ही उत्तर है कि भगवान् को दिल से अपना मालिक नहीं समझा। हम सब उसके गुलाम और वह हमारा मालिक है, तो फिर रोने का क्या काम? फिर कैसा दुःख?

भगवान् तो सामर्थ्यशाली है, प्रेममय व करुणामय है, पूर्ण निष्पक्ष है, पक्षपातरहित है, वह अपने गुलाम को जो कुछ भी देता है उसकी पात्रता के अनुसार ही देता है। मानव रूप में जो मालिक है वह अपनी अल्पज्ञतावश आगे पीछे हो सकता है, पर भगवान् का ऐसा करने के लिए कोई भी तो हेतु नहीं है। कोई भी साधक इस ज्ञान को जितना-जितना सुप्रतिष्ठ करता जायेगा, उतनी ही उसकी अन्दर की आँखें खुलती जायेंगी, यह सर्वथा असंदिग्ध है।

*****

- ☞ जीवन की दो ही अवस्थायें सार्थक हैं– या तो व्याकुलता (जिज्ञासा) की आग जलती रहे या आनन्द की गंगा बहती रहे।
- ☞ 'सामर्थ्य' सेवा के लिए और 'बुद्धि' त्याग-वैराग्य के लिए।
- ☞ 'सुख' सेवा के लिए और 'दुःख' विवेक के आदर के लिए।
- ☞ गुण सीमित होने पर दुर्गुण दीखने लगते हैं।
- ☞ माता-पिता-गुरु, ये नियति के शाश्वत स्तर हैं।
- ☞ हर वस्तु का अपना नियत और ठोस निरपेक्ष स्थान है, अर्थात् अपने आप में पूर्ण है।
- ☞ हृदय स्थित भावना का जो संकेत हो या प्रेरणा हो उसका अनुगमन करो।
- ☞ कार्यों की सूची लम्बी मत बनाओ।
- ☞ बाहर की भौतिक सहायता दूध में जामनवत् चाहिए।
- ☞ अंतिम या वास्तविक साध्य वही हो सकता है जिसमें देश-काल की दूरी न हो।
- ☞ वर्तमान की प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही हमारा अधिकार है।

४३. मिथ्याज्ञान-बन्धन

बात श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रधानमन्त्रित्व काल की है। अंग्रेजों के समय राजाओं के लिए चालू किया गया प्रिवी-पर्स, श्रीमती गांधी ने तोड़ दिया। सभी राजाओं को इस नियम से खिन्नता होनी स्वाभाविक ही थी। चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) के समीप झालावाड़ के एक नरेश थे। किसी ने उनको बताया, आप नूरगढ़ आश्रम पहुँचिए; आपको अवश्य ही सान्त्वना मिलेगी। वे आश्रम पहुँचे, उस समय महाराज अन्दर अपनी कुटिया में थे। महाराज ने देखा राजस्थानी राजाओं की वेश-भूषा में कोई सज्जन उपस्थित हैं। उनको अन्दर बुलाया। उनकी मुखमुद्रा से महाराज ने पहचान लिया कि किसी कारण से दुःखी हैं। चर्चा प्रारम्भ हुई और महाराज के समक्ष उन्होंने अपना कष्ट रख दिया।

महाराज कहने लगे– इस दुःख से मुक्त होने के लिए थोड़ा गहराई से सोचना होगा। सुख-दुःख के विषय में बाह्य परिस्थितियाँ कारण नहीं बल्कि हमारा मन ही वैसा मान लेता है और सुखी-दुःखी होने लगता है। इसलिए दुःख से ऊपर उठने के लिए मन के द्वारा मानी हुई उस काल्पनिक मान्यता का त्याग करना होगा। आपको कष्ट इस बात से है कि ऐसा सोच रहे हैं– अंग्रेजों ने जो कुछ हमको बनाया था वह श्रीमती गांधी ने मिटा दिया या समाप्त कर दिया। वस्तुतः न उन्होंने कुछ बनाया और न श्रीमती गांधी ने मिटाया। सुख के प्रति आकर्षण के कारण अलग-अलग स्थितियों में सुख-दुःख की अनुभूति हो रही है।

महाराज एक उदाहरण से समझाने लगे कि एक धोबी अपने गधे पर कपड़े लादकर प्रतिदिन नदी पर वस्त्र धोने के लिए जाता था। गधे को वहीं बाँध देता और अपना काम पूरा होने पर वापस आ जाता। एक दिन धोबी गधे को बाँधने वाली रस्सी भूल आया। अब बड़े चक्कर में पड़ गया कि क्या उपाय किया जाए, इतनी देर में तो पता नहीं यह कहाँ का कहाँ चला जायेगा। कोई एक सन्त पास में ही रहते थे, सन्त ने देखा आज तो धोबी किसी चिन्ता में खड़ा है। पूछा– क्या बात है? धोबी ने कहा– रस्सी भूल आया, गधे को बाँधने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा। सन्त ने कहा– जैसे रोज बाँधते थे, वैसे ही झूठ-मूठ बाँधने का नाटक कर दो। आखिर है तो गधा ही। समझ लेगा कि मालिक ने बाँध दिया और मैं बँध गया।

सन्त की बतायी विधि के अनुसार धोबी ने वैसे ही किया और जब अपना काम पूरा करके चलने लगा तो गधा चल कर ही न दे। धोबी ने सोचा, सन्त जी ने कुछ मन्त्र तो नहीं मार दिया। इसलिए उनके पास गया और कहा कि सन्तजी गधे को आज क्या हो गया? वह तो वहाँ से हिल ही नहीं रहा। सन्त ने पूछा कि खोला भी है या नहीं? धोबी ने कहा– खोलने की तो तब जरूरत पड़े जब बाँधा हो। सन्त ने कहा कि नहीं, उसने मान लिया है कि मुझे बाँधा हुआ है, अब जब प्रतिदिन की तरह खोलोगे तब ही वह समझेगा कि खुल गया हूँ। इस दृष्टान्त को सुनाकर महाराज नरेश से कहने लगे– इस संसार में भी आप लोगों के साथ यही हो रहा है। किसी ने मुझे बना दिया तो किसी दूसरे ने मुझ को मिटा दिया। न तो बनाने वाले ने आपको कुछ बनाया था और न मिटाने वाले ने

कुछ भी आपका मिटाया है। दोनों ही अवस्थाओं से आप अलग हैं। यदि आप अपनी इस वास्तविकता को समझ सकेंगे तो आपको कोई दुःख नहीं होगा।

श्री महाराज इस दृष्टान्त के द्वारा किसी गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त की ही व्याख्या किया करते हैं। सांख्य का सिद्धान्त है कि पुरुष नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है। **न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगाद् ऋते (सां० १.१६)**। बन्धन अज्ञान-वश उस गधे की तरह केवल बुद्धि का अपना माना हुआ भ्रम है। पुरुष अर्थात् हमारा अपना आप (अपना शुद्ध 'मैं') कभी नहीं बँधा और जब बँधा ही नहीं तो उसका खुलना भी क्या? केवल भ्रमवश हमारी यह बन्धन-विषयक मान्यता बनी हुई है। जैसे रज्जु को सर्प समझकर व्यक्ति के मन में भय उत्पन्न हो जाता है और उससे उसको कष्ट भी भोगना पड़ता है, वैसे ही इस मिथ्या बन्धन से हमें बन्धन का दुःख प्राप्त होता रहता है।

यहाँ यह सदा ध्यातव्य है कि श्रीमहाराज का यह सारा कथन पारमार्थिक दृष्टि से है। सचमुच ज्ञान की उच्च अवस्था में ही कहा जा सकता है– बन्धन है ही नहीं। सूर्योदय होने पर अन्धकार को कोई कैसे दिखा सकता है? किन्तु सूर्य के समक्ष मोटा पर्दा आ गया है तो अन्धकार को कौन नकारेगा? बुद्धि में आया हुआ अज्ञान ही वह पर्दा है जो आत्म प्रकाश को फैलने से रोक रहा है।

इस भ्रम को मिटाने का वास्तविक कोई हेतु है तो यही कि बुद्धि में किसी उपाय से यह बात बैठ जाए कि बन्धन काल्पनिक है। हमारा अपना 'मैं' हमारे शरीर, प्राण, इन्द्रियों, मन-बुद्धि इन सभी से उसी प्रकार अलग है जैसे दूध और पानी अलग-अलग होते हैं। 'मैं' को जब शरीर आदि के साथ घुला-मिला समझकर व्यवहार चलता है तो यह अज्ञान की स्थिति होती है। 'शुद्ध-मैं' तथा 'शरीर' आदि को अलग-अलग समझ लेना ही 'ज्ञान' है, जिसका उपाय है तीव्र जिज्ञासा।

यहाँ एक बात समझ लेनी बहुत आवश्यक होगी। जिस प्रकार अज्ञान बुद्धि की एक स्थिति है, बुद्धि की ही एक अवस्था है, तद्वत् ज्ञान भी बुद्धि की ही एक अवस्था विशेष है। प्राचीन शब्दावली में अज्ञान को अविद्या या उससे उद्भूत अस्मिता (Ego), राग-द्वेष, भोग, भय इत्यादि नाम दिये गये हैं और ज्ञान को 'अपवर्ग' और उसकी कारणभूत 'विवेकख्याति' 'मुक्ति', 'विद्या' इत्यादि नामों से स्मरण किया है।

महाराज कहते हैं कि बन्धन रूप भ्रम को हटाने के लिए ज्ञान प्राप्ति की अपनी तड़प को सतत बढ़ाना होगा, जिससे यह स्पष्ट दिखने लग जाए कि व्यक्ति अपने से सम्बद्ध नाम-रूप की वृद्धि से जो अपने को बढ़ा हुआ तथा ह्रास से अपने को क्षीण हुआ मानने लगता है तथा प्रकृति उसे जैसा-जैसा भी नाच नचाती है नाचता रहता है, इस सबका कारण उसका मिथ्या-ज्ञान ही है। इस मिथ्या-ज्ञान का ज्ञान जिस ज्ञान से हो वही सच्चा ज्ञान है, वही अपवर्ग की कारणभूत विवेकख्याति है, वही विद्या है, वही अमृत है। इस प्रकार इस सत्य ज्ञान के द्वारा व्यक्ति को अपने सच्चे मुक्त स्वरूप को पहचान कर उसे प्राप्त करना होगा। उच्चतम ज्ञान प्राप्ति की समस्त सम्भावनायें रखते हुए भी मनुष्य का इस तरह पराधीन जीवन जीना क्या कभी प्रशंसनीय हो सकता है?

४४. पावन प्रतीक

चींटी– श्री महाराज का चींटी एक सुन्दर प्रिय प्रतीक है। चींटी अपनी सहज गति में निरन्तर पुरुषार्थरत रहती है। कोई मीठे का कण मिल जाए, बस, बिना थकावट के अथक परिश्रम करने में जुटी रहती है। न कोई निराशा है और न कोई भय। मनुष्य को चाहिए कि अपनी गति की चिन्ता न करे कि कम है या ज्यादा, बस! चलता रहे। जहाँ कहीं कोई मीठे का कण मिल जाए, उसे चखे और आगे बढ़ जाए। चींटी जैसे प्रसन्नता के साथ अपने काम में लगी रहती है, उसी तरह मनुष्य भी प्रसन्न होकर अपना काम करता रहे। चींटी को न तो सफलता से कुछ मतलब होता है, न असफलता से; उसके पास एक ही कार्यक्रम है– चलना। मनुष्य भी अपनी सामर्थ्य व रुचि के अनुसार पुरुषार्थ करने में लगा रहे। इस प्रकार सार रूप में मनुष्य के लिए चींटी का सन्देश है– 'सतत पुरुषार्थ, सहज गति, मिठास से प्रेम, सदा उत्साहयुक्त, सफलता-असफलता से दूर, निष्काम कर्म'।

मधु-मक्षिका– मनुष्य के लिए मधुमक्षिका भी कुछ सन्देश दे रही है, जिसे ध्यान से सुनना चाहिए। मधुमक्खी को इस विशाल सृष्टि में 'मधु' के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं दिखाई देता। उसके पास ऐसी सहज क्षमता है कि गन्दगी से हटने के लिए उसे कोई भी प्रयास नहीं करना पड़ता। स्वभावतः ही उसका सम्बन्ध केवल पुष्पों के साथ होता है और एक विशेष बात यह है कि विषैले और कटु पुष्पों से भी वह मधुमात्र ही लेती है, शेष को वहीं छोड़ देती है। मनुष्य को भी मधुमक्षिका का अनुगमन करते हुए इस संसार में गुणग्राही होना चाहिए। उसे अपने चित्त को इस रूप में विकसित करना चाहिए कि गन्दगी मल-मूत्र रूपी अशुभ दिखाई ही न दे तथा जहाँ जिस किसी के सम्पर्क में आए, गुणों का ही ग्रहण करे। कड़वे मनुष्यों से भी जो कोई उनमें गुण हैं उनको लेकर आगे बढ़ जाए।

मधुमक्खी का एक अन्य प्रसिद्ध गुण है- 'अनुशासन'। अनुशासन शब्द में समष्टि के हित की दृष्टि से नियम-पालन का भाव छिपा हुआ है। अर्थात् मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि समूह का ध्यान रखते हुए किसी एक को अपना अगुआ बनाकर अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान कर दे। हमारे अपने आन्तर व बाह्य परिवार का कोई भी सदस्य ऐसी इच्छा या ऐसा काम न करे जो अपनी स्वच्छन्दता के बहाव में समूह के लिए कष्टदायक हो। परिवार में जो उच्चतम शक्ति है- उसका नेतृत्व सबको मान्य हो। मधुमक्खी इस अनुशासन का बहुत सुन्दर उदाहरण है। मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-अन्तरात्मा-शरीर, ये सब हमारे परिवार के अन्तरंग घटक हैं। यदि ये सब मिलकर एक-दूसरे के हित सम्पादन में रत रहते हैं, तो व्यक्ति को अपार सुख मिलता है। यदि आपस में झगड़ते हैं तो सुख कहाँ? यही बात परिवार के बाह्य सदस्यों के साथ लागू होती है।

शास्त्रकार मधुकरराज का उदाहरण देते हैं कि जैसे वह (रानी मक्खी) जहाँ-जहाँ जाती है, अन्य मक्खियाँ तत्काल उसके पीछे चल देती हैं। समस्त मक्षिका-गण उसकी आज्ञा पालन करने में हर क्षण

सन्नद्ध रहती हैं। तद्वत् मनुष्य भी अपने परिवार का नेता विवेक (प्रज्ञा= उच्चतर ज्ञान शक्ति) को बनाकर मन-बुद्धि-चित्त-इन्द्रियों व शरीर को उसका अनुगामी बना दे। जहाँ भी कहीं यह अनुशासन प्रवृत्त होता है, निश्चित ही दुःख-दैन्य समाप्त हो कर निरन्तर कल्याण होता जाता है। परिवार, समाज व राष्ट्र में भी जो सर्वोच्च ज्ञान व बल से युक्त शक्ति है, यदि उसका नेतृत्व सबको स्वीकार होता है तो सबका सुख बढ़ता जाता है। अन्यथा परस्पर लड़ते-झगड़ते विनाश की ओर बढ़ते रहते हैं।

महाराज एक बार लेखक को बता रहे थे कि कई बार मैं अपने परिवार के मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि अन्तरङ्ग सदस्यों के पारस्परिक प्रेम की परीक्षा करने के लिए सुस्वादु भोजन में से थोड़ा सा लेकर छोड़ देता हूँ। वे कहते हैं– अपने सभी सदस्यों की परीक्षा करते रहना चाहिए और कभी कोई सदस्य इस अनुशासन का उल्लंघन करे, तो उसे प्रेम पूर्वक समझाना चाहिए कि देखो! एक मात्र आपके विरुद्ध-आचरण से समस्त परिवार को कितना अधिक कष्ट हो सकता है। इस प्रकार जब-जब कोई सदस्य विवेक रूपी राजा के बनाये नियमों को तोड़ने के लिए जरा-सा भी प्रवृत्त हो तो उसे उसी समय अत्यन्त स्नेह के साथ समझा देना चाहिए। निश्चय ही वह इस प्रक्रिया से समझ जाता है और अपने आपको संयमित कर लेता है।

यदि इस समझने की प्रक्रिया में ढील दे दी जाती है, विलम्ब कर दिया जाता है, तो फिर वे सदस्य एक-दूसरे से मिलकर समस्त राज्य में विद्रोह पैदा कर देते हैं और उस अवस्था में नियन्त्रण कर पाना अति कठिन हो जाता है। इस प्रकार महाराज कहते हैं– मधुमक्षिका व्यक्ति को 'गुणग्राहिता' तथा 'अनुशासन-प्रियता' इन दोनों बातों की विशेष रूप से शिक्षा देती है और यदि व्यक्ति इन दोनों बातों को समझकर अपने जीवन का अङ्ग बना लेता है तो अवश्य ही उसका जीवन सुगन्ध से महकने लगता है।

जैसा कि पहले ही कहा गया है– मधुमक्षिका सीधे पुष्पों पर ही पहुँच जाती है, उसे गन्दगी से हटने के लिए किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता। महाराज कहते हैं– उसके पास वह मीटर ही नहीं है जिसके द्वारा वह गन्दगी को चख सके, देख सके, अनुभव कर सके। तद्वत् मनुष्य को भी अपने चित्त को ऐसा निर्मल कर लेना चाहिए कि एकदम सीधा शुभ से, सत्य से, शिव से, सुन्दर से, भद्र से युक्त हो जाए या युक्त रहे। विश्लेषणात्मक तार्किक प्रक्रिया से नहीं, बल्कि सहज रूप से शुभ के साथ संयुक्त हो जाए, संयुक्त रहे। चित्त इतना निर्मल हो जाए कि अशुभ, असत्य, अशिव, कुरूप, मल-मूत्र, गन्दगी के साथ जुड़कर फिर उससे हटने के बजाए उसके साथ सम्पर्क ही न हो सके, सम्पर्क ही न करे।

धाय- महाराज कहते हैं कि व्यक्ति को धाय की तरह निर्लिप्त जीवन जीना चाहिए। धाय का काम है– बच्चे का पालन-पोषण करना। जन्म दात्री माँ भी उस काम को करती है, फिर भी दोनों के भावों में अन्तर रहता है। माँ का बच्चे के प्रति मोह, लगाव या आसक्ति होती है। पर धाय की उस प्रकार की आसक्ति नहीं होती, बच्चे के साथ केवल मात्र सेवा का सम्बन्ध होता है। बस यही इन दोनों में अन्तर है। संसार में रहते हुए व्यक्ति को कार्य तो करने ही होते हैं, लेकिन क्रिया के पीछे

जो भाव है, उससे उस कार्य का स्वरूप बदल जाता है। योगी और अयोगी के शुभ कार्यों में इसी आसक्ति का ही भेद होता है। कार्य के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता।

धाय के मन में बराबर यह बात बनी रहती है कि इस बच्चे की माँ कोई और है। बस! इस उपमा से यही वृत्ति संसार के सब पदार्थों के साथ योगी को धारण करनी होती है। सभी पदार्थों का वास्तविक स्वामी तो भगवान् है। मेरा जो सम्बन्ध है, वह तो मात्र सेवा के लिए है, जब मैं स्वामी हूँ ही नहीं तो किसलिए लोभ, किसलिए मोह, किसलिए शोक! जितनी देर के लिए ऊपर से सेवा हेतु जो भी सम्बन्ध निर्धारित हुआ है, केवल उसे कर्त्तव्य-भाव से आनन्द के साथ पूरा करना है। महाराज ने एक बार सुनाया था कि गुरुदेव ने मुझे संन्यास धर्म में दीक्षित करते हुए धाय, चींटी व मधुमक्षिका की उपमायें दी थीं। वस्तुतः इन उपमाओं का सौन्दर्य व गाम्भीर्य बहुत अद्‌भुत है।

सूर्य– एक अन्य उपमा श्री महाराज सूर्य की देते हैं। सूर्य पूर्ण प्रकाश का प्रतीक है। सूर्य सबको समभाव से प्रकाश व ताप बाँटता रहता है। सूर्य के प्रकाश से ही आँखें प्रकाशमान हैं, पर किसी की आँखों में कोई रोग हो जाए तो उससे सूर्य अप्रभावित ही बना रहता है। तद्‌वत् ज्ञानी पुरुष समस्त संसार को अपने ज्ञान से प्रकाशित तो करते रहते हैं– पर संसारस्थ मनुष्यों के अज्ञान का ज्ञानी पुरुष पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अज्ञानियों का अज्ञान इधर ही रह जाता है, ज्ञानी पुरुष तक नहीं पहुँचता। सूर्य के प्रकाश-बण्टन में कोई भेद-भाव नहीं होता कि सन्तों को तो मैं प्रकाश दूँगा और पापियों को नहीं दूँगा। जो भी उसकी ओर उद्‌घटित होता है वही लाभान्वित हो जाता है। कोई अपनी खिड़की या द्वार बन्द कर लेता है तो भी वह चमकता रहता है, किसी से कोई शिकायत नहीं कि तूने मेरा अपमान किया; अब तुझे मैं अपना प्रकाश नहीं दूँगा।

ज्ञानी पुरुष भी जिज्ञासुओं को सूर्यवत् ज्ञान लाभ से कृतार्थ करता रहता है। कोई विमुख हो जाता है तो उससे ज्ञानी में कोई विचलन पैदा नहीं होता। पुनः कोई अभिमुख हो जाता है तो पूर्ववत् ज्ञान प्रवाह चालू हो जाता है। सूर्य जैसे न तो अपने को किसी से पूजित हुआ मानता है न अपमानित, ज्ञानी भी वैसे ही सदा अबाध शान्ति में डूबा रहता है। सूर्य जैसे किसी अन्य ग्रह के चक्कर न लगाकर अपनी ही धुरी पर घूमता हुआ अपने स्वरूप में रहता है, वैसे ही ज्ञानी भी अपने ज्ञानात्मक स्वरूप में स्थिर बना रहता है, किसी भी अवस्था में अज्ञानी नहीं होता। सदा ज्ञानी के ही रूप में अपना पार्ट अदा करता रहता है। वह किसी का अनुकरण नहीं करता, सब उसके ही पीछे चलते हैं। सूर्य जैसे अपने आप में पूर्ण है और यह पूर्णता स्वतः सिद्ध है, न कि किसी अन्य बाह्य हेतु से उसको सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी को भी अपनी पूर्णता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती।

किसी के अपूर्ण बताने से या मानने से भी ज्ञानी उतना ही शान्त रहता है जितना कि अन्य अवस्था में, जब कोई उसे पूर्ण कहकर प्रशंसा करता है। सूर्य निरन्तर जल रहा है– दूसरों के लिए। ज्ञानी भी सतत दूसरों के लिए ज्ञान का आलोक फैला रहा होता है। पूर्ण प्रकाश युक्त होने से ज्ञानी महामाया (त्रिगुण) की रस्सी से मुक्त हो जाता है, क्योंकि प्रकाश की कमी से ही वह त्रिगुण रूपी रज्जु

बन्धन का हेतु होती है। पूर्ण ज्ञान की स्थिति में ''मैं" विगलित हो जाता है। सूर्य का न किसी पर कोप है न किसी पर मोह; केवल प्रकाश का वितरण है। ज्ञानी भी वैसा ही करता हुआ सतत जीवन बाँट रहा होता है। इस प्रकार श्री महाराज संसार में सूर्य-सम ज्ञान-ज्योति बनकर जीने की बात कहते हैं।

शिशु- महाराज की अग्रिम प्रिय उपमा है– 'शिशु'! वे कहते हैं– शिशु को भी 'मैं' रूपी महामाया की रज्जु नहीं बाँधती है। शिशु पूर्ण 'समर्पण' का प्रतीक है। शिशु के मायने माँ का जागरण, माँ की सुरक्षा। इसीलिए तो शिशु को सदा ही केवल 'माँ' दिखाई देती है। चिन्ता, भय, बाधा, शोक, प्रलोभन और भी इस प्रकार की सब चीजों से शिशु सर्वथा मुक्त रहता है। संसार में भी जो कोई अपने से किसी बड़ी शक्ति को अपना 'रक्षक' मानकर चलता है; उसका जीवन पूर्ण निर्भार हो जाता है।

शिशु की दूसरी बात है 'सरलता'। शिशु में कुटिलता नाममात्र को भी नहीं होती। जैसा अन्दर, वैसा बाहर। वह अपने भावों को छिपाने की कुशलता (Technic) से पूर्णतः मुक्त होता है। ध्यान दिया जाए तो यह कोई सामान्य उपलब्धि नहीं है। सरलता का अर्थ है दोहरे जीवन (Dual personality) का अन्त। इस प्रकार शिशु की तरह सरल व समर्पित होकर जीने में जीवन 'पुष्प' की तरह खिल उठता है। न स्वयं के लिए किसी प्रकार का दुःख और न अन्यों के लिए। आखिर इसी स्थिति के लिए तो सारे प्रयास हैं।

नदी- महाराज की जीवन सम्बन्धी एक प्रिय उपमा है– नदी। नदी की विशेषता है– लक्ष्य के प्रति 'सतत गति'। सामने कुछ भी बाधा आ जाए, अधिक देर तक उसके समक्ष नहीं टिक सकती। कहीं न कहीं से वह अपना रास्ता निकाल ही लेती है और फिर पूर्ववत् आगे बढ़ी चली जाती है। नदी की दूसरी विशेषता है सबकी समान रूप से सेवा करना। न तो किसी से लगाव है और न किसी से विरोध। इस प्रकार महाराज कहते हैं- नदी भी हमारे लिए जीवन के एक विशेष अर्थ को उद्घाटित कर रही है। निरन्तर सम भाव से सेवा में जुटे रहें, तथा साथ में लक्ष्य के प्रति अविश्रान्त गति बनाए रखें। नदी हमें ये दो मूल प्रेरणायें दे रही है।

वृक्ष- इसी प्रकार जीवन से जुड़ी हुई एक और उपमा है– वृक्ष। समभाव से सबको आश्रय देना, तथा धूप, गर्मी, सर्दी, वर्षा, आँधी सहते हुए तप करने में जुटे रहना और अपने मारने वाले को भी जो कुछ अपने पास है उसे दे देना। यह है वह दिव्य सन्देश, जो वृक्ष हमें दे रहे हैं।

चातक- महाराज कहते हैं कि चातक वृत्ति को धारण किया हुआ व्यक्ति विषयों की सतत हो रही वर्षा के बीच में खड़ा हुआ भी भगवान् रूपी स्वाति नक्षत्र में टपकने वाले अमृत (दिव्य जल) को ही चाहता है। बस निरन्तर उसी की तरफ देखता है। चारों तरफ निरन्तर हो रही विषय वृष्टि का उसके लिए कुछ भी अर्थ नहीं है। धन्य हैं वे जीवन-साधक जो प्राणत्याग कर सकते हैं, पर अपने प्रियतम अभीष्ट को छोड़ अन्य किसी को कभी नहीं चाहते। 'निम्न' से या 'अवर' से कभी सन्तुष्ट नहीं होते। जिस 'अन्तिम चीज' को उन्होंने चाहा है, उसे ही चाहते रहते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी भाव को अपने शब्दों में प्रकट किया है–

'गङ्गातीरमपि त्यजन्ति मलिनं ते राजहंसा वयम्।'

अर्थात् हम वे राजहंस हैं जो गङ्गातीर यदि मलिन है तो उसे भी छोड़ देते हैं।

कमठ (कछुआ) – व्यक्ति इस संसार सागर में तैर रहा है। बाहर से सतत प्रहार भी हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में अपने को बचाना भी है और जीवित भी रहना है, तो क्या करें? 'कमठ' इस समस्या का अच्छा समाधान देता है। जब-जब मनुष्य पर शब्द, स्पर्श आदि विषयों की मार पड़ने लगे या फिर मान-सम्मान के लिए जी ललचाए और बाहर भागने लगे और वहाँ डण्डे पड़ने लगें तो कमठ जैसे अपने को समेट कर अन्दर चला जाता है और एकदम सुरक्षित हो जाता है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी अपने अन्दर चले जाना सीख ले तो उन बाधाओं से सहज ही बचाव हो सकता है जो उसकी बुद्धि को हरकर सर्वथा नष्ट कर देती हैं। गीता में स्थितप्रज्ञ बनने के लिए 'कमठ' को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया गया है। वस्तुतः यह बहुत गम्भीर प्रतीक है। कमठ को आधार बनाकर महाराज ने 'कमठ-पच्चीसी' नाम से एक अद्भुत रचना भी रची है जो इसी ग्रन्थ के 'मनमणि का कमठाण' अध्याय में उपलब्ध है।

हंस– श्री महाराज का कहना है– यह संसार सत्य व असत्य, शुभ व अशुभ, मृत्यु व अमृत का घुला-मिला हुआ एक मिश्रण है। हंस इस बात का प्रतीक है– हमारी अन्दर की आँखें ऐसी खुल जाएँ कि हंस जैसे मिश्रित दूध व पानी को अलग कर देता है, वैसे ही हम हमारे लिए जो उपयोगी है, उसे ग्रहण कर लें, बाकी को छोड़ दें। जिन लोगों की दृष्टि इस रूप में विकसित हो जाती है, वे सारग्राही होते हुए जीवन की यथार्थता को पा लेते हैं।

पतङ्ग- मनुष्य को अपने प्रेम के केन्द्र इष्ट स्वरूप भगवान् के प्रति पतङ्ग जैसी भाव-दशा में रहना चाहिए। पतङ्ग का अग्नि से प्रेम है। वह अपने आप को भुलाकर प्रेम में दीवाना हुआ अपने-आपको अपने प्रियतम के लिए झोंक देता है। मनुष्य को भी अपने असली प्रियतम भगवान् पर अपने आप को न्योछावर कर देना चाहिए। यदि हम अपने आपको भगवान् का प्रेमी कहते और समझते हैं तो उससे प्रिय इस संसार की कोई भी वस्तु या व्यक्ति हमें नहीं लगना चाहिए। पतङ्गे की तरह हमारे मन को भगवान् रूपी अग्नि में जलकर भस्म हो जाना चाहिए।

जल- भारतीय संस्कृति में जल सत्यं, शिवं, सुन्दरं का प्रतीक है। जल को 'शान्त व पवित्र' कहा गया है। जल का स्पर्श अशान्त को शान्त, अशुद्ध को शुद्ध और अपवित्र को पवित्र कर देता है। जल की अपने घर में पहुँचने की माँग अदम्य होती है। इसके रास्ते में कितनी भी बड़ी विघ्न-बाधायें क्यों न आएँ, यह कहीं-न-कहीं से अपना मार्ग खोज ही लेता है। जल कभी कहीं ठहरा हुआ दिखाई देता है तो भी भीतर-ही-भीतर शक्ति सञ्चय करता रहता है तथा अपने आगे बढ़ने की चाह को या राह खोजने की अभीप्सा को कभी मन्द नहीं होने देता। जो साधक जल की तरह जीवन जीना आरम्भ कर देते हैं, वे देर या सवेर, अपने लक्ष्य को पा ही लेते हैं।

४५. परमात्मा को पत्र

एक विधवा माँ है और उसका लगभग ७ वर्ष का बच्चा है। उस 'ईश्वर' नाम से समझी जाने वाली अनन्त शक्ति में माँ का अगाध विश्वास है। वह उसे श्रीकृष्ण नाम से स्मरण करती है और यह मानती है कि वह **वैकुण्ठ** में रहता है। भक्तों का दुःख-हर्त्ता है। परम सुहृद् है। हृदय से निकली पुकार को अवश्य ही सुनता है। उसकी इच्छा हो जाए तो अन्धा व्यक्ति देखने लगता है, लँगड़ा भी पर्वत को लाँघने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। वह कभी भी किसी का अहित नहीं करता है। सदा ही परमशान्त अवस्था में रहता है, इसलिए संसार में चल रही उथल-पुथल से कभी भी अशान्त नहीं होता है। अनन्त ज्ञान-बल-पराक्रम से युक्त है। पक्षपात उसमें नाम मात्र को भी नहीं है। जीवों के जैसे कर्म हैं, वैसा ही उनको फल देता है। पर सर्वथा सदा के लिए किसी का त्याग नहीं करता है। जैसे ही कोई पापी से भी पापी व्यक्ति उसकी ओर मुड़ता है, तुरन्त उसे अपनी स्निग्ध दृष्टि से कृतार्थ कर देता है। उसका संकल्प अव्यर्थ है। इस लोक की या किसी अन्य लोक की कोई भी बड़ी से बड़ी आसुरी शक्ति एक क्षण के लिए भी उसका सामना नहीं कर सकती। वह सदा ही आनन्दमय है। प्रेममय है। चिन्मय है। वह माँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को इन अनेक रूपों में याद करती रहती है।

चूँकि माँ विधवा है, इसलिए आर्थिक अभाव होना स्वाभाविक-सा है। एक दिन ऐसी नाजुक घटना घटती है कि प्यारा इकलौता बेटा कुछ पैन, कापी, पुस्तकें, जूते इत्यादि आवश्यक वस्तुओं की माँग करता है। माँ उसे राहत देती है– बेटा! मैंने तुम्हारे पिता के नाम पत्र लिखा है। जल्दी ही वह रुपये भेजेगा। बच्चा उत्सुकता भरी वाणी से पूछने लगता है– माँ! कहाँ है मेरा पिता? मैंने तो आज तक देखा नहीं। माँ उसे कहती है– बेटा! वह वैकुण्ठ में रहता है। **चित्त की कुण्ठारहित स्थिति को 'वैकुण्ठ' शब्द से कहा जाता है।** बच्चा पूछता है– उसका नाम क्या है? माँ उत्तर देती है– पुत्र! वह श्रीकृष्ण नाम से जाना जाता है।

अब तो बालक के हृदय में आशा की किरण फूट पड़ती है। बालक अपनी माँ से कहता है– माँ! तब तो मैं भी अपने पिता के नाम एक पत्र लिख देता हूँ और यह कहता हुआ पत्र इस रूप में लिखना प्रारम्भ कर देता है– कि 'पिताजी! जल्दी सहायता भेजिए। मैं और मेरी माँ दोनों ही बहुत कष्ट पा रहे हैं। मेरी माँ से मुझे पता चला है कि तुम्हारा पिता इस सब संसार का स्वामी है। उसकी इच्छा के बिना कुछ भी किसी को नहीं मिलता। माँ ने मुझे यह भी बताया कि वह चाहे तो पल भर में सागर को रेगिस्तान में बदल दे और रेगिस्तान को सागर में। निर्धनों को सधन और सधनों को निर्धन बना दे। शक्तिशालियों की शक्ति, बुद्धिमानों की बुद्धि उसके निर्णय को किञ्चित् भी बदल नहीं सकती। मेरी माँ सदा ही मेरे सामने आपकी प्रशंसा करती रहती है, फिर भी हम परेशान क्यों हैं? हमें कष्ट क्यों भोगना पड़ रहा है? मेरे पिता! मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आप शीघ्रातिशीघ्र हमारे लिए

कोई भी व्यवस्था कीजिए'।

विधवा माता के इस पुत्र ने ऐसा पत्र लिखकर पते (Address) के स्थान पर लिखा–

पत्र मिले मेरे परमपिता परमात्मा को

मुकाम व पोस्ट- वैकुण्ठ धाम

जिला- वैकुण्ठ धाम

बच्चा इस पत्र को लेकर पोस्ट (Post) करने के लिए घर से बाहर निकलता है। लेटर बॉक्स के पास पहुँच जाता है। बच्चे का हाथ बॉक्स के मुँह तक नहीं पहुँच पा रहा है। इतने में उधर से एक श्रेष्ठी (सेठ) आ जाता है। बच्चे से कहता है– लाओ मुझे दो, मैं डाल देता हूँ। सेठ की आँखें पत्र के ऊपर अंकित विचित्र प्रकार के पते पर पड़ती हैं। बच्चे से पूछता है कि कहाँ भेज रहे हो यह पत्र?

बच्चा भी सब वृत्तान्त सुना देता है कि मेरी माँ से मैंने कुछ वस्तुएँ माँगी। माँ ने कहा– बेटे! वैकुण्ठ में तुम्हारा पिता रहता है– मैंने उनके नाम एक पत्र लिख दिया है, तब तक थोड़ा धैर्य रखो। वह प्रबन्ध कर रहा है। मैंने अपनी माँ से कहा– माँ! फिर तो मैं भी एक पत्र लिख देता हूँ। बालक के सरल हृदय से निकली हुई बातों को सुनकर सेठ जी का हृदय पिघल जाता है। बच्चे को कहा– अच्छा तुम जाओ। अपनी माँ को जाकर बता दो कि माँ! मैं भी अपना पत्र डाल आया हूँ। बच्चे के जाने के बाद सेठ जी पत्र को खोलकर पढ़ते हैं– किसी से उनके घर का पता पूछकर पर्याप्त धन-सम्पत्ति तुरन्त उनके घर भिजवा देते हैं। माँ और बेटे दोनों का विश्वास सफल हो जाता है।

श्री महाराज इस आख्यान से यह कहना चाहते हैं कि पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती, बशर्ते वह सच्ची हो। उसमें किञ्चित् भी छल-कपट न हो। **प्रार्थना का अर्थ ही यह है कि 'सम्पूर्ण सत्ता की एक ही माँग'**। जैसे जब मगर पानी पीते हुए हाथी को खींचकर ले जा रहा था (गजेन्द्र, सागर, मगर ये सब किसी विशिष्ट अर्थ के रूपक हैं। प्रत्येक सच्चा साधक गजेन्द्र का रूप है। यह संसार ही वह सागर है जिसमें पानी पीने के लिए साधक आगे बढ़ता है तो विकार रूपी मगर उसे खींच कर अन्दर ले जाता है।) तो उसने अपनी रक्षा के लिए भगवान् को याद किया या जैसे द्रौपदी ने अपनी लाज बचाने के लिए भगवान् को याद करते हुए पुकारा।

श्री महाराज कहते हैं– भगवान् तो अशरीर हैं, सशरीर तो वे हमारे सामने प्रकट होते नहीं। पर जिस किसी रूप में भी हमारी पुकार का जो प्रत्युत्तर (Response) मिलता है वही भागवत कृपा है। 'पुकार का सुना जाना' अटल नियम है। अध्यात्म में भी जो साधक सच्चे हृदय से भगवान् को याद करते हैं, तो विषयों के सागर में काम-क्रोध-लोभ आदि के रूप में शक्तिशाली मगर जब उन्हें खींचकर ले जाने लगता है तो तत्काल सुनवाई होती है। पर हृदय की सरलता और पुकार के उस उत्कृष्टतम रूप का होना तो आवश्यक है ही- जिसका ऊपर कहानी में वर्णन हुआ है।

४६. अम्बरीष और दुर्वासा

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।। (कठ० २.३.३)
भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।। (तै० २.८.१)
यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं व्रजमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।। (कठ० २.३.२)
स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथऽऋभ्वा। (ऋग्० १.१००.६२)
यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा। (अथर्व० १३.३.३)

महाराज श्रीमद् भागवत नवम स्कन्ध में उद्धृत भक्त अम्बरीष का एक अति उज्ज्वल पावन प्रसङ्ग सुनाया करते हैं। वे कहते हैं कि पुराण साहित्य में विद्यमान इस कौस्तुभ मणि ने मुझे सबसे अधिक आकृष्ट किया। कथा ऐसी है कि एक बार भक्त प्रवर राजा अम्बरीष ने अपनी सहधर्मिणी के सहित एक वर्ष तक द्वादशी प्रधान एकादशी व्रत करने का नियम ग्रहण किया। व्रत की समाप्ति होने पर कार्तिक मास में उन्होंने तीन रात का उपवास किया और अन्तिम दिन यमुना में स्नान करके भगवान् श्रीकृष्ण की विधिवत् पूजा की। तत्पश्चात् ब्राह्मणों को भोजन कराया, उनके लिए हजारों दुधारू गायें दान में दीं।

अब जैसे ही ब्राह्मणों की आज्ञा से व्रत के पारण की तैयारी कर रहे थे कि इतने में शाप और वरदान दोनों देने में समर्थ दुर्वासा ऋषि आ पहुँचे। राजा अम्बरीष ने उठकर उनका स्वागत किया। आसनादि देकर बिठाया और विविध सामग्री से अतिथि के रूप में पधारे दुर्वासाजी की पूजा की। उनके चरणों में प्रणाम करके अम्बरीष ने भोजन के लिए प्रार्थना की। अम्बरीष की प्रार्थना स्वीकार कर दुर्वासाजी नदी तट पर स्नान के लिए चले गये। वहाँ दुर्वासाजी अपने नित्यकर्म करते हुए ध्यानादि में ऐसे लीन हो गये कि अम्बरीष का मैंने आतिथ्य स्वीकार किया है, यह बात ही चित्त से निकल गयी।

इधर जब अम्बरीष ने देखा कि दुर्वासाजी तो नहीं पहुँचे हैं और व्रत के पारण का निश्चित समय अतिक्रान्त हो रहा है, तो ब्राह्मणों से पूछा कि ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए? विचार करने पर यही निश्चय हुआ कि 'जलपान' भोजन किया हुआ भी मान लिया जाता है और न किया हुआ भी, अतः अभी तो जल से ही पारण कर लेता हूँ। क्योंकि भोजन तो अभी अतिथि देवता को कराये बिना करना उचित नहीं।

उधर जब दुर्वासा जी अपने स्नान-ध्यानादि से निवृत्त होकर पहुँचे तो पता चला कि राजा ने तो मेरे बिना ही व्रत पारण कर लिया। अतिथि को निमन्त्रण देकर फिर यह व्यवहार करना तो उचित नहीं। तुरन्त क्रोधाभिभूत होकर राजा के ऊपर 'कृत्या' (एक विशिष्ट मारक क्रिया) छोड़ दी। राजा शान्त भाव से अविचल रूप में स्थित रहे। अब श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा कि मेरे निर्दोष भक्त के ऊपर स्वयं दोषी होते हुए दुर्वासा ने 'कृत्या' का प्रयोग कर दिया है तो सुदर्शन चक्र के द्वारा उस

लपलपाती कृत्या का तत्क्षण नाश कर दिया। कृत्या का विध्वंस कर सुदर्शन चक्र रुका नहीं, बल्कि दुर्वासा की ओर टूट पड़ा।

सुदर्शन चक्र को अपनी ओर आते देख दुर्वासा जी ने पर्वत-आकाश-पाताल सब जहान छान मारा, पर जहाँ भी गये, चक्र उनका पीछा करता रहा। अब बचने के लिए कोई उपाय न देख ब्रह्माजी की शरण में पहुँचे। निवेदन किया– महाराज! मुझे किसी तरह बचाओ। मैं आपका शरणागत हूँ। मुझसे भूल हो गयी, उसके परिणाम-स्वरूप सुदर्शन चक्र मेरे पीछे लग गया। ब्रह्मा जी ने कहा– भगवान् के शासन का उल्लंघन करने का मुझमें तो सामर्थ्य नहीं है। हम सब देवगण उन्हीं के नियम में बँधे अपना-अपना काम कर रहे हैं। हाँ! एक बार प्रयास करके देख लो, यदि शंकर जी कुछ कर सकें। हो सकता है वे आप पर दयालु होकर आपकी मदद कर सकें।

दुर्वासाजी आगे-आगे और चक्र पीछे-पीछे। इस प्रकार दुर्वासाजी शंकर जी की शरण में पहुँचते हैं। मृत्यु जब पीछे लग रही हो तो बड़े-बड़ों का गर्व ढीला पड़ जाता है। उस समय अपनी भूल याद आती है। सो शंकर जी के सामने भी दुर्वासा जी अति आर्त्तभाव से कातर स्वर में विलाप करने लगे कि किसी तरह मुझे बचाओ। शंकर जी ने भी वही उत्तर दिया जो ब्रह्माजी का था कि मैं तो भगवान् के शासन के अतिक्रमण की एक क्षण के लिए भी कल्पना नहीं कर सकता। उनकी व्यवस्था में कदापि हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जिनका यह चक्र है, आप उन वैकुण्ठवासी विष्णु जी के पास अपनी याचिका क्यों नहीं दायर करते? हो सकता है, वे आपको बचा लें। दुर्वासा जी अब विष्णुजी की तरफ बढ़े और कहने लगे– कृपालो! मैंने आपके भक्त के साथ दुर्व्यवहार (Misbehave) क्या किया, अपना विनाश ही मोल ले लिया।

मुझ दीन पर कृपा करो, खींच लो अपने इस चक्र को। मैं इसकी आग से जल रहा हूँ। आगे से कभी ऐसी भूल नहीं करूँगा। वस्तुतः मेरी ही वह भूल थी कि मैं भक्त अम्बरीष को यह कहकर कि स्नानादि से निवृत्त होकर अभी पहुँचता हूँ, वहाँ ध्यानादि करने लग गया और बहुत देर कर दी। जब मैंने आपके भक्त को देखा कि मेरी उपस्थिति के बिना ही उसने व्रत का पारण कर लिया तो मुझे क्रोध आ गया। क्रोध न करके मुझे यह कहना चाहिए था कि 'भक्तवर! क्षमा करें, मैं शीघ्र लौटने का वचन देकर आपके व्रत पारण के समय पर उपस्थित नहीं हो सका'। अब एक बार आप कैसे भी मुझे क्षमा कर दीजिये। आगे सदा-सदा के लिए मैंने अपने आपको बदल लिया है। कभी आपके समक्ष कोई शिकायत नहीं आयेगी।

दुर्वासा के करुण क्रन्दन को सुनकर भी भगवान् तो कहने लगे– भक्त मेरे हृदय होते हैं और मैं भक्तों का हृदय, यह ठीक है, पर अब यह जो आप पर आपत्ति आ रही है, इसमें मैं कैसे मदद करूँ? मेरे सीधे-सादे सरल भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हृदय में ले रखा है। मुझमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं है कि इस आपत्ति से आपका बचाव कर सकूँ। दुर्वासाजी, फिर भी सुनिए! मैं आपको एक उपाय बताता हूँ। जिसका अनिष्ट करने से आपको इस विपत्ति में पड़ना पड़ा है, आप उसी के पास

जाइए। निरपराध साधुओं के अनिष्ट की चेष्टा से अनिष्ट करने वाले का ही अमङ्गल होता है– चाहे वह अमङ्गल कोई जान बूझकर करे अथवा अनजाने में हो जाए। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों के लिए तपस्या और विद्या परम कल्याण के साधन हैं। परन्तु ब्राह्मण यदि उद्दण्ड और अन्यायी हो जाएँ तो वे ही दोनों (तपस्या और विद्या) उलटा फल देने लगती हैं। दुर्वासाजी आपका कल्याण हो। आप नाभागनन्दन परम भाग्यशाली राजा अम्बरीष के पास जाइए और उनसे क्षमा माँगिए। तभी आपको शान्ति मिलेगी।

भगवान् की आज्ञा पाकर सुदर्शन चक्र की तीव्र ज्वाला से जलते हुए दुर्वासा लौटकर राजा अम्बरीष के पास आये और उन्होंने अत्यन्त दुःखी होकर राजा के पैर पकड़ लिये। दुर्वासाजी की यह अवस्था देखकर राजा अम्बरीष सुदर्शन चक्र की स्तुति करने लगे कि हे चक्र! इस दुःखित हृदय को अपने संरक्षण में ग्रहण करो। मैंने कुछ भी तप-दान-यज्ञ किया है तो मेरी प्रार्थना है कि दुर्वासाजी मुक्त हो जाएँ। प्रभो सुदर्शन! मैं समझता हूँ– आपकी महिमा का पार पाना कठिन है। ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़े के भेद-भाव से मुक्त यह समस्त कार्यकारणात्मक संसार आपका ही स्वरूप है। भगवन्! आप समस्त गुणों के आश्रय हैं। यदि मैंने समस्त प्राणियों के आत्मा के रूप में आपको देखा हो और आप मुझ पर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजी के हृदय की सारी जलन मिट जाए।

जब राजा अम्बरीष ने दुर्वासाजी को सब ओर से जलाने वाले भगवान् सुदर्शन च्रक्र की इस प्रकार स्तुति की, तब उनकी प्रार्थना से चक्र शान्त हो गया। अब चक्र की तपन से मुक्त और स्वस्थ-चित्त हुए दुर्वासाजी भगवान् व उनके चक्र की महिमा का विविध तरीके से गान करने लगे।

यहाँ इस कथा में कुछ ऐसी मूलभूत सच्चाइयों को काव्यमयी भाषा के द्वारा उजागर किया गया है जिनका सीधा सम्बन्ध हमारे जीवन के साथ है। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि कथा के माध्यम से कर्मफल-चक्र को बड़े रोचक ढंग से समझाया है। व्यक्ति भय, लोभ या प्रमाद, किसी भी कारण से भूल कर बैठता है। अपनी उस भूल को तो नहीं देखता, दूसरों पर रुष्ट होने लगता है या फिर उसके लिए तुरन्त हेतु उपस्थित कर देता है। जिस पर रुष्ट हो रहा है वह यदि कमजोर है, तब तो यह रोष कारगर सिद्ध हो जाता है। पर यदि अकस्मात् वह बलवान् हुआ तो दुर्वासा की तरह लेने के देने पड़ जाते हैं। दूसरों पर दोष डाल देने से प्रायः व्यक्ति को एक अद्भुत सन्तोष व सुख की अनुभूति तो होती है, पर यह स्वभाव उस व्यक्ति के जीवन के लिए घातक है।

ध्यान न देने के कारण बच्चों में ही हम यह संस्कार डालते रहते हैं। जब कोई छोटा बालक दौड़ते-दौड़ते कहीं गिर पड़ता है, तो उस बच्चे के साथ माता-पिता-भाई जो भी होता है, वह धरती पर पैर मारकर आक्रोशयुक्त वाणी में बोलता है– ले! तूने मेरे भाई को गिरा दिया और उस समय धरती को पीटने से वह बालक भी रोना बन्द कर खुश होकर चल पड़ता है; क्योंकि उससे बच्चा अपने को निरपराध तथा धरती को अपराधी समझने लगता है। कदाचित् उस अवस्था में तो वह खेल इतना दोषावह नहीं लगता, पर बच्चा बड़ा हो तो खेल की पुनरावृत्ति अखरने वाली प्रतीत होती है।

सो इस कथा के माध्यम से पहली शिक्षा यह दी गयी है कि **भूल को दूसरे पर थोपने या उसके लिए कोई हेतु देने के बजाए तुरन्त स्वीकार कर लेना चाहिए।**

और दूसरी शिक्षा यह है कि **यदि भूल को तत्काल ठीक नहीं किया गया, तो सृष्टि नियम (ऋत-नियम) जो कि कथा में सुदर्शन चक्र के नाम से वर्णित हुए हैं– वास्तव में गलती करने वाले व्यक्ति को नहीं छोड़ेंगे।** वह जहाँ कहीं भी चला जाए, वे सृष्टि के अखण्ड नियम उसका पीछा करते ही रहेंगे। आकाश-पाताल-गिरि-गुफा-नदी-वन-देश-विदेश, सब जगह उसके पीछे-पीछे रहेंगे। इन नियमों की शक्ति अपार है। इन नियमों की झपट इतनी तेज है कि उनकी पकड़ से न तो आदमी एकान्त में बच सकता है और न जन-समूह में। न ही किसी अर्चनीय देवता की स्तुति उसे बचा सकती है चाहे वह ब्रह्मा-विष्णु-महेश कोई भी क्यों न हो। साक्षात् भगवान् भी नहीं बचा सकते तो अन्य किसी चीज की तो सामर्थ्य ही क्या हो सकती है!

कथा के अन्त में हो गयी भूल से निस्तार पाने का उपाय भी बताया गया है। अप्रतिहत शक्ति वाला भगवान् का यह सुदर्शन चक्र जो बेरोक-टोक सर्वत्र विचरण करता है। जिसकी लपलपाती तीव्र ज्वालायें बलवानों के बल, धनवानों के धन और अभिमानियों के अभिमान को क्षण भर में ही जलाकर राख कर देती हैं। जिसका तेज सदा सर्वोपरि विराजमान रहता है, भगवान् के भक्तों के लिए तो अत्यन्त करुणामय है, पर भगवान् के शासन का उल्लंघन करने वालों के लिए तो साक्षात् महाकाल है, जिसके यहाँ किसी की कोई सिफारिश नहीं चलती, न ही विनय या नम्रता का चोगा पहने हुए बड़ी भारी चापलूसी भी जिसे एक क्षण के लिए हिला सकती है। जो न तो बड़ाई करने से कभी प्रसन्न होता है और न ही नाम न लेने से अप्रसन्न। जिसके लिए न कोई मित्र है न कोई शत्रु, न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय, न कोई बड़ा है न कोई छोटा, न कोई अच्छा है न बुरा। जो सदा समान दृष्टि से सबको निहारता रहता है– ऐसा वह सुदर्शन चक्र 'कैसे किस उपाय से भूल हो जाने पर भी, किसी व्यक्ति को व्यथित नहीं करता', बस इस रहस्य की कुञ्जी छिपी पड़ी है उपर्युक्त कथा के गर्भ में।

व्यक्ति से जाने या अनजाने लोभ, भय, प्रमादवश भूलें तो होती ही रहती हैं। जैसे यदि वह दुकानदार है तो ग्राहकों से झूठ बोलकर अपना माल बेचता है, पर उसके निपटारे के लिए सायंकाल मन्दिर खोजता है या फिर बहुत सारा पाप का माल इकट्ठा होने पर उसके समाधान के लिए घर में किसी पण्डित के द्वारा यज्ञ-यागादि पुरश्चरण कराता है। मन्दिर या धर्मशाला में धर्मार्थ कमरा बनवाता है। दरिद्रों के लिए शीत ऋतु में कम्बल बाँटता है। समय-समय पर बालाजी या श्याम जी के यहाँ चढ़ावा चढ़ाकर आता है। प्रतिवर्ष कम-से-कम एक बार तीर्थ करने के लिए जाता है। सन्तों को भगवान् का रूप मानकर उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए उनके चरणों में बैठता है।

कथा का निहितार्थ यह है कि ये सब काम चाहे जितने उपयोगी या विशिष्ट फलप्रद हों, पर उस दुकानदार को जिसने ग्राहकों से ठगी की है, सुदर्शन चक्र की मार से बचाने में तनिक भी उपयोगी नहीं हो सकते। यदि वह आपणिक इस बात के लिए इच्छुक है कि इस किये गये दुष्कर्म के फलस्वरूप

सुदर्शन चक्र ने मुझे घेर लिया है– उससे किसी तरह बच जाऊँ तो उसका मात्र एक ही उपाय है कि जहाँ यह भूल हो रही है, वहीं इसे ठीक किया जाए। जिन लोगों के साथ दुकानदार व्यवहार कर रहा है– उनको सदा-सदा के लिए ठगना बन्द कर दे। ग्राहकों के हृदय से उठने वाली आशीषें ही दुकानदार को सुदर्शन चक्र की तपन से मुक्त करायेंगी। **दुर्वासा की तरह प्रायः सबके साथ यही होता रहता है कि भूल किसी के साथ होती है और क्षमाप्रार्थना किसी दूसरे के सामने की जाती है।**

दुर्वासा ने अम्बरीष पर अनावश्यक क्रोध किया, और क्षमा ब्रह्मा, शंकर या विष्णु से माँग रहा है। पर इतने बड़े-बड़े देवता भी उसे बचाने में अपने को असहाय पाते हैं। आखिर दुर्वासा हारकर अम्बरीष के समक्ष ही जब अपनी भूल स्वीकार करता है तो अम्बरीष की प्रार्थना पर दुर्वासा को चक्र से मुक्ति मिल पाती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह लीला देखने को मिल सकती है। दूधिया पानी मिलाकर दूध बेचता है और पाप-मुक्ति के लिए प्रत्येक मंगलवार ५ रुपये का प्रसाद बाँटता है। कोई व्यभिचार करता है और पाप-मोचन के लिए हरिद्वार से काँवड़ लाता है। अध्यापक विद्यार्थियों को ईमानदारी से नहीं पढ़ाता और इस हरामखोरी से डरकर वैष्णो देवी की यात्रा करता है। डॉक्टर या वैद्य रोगियों को लूटते हैं और धर्म के नाम पर कहीं स्कूल में एक कमरा बनवा देते हैं।

कुछ लोग दो नम्बर का धन्धा करते हैं और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए एक अच्छा-सा मन्दिर बनवा देते हैं। राजनेता बड़ी-बड़ी रिश्वत लेते हैं और भगवान् का प्रिय पात्र बने रहने के लिए जिससे अगली बार भी चुनाव में विजय प्राप्त हो जाए– सवामणी के नाम से लोगों को दावत देते हैं। यहाँ तक कि साधु-महात्मा भी अपने कर्त्तव्यों का ठीक से पालन नहीं करते और इस कमी को पूरने के लिए भण्डारा करते हैं। एक शब्द में, अनेक प्रकार के अनुचित साधनों से प्रभूत धन इकट्ठा करके उसमें से कुछ धर्म के नाम पर दान कर देने से विष्णु का सुदर्शन चक्र हमसे प्रसन्न हो जायेगा, ऐसी जिनकी धारणा बन गयी है, उन्हें ही शिक्षा देना इस कथा का गुप्त अर्थ है।

ये सब की सब मन की चालबाजियाँ हैं, जो कभी भी जीवन में शान्ति का पदार्पण नहीं होने देतीं। मनुष्य संसार में रहते हुए जैसे एक दूसरे को धोखा देने में सफल हो जाते हैं, अपने इस स्वभाववश विष्णु के सुदर्शन चक्र को भी उसी श्रेणी में खड़ा कर देते हैं। पर जब उसकी मार पड़ती है तो रोना-चीखना तो स्वाभाविक ही है, लेकिन आँखें तब भी नहीं खुलतीं। थोड़ी देर रो-धोकर उस दुःख के पहाड़ को भी वैसे ही भूल जाते हैं जैसे कोई योगी भूतकाल को। ठोकरें खाते-खाते अपने जीवन के अनुभव से या किसी महापुरुष के प्रभावशाली उपदेश से जिनको ऐसा विश्वास हो गया है कि वह सुदर्शन चक्र कोई भोली-भाली अनजान सत्ता नहीं है, बल्कि एक ऐसी सर्वदृक्-शक्ति है, जिसकी पहुँच से बाहर कुछ भी नहीं है। सचमुच सुदर्शन चक्र अर्थात् सृष्टि नियमों (वैदिक भाषा में जिन्हें ऋत-नियमों से अभिहित किया गया है) के प्रति ऐसी सुनिश्चित धारणा वाले वे जागरूक जन ही बच्चों जैसी इन बचकानी हरकतों से बच सकते हैं।

इस महतो महीयान् सुदर्शनचक्र रूपी न्यायाधीश की अधर्म-पाप-अपुण्य-दुश्चरित या भूलभूलैया में

फँसे हुए समस्त मानवों से एक ही माँग है कि तुम अपनी भूल के मूल को पकड़ो। यदि यह करने के लिए तैयार हो तो मेरी तरफ से निश्चित रूप से क्षमा कर दिये जाओगे। अन्यथा कोई बचने का उपाय नहीं। मैंने व्यवस्था के लिए अपने असंख्य गुप्तचर छोड़े हुए हैं। मेरी पैनी दृष्टि और मेरे राज्य से भागकर कहाँ जाओगे! एक कदम भी मेरी इच्छा के बिना नहीं चल सकोगे। मेरे कोप से मुक्ति का मैं तुम्हें सीधा सा उपाय बताता हूँ– **यदि तुमने ब्रह्मचर्य सम्बन्धी गलती की है तो ब्रह्मचारी बनकर ही मेरे-कृपा-पात्र बन सकते हो, न कि इसके बदले दान-दक्षिणा, तीर्थाटन या यज्ञ-हवन करने से।**

झूठ के पाप से बचने के लिए तुम्हें सर्वथा सत्य को ही अपना सहारा बनाना होगा, और इसी प्रकार क्रोध के दोष को सबके प्रति शान्ति धारण करने से, लोभ को उदारता से, अहङ्कार को निरहङ्कारिता से, धोखा देना रूप पाप कर्म को निर्व्याजता व सरलता से ही धो सकोगे। रोग तुम्हारी आँखों में है और दवा दाँतों में लगाने लगते हो। गाय का वध कर दिया है, पाप-मुक्ति गंगा स्नान या दान-दक्षिणा देकर करना चाहते हो, यही तुम्हारी गलती है। गाय के वध से उत्पन्न पाप से मुक्त होने की इच्छा है तो गाय की सेवा में अपने आप को अर्पित करना होगा। प्यास को मिटाने के लिए जैसे भोजन नहीं किया जाता बल्कि पानी पिया जाता है। शीत निवारण के लिए जैसे अग्नि का उपस्थान किया जाता है, न कि हिम का। उसी प्रकार **उस-उस दोष से मुक्त होने के लिए उसके प्रतिद्वन्द्वी को शरण रूप में पकड़ना होगा।**

मेरे इस गम्भीर आदेश, उपदेश, सन्देश को जो समझेगा, उसका उद्धार हो जायेगा और जो दुष्ट पामर मेरी इस वाणी की अवहेलना करेगा, उसे मेरी विकराल दाढ़ों का चबेना बनना ही पड़ेगा, यह मेरी अव्यर्थ घोषणा है।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम् असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनालीकवादिनम्।।

*****

- ☞ संसार-वृक्ष का मैं पत्ता भर हूँ; मेरे भाग का मुझे अवश्य मिलेगा।
- ☞ सद्गुण स्वयं प्रचारक हैं– फूल की सुगन्ध की तरह।
- ☞ आचरण की भूल का पता तत्क्षण लग जाता है, जबकि विचारों की भूल का पता बहुत देर बाद लगता है।
- ☞ नति में उद्धार और सरलता में निर्भयता निहित है।
- ☞ निश्चल नीरवता वह द्वार है जिसमें से भगवान् में प्रवेश पाया जाता है।
- ☞ त्याग उसका जो हमारे पास है, किन्तु समर्पण स्वयं का।
- ☞ यदि दोषों की पुनरावृत्ति न हो तो सभी निर्दोष हैं।
- ☞ ईश्वर अक्ल की खोज से नहीं मिलता, उससे मिलना दिल की तड़प=बिलख से होता है।
- ☞ दुःख, दैन्य और दारिद्र्य की अग्नि परीक्षाओं से ही आत्मा कुन्दन बनती है।

४७. सम्यक् व्यायाम

एक बार लेखक आश्रम में व्यायाम कर रहा था। महाराज ने उसको व्यायाम करते हुए देख लिया। सो जब वह व्यायामादि से निवृत्त होकर महाराज के पास उपस्थित हुआ तो कहने लगे– भगवान् बुद्ध ने एक बहुत अच्छा सन्देश दिया है। लेखक ने पूछा– क्या? कहने लगे– 'सम्यक् व्यायाम।' फिर अपने आप ही इसकी व्याख्या करने लगे– सम्यक् व्यायाम का अर्थ है सार्थक व्यायाम (उत्पादक श्रम)। जिस व्यायाम से भोजन भी साथ में उपलब्ध होता जाए वही सम्यक् व्यायाम है। कस्सी लेकर जमीन को खोदा जाए तो व्यायाम भी हो जाता है और उससे भोजन भी प्राप्त होता है।

इसी प्रकार उद्यान लगाना, वृक्ष-पौधे-वनस्पति उगाना, गायों की सेवा करना, झाड़ू लगाना, कुट्टी काटना, ये कुछ ऐसे कर्म हैं कि **'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'** (एक पन्थ दो काज) वाली उक्ति चरितार्थ हो जाती है। इसी कारण महाराज माताओं को सदा चक्की चलाकर अपने हाथ से पीसे हुए आटे की रोटी बनाकर सब परिवार को खिलाने की सलाह दिया करते हैं। वे सदा इस बात को कहते हैं– इससे मातायें स्वस्थ तो रहेंगी ही, साथ ही उनमें अपने परिवार की उस भावनात्मक विशिष्ट सेवा से सहज प्रसन्नता का भाव भी विकसित होगा। महाराज पुरुषों के लिए खुरपी या कस्सी तथा माताओं के लिए चक्की को सब सुखों के खजाने के रूप में मानते हैं।

वे केवल उस सत्य को वाणी देने वाले ब्रह्मर्षि या इस सत्य का प्रचार-प्रसार करने वाले देवर्षि ही नहीं हैं, बल्कि इसके साथ इस सत्य को अपने जीवन के द्वारा चरितार्थ कर दिखाने वाले राजर्षि भी हैं। महाराज जब अपने पूर्व जीवन में रिवाड़ी शहर में रह रहे थे, उस समय रिवाड़ी से पश्चिम दिशा में थोड़ी ही दूर पर स्थित भगवद्भक्ति आश्रम में जाया करते थे। स्वामी परमानन्द जी नाम से एक तपस्वी संन्यासी वहाँ रहा करते थे। महाराज ने स्वामी परमानन्द जी से साधना करने के लिए आश्रम में ही आवास हेतु अनुमति चाही। श्री स्वामी जी ने महाराज को आश्रम के ही एक सुदूर कोने में झाड़-झंखाड़ के बीच एक कुटिया का निर्देश करते हुए हाथ में खुरपी पकड़ा दी।

महाराज बड़े गौरव से इस बात को कहा करते हैं कि वह खुरपी ही मेरी साधना बन गयी। खुरपी के द्वारा महाराज ने उस बीहड़ स्थान को (जो कि अब सम्पूर्ण आश्रम का ही केन्द्र बन गया था) रमणीक दृश्य में परिवर्तित कर दिया, जिसे देखकर दर्शक गण मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। बाद में जब महाराज नूरगढ़ चले आये और एक झोंपड़ी डालकर वहाँ बैठ गये तब भी श्री स्वामी परमानन्द जी के द्वारा दी गयी वह खुरपी महाराज के सदा साथ रही। उस समय का आँखों देखा हाल सुनाने वाले कई लोगों ने लेखक को बताया कि महाराज दिन भर खुरपी लिये लगे रहते थे। उसी के परिणाम स्वरूप आश्रम की श्रीवृद्धि दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही चली गयी।

आज तो इस आश्रम का ऐसा रूप है जैसे कि किसी कला व प्रकृति प्रेमी राजा ने अपने अपार वैभव से इसका निर्माण किया हो। हजारों मील लम्बी यात्रा करने पर भी शायद ही ऐसा सुन्दर उपवन देखने को मिले। चर्चा प्रारम्भ हुई थी सम्यग् व्यायाम से, महाराज के शब्दों में बस यही है सम्यक् व्यायाम।

*****

- ☞ 'सेवा' क्रिया रूप से सीमित, पर भाव रूप से अनन्त होती है।
- ☞ प्रत्येक परिस्थिति, साधन की दृष्टि से उपस्थित प्राकृतिक न्याय है।
- ☞ भगवत्-कृपा की कोई नाप-तौल नहीं और न ही उसका बदला चुकाया जा सकता है। नैतिक गुणों का भौतिक मूल्य नहीं।
- ☞ आरम्भ कहीं से करो अन्त एक ही है। शुद्ध खेल विजय का ही दूसरा नाम है!
- ☞ जो पतित से प्यार करता है वह भगवान् के प्यार का पात्र है।
- ☞ आत्मा के शुद्ध प्रतिबिम्बित प्रकाश को ही शुद्ध मन कहते हैं।
- ☞ सन्तों का अनुभव ही शास्त्र है। इतिहास घटना-प्रधान और पुराण शिक्षा-प्रधान होते हैं।
- ☞ उद्धार हो चुका। प्रकृति माँ अपना कार्य कर चुकी! हमें इसे समझना है और इसका सदुपयोग करना है, वापस पशु-भाव में नहीं गिरना।
- ☞ समय केवल विचार मात्र है। अस्तित्व केवल सत्य का है।
  आशाओं और अभिलाषाओं की गहराई में मृत्यु का निवास है।
- ☞ एक कदम उठा था गलत राहे शौक में। मंजिल तमाम उम्र मुझे ढूँढती रही।।
- ☞ स्वेच्छा से अपने पर काबू, यहाँ से मानवता आरम्भ होती है– अभय रहें (अन्य प्राणी बलवान् से डरते हैं और दुर्बल को डराते हैं)।
- ☞ सम्पूर्ण विघ्नबाधाओं से असंस्पृष्ट भक्ति माता ही मनुष्य के लिए एक मात्र त्राण-कल्याण-निर्माण की जननी है।
- ☞ हमारे अन्तस् में शील सुमेरु की चुम्बकीय चट्टानें हैं, इन्हीं से हमारा अहं घबराता है और हमें इसी डर से वहाँ झाँकने या जाने नहीं देता कि कहीं इससे टकराकर वृत्तियों के जहाजी बेड़े के कील काँटे सीधे होकर नाम रूप ही समाप्त न हो जाए।
- ☞ वासना शाप है। तप द्वारा इसकी शुद्धि तथा शाप से मुक्ति होती है।
- ☞ हे वरुण देव! अपने पाश खोल दो, हमने ऋत का मार्ग अपना लिया है।
- ☞ शील एक हीरा है जो हर वस्तु-परिस्थिति-घटनाओं पर अपना निशान छोड़ देता है।

४८. एक ही माँग 'मधु'

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नःसन्त्वोषधीः।। (ऋग्० १.९०.६)
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। (ऋग्० १.९०.७)
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।। (ऋग्० १.९०.८।।)
शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः।। (ऋग्० १.९०.९)
मधुमन्मे परायणं मधुमत् पुनरायनम्। ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम्।। (ऋग्० १०.२४.६)
जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि।। (अथर्व० १.३४.२)
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः।। (अथर्व० १.३४.३)
मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव।। (अथर्व० १.३४.४)

सब जग हितकारी लखे, भूखे की पहचाण।
ऐसी पावन भूख में, मनमणि का कमठाण।।

श्री महाराज का 'मधु' एक अत्यन्त प्रिय प्रतीक है। महाराज की शिक्षाओं को यदि एक शब्द में प्रकट किया जाए, तो कहना होगा– 'सदा मधुग्राही बनो'। वे कहा करते हैं कि यह शिक्षा मुझे मेरे गुरुदेव स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज से प्राप्त हुई एक बार स्वामी जी महाराज अपने प्रिय शिष्य से पूछने लगे– सोम! तुमने रामायण-महाभारत का अध्ययन तो ध्यान पूर्वक कर ही लिया होगा? सोम ने अपने गुरुदेव को उत्तर दिया– 'यों सुना है कि इन दोनों ग्रन्थों में मिलावट बहुत हो रही है, इसलिए इनको आर्षकोटि में नहीं रखा जा सकता'। गुरुदेव ने तत्काल कहा– 'तुम भी आर्ष-अनार्ष के चक्कर में हो। मैं तो समझता था कि राह चलते भूमि पर पड़े किसी कागज में भी तुम्हारे लिए कोई मूल्यवान् संकेत और सन्देश हो सकता है'।

सोम ने अपने पूज्य गुरुदेव की इस वाणी को गाँठ बाँध लिया। महाराज कहा करते हैं कि मैंने मधुग्राही बनकर स्वच्छन्द विहार किया और उससे मुझे जो लाभ हुआ, उसे कैसे प्रकट करूँ? महाराज के अनुसार भौतिक रूप में उपस्थित जो यह 'मधु' है, यह वह तत्त्व है जो हमारे अस्तित्व के सब अङ्गों की माँग को पूरा करता है। सबको समान रूप से बल व पुष्टि देता है, क्योंकि सब ओषधियाँ इसमें इकट्ठी हो रही हैं। सबका यह सार है, इसलिए आँख-नाक-कान-हृदय-गुर्दे-पाचनसंस्थान व शरीर के रोम-रोम के लिए हितकारी हो उठा है। महाराज का कहना है, हमारे सब अंगों की माँग को जो एक साथ पूरा करे, वही तत्त्व इस भौतिक 'मधु' के साथ उपमित किये जाने योग्य है। ऐसी वह क्या चीज है, जिसको हमारा जीवन चाहता है? वह है–'माधुर्य'। जिधर देखूँ उधर ही मुझे सब कुछ माधुर्य से भरा हुआ दिखाई दे।

यह पार्थिव रजः कण, यह सोम, यह वायु, पितृ स्थानी द्युलोक तथा मातृस्थानी भूमि, ये बरसते हुए मेघ, यह सूर्य, ये नदियाँ, ये प्रातःकालीन उषायें, ये रम्भाती हुई दुधारू गायें, ये कूदते हुए उनके

बछड़े, ये नृत्य करते हुए मयूर, ये उड़ते हुए पक्षी, ये चञ्चल गिलहरियाँ, ये दौड़ते हुए हरिण, यह दिन और रात का सततगामी चक्र, यह मेरी वाणी, मेरा देखना, मेरा सुनना, मेरा खाना-पीना, यह मेरा गमनागमन, ये किलकारियाँ मारते हुए बालक, ये वेद-घोष करते हुए ब्रह्मचारी, ये परिश्रम करते हुए श्रमिकगण, ये जीवन के स्खलन व पतन, ये चित्रण करते हुए कलाकार, ये अमूर्त्त भावों को मूर्त्त रूप देते हुए कवि, ये प्रशान्त गम्भीर मौन अवस्था में लीन योगी, ये पवित्रता की पूर्ण प्रतीक बनी हुई कन्यायें, जिधर देखूँ, जो देखूँ सब कुछ मधुमय हो जाए। कहीं से भी मुझे कड़वाहट न मिले। मेरे विचार व हृदय के भाव सब कुछ ही तो अपनी कटुता को त्यागकर मधुरता में बदल जाएँ। ऐसी मेरी तीव्र अभीप्सा है। जीवन की सब अवस्थाओं में मैं आनन्द से भरा रहूँ।

जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है? माधुर्य को यदि सौभाग्य समझा जाए तो विडम्बना होगी कटुता। जीवन में एक को ही स्थान मिलेगा– या तो माधुर्य को या फिर कटुता को। माधुर्य नहीं होगा तो उसका स्थान कटुता ले ही लेगी। माधुर्य स्वादु रस है तो कटुता उसकी प्रतिद्वन्द्वी विरस सत्ता है। जब माधुर्य की कमी होती है तो समग्र जीवन ही एक चलता-फिरता बोझ बन जाता है। जीवन का समस्त सौन्दर्य ही जाता रहता है। न देखने में आनन्द, न सुनने में, न बात करने में, न टहलने में, न गाने में, न खाने में, न सोने में, न ध्यान करने में, न देने में, न कुछ लेने में, किसी चीज में भी आनन्द नहीं रहता। माधुर्य के अभाव में ही तो यह किसी भी कार्य के लिए किया गया श्रम व्यक्ति में थकावट लाने वाला हो जाता है। यह विशेष ध्यातव्य है– **चाहे व्यक्ति सुपथ से जी चुराए या उसमें उत्साह की कमी आ जाए, चाहे धैर्य का त्याग करे या असहनशील हो जाए, असंयम में जा गिरे या क्रोध से जलने लगे। सबके पीछे एक ही बात छिपी हुई है– माधुर्य की कमी और कटुता (नीरसता) की वृद्धि।**

पर महाराज का कहना है– कटुता वृद्धि (रोग-शोक-स्खलन) भी हमारे लिए माधुर्य से युक्त हो जाएँ। हमें जीवन की वह कुञ्जी प्राप्त हो जाए कि इस कटुता से भी कुछ सीख सकें। **कटुता की कटुता जब मन के द्वारा समझ ली जाती है तो फिर मन कटुता को विष के समान त्याग देता है।** इस प्रकार कटुता का स्मरण, कटुता के रूप में न होकर माधुर्य के रूप में होने लगता है। कटुता से मनुष्य सदा के लिए ऊपर उठ जाता है। **आओ! महाराज के द्वारा प्रदत्त इस दिशा-निर्देश से आगे बढ़ते हुए अपने जीवन को मधु से भर लें। माधुर्य से माधुर्य का जन्म होता है, तो कटुता से कटुता का। हम स्वयं मधुमय बनें, और इस प्रकार इस धरती पर सभी जीव गणों के लिए अधिकाधिक मधु बाँटते हुए अपने को कृतार्थ करें।**

- किसी भी राष्ट्र की पावन सम्पदा है– चरित्र।
- सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्यं
- कर्म ज्ञान का जलावन (ईंधन) है। अखण्ड ज्ञानाग्नि के लिए निरन्तर कर्म का ईंधन आवश्यक है।

४६. यूसुफ की दया

दया धर्मस्य जन्मभूमिः।। (चाणक्य) न च धर्मो दयापरः।। (महाभारत)

यूसुफ एक गृहस्थ सन्त हैं। गाँव में अपने घर पर ही इनका आवास है। उधर इब्राहिम नाम का डाकू है। डाका डालने के लिए यह यूसुफ के घर पहुँच जाता है। डाकू हृदय से तो कठोर होते ही हैं। धन-माल तो लूटते ही हैं। किसी की मार-काट करनी पड़ जाए तो उसमें भी पीछे नहीं हटते। इब्राहिम ने भी यही किया। डाका डालकर चलते समय यूसुफ के पुत्र को भी कत्ल करके अपनी राह नापी। यूसुफ का धन तो गया ही, साथ में पुत्र की भी बलि चढ़ गयी। खैर! सन्त का हृदय। इस दर्दनाक घटना को भी सहन कर गया।

किसी दूसरे समय अब की बार इब्राहिम ने डाका डालने के लिए एक अन्य गाँव को चुना। पर इस बार उसका कार्य सफल नहीं हुआ। गाँव में जाग पड़ गयी। सारा गाँव इब्राहिम व उसके साथियों के पीछे पड़ गया। भागते-भागते इब्राहिम के सभी साथी तितर-बितर हो गये। अब इब्राहिम अकेला रह गया। रात का समय था, अँधेरा घिरा था। इब्राहिम बचाव के लिए दौड़ता हुआ यूसुफ के गाँव में आ गया और अकस्मात् यूसुफ के घर में ही घुसकर शरण माँगने लगा।

यूसुफ ने उसकी तरफ देखते ही पहचान लिया कि यह तो वही इब्राहिम है, जिसने डाका भी डाला था और साथ में पुत्र की हत्या भी कर दी थी। फिर भी यूसुफ के लिए वह इस समय शरणागत बना हुआ था। इसलिए यूसुफ को इब्राहिम अब धन-माल लूटने वाला और पुत्र के हत्यारे के रूप में नहीं दिखाई दिया। उन्होंने इब्राहिम को छिपने के लिए स्थान दे दिया। अब तो इब्राहिम ने भी पहचान लिया कि यह तो वही व्यक्ति है, जिसके यहाँ डाका डाला था और उसके पुत्र की हत्या भी कर दी थी। गाँव में इब्राहिम के पीछे-पीछे खोज कर रहे लोगों का शोर सुनकर यूसुफ ने देखा, यों तो वे लोग यहाँ भी आ सकते हैं, फिर तो मेरे हाथ में कुछ नहीं रहेगा। इब्राहिम को मुझे लोगों के हवाले करना ही पड़ेगा।

यह विचार कर यूसुफ इब्राहिम से कहने लगे भाई इब्राहिम! लोग बहुत आवेश में हैं। तुम्हें ढूँढने में लगे हुए हैं। इधर आ गये तो बच पाना बहुत कठिन हो जायेगा। इसलिए तुम ऐसा करो, जल्दी से जल्दी हमारे इस घोड़े पर चढ़कर भाग निकलो। इब्राहिम ने यूसुफ से पूछा– फिर यह घोड़ा मुझे कहाँ पहुँचाना होगा? आप कोई निश्चित स्थान बता दीजिए। यूसुफ ने कहा– तुम जल्दी से भाग निकलो, घोड़े के चक्कर में अभी वे लोग आ पहुँचेंगे और तुम्हें यहीं पकड़ लेंगे। इब्राहिम यूसुफ के इस दयापूर्ण व्यवहार को देखकर रो पड़ता है, और कहने लगता है– यूसुफ इतनी कड़ी मार मत मारो। मैं आपकी इस तेज मार को सहन नहीं कर पा रहा हूँ। कहाँ तो मैं आपके पुत्र का हत्यारा और कहाँ आप मुझे अपना घोड़ा देकर, मेरे प्राण बचाने के लिए शीघ्र भागने को कह रहे हैं।

श्री महाराज कहते हैं कि सांसारिक लोगों में जैसे बदला लेने का तीव्र भाव होता है और वे अपने ढंग से बदला लिये बिना नहीं चूकते, उसी प्रकार सन्त लोग प्रतिशोध तो लेते हैं, पर वे इसी रूप में अपना प्रतिशोध पूरा करते हैं, जैसे यूसुफ ने इब्राहिम के साथ किया। कल्पना की जा सकती है, अपने अपकारी के साथ भी इस व्यवहार को करने के लिए हृदय की कितनी उच्च भूमि चाहिए। बस, सन्त और संसारी आदमी में यही भेद है। आँख-नाक-कान तो दोनों में बराबर ही होते हैं। क्या है कोई माई का लाल! जो यूसुफ जैसे हृदय का प्यासा है?

सोना सज्जन सन्तजन टूट जुड़ैं सौ बार।
दुर्जन कुम्भ कुम्हार को, एकै चोट दरार।।

हमें ऐसा ही एक तेजस्वी उदाहरण श्रीमत् स्वामी दयानन्द सरस्वती की जीवनी में भी देखने को मिलता है। उनके जीवनी-लेखक कहते हैं– जोधपुर नरेश की रखेल नन्हीं जान के द्वारा जब स्वामीजी के रसोइये जगन्नाथ से मिलकर उन्हें विष दिला दिया जाता है तो पता चलते ही स्वामीजी महाराज जगन्नाथ को बुलाते हैं और उसे बहुत-सा धन देकर कहते हैं कि तुम यहाँ से शीघ्र ही भाग जाओ, अन्यथा इन भक्तों को पता चलते ही ये तुम्हें मार डालेंगे। इतिहास में ढूँढने से एक नहीं बल्कि अनेकों उदाहरण इसी उपर्युक्त आदर्श को प्रमाणित करने वाले प्राप्त किये जा सकते हैं।

*****

- ☞ **दिव्य अक्षय धन–** भगवत्कृपा, श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, विवेक, बल, संकल्प, धीतत्त्व, क्रतु, प्रकृति माँ की विभूतिमय उपस्थिति, सन्त (ऋषि-मुनियों) का स्वयं स्फूर्त हृदय, शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधानरूप षट्क सम्पत्ति, साधन धाम शरीर, गीतोक्त समदृष्टि इत्यादि।
- ☞ करुणामय ने हमें भाग्य-लाभ-शुभ-विजय इत्यादि पुण्यमयी माँगों की छटपटाहट से उसी दिन मुक्त कर दिया था जिस दिन यह मानव जन्म दिया। शिक्षित=शासनमुक्त; स्वच्छन्द नहीं स्वतन्त्र।
- ☞ कृतज्ञता द्वारा अहं के बन्धन से छुटकारा। व्यक्तित्व का विश्लेषण अहं को बिखेर देता है।
- ☞ ईश्वर के जानने का मार्ग है स्वयं का ज्ञान।
- ☞ हम भगवान् होकर ही भगवान् में प्रवेश पा सकेंगे, कहा भी है- **देवो भूत्वा देवान् यजेत्।**
- ☞ अन्न की कमी नहीं है; भूख की कमी है।
- ☞ ऋताचरण के पथ में निषेधवर्ग नहीं। हमारे लिए उस आनन्द के कपाट खुलने दो!
- ☞ ज्ञान का विषय- निर्गुण निराकार कूटस्थ द्रष्टा निष्क्रिय साक्षी।
- ☞ भक्ति का विषय है- सगुण साकार, माध्यम है शब्द (वाक् तत्त्व)।
- ☞ भावलोक का चिन्तन भूख बढ़ाता है। अन्त मधुर से यह भूख शान्त।
- ☞ मानव जीवन की धन्यता केवल सेवा-धर्म से ही है।

५०. सन्त के साथ प्रश्नोत्तर

रेवाड़ी में डॉक्टर रामजस श्री महाराज के प्रसिद्ध भक्तों में से एक थे। एक बार स्वामी रामतीर्थ के शिष्य एक वृद्ध सन्त उनके पास पधारे। डॉक्टर साहब सत्संग प्रेमी तो थे ही, सत्संग करते-करते रात्रि के दस बज गये। वार्त्तालाप प्रसङ्ग में सन्त जी के समक्ष उनके मुख से यह बात निकल पड़ी कि यदि आप इस समय नूरगढ़ आश्रम में होते तो आपके आनन्द का कोई ठिकाना न रहता। सन्त जी तो यह सुनते ही तरङ्गित हो उठे और डॉक्टर साहब को कहने लगे– चलो! फिर तो अभी चलते हैं। बस, फिर क्या था, गाड़ी अपनी थी ही, झट से आश्रम पहुँच गये।

डॉक्टर साहब और सन्त जी आश्रम के उस शान्त सुरम्य वातावरण का आनन्द लेते हुए श्री महाराज की कुटिया के द्वार पर पहुँच गये। डॉक्टर साहब ने जैसे ही कुटिया को खटखटाया, महाराज उठकर बाहर आ गये। अब डॉक्टर साहब सन्त जी का परिचय देते हुए बोलने लगे– 'स्वामी जी महाराज! आज भारत का एक महान् सन्त आश्रम को सुशोभित कर रहा है'। महाराज भी उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए बोल उठे– हाँ ठीक है, 'मैं भी तो एक महान् सन्त हूँ', तत्काल ही महाराज एक कदम आगे बढ़कर कहने लगे– 'और देखो! मैं भारत का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व का एक महान् सन्त हूँ। इस लोक में या उस लोक में कोई मुझसे बढ़कर नहीं है'।

डॉक्टर साहब जीवन में पहली बार महाराज के मुख से ऐसी बात सुन रहे थे। वे सोचने लगे– मैंने तो सन्त जी के सामने स्वामी जी महाराज की विनम्रता और सरलता के मूर्त्त देवता वाला चित्र प्रस्तुत किया था। आज तो मेरा सारा खेल ही बिगड़ गया, मेरी तो बात ही खटाई में पड़ गयी, महाराज को यह क्या हो गया, जो ऐसी विचित्र बोली बोलने लगे। डॉक्टर साहब के मन में तेजी से इस प्रकार के भाव दौड़ ही रहे थे कि महाराज ने अपनी अगली और अन्तिम बात भी रख दी– और देखो! साथ में यह भी है कि 'जो इस विश्व का पतित से पतित जीव समझा जाता है, उससे ऊँचा भी मैं नहीं हूँ'। ज्योंही महाराज की तीसरी बात को उन अभ्यागत वृद्ध सन्त ने सुना तो महाराज के चरण पकड़ लिये। भाव विभोर होकर नृत्य-सा करने लगे। पूछने लगे– महाराज! यह स्थिति आपने कैसे प्राप्त की?

महाराज भी अपना सहज उत्तर प्रस्तुत करते हुए कहने लगे– 'यह तो मुझे भी नहीं पता। बस! यही समझ लीजिए– **मैं तो पकड़ में आ गया**'। आचार्य शङ्कर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेक चूडामणि' में कीट-भृङ्गी का एक दृष्टान्त दिया है। महाराज उसी दृष्टान्त से अपने जीवन की व्याख्या करने लगे कि जैसे एक विशिष्ट भ्रमर किसी कीट को पकड़कर अपने द्वारा पहले से ही निर्मित किये हुए घर में ले जाकर बन्द कर देता है और शनैः-शनैः उसे अपने जैसा ही बना देता है, कीट से पूछें कि आप में यह परिवर्तन कैसे हो गया? तो वह यही कहेगा– मुझे इसका कुछ भी नहीं पता, यह तो

उसी की महिमा है। महाराज ने कहा, बस! मैं भी आपके प्रश्न का यही उत्तर दे सकता हूँ।

वस्तुतः महाराज ने अपनी सहज भाषा में एक गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त को प्रकट कर दिया। सभी जीवगण बाह्य रूप से भिन्न होते हुए भी उसी अन्तर्यामी परम सूत्र में पिरोये हुए हैं, जो पूर्ण चिन्मय है। जिसके बारे में श्रुति ने **'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'** कहा है। उसका सान्निध्य निश्चय ही सबको समान रूप से उपलब्ध है। उसको लक्ष्य कर देखें तो सभी जीव बिना भेद-भाव के अनन्त वैभवशाली हैं। सरलार्थ यह है कि सभी जीवों की स्वाभाविक माँग (NaturalAcceptance) तथा उस माँग को पूरा करने का कार्यक्रम (Program) और उनकी सामर्थ्य (Potential) की दृष्टि से यदि उन का आकलन किया जाए तो सब के सब जीव समान ही तो हैं।

कोई भी मनुष्य मूर्खता में, समस्या में, या अभाव में नहीं जीना चाहता; सभी का भाव (Intention) समझदारी में ही जीने का है, सब समाधान में ही जीना चाहते हैं, मूलतः सब सच्चाई से, विश्वास से या सम्मान व प्रेम के साथ ही जीना चाहते हैं, सब समृद्धिपूर्वक ही जीना चाहते हैं। ऐसे में किसको तो विशेष कहें और किस को अविशेष? अर्थात् मूलतः न कोई किसी से ऊँचा है और न कोई किसी से नीचा। सब प्रतीयमान विविधतायें व्यवहारगत हैं। हुनर (Skill) आदि में तो भेद होता ही है। किन्तु शुद्ध आत्मभाव तथा उन की आन्तरिक माँग व सबके भीतर छिपी हुई सामर्थ्य इत्यादि की दृष्टि से देखने पर सचमुच सब भेद तिरोहित हो जाते हैं। जैसा कि वेद में भी कहा है-

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धाम् अनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।। (यजु० १९.७७)

अवश्य ही शरीर से कोई काला है कोई गोरा, कोई लूला है कोई लँगड़ा, कोई काणा है कोई अन्धा, कोई बहरा है कोई अपङ्ग, कोई लम्बा है कोई बौना, कोई मोटा है कोई पतला, कोई सुरूप है कोई कुरूप। प्राण की दृष्टि से जब देखते हैं तो कोई सबल है कोई निर्बल, कोई भूखा है कोई तृप्त। मन के स्तर पर कोई निर्भय है कोई सभय, कोई धैर्यहीन है कोई धृतिमान्, कोई क्षमाशील है कोई अक्षमावान्, कोई संयमी है कोई असंयमी, कोई रागी है कोई विरागी, कोई अत्यन्त उत्साहवान् है कोई निरुत्साही, कोई प्रमादी है कोई अप्रमादी, कोई सुखी है कोई दुःखी, कोई शान्त है कोई अशान्त, कोई श्रद्धालु है कोई अश्रद्धालु, कोई निर्लज्ज है कोई लज्जावान्।

संस्कारों के आधार रूप चित्त की दृष्टि से भी भिन्नता होती है। वाणी के स्तर पर भी किसी की वाणी मीठी है तो किसी की कड़वी, किसी की स्पष्ट है तो किसी की अस्पष्ट, किसी की भारी है तो किसी की हल्की। बुद्धि के स्तर से विचार किया जाए तो कोई बहुत ही प्रबुद्ध है तो कोई सामान्यबुद्धि कोई निर्बुद्धि, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख, कोई शास्त्रवित् है तो कोई नहीं है। नृत्य-गीत-वादित्र-चित्र-मूर्त्ति-शिल्प आदि कलाओं की दृष्टि से देखने पर भी भिन्नता प्राप्त हो सकती है, होती ही है। हृदय के भावों (Emotions) में भी भेद होता है। एक बहुत ही स्वाग्रही (Self- Centred) होता है तो दूसरा सर्वथा स्वातीत (Selfless)। एक दयालु है तो दूसरा क्रूर।

एक सदा प्रेम व करुणा से भरा रहता है तो दूसरा घृणा से। एक बहुत ही सहृदय है जो किसी को भी किसी रूप में चोट नहीं पहुँचाना चाहता। यहाँ तक कि स्वयं आहत होकर भी दूसरों को आहत नहीं करना चाहता। एक ऐसा है जो सदा दूसरों को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता रहता है, मौका लगते ही चोट मारने से चूकता नहीं। ये जितने भी भेद हैं, विभिन्नतायें या विविधतायें हैं; ये तो हैं ही। इनको न तो कोई मना करता है, न कर सकता है, किन्तु ये सब परिवर्तन किसी अपरिवर्तनीय धरातल पर हो रहे हैं, जो इन सब परिवर्तनों का आधार होते हुए भी, अथवा साक्षी होते हुए भी इनसे सदा निर्लिप्त रहता है, जो सदा ही एक रस बना रहता है। स्वयं अजायमान रहता हुआ भी जिसके सहारे ही बहुधा विजनन हो रहा है, जो इस बहु-भाव का टेक (स्तम्भ) है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। (यजुर्वेदः ३१.१९)

जिसके ऊपर यह सब टिका हुआ है, जो न घटता है, न बढ़ता है, न जन्म लेता है, न मरता है। मनुष्य ही नहीं, कुत्ते-कीट-पतङ्ग में भी जो समान रूप से व्याप्त हुआ-हुआ है। कोई वेदज्ञ ब्राह्मण है या श्वपच चाण्डाल, दोनों में जो **'समं ब्रह्म'** के रूप में अवस्थित रहता है। चेतन सृष्टि में ही नहीं बल्कि सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-पंचमहाभूत, सब में जिसके ऋत नियमों का तन्तु (धागा) पिरोया हुआ है, उसी के प्रकाश रूप चैतन्य से यह विशाल सूर्य सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक क्रियाशील रहता है (**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**)।

ज्ञानी पुरुष उस परम गुप्त मूल को देखते हैं, जो सदा शान्त स्थाणु अविनश्वर है। उनकी दृष्टि इन प्रतीयमान नाम-रूपों पर नहीं जाती जो बुलबुलों की तरह उठ रहे हैं और मिट रहे हैं। ब्रह्म के उस 'सम रूप' का दर्शन पाकर वे भी 'सम' हो जाते हैं। न वे किसी से अपने को हीन समझते हैं और न उच्च। समस्त द्वन्द्वों से पार हो जाते हैं, क्योंकि वे जान लेते हैं, वह 'द्रष्टा पुरुष' या **'समं ब्रह्म'** सदा ही निर्द्वन्द्व है। द्वन्द्वों का क्षेत्र दृश्य है। यह दृश्य ही परिवर्तनशील है, इसी में विविधता है। गुणों की पहुँच दृश्य तक ही है। यद्यपि निर्गुण के सहारे गुण अभिव्यक्ति पाते हैं, पर वह निर्गुण इन गुणों के परिवर्तन में सदा ही निर्विकार साक्षी बना रहता है। वृद्धि-हास इन गुणों में ही है, उसमें नहीं।

ज्ञान की इस उच्चतम अवस्था को प्राप्त व्यक्ति पूर्ण शान्त हो जाता है। वह न किसी को दबायेगा और न किसी से दबेगा। न किसी पर प्रहार करेगा, न किसी से प्रहत होगा। बाह्य नाम-रूप के नाश में अपना नाश और उसकी वृद्धि में अपनी वृद्धि नहीं समझेगा। क्षणिक उपलब्धियों में न वह हँसेगा, न उनकी अप्राप्ति में रोयेगा। न वह तथाकथित खुशियों में उछलेगा, न गमियों में निराश होगा। न वह किसी से अपने को विशेष समझेगा, न अविशेष। न ही किसी की अपेक्षा अपने को उच्च ज्ञानी के रूप में देखेगा, न अज्ञानी के रूप में। सदा ही वह भरा-पूरा रहेगा, जिसमें न तो ऊपर से कुछ और भरा जा सकता है, न कम किया जा सकता है। वह हर तरफ से अपनी निरपेक्ष व निर्विशेष पूर्णता (Absolute Uniqueness) को देखता रहेगा, क्योंकि वह पूर्ण है। इसलिए न उसमें किसी भी बात से हर्ष होगा, न शोक।

आगन्तुक वृद्ध सन्त जी, महाराज के द्वारा की गयी 'समं ब्रह्म' की व्याख्या से बहुत प्रसन्न हुए। एक नवीन दृष्टि लेकर आश्रम से प्रस्थान किया। आओ, हम भी इस दिखाई दे रहे चञ्चल नाम-रूप के पीछे, न दिखाई देने वाली स्थिर सत्ता को पहचान कर सदा-सदा के लिए स्थिर हो जाएँ। उस अमृत में ठहर जाएँ, उस प्रकाश से प्रकाशमय हो जाएँ। इसी में जीवन की कृतार्थता है। हम अपनी स्वाभाविक माँग 'सच्चिदानन्द बनकर जीना' को पहचानें। कभी भी न बदलने वाले अपने सत् स्वरूप को लक्ष्य कर जो प्राचीन काल से मनुष्य की अभीप्सा चली आ रही है– **'असतो मा सद् गमय'** उस पर ध्यान दें।

इसी प्रकार एक क्षण के लिए भी अज्ञान में न जीने के लिए या दूसरे शब्दों में सदा समाधान में जीने के लिए दूसरे प्रार्थना-वचन को अपनी दृष्टि से ओझल न होने दें– **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**। तथा इसी शृंखला में दुःख-दर्द-कष्ट-पीड़ा-अभाव से मुक्त रहने के लिए अपनी आन्तरिक माँग **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** को कभी भी न भुलायें। इस उपर्युक्त स्थिति को पाने के लिए हम सभी मनुष्य स्वाधीन हैं, सभी सामर्थ्यवान् हैं– यह बात अलग है कि एक तो एक ही जन्म में पूरा कर लेगा, दूसरे को एक हजार जन्म लेने पड़ेंगे। किन्तु अपनी वास्तविक माँग (Aspiration) को जिसने भी पहचान लिया, उसके लिए उसकी पूर्ति सुनिश्चित है। कोई भी शक्ति उसे नहीं रोक सकती। इस अन्यतम उपलब्धि हेतु हम सब पूर्ण रूप से समान हैं, बाकी सब चीजें गौण हैं या साधनमात्र हैं।

*****

- ☞ यम-नियम के पालन की तो कौन कहे, मुझे तो इनके उल्लंघन का भी ज्ञान नहीं।
- ☞ शिक्षा=विनय= गुणों का प्रवेश द्वार। एक आविर्भाव निर्मल अभिव्यक्ति।
- ☞ जीवन में सबसे मूल्यवान् वस्तु है– आत्मजागरण। या तो सब कुछ शुभ है या शुभ की तैयारी।
- ☞ यदि कोई मनुष्य आलसी है तो समझ लो कि कहीं पर उसके कारण कोई घोर परिश्रमी अपने प्राण दे रहा होगा।
- ☞ भगवान् अनन्त है तो अहंराज भी मायावी है। भगवान् आनन्दधाम है तो वृत्रराज भी तमोघन है।
- ☞ भगवान् को अपने व्यक्तित्व द्वारा कार्य करने दो।
- ☞ सौम्य से सौम्यतर-सौम्यतम की ओर; आकार से प्रकार की ओर; सीमित से असीम की ओर; स्थूल से सूक्ष्म की ओर.....!
- ☞ जिस प्रकार आत्मा की मुक्त अवस्था 'ज्ञान दशा' कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की उस मुक्तावस्था का वर्णन करने वाली वाणी 'काव्य' कहलाती है।
- ☞ अहं भाव से मुक्त होने के लिए मृत्यु आवश्यक है, यही एक मार्ग है।

५१. जगत् का रङ्गमञ्च

श्री महाराज रूपक की शैली में जगत् और जीवन की व्याख्या इस प्रकार किया करते हैं– यह विश्व एक रङ्गमञ्च है। भगवान् इसका सूत्रधार है। हम सब प्राणिगण अभिनेता हैं। सब अपना-अपना अभिनय करने में लगे हुए हैं। यह भेद या विविधता रङ्गमञ्च तक ही है– एक राजा है, दूसरा सेवक है, तीसरा सेनापति है, चौथा कृषक है, पाँचवाँ अध्यापक है, इत्यादि। रङ्गमञ्च से नीचे उतरते ही सब समान हैं– न राजा राजा रहता है, न सेवक सेवक। लेकिन अभिनय-काल में जो पूर्ण सच्चाई व तन्मयतापूर्वक अपना पार्ट अदा करता है, वह सूत्रधार का भी और दर्शकों का भी प्रिय हो जाता है। एक बात यह भी है, यहाँ सब अभिनेताओं को अपने एक मुख्य अभिनय के साथ बीच-बीच में अन्य अभिनय भी करने होते हैं। उस एक मुख्य अभिनय के ही वे कई सारे हिस्से कहे जा सकते हैं। अर्थात् उन सब अवान्तर अभिनयों को मिलाकर ही एक पूर्ण अभिनय निष्पन्न होता है।

अभिनय प्रायः करके व्यक्तियों की अपनी-अपनी रुचियों व इच्छाओं या परिस्थितियों के आधार पर उनके द्वारा चुने गये होते हैं। कभी-कभी सूत्रधार भी किसी को कोई विशेष अभिनय सौंप देता है। वह तब होता है जब अभिनेता भगवान् को चुनकर उसी से अपने लिए किसी अभिनय विशेष की माँग करता है। इस प्रसङ्ग में श्री महाराज का विशेष निर्देश है– अपने जीवन के सूत्रधार की आज्ञानुसार विश्व के रंगमंच पर कुछ नियत समय, नियत सेवा-कार्यों के अभिनय के पूर्व उस पावन अभिनय की पात्रता के लिए हो सकता है हमें भयंकर परीक्षाओं और रोमाञ्चकारी शल्य-क्रियाओं में से गुजरना पड़े, क्योंकि योग मात्र अपने जीवन के सूत्रधार के हाथों एक चुनाव है। उस शिल्पी की भाँति जो असंख्य पत्थरों में से कोई एक पत्थर चुनता है और यह चुनाव एक बहुत बड़ा सौभाग्य है, परन्तु इस सौभाग्य का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अब कड़ाई की चोटें नहीं पड़ेंगी, बल्कि अवश्य पड़ेंगी क्योंकि सर्वज्ञ शिल्पी की सर्वज्ञता में हमारा जो रूप जिस अभिनय के लिए नियत है उसकी पावन अभिव्यक्ति और आविर्भाव होने तक चोटों का पड़ना एक महान् सौभाग्य है, भाग्य निर्माण है, जीवन की मूल्यता है। अतः हम उस विधाता के अनन्त उपकारों से उपकृत और कृतज्ञ हैं।

जो भी हो, भगवान् ने ही हमें कोई कार्य, कोई अभिनय सौंप दिया या हमने अपनी इच्छा से कोई काम चुन लिया। अब देखना यह है कि हम कितने प्रेम के साथ उसे निभाते हैं, क्योंकि यह प्रेम ही है जो अभिनय में अनन्त गुणवत्ता उत्पन्न कर देता है। प्रेम के अभाव में किया गया कोई भी अभिनय स्वयं को भी और दर्शकों को भी थका देने वाला हो जाता है। संसार में घूमकर यदि परीक्षण किया जाए और अपने-अपने अभिनय में लगे हुए लोगों से पूछा जाए कि क्या आप अपने द्वारा किये जा रहे अभिनय से सन्तुष्ट हैं? यदि वे अपनी आन्तरिक सच्चाई को प्रकट कर सकें तो लाखों में से किसी एक-दो का उत्तर ही सकारात्मक होगा। अन्यथा सब के सब मुर्झाये हुए चेहरों से यही एक बात कहते मिलेंगे– अजी! कहाँ सन्तुष्ट? बस! अपना समय पूरा कर रहे हैं।

बात स्पष्ट है– उन लोगों का अपने अभिनय के साथ प्रेम नहीं है। प्रेम तो ऐसा अद्‌भुत तत्त्व है, जो कठिनाइयों को सुयोग में, थकान को स्फूर्ति में, निराशा को आशा में, अधैर्य को धैर्य में, व्याकुलता को आनन्द में बदल देता है। व्यक्ति को उत्साह से भर देता है। प्रेम होने पर प्रयास के स्थान में सहजता आ जाती है। ऊब नाम की कोई चीज नहीं रह जाती। हर स्थिति में वह प्रसन्न रहता है। यह सब-की-सब थकावट कभी भी कार्य की अधिकता के कारण नहीं होती, बल्कि प्रेम की कमी के कारण होती है। जो काम कर रहे होते हैं, उसे ही अपने लिए प्रतिकूल बताते रहते हैं। **'तत्कारी तद्‌द्वेषी'** के रूप में जब जीवन बीतता है, तो जीवन का समस्त सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। जीवन एकदम से मुर्दा हो जाता है। यही वह मूल चीज है, जिसमें बाह्य सफलताओं के बीच जीवन की असफलता छिपी रहती है।

जो लोग यह इच्छा रखते हैं कि हम अच्छे अभिनेता बनें उन्हें निश्चित ही अपने अभिनय के साथ अनन्य प्रेम, जिसको मोटी भाषा में लगाव कह देते हैं, पैदा करना होगा। यदि वे अध्यापक हैं तो अपने काम में ऐसा रस लें कि उसके समक्ष सब रस फीके पड़ जाएँ। कृषक, गोपालक, कोई उच्च पदाधिकारी, सेवक, राजनेता, व्यापारी, सैनिक, साधु, उपदेशक, गायक, योगी, मौनी, जो भी जहाँ जिस रूप में हैं वे अपने-अपने काम को प्रेम के साथ करें तो उसी काम में उन्हें अपूर्व रस प्राप्त होने लगेगा। यह नियम है– रस आगे भी रस को जन्म देता है, तो क्लान्ति क्लान्ति को। वही चीज जो पहले थोड़ी मात्रा में होती है, आगे-आगे बढ़ती चली जाती है। कोई व्यक्ति किसी विषय में कितना भी योग्य हो, उस विषय की पूरी सामर्थ्य रखता हो, पर यदि रुचि के साथ उस काम को नहीं कर रहा, तो न तो काम ही ठीक से हो पायेगा और न ही उसके द्वारा उसे प्रसन्नता प्राप्त हो सकेगी। सो अभिनय को सुन्दर से सुन्दरतम बनाने के लिए उस अभिनय के साथ प्रेम का होना अत्यन्त आवश्यक है।

श्री महाराज कहते हैं, तुम्हें अपना पार्ट ऐसा अदा करना चाहिए कि सब-के-सब दर्शक कह उठें कि पिता हो तो ऐसा हो, माता हो तो ऐसी हो, पत्नी हो तो ऐसी हो, साधु हो तो ऐसा हो, अध्यापक हो तो ऐसा हो, मित्र हो तो ऐसा हो, राजा हो तो ऐसा हो, झाड़ू लगाने वाला हो तो ऐसा हो, सेवक हो तो ऐसा हो, इस सूची को कितना भी आगे तक बढ़ाकर समझा जा सकता है। श्री महाराज का कहना है– अभिनय में बड़े-छोटे की बात नहीं होती– एक राजा है दूसरा सेवक। सेवक अपने अभिनय को राजा से भी कहीं बेहतर करके उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है। ऐसा होता भी है– एक नाटक में २० व्यक्ति अपना-अपना पार्ट अदा कर रहे थे, उन सबमें एक लुहार ने सबसे अच्छा अभिनय करके प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया। वेद का विद्वान्, राजा, कवि, चित्रकार, नर्तक, गायक सब उसके अभिनय के समक्ष फीके पड़ गये।

राजपूताना में हुई पन्ना नाम की धाय ने ऐसा अभिनय किया कि सदा-सदा के लिए अमर हो गयी– अब सदा सबके मुख से एक ही बात निकलती रहेगी– धाय हो तो ऐसी हो। महाराणा प्रताप और शिवा ने अपने समय में एक राजा का जो पार्ट अदा किया उसे देखकर रोमाञ्च हो जाता है। रामायण काल में राम ने जो कुछ किया वह आगे आने वालों के लिए बहुत ही प्रचुर सारगर्भित अर्थ को अपने अन्दर समेटे हुए एक बिम्ब ही बन गया– 'रामराज'। हिन्दु परम्परा में अहिल्या, सीता,

मन्दोदरी, द्रौपदी और तारा ने सतीत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया उसके अनुसार इन्हें 'महापतिव्रता' उपाधि से सुभूषित तो किया ही गया, साथ में 'पञ्चकन्या' इस उच्च अर्थगर्भित विशेषण से भी विशेषित किया गया। दयानन्द, रामकृष्ण, भीष्म, शंकर ने जो ब्रह्मचारी का पार्ट अदा किया, सदा-सदा के लिए एक मिसाल बन गया। शुकदेव ने वैराग्य का अपने जीवन के द्वारा जो रूप प्रस्तुत किया, वह देखते ही बनता है। इस प्रकार खोज की जाए तो अपने-अपने विषय में एक नहीं, अनेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे, जिनको देखकर बरबस दर्शकों के मुँह से उनके विषय में प्रशंसा भरे शब्द निकल पड़ते हैं।

एक अच्छा अभिनेता बनने के लिए और भी कुछ बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। वह कभी भी अपने साथियों से ईर्ष्या-घृणा-द्वेष न रखे। दूसरे लोग उसकी निन्दा करें या प्रशंसा करें, इसकी तनिक भी परवाह न करके अपनी ऊर्जा, अपने प्रेम व लगाव को और अधिक अपने अभिनय के साथ जोड़े। अपने को न किसी से हीन समझे न उच्च। शान्त भाव से अपने काम में लगा रहे। अपने काम की दूसरों के साथ तुलना न करते हुए अर्थात् दूसरों से अपने को सर्वथा निरपेक्ष रखते हुए ही अपने काम का सम्पादन करता रहे। दूसरे लोग उसके अभिनय का जो भी मूल्यांकन करें, उससे विचलित न हो। धीर-गम्भीर रहते हुए अपने ही द्वारा अपने में तृप्त रहे। स्वयं के सन्तोष को ही अभिनय की चरम उपलब्धि समझे। किसी को भी अपने अभिनय के द्वारा नीचा दिखाने का भाव अपने मन में न लाए।

मान और अपमान में, लाभ और हानि में, अनुकूलता व प्रतिकूलता में, बराबर अपनी समता बनाए रखे। जो भी कुछ करे मनःशान्ति को अपने सामने रखे। शीलवान् बनकर रहे। लोगों के द्वारा पुरस्कार दिये जाने पर उछलने, व निन्दा के समय उलझने न लग जाए। व्यक्ति के द्वारा अच्छा अभिनय इसीलिए नहीं हो पाता क्योंकि वह या तो दूसरों की देखा-देखी या परिस्थितियों के दबाव में आकर किसी भी काम का चुनाव कर बैठता है। जन्म-जन्मान्तर से संस्कारों का जो गेड़ (प्रवाह) चला आ रहा है, जिसे व्यक्ति की प्रकृति कहा जाता है, उसके अनुसार यदि अभिनय करने को मिलता है या अभिनय का चुनाव हो जाता है, तब तो स्पष्ट ही सब कुछ ठीक चलता है। अन्यथा आन्तरिक माँग और बाह्य कर्म-पद्धति में विरोध होने से व्यक्ति सन्तुलन खो बैठता है।

यद्यपि कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिन्हें परिस्थितिवश कोई काम करना पड़ा, पर बाद में उन्होंने अपने आप को उसके लिए तैयार कर लिया और वे एक सफलतम अभिनेता बन गये। जैसे, भीष्म के द्वारा ब्रह्मचर्य परिस्थितिवश ही धारण किया गया था, लेकिन तुरन्त उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर, उस विषय की ऊँचाइयों व गहराइयों को पाने के लिए अपने आपको उसके लिए झोंक दिया। मूल बात वहीं आकर टिक जाती है कि अभिनय के साथ प्रेम का विद्यमान होना ही वह तत्त्व है जो उसे अद्भुत बना देता है। 'करना पड़ रहा है' के भाव से अभिनय कभी सुन्दर नहीं हो सकता। मन की पूर्ण तरङ्गित अवस्था में ही कोई अच्छा अभिनय कर सकता है। आओ! अपने-अपने अभिनय को सुन्दर से सुन्दरतम बनाते हुए सूत्रधार व दर्शकों, दोनों को ही मुग्ध कर दें। इसी में हमारे स्पृहणीय जीवन की कृतार्थता छिपी हुई है। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।** (गीता १८.४६)

५२. बुद्धिकी साधना

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषं स्वाहा।। (यजु० ३२.१३)
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।। (यजु० ३२.१४)
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः। मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा।। (यजु० ३२.१५)

महाराज दो सन्तों का एक वार्त्तालाप सुनाया करते हैं। एक सन्त दूसरे सन्त से पूछ रहा है- जीवन के लिए सबसे आवश्यक चीज क्या है? दूसरा सन्त उत्तर देता है– 'शुद्ध बुद्धि'; वह बुद्धि जो सत्य-असत्य को, आत्मा-अनात्मा को, ज्ञान-अज्ञान को, धर्म-अधर्म को, कार्य-अकार्य को, एक शब्द में कहें तो शास्त्रों के निहितार्थ को सीधे देखती है। जिसे एक क्षण के लिए भी महादुःखदायी सांसारिक विषयों में सुख की भ्रान्ति नहीं होती। जिसको एक दम साफ-साफ जो वास्तविक सुख है वह सुख तथा जो दुःख है वह सदा दुःख दिखाई देता है। इन दोनों में परस्पर जिसे कभी विपर्यास नहीं होता।

काम-क्रोध-लोभ-मद-मोह-ईर्ष्या-द्वेषादि स्वाग्रही (Self-asserting) भावों से प्राप्त होने वाली वेदना या तपन से जो बुद्धि पूर्ण परिचित होती है– इसलिए जो सदा ही प्रेम-करुणा-सहानुभूति-दया-दानादि स्वातीत (Self-Transcendental) भावों को ही महत्त्व देती है। जो संयोग-वियोग, उत्थान-पतन, जीवन-मरण, सुख-दुःख को एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह देखती है। अतः दोनों ही अवस्थाओं में अपनी समता को नहीं खोती। जो आलस्य का त्याग कर सदा पुरुषार्थ को महत्त्व देती हुई अपने सहज प्राप्त कर्त्तव्यों का कभी त्याग नहीं करती। भगवान् के द्वारा दुःखी प्राणियों के रूप में दी गयी सेवा को एक अवसर समझकर अपनी ऊर्जा उनके लिए लगाने में जिसे किञ्चित् भी संकोच नहीं होता। जब कभी एक तरफ भगवान् और दूसरी तरफ अति उत्कृष्ट लौकिक सुख में से किसी एक के चुनाव करने का प्रसङ्ग उपस्थित हो तो जिसे कभी भी मोह नहीं व्यापता।

संसार के समस्त पदार्थों व व्यक्तियों के प्रति निष्पक्ष प्रेम होने के कारण जिसे वियोगजन्य क्लेश से कभी भी परितप्त नहीं होना पड़ता। मनुष्य को झकझोर डालने वाली ये इन्द्रियाँ बिना किसी प्रकार के संघर्ष के ही जिसकी उसी प्रकार सदा अनुगामिनी बनी रहती हैं जैसे रानी मक्खी की अन्य सब मधुमक्खियाँ। काम रूपी प्रचण्ड हाथी भी जिसके समक्ष वैसे ही सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है जैसे बिल्ली के सामने कबूतर। क्रोध का दुर्दमनीय वेग भी जिसके सामने ऐसे शान्त हो जाता है जैसे किसी प्रभावशाली अध्यापक को देखते ही उद्दण्डता करते हुए छात्र। सब पापों का मूल अर्थात् लोभ, जो सबको एक तरफ से निगलता चला जाता है, इसका दर्शन करते ही चरणों में उसी प्रकार लोट-पोट होने लगता है जैसे कोई स्वामीभक्त कुत्ता।

यह महाशक्ति-रूपिणी देवी मोह की आयसी जंजीरों को यों ही बात की बात में चट से तोड़ देती है, जैसे कोई छोटी बालिका खेल-खेल में कच्चे धागों को। यह अहङ्कार रूपी शेर, जिसकी दहाड़ सुनते ही इस समस्त जगत् रूपी वन में सन्नाटा छा जाता है, इस दुर्गा रूपिणी देवी के चरण

चूमने लगता है और उसे अपने ऊपर ही बिठा लेता है। जिसके आँखें खोलते ही ईर्ष्या-द्वेषादि भाव उसी प्रकार तिरोहित हो जाते हैं जैसे सूर्योदय के समय तारागण। कहाँ तक उसकी महिमा गायी जाए– जो एक ही साथ महाकाली, महालक्ष्मी, महेश्वरी व महासरस्वती है और फिर भी इनसे अधिक है। जो अपने प्रिय पुत्रों के लिए शान्तरूपधारिणी महालक्ष्मी महेश्वरी या महासरस्वती है तो पुत्रों को कष्ट पहुँचाने वाले शत्रुगणों के लिए अति प्रचण्ड रौद्ररूपधारिणी महाकाली भी है। सो इस प्रकार सन्त के द्वारा किये गये प्रथम प्रश्न का उत्तर इस रूप में दिया गया कि जीवन की सबसे महतो महीयान् कोई चीज है तो वह है 'शुद्ध-बुद्धि'।

सन्त दूसरा प्रश्न करता है– किसी को आप द्वारा वर्णित इस शुद्ध-बुद्धि का सम्पर्क प्राप्त न हो तो क्या करे? सन्त उत्तर देता है– जिसके पास शुद्ध बुद्धि है, उनके सान्निध्य में रहे। इस उपाय से भी निश्चित रूप से कल्याण हो जायेगा। संसार में बहुत-से ऐसे करुणामय महापुरुष होते हैं जिनके सतत सम्पर्क में रहने से, जिनकी वाणी व दृष्टि की अपरिमित शक्ति से, जिनके अन्दर से उमड़ते हुए करुणा व प्रेम के सागर से, जिनके अनन्त तपोबल से, जिनके धीर-गम्भीर स्वभाव से, जिनके प्रवृद्ध ओज व तेज से, जिनके शील-सन्तोष समन्वित जीवन से, जिनकी अप्रतिहत आन्तरिक शक्ति से, जिनके अपरिमित उत्साह से, जिनकी शान्त प्रेममय मुद्रा से, जिनकी विषयों के अथाह सागर से उठती हुई लहरों के प्रति निरपेक्ष उदासीनता से, जिनके सूर्य-सम देदीप्यमान ज्ञानालोक से प्रकाश पाकर अज्ञान-अन्धकार में भटकते हुए दीन-हीन अनाथ-निर्बल असहाय जीवगणों का भी उद्धार हो जाता है। अतः किसी के पास शुद्ध बुद्धि नहीं है तो ऐसे शुद्ध बुद्धि युक्त महान् आत्माओं के चरणों में डेरा डाल दे, उनसे एक क्षण के लिए भी अलग न हो। सदा अन्तर्मन से उनके साथ जुड़ा रहे।

सन्त अब तीसरा प्रश्न करता है– यह भी किसी को उपलब्ध न हो तो क्या करे? क्या ऐसे व्यक्ति के भी कल्याण का कोई अवसर (Chance) शेष है? सन्त उसके इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि हाँ! अवश्य वह भी अपना कल्याण कर सकता है। वह एकान्त में मौन साधना में लीन हो जाए। वाणी के द्वारा जो शक्तियाँ निरन्तर बिखरती रहती हैं, मौन के कारण उनका बिखरना बन्द हो जायेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति इस समय बहिर्मुखी जीवन जी रहा है, जो जीवन रूपी वृत्त की परिधि पर खड़ा है, उसे अपने मूल केन्द्र में जाने का मौका मिलेगा। **मनुष्य का वास्तविक स्वरूप वह नहीं है जो प्रकटतः दिखाई दे रहा है– बल्कि वह है जो कि बाह्य रूप के द्वारा छिपा हुआ है। जो दिखाई दे रहा है वह तो उतना मात्र ही है जैसे अनन्त सागर में से उठती हुई दिखाई देने वाली कुछ लहरें।** पर अज्ञानतावश व्यक्ति उन कुछ लहरों को ही अपना समग्र रूप मान लेता है और वह रूप तो प्रायः ही डरावना होता है।

जैसे कि सागर की गहराई में छिपी हुई शान्ति का किसी को परिचय न हो और ऊँची-ऊँची उठती लहरों को ही सागर का सम्पूर्ण रूप मान ले तो उस व्यक्ति की सागर के विषय में यही अवधारणा बनेगी कि सागर और शान्ति का कोई तालमेल नहीं होता। सागर मायने विक्षुब्धता,

चञ्चलता इत्यादि। बस मनुष्य के साथ भी यही सब होता रहता है। मनुष्य की जब अपने सतही रूप पर नजर पड़ती है तो वह इस भयावह दृश्य को देखकर और अधिक भयभीत हो जाता है। चित्त में उठने वाली लहरें उसे दिखाई देती हैं किन्तु लहरों को रोके तो कैसे रोके? कोई उपाय नहीं सूझता। वे लहरें इसे कभी इधर से उधर पटक देती हैं तो कभी उधर से इधर। इन लहरों की टक्कर में बेसहाय हुआ मानव रोता है, चिल्लाता है, बिलखता है, पर अरण्यरोदनवत् सब व्यर्थ प्रतीत होता है। ऐसी उलझन में फँसे व्यक्ति के लिए ही यह तीसरा उपाय बताया जा रहा है कि वह एकान्त में जाकर, मौन होकर अपने अन्दर गोता लगाने की कला शनैः शनैः खोजे।

जब मनुष्य बाहर से अन्दर की तरफ मुड़ता है और अकस्मात् उसे यह झाँकी मिलती है कि अब तक जिसे तू अपना स्वरूप समझे बैठा था वह तो उसके सामने कुछ भी नहीं, जो छिपा पड़ा है। जैसे कोई एक लाख फिट लम्बा पोल धरती में गड़ा हो और धरती से ऊपर दिखाई देने वाला भाग केवल पाँच फिट हो, वैसी ही बात हमारे अस्तित्व के विषय में भी है। अपने मूल केन्द्र की तरफ जैसे-जैसे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे लहरें कम होती जाती हैं और हम एक न एक दिन निश्चयवान् हो जाते हैं कि यह है वस्तु-स्थिति। मौन साधना के द्वारा ही व्यक्ति परिधि से केन्द्र की ओर गमन का उपाय सीखता है और इसी में छिपा हुआ रहता है व्यक्ति की समस्याओं का समाधान। सो इस प्रकार जिज्ञासु सन्त के तीसरे प्रश्न का उत्तर था कि शुद्ध बुद्धि वाले लोगों के बीच रहने के लिए भी सौभाग्य नहीं मिल पा रहा है तो मौन में चले जाओ।

पर जिज्ञासु सन्त फिर अगला प्रश्न कर बैठता है कि कोई यह भी न कर सके तो? क्योंकि आपने जो यह उपाय बताया, यह तो पहले वाले उपाय से भी कठिन लगता है। वस्तुतः जीवन की समस्याओं का समाधान शुद्ध बुद्धि में ही छिपा हुआ है। दूसरे और तीसरे उपाय के द्वारा शनैः शनैः उस शुद्ध बुद्धि तक ही पहुँचना होता है। पर मौन साधना तो अतीव दुष्कर कार्य है। सामान्य अवस्था में अर्थात् समूह में तो जैसे-तैसे पलायन (Escape) के द्वारा ही समय गुजरता रहता है। कभी किसी काम में लग गये, कभी किसी के साथ हँस लिये, कभी बोल लिये, कभी किसी से मिल लिये, पर एकान्त में मौन होने पर तो पलायन का रास्ता भी बन्द हो जाता है। इसलिए वहाँ तो और भी ज्यादा तनाव बढ़ जाता है। ऐसा लगता है, कहीं पागल न हो जाएँ।

सन्त गुरु उत्तर देता है– इस संघर्ष में से तो गुजरना ही होगा। जिस-जिस वस्तु, व्यक्ति या विचार के साथ तादात्म्य (Identification) कर लिया गया है, आप एकान्त में भागकर जायेंगे तो वे चीजें और भी अधिक बल के साथ आपका पीछा करेंगी। पर विश्वास रखें, अधिक दूर तक वे सब आपका पीछा नहीं कर सकेंगी। उनको वापस लौटना ही पड़ेगा। अतः धैर्यपूर्वक बिना घबराए आपको अपना रास्ता तय करना चाहिए और यदि ऐसा नहीं कर सकते तो लो यह अगला उपाय बतला देता हूँ कि क्या करना चाहिए। अब तो जिज्ञासु सन्त को कुछ आशा की किरण नजर आयी। सन्त गुरु ने कहा– ऐसा करो एक कब्र खुदवा लो और बाजार से कफन का एक वस्त्र खरीद लाओ–

बस फिर जो भी मर्जी आये करते रहो, फिर न तो शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है, न ही शुद्ध बुद्धि वाले महान् आत्माओं के साथ रहने की और न मौन होने की।

महाराज के इस उपदेश से साधकों को एक अच्छी दिशा मिलती है कि उन्हें अपने रास्ते पर किस प्रकार चलना चाहिए, किन चीजों को महत्त्व देना चाहिए और किन्हें महत्त्व नहीं देना चाहिए। अन्त में यह भी बताया कि जो अपने संकल्पित पथ पर उचित रीति से नहीं चलेंगे, उसका क्या परिणाम होगा और क्या वे उस विनाशकारी परिणाम को स्वीकार करना चाहेंगे? यदि नहीं, तो एक ही बात शेष रह जाती है– पथ चाहे ठसाठस बाधाओं से भरा हो तो भी उपाय का कभी त्याग नहीं करेंगे। पथ को बाधा-संकुल देखकर छोड़ने के बजाए और भी अधिक शक्ति जुटायेंगे तथा जय-पराजय की चिन्ता न कर अपने अङ्गीकृत पथ पर चलते ही रहेंगे।

*****

- ☞ सबको प्यार देकर ही भगवान् को पाया जा सकता है।
- ☞ जैसे स्वप्न के आकार-प्रकार, भेद-प्रभेद मन में हैं, वैसे ही ये जाग्रत् में हैं!
- ☞ अन्दर के सत्य की खोज करो और उसके सहज प्रकाश में चलो।
- ☞ ज्ञाता को जान लो, ज्ञेय इसी में लय हो जायेगा! सहज समझ से काम लेना ही वृद्धत्व है!
- ☞ जो मेरे गुणों को नहीं मिटा सकता, वह जीवन भी नहीं मिटा सकता।
- ☞ शान्त मन में परमात्मा प्रकट है। मन आत्मा की गतिशील शक्ति है। मन रसात्मक एवं बलात्मक तत्त्व है।
- ☞ तत्त्वमसि सौम्य! जब किसी पावन प्रतीक के देखते ही निःशेष रूप से हमारा व्यक्तित्व रस से भर जाता है तो यह स्वयं सिद्ध है कि हम स्वयं वही हैं। विश्व का सबसे बड़ा प्रश्न 'मैं कौन'!
- ☞ शून्य अपरिमेय, गम्भीर, अक्षय और अनन्त है। दृष्टि-सृष्टि : जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।
- ☞ विवेक का अनादर और बल का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए।
- ☞ संस्कारी जीव सत्त्व में उतरते हैं और हृदय तक उनकी विहार-भूमि है। यहाँ से उन्हें फिर परावाक् अपने में ले लेनी है!
- ☞ पके मीठे रसीले फल से किसी वृक्ष का पता लगाना चाहिए कि यह वृक्ष कैसा है।
- ☞ वेदों में विश्व के प्रत्येक अवयवी को देवता कहा है।
- ☞ यह विश्व एक अमर काव्य है। **सत्यं शिवं सुन्दरम्** है! शिशु माँ का जागरण है!
- ☞ बुद्धि ने अपनी थकावट के समय ही अन्धकार, दुःख, संकट आदि की संज्ञा गढ़ी है।
- ☞ धन से नैतिक गुणों का मूल्य अधिक है।
- ☞ अपने लक्ष्य को बारम्बार स्पर्श करना अभ्यास है। स्फुरणा सदा गायेगी, वर्णन नहीं करेगी।
- ☞ संकल्पजीवी-सनकादिक ऋषि, जैसे ढाई वर्ष के बच्चे अपना खेल खेल रहे हैं।
- ☞ परमात्मा चिन्मात्र और चिन्मात्र साक्षी होता है, परिणामी नहीं।

५३. नमोऽकिञ्चनवित्ताय

श्री महाराज भगवान् को 'अकिञ्चन का वित्त' कहा करते हैं। व्यक्ति के मन की जब ऐसी भावदशा होती है कि 'अब मेरा कोई नहीं'। जब संसार के सभी छोटे-बड़े सहारे छूट जाते हैं। धन, परिवार, सगे-सम्बन्धी, मित्र, समाज इनमें से कोई एक भी जब सहायक नहीं रहता, यहाँ तक कि उसका अपना मानस-बल या विचार-शक्ति भी साथ छोड़ देती है, उस अशरण दीनातिदीन अवस्था में व्यक्ति के अन्दर एक ऐसे प्रकाश या विश्वास की रेखा कौंध जाती है कि ऐसा लगता है— मानो किसी अज्ञात स्रोत से अनन्त ज्ञान व बल का एक अटूट झरना बह चला हो। 'गजेन्द्र मोक्षन्याय' इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

महाराज का कहना है— मन की यह अकिञ्चन अवस्था किसी की सदा सर्वदा बनी रहे, तो उस व्यक्ति को साधना के नाम पर कुछ भी करने की आवश्यता नहीं, सब कुछ भगवान् अपने हाथ में ले लेते हैं। इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए कि ऐसी क्या बात है जो भगवान् अकिञ्चन के धन, अशरण के शरण, बेसहारों का सहारा बनना स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि उस दशा में व्यक्ति पूर्ण रूप से अपने ही मूल स्रोत से जुड़ जाता है। जड़ता से सर्वथा मुक्त होकर चिन्मय अवस्था में पहुँच जाता है। सामान्यतः व्यक्ति जिन मन, बुद्धि, बल, प्राण, शरीर, समझ, होशियारी, कार्यकुशलता, धन, सम्पत्ति, मित्रगण आदि के द्वारा अपने दैनन्दिन व्यवहार चलाता है, उनके साथ जुड़े रहने से उस परम तत्त्व से सम्बन्ध नहीं हो पाता और जब मन की अकिञ्चन वृत्ति होती है तो व्यक्ति का अपने से बड़ी शक्ति के प्रति सहज समर्पण सिद्ध हो जाता है।

अहं उस चेतना के महासागर में सहज रूप से विलीन हो जाता है। यह अहं ही तो है, जो अपनी लुढ़कती-पुढ़कती समझ से किसी उच्चतर शक्ति के प्रति उद्घटित होने में बाधा डालता रहता है। अथवा उसके प्रति विश्वास करने में अवरोध पैदा करता रहता है। यों सामान्य रूप से 'अहम्' का विसर्जन एकबारगी नहीं होता, साधना के द्वारा थोड़ा-थोड़ा विकास होता है। पर किसी तीव्र आघात से जब मनुष्य के सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि अब तो तेरा कोई नहीं रहा, सब तरफ से मारा गया, व्यापार एक दम से ठप्प हो गया या पूरे समाज में अप्रतिष्ठा हो गयी, सहयोग की तो बात बहुत दूर, यह संसार तो मेरे अस्तित्व को ही मिटाने पर तुला है। जिन को भी कभी तूने अपना समझा था, वे सब एक तरफ हो गये। किसी ने उदासीनता धारण कर ली तो कोई घोर शत्रु हो गया; कोई निन्दक तो कोई द्वेषी।

इस सब दृश्य को देखकर, इस भयंकर विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर व्यक्ति या तो जीवन से भागकर आत्महत्या कर लेना पसन्द करता है या फिर अपने आपको भगवान् के चरणों में भेंट चढ़ा देता है कि हे मेरी सत्ता के स्वामिन्! मेरी रक्षा करो! मुझे संभालो! उसके हृदय से प्रार्थनाओं

का स्रोत फूट पड़ता है– 'हे दीनदयाल! हे कृपालो! हे करुणा के सागर! हे करुणानिधान! हे दुःखियों के रक्षक! हे दीनबन्धो! हे करुणामय! हे प्रेममय! हे दयामय! हे ज्ञानमय! हे मेरे हृदयसम्राट! हे सुहृद्! हे दीनानाथ! हे शक्तिपुञ्ज! हे पतितोद्धारक! हे पतितपावन! हे भ्रम-विनाशक! हे निर्बल के बलराम! हे सुसिद्धिदायक! हे पालक! हे धारक! हे परम मित्र! हे अशरणशरण! मैं तेरी शरण में हूँ। मैंने तुझसे दूर हटकर बहुत कष्ट उठाया। अब सदा-सदा के लिए तेरा आसरा पकड़ लिया है। मुझे मारो या छोड़ो! अब मैं केवल आपका, बस आपका ही हूँ, आपका ही बनकर रहूँगा।

आपसे दूर रहने की जो मैंने धृष्टता की, वह सब क्षमा करो। आपके अपरिमित बल को अपना रक्षक न समझकर मैंने जिनको अपना भाग्य विधाता माना, वह मेरा सब का सब भ्रम तेज हवा के झोंकों से बादलों की भाँति छिन्न-भिन्न हो गया है। अब मैं देख रहा हूँ कि आपके तेज की ज्योति मेरे मन-मन्दिर में सतत प्रज्वलित हो रही है। अब मैं आपके प्रेम व करुणा की धाराओं को अपनी अन्तरात्मा में साथ-साथ बहता हुआ देख रहा हूँ। आपके अपार बल से अपने को बली अनुभव कर रहा हूँ। जबसे आपकी अङ्गुली पकड़ी है, मेरा भय सूर्योदय होने पर अन्धकार की भाँति पूर्ण रूप से तिरोहित हो गया है।

धनवानों का धन रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद, बैंक-बैलेंस, विविध भौतिक सम्पदा कही जा सकती है। बलवानों का धन शरीर में उफनती हुई ऊर्जा, राजनेताओं का धन उनकी प्रजा, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का धन सेवा, विद्वानों का धन विद्या, योगियों का धन चित्त की शुद्धि व शान्ति, भोगियों का धन विषयों का सुख, सुखमय जीवन के अभिलाषी जनों का धन सन्तोष, रूपवानों का धन अप्रतिम रूप-लावण्य, गृहस्थ का धन सुयोग्य पुत्र, संन्यासियों का धन ज्ञान-वैराग्य, जीवन का धन शील, आचार्यों का धन संयम व विद्या विनय से युक्त शिष्य, ब्रह्मचारियों का धन गुरुनिष्ठा, उद्योगपतियों का धन विस्तृत उद्योग, कृषकों का धन खेती, गोपालों का धन गायें कही जाएँ तो अशरणों व बेसहारों के धन सचमुच भगवान् हैं। उन्हें मेरा बार-बार प्रणाम है। **नमः शान्ताय तेजसे।**

श्री महाराज भगवान् को यहाँ शान्त तेज के रूप में स्मरण करते हुए अपनी प्रणामाञ्जलि भेंट चढ़ा रहे हैं। भगवान् का एक उग्र तेज है जिसने शंकर या रुद्र के रूप में लोक-लोकान्तरों से लेकर हमारे समीप तक ध्वंस की बागडोर अपने हाथ में थामी हुई है। यद्यपि वह भी उसका शिव रूप ही है। निरन्तर वह उस ध्वंस के द्वारा भी जीव जगत् का कल्याण ही साधित करता है, क्योंकि माँ का अपने बच्चे को कभी दूध पिलाने वाला रूप और कभी थप्पड़ मारने वाला रूप कहने के लिए दो हो सकते हैं, पर मूल में एक ही रूप है। उसी प्रकार भगवान् का शान्त प्रेममय रूप और तेजस्वी रुद्र रूप दो होते हुए भी एक ही हैं। फिर भी जैसे अवस्था-भेद से माँ दो रूपों में बच्चों के समक्ष प्रकट होती है, तद्वत् भगवान् भी एक तो भक्त के सामने ब्रह्मा व विष्णु के रूप में और दूसरा रुद्र रूप में प्रकट होता रहता है। भगवान् का रुद्र रूप तब सामने आता है, जब या तो भक्त किसी विपत्ति में फँस रहा हो, शत्रुओं से घिरा हो या फिर भक्त भगवान् के बनाये सत्य नियमों का उल्लंघन करने

के लिए तैयार हो रहा हो। इससे इतर अवस्थाओं में हमारे साथ भगवान् का शान्त प्रेममय रूप ही रहता है।

एक दूसरी दृष्टि से देखें तो कहा जायेगा कि सृष्टि में जीवन और मरण दोनों को समान भाग प्राप्त है। जहाँ ब्रह्मा और विष्णु जीवन के प्रतीक बने हुए हैं, वहाँ उनके साथ रुद्र भी अपना काम करता रहता है। कभी भगवान् का प्रेममय रूप समक्ष होता है तो कभी संहारमय। एक के साथ दूसरा रूप भी रहता ही है। ऐसा कभी नहीं होता कि केवल अकेला शान्त रक्षक रूप ही रहे अथवा प्रलयंकारी रुद्र रूप ही। जिस समय जिस रूप की सृष्टि को आवश्यकता होती है, वह प्रकट रहता है, दूसरा पर्दे के पीछे छिपा हुआ अप्रकट।

भगवान् का रक्षक रूप या रुद्र रूप मन, प्राण, शरीर या भौतिक द्रव्य, विभिन्न स्तरों पर अपना-अपना काम करता रहता है। शरीर के स्तर पर रक्षक रूप के द्वारा प्रधान रूप से कार्य करने पर शरीर स्वस्थ, नीरोग, बलिष्ठ व स्फूर्तिमान् रहता है। यदि ऋत नियमों का उल्लंघन किया जाता है तो रुद्ररूप भगवान् सामने आ जाता है। यद्यपि वह आशुतोष है, शिव है। जैसे ही व्यक्ति संभल जाता है तो तुरन्त वह शान्त भी हो जाता है, पर यदि कोई प्रमाद का त्याग नहीं करता तो उसे वह नष्ट कर देता है। यही नियम मन व प्राण के स्तर पर भी लागू होता है। भगवान् के विष्णु रूप के प्रसन्न होने से व्यक्ति का मन पूर्ण समता, सामञ्जस्य, संयम, सन्तोष, शील, अचञ्चलता इत्यादि को महत्त्व देता है। सृष्टि नियमों का सम्मान करता है, सहज बल, विवेक व आन्तरिक प्रसन्नता की स्थिति में रहता है। वैषयिक भोगों से वितृष्ण रहता है। धैर्य-क्षमा व अखण्ड शान्ति को धारण करता है। इन्द्रियों में सत्य को धारण करने के लिए एक अपूर्व वेग होता है अर्थात् प्राण निम्न प्रकृति या असंयम का दास न होकर सतत ऊर्ध्वारोहण के लिए उत्साहित रहता है।

उस शान्त तेजःस्वरूप भगवान् को अभिलक्ष्य कर भक्त की प्रार्थना है— हे पावन प्रभो! मुझमें अज्ञान के स्थान में ज्ञान ज्योति को, असत्य के स्थान में सत्य को, हिंसा के स्थान में प्रेम को, अब्रह्मचर्य के स्थान में ब्रह्मचर्य को, परिग्रह के स्थान में त्याग व निरहङ्कारिता को, क्रूरता के स्थान में दया को, नृशंसता के स्थान में करुणा को, अपवित्रता के स्थान में पवित्रता को, असन्तोष के स्थान में सन्तोष को, आराममय जीवन के स्थान में तप को, व्यर्थ वार्त्तालाप के स्थान में चिन्तन-मनन को, आसुरी शक्तियों के समक्ष झुकने के स्थान में सत्य नियमों के प्रति समर्पण को, स्वार्थ के स्थान में दान को, अस्थिरता के स्थान में दृढ़ इच्छा-शक्ति को और विषयों के प्रति राग के स्थान में उदासीनता एवम् अनासक्ति को स्थिर कीजिए। आपकी कृपा से मैं अमिश्र आनन्द, सदा निर्भयता, अहैतुक प्रेम का अपने अन्दर विकास करना चाहता हूँ। आप मेरी इस इच्छा को पूर्ण करें। मैं सदा आपके उस शान्त तेज का ध्यान करता रहूँ जो मेरी बुद्धि, वाणी, मन, इन्द्रियों व कर्म-शक्ति को शुभ में प्रेरित करता रहता है।

हे निर्बलों के सहाय! जैसे प्रत्येक देश, काल, घटना, स्थिति व परिस्थिति में आप अपने धैर्य

व सहनशीलता को न छोड़ते हुए सदा शान्त स्वरूप में अवस्थित रहते हो, मैं भी उसी प्रकार शान्ति का केन्द्र बन जाऊँ। मैं आपके इतना अनुकूल व प्रिय बनकर रहूँ कि आप को कभी भी मेरे ऊपर अपने तेजस्वी मन्युरूप को प्रकट करने का अवसर न मिले। जब से मेरी आँखें खुली हैं– मेरी समझ में यह बात ठीक से बैठ गयी है कि शान्ति ही योगजीवन अर्थात् भागवत जीवन का मूल आधार है। मन, प्राण व शरीर के शान्त होने पर स्वतः ही वह सब धीरे-धीरे प्राप्त होने लगता है, जिसकी हमें आवश्यकता है। अतः हे शान्ति के मूल स्रोत! अब मैं यही चाहता हूँ कि तेरी उस अनन्त शान्ति को ही मेरा मन अपना आधार, अपना घोंसला, अपना आवास बना ले। हे शान्त तेज! मुझे अब अपने उस तेज से तेजस्वी बना दो। मैं यह प्रार्थना अन्तरात्मा से आपके समक्ष निवेदित कर रहा हूँ। आपके उस शान्त तेज को मेरा बारम्बार प्रणाम है– **नमः शान्ताय तेजसे।**

*****

- ☞ नियमों को इतनी प्रधानता भी मत दो कि ध्येय धुँधला हो जाए।
- ☞ पारस्परिक विश्वास का अर्थ है– 'शासन-मुक्ति'।
- ☞ शासन-अधिकार-स्पर्धा-प्रबन्ध बौद्धिक स्तर की वस्तु; अनुशासन-कर्त्तव्य-सहयोग-शिक्षणविषय हृदय स्तर की वस्तु।
- ☞ प्रत्येक क्षण मनुष्य की परीक्षा हो रही है।
- ☞ सब प्राणियों को एक सामञ्जस्य सूत्र में पिरोकर रखने वाली वस्तु ही धर्म है। जिसका आरम्भ न्याययुक्त है वह धर्म है।
- ☞ गाय एक करुणा काव्य है; करुणा निधि है। अतः आर्थिक भाव से परे की विभूति है।
- ☞ जीवन जात समस्याओं का क्षय तप व संयम से ही होगा।
- ☞ आश्रम= सर्वतोमुखी श्रम; मरकर जीना।
- ☞ वासना-कामनाओं की आग शील-सन्तोष के शीलोदक से ही बुझेगी।
- ☞ मनुष्यकृत पाप उसके अमरत्व को ढाँप सकता है, विनाश नहीं कर सकता।
- ☞ तात्त्विक सत्य (धर्म) सब एक ही हैं।
- ☞ स्वेच्छा से अंगीकृत कष्ट पापों का परिणाम नहीं है।
- ☞ प्रत्यक्ष (कृति) पर विचार और परोक्ष (कर्त्ता) पर श्रद्धा अर्थात् 'अवश्य ही है कोई सत्य, करुणा और प्रेममय सत्ता!'
- ☞ जब हम शून्य (परोक्ष) में होंगे तभी सबको देख सकते हैं।
- ☞ शरीर का अस्तित्व कर्म की आवश्यकता की निशानी है।
- ☞ दार्शनिक (विवेकी) ईश्वर को ढूँढता है और भगवान् भक्त को।

५४. साधक को क्या प्रतिकूल?

श्री महाराज के उपदेश-रूपी मोतियों की माला का यह भी एक उत्कृष्ट मोती है– साधक के लिए जीवन या जगत् में कुछ भी प्रतिकूल नहीं है। यदि कोई पूछे कि ऐसी क्या बात है जो संसार के अन्य सभी लोग तो सदा ही प्रतिकूलताओं से घिरे तड़पते रहते हैं, पर साधक के लिए कुछ भी प्रतिकूल नहीं? इसका क्या कारण है? आइए! मिल-जुलकर विषय का शान्तिपूर्वक अवलोकन करते हैं–

किसी को कोई प्रतिकूलता क्यों होती है? इसलिए ही न कि वह चाहता कुछ और है तथा होता है कुछ और। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रतिकूलता का राज 'चाहत' के भीतर छिपा हुआ है। साधक को कष्ट इसलिए नहीं होता क्योंकि वह वर्त्तमान में प्राप्त परिस्थितियों का अधिकतम सदुपयोग करना चाहता है, उन्हें संघर्षपूर्ण कष्ट मानते हुए व्यग्र नहीं होता। वह अपना शान्त प्रयत्न करता रहता है, उसी से यदि सहज परिवर्तन हो जाता है तो ठीक है, अन्यथा उसी परिस्थिति के द्वारा अपने विकास का कोई उपाय खोजता है।

सांसारिक लोगों की सोच अलग होती है। वे सोचते हैं कि जो यह कष्ट सामने आ गया है, तेरे कौन-से दुष्कर्म का फल है? कैसे इससे पीछा छुड़ाएँ, क्यों यह आपत्ति आ रही है? प्रतिकूलता उनके समक्ष आते ही वैचारिक संघर्ष में बदल जाती है। परिस्थिति को बदलना तो कोई बुरा नहीं, बल्कि हर एक व्यक्ति अपने सामर्थ्यानुसार उस-उस परिस्थिति को बदलने के लिए प्रयत्न करता ही है, पर कदाचित् न बदल पाए तो व्यक्ति को चाहिए कि अपने विचार-बल से उसी स्थिति में अपनी उन्नति का कोई रास्ता खोजे, न कि मानसिक स्तर पर दुःखी होता रहे।

मनुष्य जैसी धारणा बना लेता है, उसी के अनुसार समस्या का प्रत्युत्तर दिया जाता है। **बुद्धि ने अपनी थकावट के समय ही अन्धकार, दुःख, संकट आदि की संज्ञाएँ घड़ी हैं। बुद्धि यदि स्फूर्ति से युक्त है अर्थात् विवेक जागरित है तो कोई संकट नहीं, दुःख-बाधा नहीं।** एक व्यक्ति भूखा है और सायंकाल तक भी भोजन मिलने का कोई उपाय नहीं दिखाई दे रहा। उस समय वह व्यक्ति यदि यह विचार कर लेता है कि भगवान् का धन्यवाद जो आज सहज में उपवास करने का मौका मिल गया तो इस धारणा के साथ ही उसको जो भूख का कष्ट सता रहा था, निश्चित ही समाप्त हो जायेगा।

इतना ही तो है कि कोई काम यदि 'करना पड़ता है' तो कष्ट होता है। यदि उसमें उपनी इच्छा मिला दी जाती है तो कोई कष्ट नहीं। काम में और खेल में यही तो अन्तर है। कार्य व्यक्ति को थका देता है, उसके शरीर को भी और मन को भी, जबकि खेल में शरीर और मन दोनों ही और अधिक स्फूर्तिमान् हो उठते हैं। परिश्रम तो दोनों में ही बराबर होता है। खेल भी जब हार-जीत को सामने रखकर खेला जाता है, न कि मात्र खेलने के लिए, तो वहाँ भी पराजित पक्ष शरीर और मन

दोनों से अपने को थका हुआ महसूस करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि **मन के भाव ही सुख-दुःख देने में निमित्त बनते हैं, न कि बाह्य स्थिति या परिस्थिति।**

प्रातःकाल से मनुष्य के मन के सामने प्रतिदिन घटनाओं का एक चक्र चालू हो जाता है। व्यक्ति जैसा उनका नामकरण कर देता है, वे घटनायें वैसा ही व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालने लगती हैं। किसी काम को करने के लिए विवशता है तो अवश्य ही उसे कष्ट मानते हुए करना पड़ेगा। यदि वह 'पुरुषार्थ कर रहा हूँ' ऐसा विचार कर लेता है तो कोई कष्ट नहीं। जीवन में कभी-कभी अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी उपस्थित हो जाती हैं– अपने प्रिय व्यक्ति का बिछोह, आर्थिक संकट, रोग इत्यादि। ऐसे अवसर पर भी यदि उन घटनाओं के साथ 'तप' का भाव जोड़ दिया जाता है तो भाव की तीव्रता के अनुपात में व्यक्ति को अवश्य ही राहत मिलनी प्रारम्भ हो जाती है।

आश्रम में लगे हुए वृक्षों से किसी ने फल तोड़ लिया। यदि इस समय मन में यह विचार उत्पन्न हो जाए कि चलो! हमने ही तोड़ कर दे दिया था, तो कोई कष्ट नहीं, अन्यथा उसी दिन की बात नहीं, आगे भी वह व्यक्ति जब-जब दिखाई देगा, उसी फल तोड़ने वाले व्यक्ति के रूप में मिलता हुआ दुःखदायी प्रतीत होगा। किसी व्यक्ति ने हमको अपशब्द बोल दिये, अपमान कर दिया, उस समय यदि हम अपने मन को दुःख से बचाने के लिए यह विचार कर लेते हैं कि किसी के भी घटाने से मैं घटूँगा नहीं और प्रशंसा से बढ़ूँगा नहीं, जैसा उनको समझ में आया कह दिया। इसलिए उनकी बात को स्मृतिकोष में जमा करके रखना कोई बुद्धिमत्ता नहीं।

इस विचार के साथ ही तुरन्त शान्ति मिलेगी और यदि उस अपमान को पकड़कर बैठ गये, उसी के बारे में बार-बार सोचते रहे तो उस कष्ट-परम्परा को चाहे जितना लम्बा किया जा सकता है। इसमें कौन क्या कर सकता है और किसको रोक सकता है? किसी ने हमारी कोई वस्तु चुरा ली। हम ने सोच लिया– चलो! उसको हमसे भी अधिक आवश्यकता थी। बात समाप्त, अन्यथा हम कितना भी अपने दुःख को बढ़ाएँ, कौन रोकता है। कहीं तक बढ़ाते चले जाएँ।

साधक का जीवन-धन है– मनःशान्ति, आन्तरिक रस। दूसरी तरफ असाधक का जीवन-सार होता है– अहं तृप्ति। अहं तृप्ति के लिए वह अपनी अन्तःप्रसन्नता की आराम से बलि चढ़ाता रहता है। पर साधक किसी बड़े-से-बड़े मूल्य पर भी इस जीवन के आनन्द को बेचना नहीं चाहता। उधर सामान्य व्यक्ति जो संसार के विषयों में आसक्त है, दिन में सैकड़ों बार छोटे-छोटे मूल्य पर अपने मन की शान्ति को बेचकर अपनी इच्छा की पूर्ति करता रहता है। साधक और असाधक में यही मूलगत भेद है। मन की इस उच्च अवस्था में पहुँचने के लिए व्यक्ति को थोड़ा-सा वीर प्रकृति का तथा साहस का धनी तो होना ही पड़ेगा, जो 'जो है' को स्वीकार कर सके। 'जो है' की अस्वीकृति के कारण ही तो कोई भी स्थिति कष्ट का रूप धारण कर लेती है। साधक 'जो है' को निरन्तर स्वीकार करता हुआ सहज ही अपना विकास साध लेता है।

प्रतिकूलता का अर्थ ही यह है कि व्यक्ति चाह कुछ रहा है और होता कुछ अन्य ही चला

जा रहा है। साधक अपने मन को इस रूप में तैयार करता है कि जो हो रहा है उसे स्वीकार करता जाए। फिर भी अगले क्षण के लिए अपने प्रयत्न को मन्द न होने दे। अच्छे-से-अच्छे के लिए अपना प्रयास करता रहे। साधक अपने प्रयास में तो कमी नहीं आने देता पर किसी भी प्राप्त परिणाम को स्वीकार करने में सदा ही सिर झुकाए रखता है। सांसारिक व्यक्ति का खेल उलटा चलता है। प्रयास उतना उग्र व सतेज नहीं होता जितना कि मन के अनुकूल परिणाम की माँग करता रहता है। बस इसी अनुचित मनोदशा में छिपा रहता है उसका सारे-का-सारा कष्ट।

घर-परिवार-संस्था चलाने के लिए बीच-बीच में बहुत सारी बातें ऐसी भी आती रहती हैं जो सचमुच विघ्न प्रतीत होती हैं या विघ्न ही होती हैं। जैसे आजीविका के लिए संघर्ष, परस्पर लेन-देन का व्यवहार इत्यादि। एक व्यक्ति कोई चीज ले तो लेता है, पर समय पर उसे देना नहीं चाहता। संसार में रहते हुए सर्वथा कठोर भी नहीं हुआ जा सकता कि सबसे सम्बन्ध तोड़कर एकाकी हो जाएँ। दैनिक व्यवहार में तरह-तरह के व्यक्ति सम्बन्ध में आते हैं, उनसे व्यवहार करें तो भी ठीक नहीं, न करें तो भी। अनचाहे ऐसी परिस्थितियाँ जीवन में बनती रहती हैं। एक व्यक्ति बहुत वाचाल है, हम शान्त रहना चाहते हैं, पर वह ऐसा वातावरण बना देता है कि हमें न चाहते हुए भी थोड़ा बहिर्मुख होना ही पड़ता है। इन सब प्रसङ्गों में व्यक्ति का अपना आत्म संयम तो सदा सहयोगी होता है पर जीवन में इस प्रकार के अवश्यंभावी रूप से आने वाले विघ्नों के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि विकसित हो जाए तो भी तत्काल समाधान हो जाता है।

वह दृष्टि यह हो सकती है कि विघ्नों के साथ 'अनुकूल' विशेषण जोड़ दिया जाए। व्यक्ति समस्याओं को अनुकूल विघ्न के रूप में देखने लग जाए तो उसे कष्ट नहीं होगा और इसलिए विचलित भी नहीं होगा। कोई न कोई उचित समाधान खोजने का प्रयास करेगा। विघ्नों को अनुकूल इसलिए कहना चाहिए कि जीवन है तो ये भी साथ-साथ रहेंगे ही। जीवन नाम की ऐसी कोई चीज हो ही नहीं सकती, जिसमें व्यक्ति जो चाहता है वही होता रहे। जीवन और विघ्न का अत्यन्त साहचर्य है। हाँ! अपनी समझ से उन्हें अनुकूल बनाया जा सकता है। वे व्यक्ति के आत्म-विकास के साधन हो सकते हैं। **व्यक्ति साधना के क्षेत्र में कहाँ खड़ा है? इसका पता इन विघ्नों की कृपा से ही लगता है। व्यक्ति के धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रह, ज्ञान आदि विविध रूपों की इन विघ्नों से परीक्षा होती रहती है। विघ्न जीवन को तोड़ते नहीं– बल्कि आवे की आग की तरह उसे कच्चे से पकाकर और भी अधिक मूल्यवान् बना देते हैं, गुणवत्ता भर देते हैं।**

साधक को प्रतिकूलता इसलिए भी अनुभव नहीं होती कि वह अपने मन में निर्भय या झंझट में शान्त रहने के भाव को दृढ़ता से पकड़कर बिठा लेता है। यदि कोई व्यक्ति इस विचार के साथ अपनी जीवन-यात्रा तय करता है तो उसे कैसे दुःख हो सकता है? जब पहले ही यह निर्णय ले लिया गया है कि कैसी भी परिस्थिति आए, मैं उसका सामना करूँगा तो सचमुच ही कोई-न-कोई उपाय समय के अनुसार निकल ही आता है। व्यक्ति को कठिनाई तब होती है जब अचिन्तित विपत्ति अकस्मात्

आकर टूट पड़े। पर साधक के लिए ऐसा कुछ भी विषय अकल्पनीय नहीं होता, इसलिए वह सदा ही निर्भय व शान्त बना रहता है।

एक बात और है– साधक व्यक्ति जहाँ प्रत्येक दुःख को स्वीकार करने के लिए तैयार रहता है वहाँ किसी भी प्रकार के सुख में अनुरक्त नहीं होता। सुख की अतिरिक्त माँग भी व्यक्ति को दुःख आने पर बेचैन कर देती है। सुख में यदि किसी का राग है तो यह हो ही नहीं सकता कि दुःख में द्वेष न हो। यदि सुख चाहा जाएगा तो दुःख को अस्वीकार भी किया जाएगा। सो साधक अपने मन से सुख के प्रति जो आकर्षण हुआ करता है उसे सर्वथा हटा देता है। अतः उसे समता में प्रतिष्ठित रहने में कोई कठिनाई नहीं होती।

सुख को व्यक्ति अनुकूल समझता है, दुःख को प्रतिकूल; मान को अनुकूल तो अपमान को प्रतिकूल; हर्ष को अनुकूल और शोक को प्रतिकूल; अभय को अनुकूल, भय को प्रतिकूल; लाभ को अनुकूल हानि को प्रतिकूल; इष्ट के संयोग को अनुकूल, इष्ट के वियोग को प्रतिकूल; अनिष्ट के वियोग को अनुकूल, अनिष्ट के संयोग को प्रतिकूल; जीवित रहना अनुकूल, मरण को प्रतिकूल। जब यह कहा जाता है साधक को कुछ भी प्रतिकूल नहीं– इसका अर्थ है वह 'सम' हो गया है। उसने द्वन्द्वों का अतिक्रमण कर लिया है।

प्रियता-अप्रियता का अब उसके मन में कोई स्थान नहीं रह गया है। द्वन्द्वमय जीवन के कष्टों से ऊबकर यदि उसने निश्चय कर लिया है कि जीवन का दुःखद रूप अब उसे नहीं चाहिए तो यही बिन्दु है जहाँ से चलकर वह पहले तो सहिष्णु हो जाता है और फिर उस सहिष्णुता से ही समता को प्राप्त कर लेता है। वह उस समता को प्राप्त करता है– जिसके दृढ़ होने पर मन सुस्थिर व शान्त बना रहता है। इस स्थिति को प्राप्त साधक के लिए ही यह कथन है कि कुछ भी प्रतिकूल नहीं है।

आओ! अपने जीवन में इस अद्‌भुत दृष्टि का विकास करें और सदा आनन्द में रहें। श्री महाराज का कहना है– सहिष्णुता का आरम्भ वेदना से होता है। दुःख की वेदना, कष्टों की वेदना हमारे सहिष्णु बनने में निमित्त बन जाती है।

❋❋❋❋❋

- ☞ चार आर्य सत्य= हेय (दुःख), हेयहेतु (दुःख का कारण), हान (दुःख निरोध), हानोपाय (दुःखनिवृत्ति का उपाय)।
- ☞ जितने दुःख हम पर आते हैं, हमारे बुलाये हुए आते हैं।
- ☞ हृदय में भगवान् बोलते हैं और बुद्धि में मनुष्य। आकार की जड़ें प्रकार में।
- ☞ वैष्णव माया को धायवत् मानते हैं।
- ☞ प्रज्ञा में वर्तमान ही रहता है। हमारे प्रायश्चित्त भी शुभ की तैयारी हैं।
- ☞ संयोग में प्रियतम का मिलन सीमित और वियोग में अनन्त।

५५. गुरु-मन्त्र का सुपात्र

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दाः यथा स्याम वीर्यवत्तमा।। (मनु० २.११४)
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने।। (मनु० २.११५)
विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।।
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह।।
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्।।
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।। निधिः शेवधिरिति।। (निरु० २.१.४)

एक युवक किसी सिद्ध गुरु के पास पहुँचा। गुरु के सान्निध्य में रहते हुए जब कुछ दिन बीत गये तो भावना जागरित हुई कि गुरुजी से गुरुमन्त्र लूँ। गुरु के समक्ष अपना भाव प्रकट किया। गुरुजी बहुत अनुभवी थे। व्यक्ति के मनोभावों को सहज ही पढ़ लेते थे। उन्होंने देखा अभी युवक की बुद्धि परिपक्व नहीं हो पायी है। इसलिए वे अभी गुरुमन्त्र देने के लिए राजी नहीं हुए। कुछ समय बाद युवक के सशक्त आग्रह को देखकर तैयार तो हो गये, लेकिन युवक के हृदय में गुरुमन्त्र की महत्ता का भाव स्थापित करने के लिए आश्रम से दो मील दूर रह रहे अपने एक ज्येष्ठ गुरु-भाई से विचार-विमर्श करके कुछ संकेत निर्धारित कर लिए। अब युवक को बुलाया और कहा, कल तुम्हें गुरु-मन्त्र देने के लिये निश्चय हो गया है। एक काम करो। पड़ोस के गाँव में मेरे एक बड़े गुरुभाई रहते हैं, उनको ये दो कटोरियाँ इसी रूप में दे आओ। इनको खोलकर देखने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं समझ जायेंगे।

युवक कटोरियाँ लेकर चलता है। एक मील रास्ता तय करने पर मन में यह विचार उठ खड़ा होता है कि ऐसा क्या भेज रहे हैं इन कटोरियों में कि जो देखने के लिए भी मना कर दिया? यही तो मानव मन की कमजोरी है, जो कि व्यर्थ की उत्सुकताओं को शान्त करने के लिए झट उस काम में प्रवृत्त हो जाता है। यह मन में स्थित रजोगुण है जिसके कारण चञ्चलता का उदय हो जाता है और फिर उसका परिणाम भोगना पड़ता है। सो उस युवक ने उत्सुकतावश ज्योंही कटोरी को उठाया, उसे क्या पता था इसमें चुहिया रखी है। वह तो मौका पाते ही झट-से कूदकर भाग खड़ी हुई अब युवक समझ गया कि

यह कुछ और राज था। उत्सुकता के कारण व्यक्ति को प्रायः ही दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। इस युवक के साथ भी यही हुआ।

गुरुजी के ज्येष्ठ गुरुभाई को जब युवक कटोरी देता है तो वे पूछते हैं– चुहिया कहाँ गयी? उत्तर मिलता है– वह तो कूदकर भाग गयी। पूछते हैं– यों कैसे कूद गयी, वह तो कटोरियों के बीच वस्त्र से ढकी हुई थी? युवक कहता है– मैंने उघाड़कर देख लिया था। गुरु-भाई कहते हैं– क्या तुमको यह नहीं बताया गया था कि इसे ठीक यों का यों ही ले जाना है? युवक उत्तर देता है– बताया तो था, पर मेरे मन में विचार आ गया कि देखूँ इसमें क्या भेज रहे हैं? गुरु-भाई ने कहा– यह तो तुम्हारी परीक्षा थी, और तुम उसमें अनुत्तीर्ण हो गये। अब तुम थोड़ा गम्भीरता से सोचो। जब तुम में इतना धैर्य नहीं कि एक घण्टे के लिए भी किसी संकल्प पर अडिग रह सको, तो गुरु-मन्त्र की रक्षा कैसे कर पाओगे? गुरु वचनों पर तो तुम्हें पक्का विश्वास होना चाहिए था, क्योंकि तुम उसके लिए बहुत व्यग्रता प्रकट कर रहे थे कि कोई भी भय-बाधा-प्रलोभन तुमको नहीं डिगा सकता। परन्तु गुरु तुम्हें कुछ कह रहे हैं, ऐसा करना है, ऐसा नहीं करना है, इसका तुमने कुछ महत्त्व ही नहीं समझा। इसका तो सीधा-सा अर्थ यही है कि तुम्हें न गुरु पर श्रद्धा है, न उनके वचनों पर। ऐसी स्थिति में गुरु-मन्त्र से तुम क्या लाभ उठाओगे? क्यों उसके लिए इतने दिन से गुरुजी को बाध्य करते आ रहे हो?

युवक कहता है– मैंने सुना था कि गुरु धारण किये बिना और गुरु-मन्त्र लिये बिना जीव का उद्धार (मुक्ति) नहीं होता, इस करके मैं बार-बार आग्रह कर रहा था। गुरु-भाई पुनः कहते हैं– यह जो तुमने सुना, यह तो ठीक सुना। पर तुम यह तो सोचो, जब गुरु के प्रति तुम्हारी श्रद्धा ही नहीं तो गुरु को धारण कहाँ किया? गुरु कहते चले जा रहे हैं, ऐसा करना, ऐसा नहीं करना, और तुम्हारा उस तरफ कुछ ध्यान ही नहीं तो यह कहाँ गुरु-धारण हुआ? गुरु धारण का अर्थ है– गुरु वचनों पर ऐसा अटूट विश्वास जो किसी बड़े-से-बड़े आँधी तूफान के द्वारा भी न हिलाया जा सके। गुरु जिस राह पर चलने को कहें, उसमें काँटे हों या फूल, बराबर उस पर चलते चले जाओ। यही है वह मूल बात जिसके लिए गुरु धारण करने वाले को सबसे पहले अपने आप को तैयार करना होता है।

श्री महाराज कहा करते हैं– आजकल गुरुओं की भी बाढ़ आ रही है और शिष्यों की भी। गुरुओं को तो शिष्यों से दक्षिणा, आश्रम के लिए वैभव, फूल-मालायें, शोहरत, सम्मान तथा अन्य सुख-सुविधायें चाहिएँ। सो जितने अधिक शिष्य होंगे वह इच्छा-पूर्ति उतनी ही अधिक हो सकेगी। इसलिए कोई भी गुरु शिष्य बनाने के लिए सदा तैयार रहता है। उधर शिष्य भी यह समझते हैं कि किसी को गुरु बनाने मात्र से सब पाप-क्लेश कट जायेंगे। करना-कराना कुछ पड़ेगा नहीं, केवल गुरु को प्रणाम, कुछ पूजा-पाठ के साथ दक्षिणा देनी होगी, सो दे देंगे। दोनों ही अपने-अपने को धोखा देते हुए दाँव-पेंच चलाते रहते हैं और इस धोखा-धड़ी में बेचारी धरती माँ गुरु-शिष्यों की वृद्धि होने पर भी रोती-बिलखती-कराहती रहती है; इसकी कुरूपता थोड़ी भी कम नहीं होती। विषयों की दुर्गन्ध कम होने के बजाए बढ़ती ही जाती है। मनुष्य का आन्तरिक सौन्दर्य किञ्चित् भी नहीं निखरता। समस्त

दृश्यमान जगत् के प्रति, या यों कहें इस जगत् में विद्यमान नाम-रूप के प्रति, जो मनुष्य की 'दृष्टि' है, उसमें परिवर्तन को कोई स्थान नहीं मिलता।

व्यक्ति के द्वारा किये गये सत्संग, भजन-कीर्त्तन, यज्ञ-हवन, दान-दक्षिणा, यहाँ तक कि मौन-साधना भी उसे अन्तर्मुख होने में मदद करने के बजाए बहिर्मुख ही करते जाते हैं। जीवन की चाल भीतर केन्द्र की तरफ न होकर बाहर परिधि की तरफ होती जाती है। स्वाध्याय-सत्संग करते हुए भी गुरुनिष्ठा न होने से उस पढ़े-सुने पर कुछ भी स्थिति नहीं हो पाती। यद्यपि शिष्य गुरुओं के प्रति निष्ठा प्रदर्शित तो करते दिखाई देते हैं, पर वह केवल उनके शरीर तक ही होती है। गुरुओं को साष्टाङ्ग प्रणाम, उनको फल-फूल का चढ़ावा, सुन्दर वस्त्रार्पण, सुन्दर भवन में आवास, एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के लिए सुन्दर वाहन, वाणी के द्वारा उनकी प्रशंसा, गुरु धारण के लिए अन्य लोगों को भी प्रेरणा, ये सब-की-सब चीजें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध पूर्णतः शरीर के साथ है। गुरुनिष्ठा का तो अर्थ है– गुरु के अन्दर जलती हुई ज्ञान-ज्योति को देखना। गुरु की विषयों से पराङ्मुख करने वाली धीर गम्भीर वाणी को सुनना। जब वे कहें कि तुम्हारा अपना आप= तुम्हारा आत्मा वह नहीं है जो दिखाई दे रहा है बल्कि वह है जो सर्वथा ही दिखाई नहीं दे रहा, पर जिसके कारण यह सब दिखाई दे रहा है। तब जो लोग इस वाणी को सुनकर इसके साथ चिपक जाते हैं, वे हैं गुरु के प्रति सच्चे निष्ठावान्।

मनुष्य इस संसार में 'स्वयं' से अपरिचित रहता हुआ ही जीवन जीता है। कोई सच्चा जिज्ञासु हो और उधर सच्चा समर्थ गुरु हो, तो गुरु उसका उसके 'अपने आप' के साथ परिचय करा देता है। गुरु के सच्चे होने की पहचान यही है कि वह अपने शिष्य को प्रकृति के लुभावने आकर्षण से कितना बचा पा रहा है। उसके सान्निध्य से यदि काञ्चन, कामिनी और कीर्ति (सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान-वैषयिक सुख) का प्रलोभन किञ्चित् भी कम हो जाता है तो समझना चाहिए कि यह गुरु का ही माहात्म्य है।

'गुरु हमारा हमसे परिचय करा देता है' यह सामान्य उपलब्धि नहीं है। कोई व्यक्ति अपने बाल्यकाल के मित्र से कहीं अकस्मात् मिल भेंटे और रूप-नाम विस्मरण हो जाए तो वह भेंट निरर्थक है और यदि कोई परिचय करा दे तो आनन्द का क्या ठिकाना! बस, ऐसे ही हम अपने परम मित्र 'अपने' से अपरिचित से हो गये हैं। यदि गुरु परिचय करा दे तो आनन्द ही आनन्द है। इसलिए कहा गया है **'मातृमान्-पितृमान्-आचार्यवान् पुरुषो वेद'**- अपने को वही जान पाता है जो इस त्रिवेणी में नहा लिया हो। गुरु इस त्रिवेणी का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है।

हाँ! तो गुरु हमारी असली आत्मा से हमारा परिचय कराने वाला है। हमें तो बस केवल यह बाहर की दुनिया दिखाई देती है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध या फिर विभिन्न वस्तुएँ, विविध प्राणिगण, जिनमें से कुछ हमें सुखकर प्रतीत होते हैं और कुछ दुःखकर। गुरु के निर्देश पर इधर जब हम अपनी तरफ लौटना प्रारम्भ करते हैं तो यह शरीर दिखाई देता है। शरीर के सुख-दुःख, शरीर के द्वारा भोगे जाने वाले पाँच विषय, और आगे चलकर व्यक्ति उन कर्मों को देखता है जिनका उसके द्वारा सम्पादन किया जाता है– पेण्टिंग, कविता, लेखन, सफाई, गोसेवा, कृषि, व्यापार इत्यादि; और थोड़ा

आगे नासिका में चलता हुआ प्राण दिखाई देता है।

और थोड़ा निकट आते हैं तो 'अहम्' दिखाई देता है। लोगों के द्वारा मेरा यह 'अहम्' किस रूप में देखा जा रहा है– अच्छा, बुरा, विद्वान्, क्रोधी, शान्त, इस बात को देखने-समझने की चेष्टा की जाती है। और भी सचेतन होने पर व्यक्ति उन विविध विचारों (चित्तवृत्तियों) को देखता है जो निरन्तर उसके मन में उठते रहते हैं, जिनमें से कोई सुखकर, कोई दुःखकर और कोई मोहकर होते हैं। इससे भी आगे जो हृदय से उच्च या निम्न भाव उठते रहते हैं– करुणा, मैत्री, घृणा इत्यादि उनको देखते हैं। इस प्रतिस्रोत या प्रतिसंलीनता के द्वारा इन सबके भी अन्त में हमारा जो 'चिन्मय स्वरूप' है, गुरु उस अन्तिम पड़ाव तक हमें पहुँचा देता है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रतिलोम क्रम से की जाने वाली इस यात्रा को प्राचीन शब्दावली में रखा जाए तो गुरु ही है जो सबसे पहले हमें अन्नमय कोश– जो यह दिखाई देने वाला स्थूल शरीर है, इसका बोध तथा इसको स्वस्थ एवं सबल रखने के उपाय सुझाता है। अन्नमय कोश के भीतर प्राणों से बना हुआ जो प्राणमय कोश है, जिसके द्वारा रक्त-संचालन, हृदय व फुफ्फुस की गति, स्नायु संस्थान का नियन्त्रण व बाह्य गमनादि क्रियाएँ की जाती हैं। गुरु ही इस से हमें परिचित कराता है। इस प्राणमय कोश के भीतर मनोमय कोश है, जिसमें इच्छा का उद्भव होता है। इसके भी भीतर विज्ञानमय कोश है जिसके सहयोग से या जिसके द्वारा व्यक्ति समस्त ज्ञान उपलब्ध करता है। सबके भीतर आनन्दमय कोश है जिसके माध्यम से न्यून आनन्द या अधिक आनन्द अथवा आचार्य शंकर की भाषा में प्रिय-मोद-प्रमोद आदि उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों कोशों से भी पृथक् 'चिन्मय तत्त्व' ही हमारा अपना आप (असली 'मैं') है। यहाँ पहुँचाकर गुरु का काम समाप्त हो जाता है।

कहना अनावश्यक है कि शिष्य को वही गुरु इस अन्तर्यात्रा में कुशलतापूर्वक आत्मज्ञान रूप लक्ष्य तक ले जा सकता है जो स्वयं इस यात्रा को कर चुका है। जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को जला सकता है। आत्मज्ञानी गुरु ही आत्मज्ञान प्राप्त करने की राह बता सकता है। स्वयं सोया हुआ व्यक्ति दूसरे सोये हुए व्यक्ति को कैसे जगा सकता है? पानी में डूबता हुआ दूसरे डूबते हुए का कैसे उद्धार कर सकता है?

सो इस प्रकार गुरु भी पूरा हो और स्वयं में शिष्य भी श्रद्धावान् ग्रहणशील अर्थात् गुरु-मन्त्र का सुपात्र हो, तो ही रूपान्तरण साधित होता है। गुरु तो सूर्य की तरह ज्ञान ज्योति से जगमगा रहा है, पर शिष्य ने अपने द्वार बन्द किये हुए हैं। ऐसी स्थिति में शिष्य के अन्तःकरण का अंधेरा कैसे दूर हो सकता है? मेघ मूसलाधार बारिश कर रहा है, पर घड़ा औंधे मुँह पड़ा है। स्पष्ट है पानी की एक बूँद भी अन्दर नहीं जायेगी। शिष्य के साथ भी यही बात लागू होती है। एक बार श्री महाराज अपने प्रिय शिष्य डॉ० भूदेव जी से कह रहे थे कि जैसे दूध यदि फटा हुआ न हो तो थोड़ा सा जामन डालने से दही में परिवर्तित हो जाता है, दूध का रूपान्तरण हो जाता है, उसी प्रकार शिष्य यदि शिष्य हो, साबुत हो अर्थात् विखण्डित न हो, यानी विभक्त इच्छा वाला न हो, तो गुरु के वचन रूपी जामन

से शिष्य का रूपान्तरण हो जाता है अर्थात् एक और नया व्यक्ति बन जाता है। श्री महाराज कहते हैं–

गुरुपद – जगा दे!
गुरुपद – ठीक दिशा बता दे!
गुरुपद – खोई वस्तु पहचान करा दे!
गुरुपद – पुकारना सिखा दे!
गुरुपद – अपने जैसा बना दे!
गुरुपद – उलझन को सुलझा दे!
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।

❋❋❋❋❋

- ☞ सुख अपने आप मिलता है जैसे दुःख मिलता है।
- ☞ श्रोता का उद्धार अवश्य होगा, क्योंकि गायक का उद्धार हो चुका है।
- ☞ वे भी सेवा करते हैं जो स्थिर और शान्त रहकर प्रतीक्षा करते हैं।
- ☞ सारी सृष्टि का योग सम है।
- ☞ पकड़ी हुई चीज चाहे वह सदोष भी है तब तक नहीं छोड़नी चाहिए जब तक वह स्वयं ही न छूट जाए। ऐसा तब होगा जब अगली चीज पकड़ में आ जायेगी।
- ☞ हमारे अहं की स्वतन्त्रता के पीछे हमारी दयनीय दासता छिपी है।
- ☞ जीवन में दो ही अवस्थाएँ सार्थक हैं– जीवन पाथेय लेते समय गरीब और जीवन बाँटते समय अमीर।
- ☞ साधन की पराकाष्ठा ही साध्य है।
- ☞ व्यवहार की शुद्धि की पराकाष्ठा ही परमार्थ है।
- ☞ जो हमारी रक्षा करे, पोषण दे और धारण करे वह अपना हृदय, अपनी प्रकृति, अपनी माँ।
- ☞ ज्ञान का अर्थ जानना नहीं, वैसा हो जाना है। धीः= ऋषित्व का बिन्दु।
- ☞ पर-दोष-दर्शन के कूड़े को हृदय द्वार पर इकट्ठा मत होने दो।
- ☞ ज्ञान= सहज शिक्षण के द्वारा समय पर स्वयं स्फुरण होने वाला सौरभ।
- ☞ मौन वह समुद्र है जिसमें सब धर्मों की सरितायें मिलकर एक रूप हो जाती हैं।
- ☞ बल, विवेक और श्रद्धा हमें सहज अर्थात् जन्म के साथ ही प्राप्त हैं, अतः धन्य हैं वे जो बल को दूसरों की सेवा के लिए, विवेक को अपने लिए और श्रद्धा को अनन्त के चरणों में अर्घ्यरूप में चढ़ा रहे हैं।
- ☞ देश या काल योगसिद्धान्त में पदार्थ ही नहीं हैं। वृत्ति के संकोच-विस्तार का नाम देश है और उदय-विलय के क्रम का नाम काल है। वृत्तिनिरोध से इनका निरोध सम्पन्न हो जाता है।
- ☞ नरस्य हृदयं नारम्, नारम् अयनं यस्य स नारायणः। नार को नाल भी कहते हैं। जो इस नार में दिल में रहता है वह नारायण।

५६. श्रीअरविन्द-योग

बात पचासों वर्ष पहले की है। श्री महाराज दिल्ली में एक दुकान पर पुस्तक देख रहे थे। अभी दुकान पर सेवक ही था। उसने ढूँढ-तलाश कर कहा– वह पुस्तक तो नहीं है। महाराज जैसे ही दुकान से चलने को हुए, इतने में दुकान के मालिक आ पहुँचे। 'श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर' जो कि श्रीअरविन्द और माता जी के प्रसिद्ध भक्त के रूप में पहचाने जाते हैं, उन्हीं ने श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली के लिए आज के मूल्य के अनुसार अरबों रुपये की सम्पत्ति दान में दी है। जौहर साहब महाराज की वेशभूषा व सौम्यतादि से आकृष्ट होकर कहने लगे, ठहरिए! आपको कौन-सी पुस्तक चाहिए, मैं ढूँढता हूँ।

ऐसा कहकर महाराज को सम्मान पूर्वक बिठा लिया और अन्य चर्चा प्रारम्भ कर दी। उन्होंने पूछा– श्रीअरविन्द के साथ आप कितने समय से जुड़े हुए हैं? महाराज ने उत्तर दिया– १८ वर्ष से। फिर पूछा– पाण्डिचेरी कितनी बार गये? महाराज ने कहा पाण्डिचेरी तो एक बार भी नहीं गया। अगला प्रश्न था– श्रीअरविन्द की जिस बात ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया, ऐसी कोई बात बता सकते हैं? महाराज ने उत्तर दिया 'हाँ।' उन्होंने पूछा, क्या है? महाराज ने कहा, श्रीअरविन्द कहते हैं– **'सम्पूर्ण जीवन ही योग है।'** इस विचार ने मुझे बहुत अधिक आकृष्ट किया। जौहर साहब ने पूछा– क्या इसकी व्याख्या भी कर सकते हैं? महाराज ने कहा– हाँ! अवश्य। अब महाराज उक्त वचन की व्याख्या करते हुए बोलना प्रारम्भ करते हैं– श्रीअरविन्द सम्पूर्ण जीवन को ही योग के रूप में देखते हैं।

उनके अनुसार योग का लक्ष्य है– 'भगवान् की उपलब्धि' तथा उस उपलब्धि का फल है– जीवन (शरीर-मन-प्राण) का पूर्ण रूपान्तरण। इसलिए वे कहते हैं– ध्यान करने से लेकर छोटी-से-छोटी क्रिया तक कुछ भी योग से बहिर्भूत नहीं है। शयन, जागरण, चलना-फिरना, पढ़ना-लिखना, देखना-सुनना, खाना-पीना, बैठना-उठना, किसी से बात करना, ग्रन्थ लिखना, किसी संस्था या आश्रम का सञ्चालन करना, कृषि करना, व्यापार करना, पेंटिंग करना, झाड़ू लगाना, भोजन बनाना, गोसेवा करना, एकान्त में मौन रहना, दान देना, लेना, भवन निर्माण करना, राज्य सञ्चालन इत्यादि जो कुछ भी जीवन के साथ जुड़ा हुआ है, वह सभी योग हो भी सकता है और नहीं भी। श्रीअरविन्द के अनुसार योग का सम्बन्ध किसी क्रिया विशेष, ब्राह्मणादि वर्ण विशेष, आश्रम विशेष, स्थान विशेष या काल विशेष के साथ न होकर सब स्थानों, सब कालों, सब वर्णों, सब आश्रमों व सब क्रियाओं के साथ है।

मूल बात जो है जिसके द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि हम योग कर रहे हैं या नहीं कर रहे हैं, वह है– 'भाव'। किस भाव से युक्त होकर हम कोई काम कर रहे हैं, योग में यही तथ्य मूल्यवान् है– भगवान् के लिए या अहं के लिए। हम कोई काम पैसा कमाने के लिए कर सकते हैं,

यश-प्रतिष्ठा या बड़ाई पाने के लिए कर सकते हैं, दूसरों को नीचा दिखाने के लिए भी कर सकते हैं, लोगों की सेवा या भलाई के नाम से काम कर सकते हैं। किसी कार्य विशेष में रुचि विशेष (Hobby) होने के कारण भी कर सकते हैं। शक्ति (Power) प्राप्ति के उद्देश्य से भी कोई काम किया जा सकता है। किसी काम को उस काम में कौशल प्राप्त करने की दृष्टि से भी कर सकते हैं। अपनी मानसिक सुख-शान्ति के लिए भी कर सकते हैं। किसी पुरस्कार को सामने रखकर भी कर सकते हैं।

इन उपर्युक्त उद्देश्यों में से किसी भी भाव को लेकर काम किया जायेगा तो चाहे भले ही पूर्ण रूप से शुभ कर्म की श्रेणी में आता हो, पर श्रीअरविन्द के अनुसार उसको योग नहीं कहा जायेगा। यद्यपि उस-उस उत्तम कर्म का वह-वह उत्तम फल तो कर्मकर्त्ता को मिलेगा ही, इसमें कोई विवाद नहीं, तो भी वह 'योग' नहीं होगा। भोजन करते समय यदि व्यक्ति की दृष्टि स्वास्थ्य पर है तो पूर्ण सात्त्विक भोजन ग्रहण करते हुए भी उसका योग में समावेश नहीं हो सकेगा। नेक-नीति से अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए यदि धन कमाया जा रहा है तो श्रीअरविन्द की परिभाषा में वह योग नहीं कहा जा सकेगा। संसार की भलाई की दृष्टि से किये जाने वाले लोकोपकार के कार्य जैसे गरीबों में वस्त्र और भोजन बाँटना, औषध वितरण करना आदि भी उसी प्रकार योग नहीं कहे जा सकेंगे। श्रीअरविन्द कहते हैं– तुम अपने कार्यों की आहुति भगवान् के लिए दे रहे हो, तो फिर चाहे तुम लोक दृष्टि से छोटे-से-छोटा कार्य झाड़ू आदि लगाने के रूप में ही क्यों न कर रहे हो, वह भी तुम्हारा 'योग' बन जायेगा और बड़े-से-बड़े काम भी उसी प्रकार 'योग' कहलायेंगे। तुम्हारा देखना यदि भगवान् के लिए, चलना भी उसी के लिए, पढ़ना भी उसी के लिए, उपदेश करना भी उसी के लिए, उपासना-ध्यान आदि भी उसी के लिए है, तो ये सब क्रियाएँ योग के अन्तर्गत समाविष्ट होंगी। यहाँ तक कि युद्ध जैसा कार्य भी यदि अहं से पूर्ण मुक्त होकर किया जायेगा, तो वह भी योग होगा।

श्रीअरविन्द यह कहना चाहते हैं कि हमारे योग में 'अहम् का समर्पण' करना पहली शर्त है। किसी भी उत्तम से उत्तम कर्म के द्वारा भी यदि हम अपने 'अहम्' को अपने 'स्व' को पुष्ट कर रहे हैं तो वह योग नहीं होगा। अपने से उच्चत्तर शक्ति चाहे उसको जिस किसी भी नाम-रूप में माना जाए– अन्तर्वासी पथ प्रदर्शक के रूप में, विचारक के निरपेक्ष ब्रह्म के रूप में, योग दर्शन में वर्णित ईश्वर के रूप में, अज्ञेयवादी के अज्ञेय तत्त्व के रूप में, जड़वादी के वैश्व वस्तु के रूप में या उस उच्चतर शक्ति के प्रतिनिधि भूत किसी शरीरधारी गुरु के रूप में, मात्र उसी के लिए अपने कर्मों का और अपने आपका विसर्जन, न कि अपने अहं की किसी भी प्रकार की तृप्ति– यही है श्रीअरविन्द का योग।

अर्थात् निरन्तर अहं के विसर्जन का क्रमिक अभ्यास ही उनके मत में योग है। व्यक्ति में अहं की उपस्थिति के कारण ही तो विविध कामनाओं का जन्म होता है। मनुष्य के समस्त रिपुगण काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-ईर्ष्या-द्वेष-आसक्ति, सब के सब ही तो अहं की सन्तान हैं। इसलिए जो साधक योग करने के लिए चला है, सर्वप्रथम उसे अपने अहं से सम्बद्ध कामना मात्र से मुक्त होना होता है। किसी भी प्रकार की किसी भी रूप में कामना है तो इसका अर्थ होगा अहं क्रियाशील है,

और उस अवस्था में जो भी कुछ किया जायेगा, वह निश्चित रूप से अहं के मुख में जायेगा, न कि भगवान् के। इसलिए श्रीअरविन्द बार-बार इस बात को कहते हैं कि अहं और उससे सम्बद्ध कामना के त्याग से ही योग का आरम्भ होता है।

यह व्यक्ति के द्वारा स्वयं जाँचने-परखने की चीज है कि वह योग मार्ग में कहाँ खड़ा है? प्रगति हो भी रही है या नहीं? अहं किन-किन रूपों में अपनी गर्दन उठाकर समक्ष उपस्थित हो रहा है? यदि व्यक्ति सजग है, अपने अन्दर उठते हुए विचारों व भावों को देखता रहता है तो उसको अपनी वास्तविक स्थिति का स्पष्ट आभास मिलता रहता है। जितनी अधिक उसको दिव्य जीवन की चाह होती है, उसी अनुपात में उसका समर्पण बढ़ता रहता है।

समर्पण का संकल्प, समर्पण के लिए आत्मनिवेदन, समर्पण की क्रमिक भूमिकाओं में से गुजरता हुआ व्यक्ति साधना के क्षेत्र में थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ता है, पर वह कोई बहुत विचारणीय बात नहीं है। मूल बात है अपने संकल्प में सच्चे (Sincere) होने की। श्रीअरविन्द कहते हैं कि **साधक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि योग जिस परिवर्तन को लक्ष्य में रखता है वह विभक्त इच्छा से, द्विधाभूत मन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। योग में सफलता की कुञ्जी यह है कि इसे जीवन के अनेक लक्ष्यों और कर्त्तव्यों में से कोई एक न मानकर जीवन का एकमात्र लक्ष्य और एकमात्र कर्त्तव्य निर्धारित करना।**

श्रीअरविन्द के अनुसार योग का अर्थ चित्तवृत्ति निरोध मात्र नहीं है, यद्यपि वे इसे एक आवश्यक मध्यवर्ती भूमिका के रूप में तो स्वीकार करते हैं पर योग का अन्तिम लक्ष्य इसे स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से **योग का चरम लक्ष्य है– भगवान् के साथ एक हो जाना (मत्साधर्म्यमुपागताः), उसी में सतत निवास करना (निवसिष्यसि मय्येव), भगवान् के लिए ही कर्म करना (मत्कर्मकृत्), भगवान् में ही सदा अपना मन लगाना (मच्चित्तः), भगवान् को ही जीवन का सारतत्त्व समझना (मत्परमः)।** श्री महाराज का कहना है कि 'सम्पूर्ण जीवन ही योग है' श्रीअरविन्द ने अपने इस संक्षिप्त सूत्र में कहने योग्य सब कुछ कह डाला। हमारे जीवन का एक क्षण भी यदि भगवान् से अलग नहीं हटता, तभी कहा जा सकता है– हम योग कर रहे हैं। **जीवन के लिए इससे अधिक आनन्दमय अवस्था क्या हो सकती है कि अहं और इसके परिवार का जीवन से सर्वथा लोप हो जाए और यह हो सकता है भगवान् की ओर सतत व अनन्य उद्घाटन से। तथा उससे साधित होता है अभीष्ट रूपान्तरण।**

जौहर साहब महाराज की इस व्याख्या से बहुत खुश हुए और महाराज को पाण्डिचेरी चलने के लिए निवेदन करने लगे, पर महाराज ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि श्रीअरविन्द जो देना चाह रहे हैं, वह मुझे यहीं मिल रहा है। जौहर साहब ने फिर श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली में माताजी के जन्म दिवस पर एक सप्ताह की कथा करने के लिए निवेदन किया किन्तु महाराज इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं कर पाये, क्योंकि वे उस समय नूरगढ़ आश्रम से बाहर कहीं कथादि करने के लिए नहीं जाते थे।

५७. श्रद्धा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः। श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः। प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।।
यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे। एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि।।
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।। (ऋग्० १०.१५१.१-५)

श्री महाराज से जब हम पूछते हैं कि आप एक शब्द में अपने आध्यात्मिक जीवन के रक्षण, पोषण व विकास का श्रेय किसे देना चाहेंगे? वह कौन-सी चीज है जिसने आपकी इस कठिन यात्रा को सरल बना दिया है? वह कौन-सा सम्बल है जिसने आपको एक क्षण के लिए भी अकेला नहीं छोड़ा? उस अमृत का क्या नाम है जिसने आपके जीवन को ऐसा दिव्य बना दिया? वह कौन-सा रसायन है जिसे आप आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिए पाथेय बताते हैं? हम उस सार को जानना चाहते हैं जिससे हमारा जीवन भी आप की तरह सारवान् हो जाए? इस प्रकार के सभी प्रश्नों के उत्तर में वे अपनी शान्त और धीर-गम्भीर वाणी में एक ही बात कहते हैं– **'श्रद्धा एवं विश्वास'**।

यह कहा जा सकता है कि पूर्व अनुभवी लोगों के द्वारा वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा-विश्वास के बारे में जो कुछ कहा गया है उसे ही महाराज अपने निज अनुभव से सुप्रमाणित कर हमारे समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। **श्रद्धावीर्यस्मृति०** (योग द० १.२०) सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास देव महाराज कहते हैं– **'श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनम् पाति'** अर्थात् श्रद्धा चित्त की प्रसन्नतापूर्ण निश्चय वृत्ति है; वह योगी को कल्याणी माँ के समान पालती है। योगी की योगमार्ग के सभी विघ्नों से रक्षा करती है। इस प्रकार श्रद्धायुक्त विवेकार्थी में अपरिमित उत्साह (वीर्य) उत्पन्न होता है। वीर्यवान् को आत्मस्मृति उपस्थित हो जाती है। स्मृति की उपस्थिति होने से चित्त अनाकुल (व्याकुलतारहित) होकर समाहित हो जाता है। समाहित चित्त में प्रज्ञा, विवेक या विशिष्टता उत्पन्न होती है।

विवेक से योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान करते हैं। गीता (४.३९) में कहा गया है– **'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'**। जो श्रद्धावान् पुरुष इन्द्रियों को संयमित रखता हुआ ज्ञान के पीछे लगा रहता है उसे ज्ञान मिल ही जाता है। उपनिषद् में कहा गया है– **तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये** (मु० १.३.११) जहाँ कहीं भी रहते हुए जो तप व श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे इस संसार सागर को तर जाते हैं। ऋग्वेद में तो श्रद्धा नाम से एक सूक्त ही है जिसमें श्रद्धा की बड़ी महिमा गायी गई है। व्याकरण शास्त्र के एक प्रसंग में कहा गया है कि श्रद्धा और मेधा यद्यपि दोनों अद्भुत चीजें हैं पर तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो मेधा की अपेक्षा श्रद्धा ही महत्त्वशाली तत्त्व है। अब हम महाराज के शब्दों में 'श्रद्धा क्या' है और 'हमारे जीवन के लिए क्यों इसकी उपादेयता है' इस बारे में उनके द्वारा

गाये गए महिमा गीत को प्रस्तुत करना चाहेंगे–

- श्रद्धा माँ और विश्वास पिता!
- श्रद्धा– पावन मानव-जीवन-यज्ञ की पवित्र सौम्यतम अग्नि!
- श्रद्धा– भागवत उपस्थिति! सत्य का घनीभूत ठोस पिण्ड!
- श्रद्धा जीवन की महती चालिका शक्ति है। पावन विभूति का आदि स्पर्श है। श्रद्धा जीवन है। पथ है। लक्ष्य है। मूक गहन-सत्य है। अपने विषय को समग्र रूप से ग्रसती (अपने भीतर समेट लेती) है। श्रद्धा को सब कुछ विभूतिमय सगुण साकार दिखाई देता है। श्रद्धा पूर्ण सन्तोष के साथ कहती है कि 'है' परन्तु युक्ति नहीं देती। श्रद्धा एक ऐसी निश्चयता है जिसका किसी अनुभव या ज्ञान से प्रमाणित होना अनिवार्य नहीं। आत्मा का सहज स्फुरित ज्ञान है। कृपा वायु है। चन्द्रकान्तमणि है। सौभाग्य समीर है। हमारे अन्तस् की प्रहरी है।

श्रद्धा साधक के जीवन-पथ को छोटा और आसान बना देती है। श्रद्धा से किया गया कर्म सेवा है। पूजन है। ध्यान है। अमर क्षीर का ऊधस् है। समस्त आगस् (दोष, मलिनता) को धोने वाला परम कारुणिक हाथ है। भाव की तीव्रता है। श्रद्धा संकल्प रूपी बीज के अंकुरित होने में आर्द्रता है। सोमरस की विरल अवस्था है। श्रद्धा ब्रह्मचर्य की जननी है। श्रद्धा को सब कुछ अविचल, ठोस और पूर्ण रूप में दिखाई देता है। क्योंकि इसका अपना स्वरूप ही ऐसा है। श्रद्धा को परीक्षा का भय नहीं। श्रद्धा ने अणु-परमाणु तक तथा काल के एक क्षण निमेषोन्मेष तक को भी उस अनन्त की यात्रा के लिए झकझोरा है।

- भौतिक-श्रद्धा भौतिक-शरीर को सहिष्णु, तितिक्षु एवम् अडिग बनाती है और सत्य चेतना के आधार की ओर खुलने में सहायता देती है।
- प्राणिक-श्रद्धा विरोधी शक्तियों के आक्रमण का प्रतीकार करती है और आध्यात्मिक संकल्पों एवं कर्मों की ओर खुलने में सहायता देती है।
- मानसिक-श्रद्धा संशय का विरोध करती है और सत्य ज्ञान की ओर खुलने में सहायता देती है।
- आन्तरिक-श्रद्धा हमें भगवान् के प्रत्यक्ष संस्पर्श की ओर खोलती है और मिलन तथा समर्पण को साधित करती है।
- श्रद्धा सम्पूर्ण सत्ता का एक भाव है। श्रद्धा मन में बल भरती है और हीनताओं से बचाती है।
  श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्! श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः!
  अणोरणीयान्-महतो महीयान्! पूर्णमदः पूर्णमिदम्-सर्वम्! श्रद्धया सत्यम् आप्यते!
- एकै साधे सब सधें! श्रद्धा!
  श्रद्धा= जीवन की गंगोत्री! उद्गम! आदि स्रोत! अक्षयपात्र!
- श्रद्धा उदय से पूर्व परोक्ष है। माँ का हृदय-संस्थान है, जहाँ नेपथ्य में माँ हमें भावी जीवन के निमित्त प्रशिक्षण और पोषण देती है। यही संस्थान (माँ का हृदय) हमारा वह आधार है जिस

सम्बल से हम भावी जीवन का खेल खेलते हैं अथवा जीवन यात्रा करते हैं।

- श्रद्धा की भाषा संगीत है श्रद्धा की गति नृत्य है।
- श्रद्धा 'आदि मध्य अवसान'– आदि में, मध्य में और अन्त में भी वर्द्धमान!
- पता नहीं श्रद्धा माता तू क्या है? यह पूछो तू क्या नहीं है?
- हाँ! तू सब कुछ है। सम्पन्न व पूर्ण पवित्र जीवन-धन की गंगोत्री है। जीवन धन की टकसाल है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का सम्बल है। अमर पाथेय है। जीवन का लक्ष्य और अभिप्राय है।
- आत्मशक्ति का जीवित नियम है। रक्षण-पोषण और धारण करने वाली परम कारुणिक माँ है। श्रद्धा का कार्य है चित्त को प्रसन्नता से भरे रखना।
- श्रद्धा कहेगी 'है'। ब्यौरेवार बखान नहीं करेगी, सबूत या प्रमाण नहीं देगी।
- श्रद्धा पूर्वक संयमित नियमित शारीरिक श्रम के अधिष्ठान तत्त्व को तमोगुण कहते हैं।
- जीवन के लक्ष्य से मर्यादित, स्वधर्मपालन के हेतु ऊर्जा तत्त्व (गति के अधिष्ठान) को रजोगुण कहते हैं।
- जीवन को प्रकाश से आलोकित करने वाले ज्ञान के अधिष्ठान तत्त्व को सत्त्वगुण कहते हैं।
- प्रकृति माँ के बढ़े हुए सत्त्व की कोई बलवती तरंग ही हमको आध्यात्मिक आनन्द के आकाश में प्रवेश कराती है।
- सत्य एक रसीली वस्तु है जिसमें एक नशा होता है, उसी को श्रद्धा कहते हैं! श्रत्=सत्यम्, धा=धारणे, सत्य का धारण श्रद्धा से ही होता है। श्रद्धा= ज्ञान-यज्ञ का नशा।
- मरने-जीने की अपेक्षा यह जिक्र (चर्चा) करो कि सत्य क्या है और असत्य क्या?
- सत्य से पृथक् होकर 'जीवन', वृक्ष से बिछड़े पत्ते के समान सूख जाता है।
  श्रद्धा=आचरण! श्रद्धा=भगवत्कृपा!! श्रद्धा=श्री भगवान्!!!
  समत्वम्=योग! समत्वम्=आराधना!! समत्वम्=विराट् पुरुष!!!
  समोऽहं सर्वभूतेषु। निर्दोषं हि समं ब्रह्म। (गीता)
- मन एक सौम्य तत्त्व है। अतः 'श्रद्धा' इसको हीनताओं में जा पड़ने से बचाती है। बुद्धि आग्नेय तत्त्व है, ज्ञान की क्रिया है। अतः 'विश्वास' इसको अतियों में जाने से रोक कर रक्षा करता है।
- विवेक, सहज-बल और प्रेम, ये कोई क्रिया या श्रम साध्य वस्तुएँ नहीं हैं, अपितु ये तो उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से मिली विभूतियाँ हैं और विभूति 'अनागस् की जननी' है।
- ज्यों-ज्यों श्रद्धा भक्ति प्रेम के उभार की अभिव्यक्ति होगी, भौतिकता कम होती जायेगी।
- श्रद्धा सेवा भक्ति समर्पण= बहती प्रशान्त सरिता।
- सुने हुए पर श्रद्धा होनी चाहिए।
- जो भगवान् को दिया जा चुका है, वही सुरक्षित है।

- श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन का अभिषेक तत्त्व।
- श्रद्धापूर्वक श्रम तप (अभ्यास) से तमोगुण, और वैराग्य से रजोगुण शान्त होते हैं।
- भक्ति कोई वृत्ति नहीं है; यह तो हृदय-आत्मा की स्थिति है।
- श्रद्धा शून्य है। श्रद्धे! हे मेरे शून्यधाम!
  यदि श्रद्धा का साक्षात् हो गया तो सब प्रकार की दूरी समाप्त।
  भक्ति का साक्षात् तो देरी समाप्त!
  प्रेम का साक्षात् तो मजबूरी समाप्त!
- अनन्त के यात्री के लिए श्रद्धा ही सम्बल है।
- श्रद्धापूर्वक श्रम ही पुरस्कार है।
- श्रद्धामय 'श्रम-तप जनित' ललाट का पसीना ही ललाट के लिखन्त को धो सकेगा।
- श्रद्धा, भक्ति और समर्पण का पथ अपने स्वरूप में एक अमर काव्य है।
- श्रद्धापूर्वक श्रम ही प्रेम को प्रत्यक्ष करता है।
- श्रद्धा उत्तरापथ के यात्रियों का कम्पास।
- श्रद्धा मन में बल भरती है। जप प्राण को ओज से भरता है। ब्रह्मचर्य वाणी को सतेज करता है।
- **श्रद्धा वाव संवर्गः।**

छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ प्रपाठक में गाड़ीवान् रैक्व और जानश्रुति के संवाद के माध्यम से संवर्गविद्या को प्रकट किया गया है। ब्रह्माण्ड की दृष्टि (Macroscopic point of view) से वहाँ वायु को संवर्ग कहा है। इसी प्रकार अध्यात्म अर्थात् पिण्ड की दृष्टि (Microscopic point of view) से 'प्राण' को संवर्ग का नाम दिया है। उसी शैली में श्रद्धा के विषय में महाराज का अपना अनुभवप्रसूत वचन है– **'श्रद्धा वाव संवर्गः'**। जैसे उपनिषत्कार ने ब्रह्माण्ड व पिण्ड में वायु व प्राण को संवर्ग कहा है, उसी प्रकार जीवन के सन्दर्भ में श्री महाराज ने श्रद्धा को संवर्ग के रूप में देखा है। संवर्ग का अर्थ है– जो सब को अपने में समाहित कर ले, जो सबको अपने स्वरूप में मिला ले, जो सबको ग्रसकर अपने अन्दर समेट कर रख ले।

उपनिषत्कार ने ब्रह्माण्ड में अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल को अपने में समेट कर रखने वाले तत्त्व को 'वायु' तथा पिण्ड में वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन को अपने अन्दर समाहित करके रखने वाले तत्त्व का नाम 'प्राण' कहा है। वायु की संवर्गता किस प्रकार की है? इस विषय में श्रुति कहती है– जब जिस समय अग्नि-तत्त्व उद्वासन को प्राप्त होता है अर्थात् शान्त हो जाता है, उस समय यह अग्नि वायु में ही लीन हो जाता है अर्थात् वायु के स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जिस समय सूर्य अस्त होता है वह भी, और चन्द्रमा अस्त होता है तो वह भी वायु में ही लीन हो जाता है। वायु ही इन सब जलों को अपने में लीन कर लेता है। वायु ही इन अग्नि आदि महाबलवान् तत्त्वों का संवर्ग है। भावार्थ यह है कि वायु की संवर्ग गुणरूप से उपासना करनी चाहिए। अध्यात्म

में प्राण संवर्ग है। जिस समय पुरुष सोता है, प्राण को ही वाक् इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है। प्राण को ही चक्षु, प्राण को ही श्रोत्र, प्राण को ही मन प्राप्त हो जाता है। प्राण ही इन सबको अपने में लीन कर लेता है।

वायु और प्राण के समान ही 'श्रद्धा' वह शक्तिशाली तत्त्व है जो सत्य, करुणा, प्रेम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, तप, पवित्रता, शान्ति, निर्भयता, स्वाधीनता, कर्मफल, शालीनता, ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान (वेद), मुक्ति, परवैराग्य, संस्कारक्षय, रूपान्तरण, दिव्यत्व, सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि इन सभी असम्भव जैसे प्रतीत होने वाले समस्त विषयों को अपने अन्दर लीन करके, समाहित करके रखता है। श्रद्धा अकेली ही इन सबको ग्रस करके रहती है।

आदिगुरु शंकराचार्य 'संवर्ग' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं– **'संवर्जनात् संग्रहणात् संग्रसनाद् वा संवर्गः'।** कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद् (२.५) में एक वचन मिलता है– **'संवर्गोऽसि पाप्मानम् मे संवृग्धि'** अर्थात् हे प्रकाशमान् आदित्य! तुम संवर्ग स्वरूप हो, मेरे पाप को खा जाओ। श्रद्धारूप संवर्ग भी समस्त अज्ञानमय कर्मों को कवलित कर लेता है।

• **प्रेम–** सर्वोच्च विधान। मनुष्य को केवल प्रेम करने का अधिकार है; शेष कर्त्तव्य है। प्रेम भारी को हलका, कड़वे को मीठा कर देता है। अपना सर्वस्व देने पर भी पूर्ण बचा रहता है। समस्त जागतिक झपेट से परे सर्वोच्च शिखर पर रहता है। श्रान्त होने पर भी क्लान्त नहीं होता। मूर्धा की सतेज दीपशिखा है। निस्सीम अतः अमूल्य है।

प्रेम द्रवात्मक काव्यमय है। प्रेम से अधिक कोमल-विशुद्ध-मधुर-विश्वस्त-साहसी-आनन्दमय-स्थायी और स्वार्थरहित कोई वस्तु नहीं। प्रेम से बढ़कर कोई साधन नहीं, प्रेम से ऊँचा कोई नियम नहीं, प्रेम से परे प्राप्तव्य नहीं। क्योंकि प्रेम भागवत स्वरूप हो जाने पर अनन्त हो जाता है। भागवत प्रेम उदय होने का अर्थ है भगवान् की प्राप्ति। प्रेम कोई ज्ञान या श्रम अथवा क्रियासाध्य वस्तु नहीं है। प्रेम को बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं।

- प्रेम-परिचय : प्रेम का यह अर्थ नहीं है कि किसी को क्षमा कर देना। न ही किसी की बात सह लेना प्रेम है। अपितु प्रेम का अर्थ है 'प्रेम'।
- भगवान् हैं तो ज्ञानमय, परन्तु मिलते हैं प्रेम में। माँ का प्रेम सर्वग्रासी होता है। प्रेम और मन्यु में ही किसी वस्तु के रूपान्तरण करने की क्षमता है। प्रेम अपने आपके सिवाय न कुछ लेता है और न कुछ देता है। न स्वामी बनता है और न किसी को बनाता है। प्रेम किसी से करना न करना अपने वश की बात नहीं है अर्थात् प्रेम विचार-कोटि से परे की वस्तु है। प्रेम को क्रिया का आलम्बन नहीं।
- उपास्य और उपासक के निकटतम मार्ग को प्रेम कहते हैं।
- प्रेम उस 'अनन्त' का स्वभाव है और विवेकी का जीवन।
- प्रेम भावना के माध्यम से सबके साथ अपनत्व का विस्तार है।

- दो धारायें हैं– एक प्रेम की, दूसरी वासना की। एक का रुख ऊपर की ओर, दूसरी का नीचे की ओर है। प्रेम का फल आनन्द और वासना का शोक।
- प्रेम रसरूप है, अनन्त है, दिव्य है, अविनाशी है– नित्य नवीन।
- प्रेम से भरे रहो, नहीं तो रिक्तता में विष भर जायेगा।
- प्रेम-स्वर्ण तप की भट्टी में और अधिक निखरता है।
- योग से सामर्थ्य, विवेक से अमरत्व और प्रेम से आनन्द रस की प्राप्ति होती है।

*****

☞ सत्त्व=मन **'सत्त्वाख्यं ज्योतिर्मनः'** अपने-अपने सत्त्व (मन) से सर्व प्राणिजगत् सत्तावान् है।

☞ परानुराग ही बुढ़ापे का तथा लम्बा जीवन जीने का रसायन है।

☞ **मन :** अमर ज्योति की अमिट किरण, कारणार्णव की गतिमान् तरंग, प्रशान्तार्णव के स्फुरण का सीकर (बूंद), प्रवणभूमि की ओर सहजभाव से बहने वाला जल स्रोत, सम स्वभाव वाला रसीला तत्त्व। सर्वदा नवीन रहने वाले सुगन्धित शाश्वत पुष्प की महक। दिशा और काल से अनवच्छिन्न चिन्मय तत्त्व का स्फुलिंग (गीली चिंगारी)।

☞ जब मेरा अन्तर्जागरण हुआ तो मैंने अपने आप को सम्बोधि वृक्ष की छाया (शरण, रक्षण, पोषण, धारण) में पाया– **प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि**।

☞ कब कौन अगाध पयोनिधि के उस पार गया जलयान बिना।

☞ समय से पूर्व जानकारी एक अनर्थकारी स्तर भेद है।

☞ अनजान दूसरे को ढूँढते हैं और जानकार अपने को।

☞ शीलवन्त व्यक्ति मरते समय अपना ज्ञान-होश नहीं खोता।(तथागत)

☞ भगवान् के स्वरूप का आकलन हमारी श्रद्धा के अनुरूप अर्थात् हमारी चेतना के स्तर जितना ही रहता है, जैसे क्षितिज का स्वरूप। जैसा हमारा स्तर होता है, जैसी हमारी सतह है, हम भगवान् को भी वैसा ही समझकर वैसी ही वस्तुओं की माँग करते हैं।

☞ सत्य और ऋत धर्ममार्ग पर चलने वालों के आधार हैं।

☞ शुद्ध-हृदय स्वयं-स्फूर्त होता है, अतः बुद्धि से आगे होता है।

☞ भोगमय जीवन से परमार्थ प्रवेश ऐसा ही पागलपन है जैसे मगर को तख्ता समझकर नदी से पार होने की आशा।

☞ श्री महाराज जी से किसी ने पूछा- आप कहाँ रहते हैं? उत्तर दिया–
मिसाल-ए-गर्द-ए-रह मशकन हम गरीबों का कहाँ है?
घड़ी भर के लिए थककर जहाँ बैठे वही घर है।

५८. भगवान् का पूजन

चैतन्य महाप्रभु ने किसी प्रसंग में भगवान् के पूजन का एक निराला ही तरीका बताया है। श्री महाराज को भगवत् पूजन का यह विलक्षण ढंग बहुत पसन्द है। महाप्रभु कहते हैं–

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा प्रभुः।।

सरलार्थ है– तिनके से भी छोटा बनकर, वृक्ष से भी सहिष्णु होकर तथा मान न पाकर भी मान देकर भगवान् का कीर्तन करना चाहिए। मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक क्रिया-कलाप में दूसरों से विशेष बनकर जीने की चाह छिपी रहती है। सांसारिक जीवन जीने वाले व्यक्ति का तो यह आधार ही है कि वह धन से, बल से, किसी भी हुनर से, विद्या से या किसी कला से दूसरों के बीच अपने आप को प्रतिष्ठापित करना चाहता है, प्रतिष्ठापित करता रहता है। अपनी क्षमता के अनुसार अधिक-से-अधिक लोगों के बीच अपनी पहचान बनाना चाहता है, अन्यथा उसका जीवन उसे नीरस मालूम पड़ता है।

किन्तु जब यही चीज साधकों का पीछा करती है और वे भी अपना आकलन, अपनी प्रगति-अप्रगति का आकलन इन्हीं सब बातों से करते हैं अर्थात् सेवा-स्वाध्याय-साधना जैसे पवित्र कर्मों को भी जब साधक अपने अहं की पुष्टि के लिए प्रयोग करने लगते हैं और अपने आपको दूसरों से विशेष अनुभव करने में लग जाते हैं तो भगवान् का पूजन नहीं होता, अहं का पूजन होता है। साधक किसी पदार्थ, किसी क्रिया, किसी गुण, किसी व्यवहार, किसी जानकारी, किसी कौशल, किसी विशेषता के आधार पर यदि अपने आपको दूसरों से कुछ असाधारण अनुभव कर रहा है तो समझना होगा कि वह अभी अपने अन्तर्वासी अनन्त की पूजा करने में नहीं लगा है बल्कि व्यक्ति पूजा में ही व्यस्त है।

हो सकता है कोई अपने को छोटा समझकर ही दूसरों से अपने आपको विशेष अनुभव करे, तो यह आचरण भी उसका व्यक्ति-पूजापरक ही होगा। तिनके से भी छोटा बनकर भगवान् का पूजन करने का तात्पर्य यही है कि साधक में किसी भी रूप में अहंकार न हो। यदि गहराई से देखा जाए तो जीवन में दुःखों का बहुत बड़ा भाग केवल मात्र अहंकार के कारण बना रहता है। अहंकार के कारण ही व्यक्ति सम्मान का भूखा होने से मिथ्यावादी हो जाता है। इसीलिए तो ब्रह्म के जिज्ञासुओं को मनु के द्वारा यह सलाह दी गई है कि–

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा।।(मनु० २.१६२)

अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासुओं को सम्मान से विष के तुल्य डरना चाहिए तथा अपमान की अमृत के समान चाहना करनी चाहिए। जो व्यक्ति अपने को सचमुच ही तिनके से भी छोटा मान रहा है वह कैसे किसी से कोई सम्मान की हल्की सी भी अपेक्षा या चाह रख सकता है। ऐसा व्यक्ति 'जो है' में पूर्ण तृप्ति का अनुभव करता रहता है। अर्थात् 'जो है' को बाहर से महिमा मण्डित करने की आशा

का सर्वथा सहज त्याग हो जाता है। 'जो है' के सहज विकास में ही अपने आप को आनन्दित व प्रफुल्लित अनुभव करता रहता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि किसी के साथ भी वह अपनी तुलना करके नहीं देखता, तिनके में भी अपने भरे-पूरेपन (uniqueness) का अनुभव करता है।

यह ठीक भी है, इस सृष्टि की हर चीज अपने आप में अप्रतिम (unique) है। उसका कोई भी दूसरी चीज विकल्प (Substitute) नहीं है। सूर्य जैसे पूर्ण है, वैसे ही एक घास का तिनका भी उतना ही परिपूर्ण है। **तिनके से भी अपने को छोटा मानने का लाभ यह होता है कि दूसरों से प्रशंसा व सम्मान पाने के लिए निरपेक्ष हो जाना तथा साथ में दूसरों के द्वारा की गई अवज्ञा, अवहेलना व तिरस्कार से दुःखी न होना। मान व अपमान के इस कठिन द्वन्द्व में अपने आप को 'सम' रख पाना, 'सहज' रख पाना।** योग्यताएँ कभी भी दो व्यक्तियों की समान नहीं होतीं, यथार्थतः वे परस्पर एक-दूसरे के अभाव को मिटाने के लिए या परस्पर एक दूसरे की पूरक होती हैं, किन्तु अज्ञानवश व्यक्ति इस सत्य को भूल जाता है और योग्यताओं, धन इत्यादि पदार्थों, विभिन्न प्रकार के गुणों व क्रियाओं को ही अपना स्वरूप समझ लेता है।

यदि व्यक्ति का ध्यान इन तमाम प्रकार की योग्यताओं, पदार्थों, क्रियाओं, गुणों के मूल स्रोत की तरफ चला जाए तो वह तत्काल विनम्र हो जायेगा। यही तो भगवत्-पूजा है कि समस्त पदार्थ, क्रिया, ज्ञान, बल, आनन्द, शान्ति के उत्स भगवान् को अपने हृदय में बिठा लेना। भगवत्-पूजन के लिए निरहंकार होना वैसे ही आवश्यक है जैसे अंधेरे को मिटाने के लिए प्रकाश का होना, किसी क्रिया को निष्पन्न करने के लिए तदनुकूल शक्ति का होना, दुःखों से मुक्त होने के लिए प्रज्ञावान् होना, लोगों के बीच प्रतिष्ठा पाने के लिए उनकी सेवा करना, पूर्ण स्वस्थ रहने के लिए आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य व दिनचर्यादि का ठीक से पालन करना, सुख प्राप्ति के लिए मनुष्य-धर्म का आचरण करना, वेदादिशास्त्रों को समझने के लिए पाणिनि-व्याकरण का अध्ययन करना।

ऋषित्व को प्राप्त करने के लिए व्रतों के सच्चे स्वरूप को समझकर व्रती बनना व उसमें दीक्षित होना, देवत्व को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सोमपान अर्थात् अमृतपान करना, समाधान में जीने के लिए अपनी अन्तः-प्रेरणाओं को समझना, साधन-सम्पन्न जीवन जीने के लिए धन कमाना या व्यापार करना, प्रेममय बनने के लिए मस्तिष्क से परे अपनी गहराई में प्रवेश पाना, भक्त बनने के लिए अनन्य शरणता का होना, किसी साध्य को प्राप्त करने के लिए तदनुकूल साधन का होना, जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल होने के लिए वीरता का होना, योगी बनने के लिए चित्त की एकाग्रता व नीरवता का होना, शान्ति प्राप्त करने के लिए स्वीकार भाव में जीना, सृष्टि के रहस्यों को जानने के लिए एकाग्रतापूर्वक उन पर सतत विचार करना। इस सूची को कितना भी लम्बा किया जा सकता है।

दूसरी बात है वृक्ष से भी सहिष्णु बनने की। वृक्ष को हम देख सकते हैं कैसे धूप-सर्दी-गर्मी में अकेला तप रहा है। उसके पास जो है सतत बाँट रहा है– ऑक्सीजन-फल-फूल-पत्ते-ईंधन-छाया। न किसी से शिकायत और न प्रशंसा पाने की इच्छा। स्वयं पर पत्थर फेंकने वाले को भी बदले में

'फल' जैसी अद्‌भुत चीज देता है। कल्पना की जा सकती है कि ये वृक्ष धरती के सौन्दर्य को बढ़ाने में अपनी कैसी निराली भूमिका अदा कर रहे हैं।

बस! भगवान् का पूजन करने की किसी की चाह है तो उसे इन वृक्षों से भी अधिक सहिष्णु बनना होगा।'सहिष्णुता' क्या है, इस बारे में इसी पुस्तक में 'आनन्द प्राप्ति की सीढ़ियाँ' नामक अध्याय में पर्याप्त कहा जा चुका है। शंकराचार्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'विवेकचूड़ामणि' में कहा है- **'सहनं सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वकम्'** अन्दर से बिना दुःखी हुए, स्वेच्छा से प्रतिकूलताओं को सहना ही सहिष्णुता है। सहिष्णु बने बिना भगवत् पूजन करने की बात ऐसी ही होगी जैसे कोई माता पुत्र-सुख लेना तो चाहती हो किन्तु प्रसव-पीड़ा से बच रही हो।

भगवत् पूजन के लिए तीसरी अनूठी चीज है- स्वयं दूसरों से मान न पाकर भी मान देना। सांसारिक व्यक्ति भी मान देता है, पर उसका 'मान-देना' एक व्यापार जैसा है। जैसे बाजार का आधार विनिमय (Exchange) होता है, द्रव्य (धन) के बदले वस्तु, वैसे ही मान का भी आदान-प्रदान चलता रहता है। सो ऐसे लोगों को व्यापारी कहा जा सकता है– भक्त नहीं। कोई सोने का व्यापारी है, कोई धान्यव्यापारी है, कोई लोहे का, कोई काष्ठ का, कोई सेनेटरी का, कोई ग्रेनाइट का, कोई पढ़ाते हैं और बदले में पैसा लेते हैं, कोई वस्त्र के व्यापारी हैं, कोई शरीर श्रम के बदले में कुछ लेते हैं, कोई जादूगर इत्यादि पैसे लेकर मनोरंजन करते हैं।

राजनेता सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान का सुख लेकर बदले में जनता की तथाकथित सेवा करते हैं, कोई साधु इसी भाव से तप करते हैं कि बदले में लोगों की श्रद्धा लेना चाहते हैं। संसार में चल रहे इन सब व्यापारों के विविध रूपों को व्यापक रूप में देखा जा सकता है। कुछ व्यापार बहुत नीचे दर्जे के भी चल रहे हैं– शराब आदि नशीली चीजें, मांस, अण्डा, मछली, देह-फ़रोख्त इत्यादि। व्यापार से अतिरिक्त लूट-खसोट भी चल रही है। सो जो मान 'ले' तो रहे हैं, पर मान देना नहीं चाहते या दे नहीं रहे, वे तो चोर और डाकू की श्रेणी में आयेंगे। चैतन्य महाप्रभु यही सन्देश देना चाहते हैं कि जिनसे मान के नाम पर हमें कुछ भी नहीं मिल रहा, बल्कि बेशक अपमान ही क्यों न मिल रहा हो, फिर भी प्रभु की अर्चना-पूजा में लगे हुए व्यक्ति को उन लोगों को भी सम्मान ही देना चाहिए।

भक्ति या ज्ञान के उच्च धरातल पर खड़े हुए बिना ऐसा कर पाना या ऐसा हो पाना कदापि सम्भव नहीं है। हृदय इतना विशाल हो जाए कि इसमें प्रिय-अप्रिय सब समा जाएँ बल्कि प्रिय-अप्रिय का भेद ही न रहे तो ही ऐसी अद्‌भुत घटना घट सकती है। घृणा-क्रोध-प्रतिशोध-ईर्ष्या-द्वेष-लोभ-लालच, इत्यादि दुष्टभावों का हृदय से अन्त हो जाने पर ही प्रेम की वह सर्वोच्च स्थिति आ सकती है कि हम दूसरों से पूर्ण निरपेक्ष होकर अपना प्रेम बाँटते रहें। आखिर यह सम्मान देना क्या है? बस हृदयस्थ प्रेम की बाह्य अभिव्यक्ति ही तो सम्मान है। इस प्रकार जो भगवान् के भक्त बनना चाहते हैं, उन्हें भक्ति के इस निराले ढंग का अनुसरण करना ही होगा।

५६. दीक्षा और तप

श्री महाराज हमें जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'सत्य की उपलब्धि' तक पहुँचने के लिए यजुर्वेद के एक मन्त्र के माध्यम से एक अतीव महत्त्वपूर्ण सन्देश देते हैं, जिससे हमको साधना के इस कठिन मार्ग पर चलने के लिए साफ दृष्टि प्राप्त हो जाती है। मन्त्र है-

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।। (यजु० १६.३०)

जब साधक किसी लक्ष्य को पाने के लिए कृतसंकल्प हो जाता है, एक तरफा निर्णय ले लेता है, तो मन के इस अखण्ड व अटूट निश्चय को वैदिक परिभाषा में 'व्रत' कहा जाता है। इसी को संकल्प भी कहते हैं। इच्छा एक प्रचलित शब्द है जिसे हम सब जानते हैं। इसको साथ में रखकर व्रत के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। इच्छा और व्रत में यह अन्तर है कि इच्छायें अनेक होती हैं। ये आती-जाती रहती हैं। इनमें कोई स्थिरता नहीं होती। किसी भी तात्कालिक प्रभाव से, अभिव्यञ्जक हेतु से या आलम्बन से प्रकट हो जाती हैं और फिर शीघ्र ही विलुप्त भी हो सकती हैं।

इच्छाओं के उत्पन्न होने में अधिकतर बाह्य उत्प्रेरक काम करते हैं। किन्तु आत्म-संकल्प में सुनिश्चितता होती है, यह (संकल्प) अन्दर की गहराई से प्रकट होता है, अपने भीतर की विचारपूर्ण माँग होती है। बाह्यतः सब अनुकूलताएँ होने पर भी जब कभी व्यक्ति अपने आपको अतृप्त पाता हो और ऐसी स्थिति में उसे यदि किसी तेजस्वी पुरुष का संग मिल जाए और साथ में शास्त्र भी सुनने-पढ़ने को मिल जाएँ तो व्यक्ति अपने अन्दर की तरफ मुड़ जाता है। कभी-कभी व्यक्ति को इस जीवन का जब कुछ भी अर्थ समझ नहीं आता है तो भी व्यक्ति गम्भीर (Serious) हो जाता है और जीवन के वास्तविक तात्पर्य को समझना चाहता है। बस यही है व्रत या संकल्प की आधार-भित्ति। गुरुजनों या महान् पुरुषों के द्वारा उसे समझाया जाता है कि यदि जीवन में समाधानपूर्वक जीना चाहते हो तो कम-से-कम शुरुआत तो विधि-निषेध से ही करनी होगी।

ऐन्द्रियिक संवेदनाओं से प्रेरित होकर जीना छोड़कर या मन-मौजी ढंग से जीना छोड़कर शास्त्र-आज्ञा अथवा अपनी अन्तश्चेतना की प्रेरणाओं के अनुसार जीवन जीने का आरम्भ करने का नाम ही व्रत या संकल्प में जीना है। जातकर्म संस्कार में अभी-अभी पैदा हुए बालक के दाहिने कान में पुरोहितों के द्वारा प्रेरित पिता पारस्कर गृह्यसूत्र (१.१६.६) के कुछ अत्यन्त तेजस्वी वचनों का उच्चारण करता है, उनमें से एक है-

ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तः।
तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।।

व्रतों को ऋषित्वप्राप्ति का अन्यतम साधन बताया गया है। यजुर्वेद (३६.४) में कहा गया है **'मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय'** अर्थात् मैं मन की अबाधित संकल्प-शक्ति और वाणी के सत्य को प्राप्त होऊँ।

व्रती होते ही व्यक्ति दीक्षित हो जाता है, व्रत या संकल्प को आचरण में लाने का नाम ही 'दीक्षा' है। अर्थात् व्रत है मानस-संकल्प तो दीक्षा है उसको जीना। दीक्षा का पूर्व रूप है व्रत, तो व्रत का उत्तर रूप है दीक्षा। किसी ने संकल्प लिया कि मैं हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य, परिग्रह नहीं करूँगा। अन्दर-बाहर से शुद्ध पवित्र रहूँगा। अपने कर्म के परिणामस्वरूप जो मुझे मिलेगा उसमें पूर्ण सन्तुष्ट रहूँगा। द्वन्द्वों को सहूँगा। शिव संकल्पों में जीऊँगा। ईश्वर को अपने कार्य अर्पित करता रहूँगा या दूसरे शब्दों में हीन चरित्र पुरुषों को अपना आदर्श नहीं मानूँगा, अशिवसंकल्पों में नहीं जीऊँगा, इन्द्रियों को अपने वश में रखूँगा इत्यादि।

ये तथा इस तरह के सब संकल्प व्रतस्वरूप हैं। श्रीअरविन्द के विशाल योग-साहित्य में यह संकल्प या व्रत ही अभीप्सा (Aspiration) के रूप में वर्णित हुआ है। व्रत हो या अभीप्सा, यह केवल मात्र दिमाग की चीज नहीं है। ज्ञान के साथ हृदय का भाव भी इसमें मिला रहता है। दिव्य जीवन जीने के लिए हृदय के अन्तरतम की प्यास को ही तो अभीप्सा कहते हैं। संकल्पों को अपने मन में धारण करते ही अब इन्हें क्षण-क्षण में जीना होता है। मन में धारण किये संकल्पों को क्षण-क्षण में जीने का नाम दीक्षा है। जब यह कहा जाता है कि ये सज्जन ब्रह्मचर्य धर्म में दीक्षित हैं अर्थात् नैष्ठिक दीक्षा ली हुई है। ये दूसरे सज्जन गृहस्थ धर्म में दीक्षित हैं और ये वानप्रस्थ धर्म में दीक्षित हैं। इसी प्रकार ये संन्यास में दीक्षित हैं। इस विशिष्ट व्यक्ति ने सेवा धर्म की दीक्षा ली हुई है, तो इसका अर्थ होता है कि उस-उस आश्रम के जो धर्म और निष्ठायें हैं उन्हें ये लोग प्राणपण से क्षण-क्षण में जी रहे हैं।

ग्रहण की हुई दीक्षा को पार लगाने के लिए एक तरफ व्रत (संकल्प) और दूसरी तरफ तप का सहारा लेना पड़ता है। अर्थात् संकल्प (व्रत) और तप के दो पाटों के बीच दीक्षा रूपी नदी बहती है। दीक्षा को निभाने में जो बाधायें आती हैं, उन्हें धैर्यपूर्वक 'सहने' का नाम तप है। यहाँ सहने का अर्थ है धीर बनकर अपने चित्त की एकाग्रता से उन बाधाओं को अभिभूत करना। और भी सशक्त शब्दों में कहें तो अपने चित्त की एकाग्रतारूपी अग्नि से उन्हें जला डालना। **'तपो द्वन्द्वसहनम्'** (यो०दर्शन २.३२) तथा **'मनस इन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः।** (महा० शा० २५०.४), इन दोनों आर्ष वचनों का उपर्युक्त सन्दर्भ में यही अभिप्राय है।

यह पूछा जाता है कि दीक्षा और तप के इस जोड़े में दोनों ही समान रूप से महिमाशाली हैं या इनमें पर-अवर का भेद है? व्याकरण भाष्यकार पतञ्जलि ने **'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति'** (अ० २.२.३४) वार्तिक का उदाहरण देते हुए दीक्षा को पूजनीय बताया है। उनका भाव यह है कि दीक्षा दृढ़ होती है तो व्यक्ति तप करने की शक्ति भी जुटा लेता है। अवश्य ही तप, दीक्षा की रक्षा के लिए है किन्तु दीक्षा, तप को शक्ति देती है। दीक्षा और तप के साहचर्य के वर्णन से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। कहीं कहा गया है **'भद्रमिच्छन्त ऋषयस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे'** (अथर्व०१९.४१.१) अर्थात् कल्याण की कामना करते हुए ऋषियों ने दीक्षा और तप की शरण ली। अथर्ववेद (का० १९ सूक्त ४२) में तो **'यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह'** इत्यादि ८ मन्त्रों का पूरा सूक्त ही दीक्षा व तप की महिमा गा रहा है– ब्रह्मज्ञानी

दीक्षा व तप के साथ जहाँ पहुँच रहे हैं, वहीं अग्नि देवता मुझको पहुँचाए और साथ में वही अग्नि मुझे मेधा (धारणावती बुद्धि) की भी प्राप्ति कराए। इसी प्रकार दीक्षा और तप के साथ गतिशील रहते हुए वायु देवता से प्राणशक्ति, सूर्य देवता से चक्षु, चन्द्र देवता से मन, सोम देवता से पयः, इन्द्र देवता से बल,जल देवता से अमृत, ब्रह्मा देवता से ज्ञान की शक्ति को प्राप्त करने की बात कही गई है। प्रत्येक मन्त्र में **'दीक्षया तपसा सह'** को दोहराया गया है।

कहना अनावश्यक है कि जो साधक अपने संकल्प को प्रतिक्षण जी रहा है, उसे दक्षिणा न मिले यह कैसे हो सकता है! अर्थात् दीक्षा का अवश्यंभावी परिणाम उस विषय की उपलब्धि का आरम्भ हो जाना ही है। इस प्रकार उसे निश्चय हो जाता है कि तू जिस रास्ते पर चल रहा है, वह तुझे लक्ष्य की तरफ ले जा रहा है अर्थात् लक्ष्य की ओर सतत एक-एक कदम आगे बढ़ा रहा है। इसी का नाम है 'श्रद्धा' अर्थात् चित्त की अभिरुचिमती या प्रसन्नतापूर्ण निश्चयवृत्ति।

लक्ष्य की सम्प्राप्ति अथवा सत्य की उपलब्धि की इस कठिन यात्रा में महान् प्रतिरोध के साथ एक-एक इञ्च भूमि को जीतना पड़ता है। समस्त असफलताओं के बीच जिनकी निष्ठा अक्षुण्ण बनी रहती है, सभी प्रकार की अग्निपरीक्षाओं के बावजूद जो अपनी श्रद्धा में टस से मस इधर-उधर नहीं होते उन्हीं के लिए है यह योगमार्ग, सत्यमार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, विवेकख्याति की प्राप्ति का मार्ग, प्रसंख्यान मार्ग, धर्म का मार्ग, निष्काम सेवा का मार्ग, भगवत् पूजन का मार्ग, शान्ति प्राप्त करने का मार्ग, परोपकार करने का मार्ग, जीवन को परिपूर्ण करने का मार्ग, श्रेयोमार्ग, निवृत्तिमार्ग, ध्यानमार्ग— इस सूची को कितना भी बढ़ाया जा सकता है।

यह पूछा जा सकता है कि किसी भी व्यक्ति को सत्य उपलब्ध हो गया है और वह उसमें सुप्रतिष्ठ भी हो गया है, इसकी पहचान क्या है? इसका उत्तर है— वह व्यक्ति सहज हो जाता है, समस्त उथल-पुथल के बीच शान्त बना रहता है। उसके पास बैठने मात्र से शान्ति मिलती है। वह सबको समदृष्टि से निहारता है। वह सदा प्रज्ञावान् बना रहता है। जन्म-मरण उसके लिए एकरूप हो जाते हैं। न वह किसी से अपने को अधिक समझता है, न न्यून। वह भगवान् के समक्ष बालक-जैसा समर्पित रहता है और संसार के सामने एक पूर्ण जिम्मेदार। वह निर्भय हो जाता है। वह पुष्प की तरह अपनी सुगन्ध चारों तरफ बिखेरता रहता है। वह पूर्ण निरहंकार हो जाता है। वह गुण-चक्र से मुक्त हो जाता है। वह समस्त दिव्यता का केन्द्र हो जाता है। वह अकाम, पूर्णकाम, आप्तकाम हो जाता है। सत्य को उपलब्ध हुए व्यक्ति के इसी प्रकार के अनेकानेक चित्र देखे जा सकते हैं।

❋❋❋❋❋

- ☞ भगवान् की ओर चलने का मान्यताओं पर आधारित मानवीय मार्ग भयावह है।
- ☞ सम्यक् विचार से सम्यक् आचरण का महत्त्व बहुत अधिक है।
- ☞ साधना मार्ग में आचरण की प्रधानता होती है, विचार की नहीं।

६०. मनमणि का कमठाण

प्रस्तुत दोहों में इनके रचयिता वीतराग सन्त स्वामी सोमानन्द जी महाराज द्वारा उच्च अध्यात्म स्थिति में अनुभूत आनन्दमय हृदयोद्गार सहज काव्यरूप में स्फुरित हुए हैं–

सर्वागस्-संवर्गसम पुण्यपर्व पवमान।
निश्चल नीरव द्वार का मनमणि का कमठाण।।१।।

जो 'सर्वागस्-संवर्गसम' अर्थात् सभी आगस्= पापों के लिए संवर्ग (सबको ग्रस लेने वाले) के समान है, अर्थात् आदित्य रूप संवर्ग जैसे अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही जो समस्त पापों को नष्ट कर देता है तथा जो पुण्य पर्व जैसा पवमान है, पवित्रताकारक है; ऐसा परमेश्वर, जिसमें निश्चलता व नीरवता रूप द्वार से प्रवेश पाया जाता है, वह परमप्रिय ही मेरे मणि जैसे निर्मल मन का कमठाण है अथवा निश्चल (हलचल व क्षोभ से रहित) एवं नीरव (शान्त निःशब्द) द्वार रूप मनमणि का वही कमठाण है। 'मनमणि' का अर्थ है– **मनो मणिरिव**, अर्थात् शुद्ध स्फटिक मणि जैसा निर्मल मन।

यहाँ **'कमठाण'** शब्द संस्कृत के **'कमनीय-स्थान'** का पर्यायवाची है। शील एवं समाधि से शान्त एवं पवित्र मन को मणि के समान निर्मल होने के कारण 'मनमणि' कहा गया है। ऐसे मन के लिए आध्यात्मिक साधना कमठाण है, अर्थात् रमने का कमनीय स्थान है। 'कमठाण' शब्द ऐसे रमणीय व चित्ताकर्षक एकान्त स्थान का वाचक है, जहाँ जाकर व्यक्ति उसके सौन्दर्य से अभिभूत होकर आनन्दमग्न हो जाता है तथा उसी में खोकर अपने को भूल जाता है।

भूत भुवन भावी सिमट पल भर में अवसान।
ऐसे काल-अकाल में मनमणि का कमठाण।।२।।

भूत, वर्तमान व भविष्यत काल के घटना-क्रम जहाँ सिमट कर पल भर में अवसान को प्राप्त हो जाते हैं, काल भी जहाँ अकाल रूप बन जाता है अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्तमान का भेद खोकर शाश्वत (Eternal) हो जाता है, ऐसा जो परमात्मतत्त्व है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है अर्थात् उसी में मेरा मन रमण करता है।

निर्गुण निर्मल ज्योति की उज्ज्वल छाया जाण।
इस छाया की छाँह में मनमणि का कमठाण।।३।।

ईश्वर की जो निर्गुण निर्मल ज्योति है, उसकी उज्ज्वल छाया को जान लो। इस छाया की छाँह में अर्थात् आश्रय में ही मेरे मनमणि का कमठाण (ठिकाना) है।

पूषन्नेक समूह सम आदि-मध्य-अवसान।
सहज शरण करुणाभुवन मनमणि का कमठाण।।४।।

जो पूषा परमात्मा अपनी अनेक पालनात्मक किरणों वाला होते हुए भी एक समूह रूप है अर्थात् एकीभूत प्रकाश पुञ्ज है। वह सदा एकरस रहता है, आदि, मध्य एवं अवसान (अन्त) में सम रहता है। ऐसा करुणाभुवन परमेश्वर ही जीव की सहज शरण है। वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

अगम निगम दोऊ ढरे संगम पद निर्वाण।
त्रिवेणी के धाम में मनमणि का कमठाण।।५।।

आगम अर्थात् परम्परा से प्राप्त जो शास्त्रज्ञान है तथा निगम= वेद, जहाँ दोनों का निर्वाण पद में संगम हो जाता है, ऐसे उस त्रिवेणी के धाम में मेरे मनमणि का कमठाण है। यहाँ और भी त्रिवेणी हैं जिन्हें इस रूप में समझ सकते हैं- श्रद्धा→भक्ति←प्रेम। श्रद्धा→स्वधा←मेधा। सरलता → शालीनता←सौम्यता। शील→समाधि←प्रज्ञा।

हृदय सिन्धु मति सीप सम स्वाति करुण-घन जाण।
एक बूँद अशरण शरण मनमणि का कमठाण।।६।।

हृदय रूपी सिन्धु में मति (बुद्धि) सीप के समान है। करुणघन (करुणा का मेघ) अर्थात् परम दयालु परमेश्वर स्वाति नक्षत्र के समान है। उस स्वाति नक्षत्र की अर्थात् अशरणों के शरण रूप परमेश्वर की भक्ति के रस की एक बूँद ही मेरे मनमणि का कमठाण है।

श्रद्धा भक्ति प्रेममय अमर धाम सोपान।
सहजशील सौरभ जहाँ मनमणि का कमठाण।।७।।

श्रद्धा, भक्ति और प्रेममय मनःस्थिति– ये जिस अमरधाम अर्थात् निर्वाण पद तक पहुँचने के लिए सोपान (सीढ़ी) के समान हैं तथा साथ में जहाँ सहज शील का सौरभ (सुगन्ध) बिखर रहा है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

सगुण मात निर्गुण पिता गुरुवर वेद-निधान।
इनकी पावन शरण में मनमणि का कमठाण।।८।।

दयालुता आदि गुणों से युक्त ईश्वर ही माता रूप में है, उसी का त्रिगुणातीत स्वरूप पिता के रूप में है। उसका वेद-निधान (ज्ञानमय) स्वरूप गुरुवर के रूप में है। ऐसे माता-पिता व गुरु रूप भगवान् की पावन शरण ही मेरे मनमणि का कमठाण है।

एक बिन्दु में सिन्धु जहाँ कण-कण लखे महान्।
ऐसे सिमटे शून्य में मनमणि का कमठाण।।९।।

जहाँ एक बिन्दु में भी सिन्धु समा जाता है तथा कण-कण भी सिन्धु के समान महान् रूप में परिलक्षित होता है। ऐसे जिस शून्य स्वरूप (पूर्ण स्वरूप) परमात्मा में सब कुछ सिमटा हुआ है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

दिन में खोया सा रहे घोर निशा में भान।
ऐसी चाल-विचाल में मनमणि का कमठाण।।१०।।

सांसारिक लोगों के लिए जो दिन है– सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान और वैषयिक सुख; साधक उस जीवन के प्रति उदासीन सा बना रहता है। सांसारिक जीवन के इन उपर्युक्त आकर्षणों से मुक्त रहता है और सांसारिक लोगों के लिए जो अन्तर्मुखीन जीवन घोर निशा जैसा प्रतीत होता है उसमें पूरा भानयुक्त रहता है, पूर्ण सचेतन रहता है। ऐसी दुनिया से निराली चाल-विचाल (विचित्र चर्या) में ही मेरे मनमणि का कमठाण है। अथवा दिन में तो जो कर्म में खोया रहता है और रात्रि में अपने चिन्मय स्वरूप में बना रहता है, साधक की ऐसी जीवनचर्या में मेरे मनमणि का ठिकाना है।

घर-घर बौराया फिरे पड़ रही बाण-कुबाण।
आँख पुतरिया में मिला मनमणि का कमठाण।।११।।

बहिर्मुखी व्यक्ति बौराया हुआ सा अर्थात् अपने ऐश्वर्य या गुण आदि के अभिमान से ग्रस्त हुआ तथा इच्छाओं या कामनाओं का मारा हुआ घर-घर फिरता है अर्थात् बाहरी सम्बन्धों में रस लेता है, परन्तु अन्तर्मुखी व्यक्ति आँखों की पुतली में एकाग्र अर्थात् आज्ञाचक्र में ध्यानमग्न हो जाता है। इस प्रकार पुतली बन्द कर एकाग्रता से होने वाली ध्यान दशा में ही मेरे मनमणि को कमठाण (ठिकाना) मिल जाता है।

शून्य शान्त संबोध में पुण्यपर्व पवमान।
ऐसे शाश्वत धाम में मनमणि का कमठाण।।१२।।

जो वासनाओं एवं वृत्तियों से शून्य अतएव शान्त संबोध (आत्मज्ञान/ द्रष्टृ-स्वरूपावस्थान) में पवित्र करने वाला पुण्य पर्व जैसा बना हुआ है। ऐसे शाश्वत आनन्द के धाम में ही अर्थात् आनन्दघन के सान्निध्य में मेरे मनमणि का कमठाण है।

भावतुला के पालने तुल रहा सकल जहान।
सम समता सम्मान में मनमणि का कमठाण।।१३।।

सारा संसार भावतुला के पलड़ों में तुल रहा है अर्थात् इष्ट-अनिष्ट के भाव से सुख-दुःख का विभाग कर रहा है। परन्तु अध्यात्म रस में डूबा होने से सर्वदा समावस्था में रहने वाली समता के लिए जो सम्मान भाव है, आदर भाव है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

नाम रूप की माधुरी जाने सन्त सुजान।
इस गुण गौरव नाम में मनमणि का कमठाण।।१४।।

भगवान् के नाम रूप की माधुरी अर्थात् उसकी भक्ति व उसकी रची विचित्र रचना के रूप की माधुरी को सन्त (सज्जन पुरुष) जानते हैं और गाते हैं। भगवान् के इस गुण गौरव नाम में ही मेरे मनमणि का कमठाण है।

तत् देखे तत् हो गया तन्मय भूल पिछाण।
ऐसी सुन्दर साध में मनमणि का कमठाण।।१५।।

उस आत्म तत्त्व को देख उसी रूप में हो गया और अपनी दैहिक पहचान भूलकर तन्मय (तद्रूप) हो गया, ऐसी स्वरूपावस्थिति की सुन्दर साधना में ही मेरे मनमणि का कमठाण है। **'तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्'** (यजु० ३२.१२)।

अपरं परं समंगहितु शरणागत के त्राण।
ऐसा अद्भुत आसरा मनमणि का कमठाण।।१६।।

जो अपरंपर (अपरम्पार) है तथा सब का हितकारी है, जो शरणागत का त्राण अर्थात् रक्षा करने वाला है, ऐसा जो प्रभु का अद्भुत आसरा है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

दो अतियों के मध्य में सहज पंथ जलयान।
इस पथ का अवसान जो मनमणि का कमठाण।।१७।।

अति भोजन, अति उपवास, अति शयन, अति जागरण इत्यादि रूप वाली दो प्रकार की अतियों के मध्य में जो मध्यम मार्ग रूपी सहज पंथ है, वह संसार सागर को पार करने का जलयान जैसा है। इस मध्यम मार्ग का जो अवसान है, अन्तिम गन्तव्य है, मंजिल है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

नाम रूप बिन सर्वमय निर्गुण गुण की खान।
मायामय करुणा भुवन मनमणि का कमठाण।।१८।।

जो अद्भुत स्वरूप वाला परमेश्वर नाना रूपों के बिना ही सर्वमय बना हुआ है, निर्गुण होते हुए भी गुणों की खान है, ऐसा जो मायामय तथा करुणा का भुवन है, वही प्रभु मेरे मनमणि का कमठाण है।

गिरि लांघे सागर तरे गूंगा करे बखान।
स्वर लहरी के मूल में मनमणि का कमठाण।।१९।।

जिसकी कृपा से पंगु भी पर्वत को लाँघ जाता है तथा असमर्थ भी सागर को पार कर लेता है, गूंगा भी जिसकी कृपा से बखान करने लगता है, नानाविध वर्णना करने लगता है। इस प्रकार असमर्थों के सामर्थ्य एवं गूंगे की स्वर लहरी के पीछे जो मूल है, निमित्त है, उसी प्रभु में मेरे मनमणि का कमठाण है।

सुख दुःख और जीवन मरण नहीं यम दण्डविधान।
शासन मुक्त वितान में मनमणि का कमठाण।।२०।।

जहाँ न सुख है न दुःख है, न जीवन है न मरण है, और न ही यमदण्ड का विधान है अर्थात् यमदण्ड के रूप में नारकीय यातनाएँ भी नहीं हैं। इस प्रकार के शासनमुक्त एवम् उन्मुक्त अर्थात् बन्धन रहित अध्यात्म के क्षेत्र में ही मेरे मनमणि का कमठाण है।

अपनी वास सुवास को भूला फिरे अजाण।
जा घर की यह महक है मनमणि का कमठाण।।२१।।

बहिर्मुखी व्यक्ति अपनी वास-सुवास को अर्थात् आत्मा से उद्‌गत सुखानुभूति को, अज्ञानी बना हुआ बाहरी पदार्थों में खोजता फिरता है। यह सुवास अर्थात् इन्द्रियागोचर सुखानुभूति जिस उद्‌गम स्थान की है, वही आत्मतत्त्व मेरे मनमणि का कमठाण है।

वह खैंचे यह विलगता चल रही खैंचाताण।
जिन देशों की यह खिंचन मनमणि का कमठाण।।२२।।

वह अन्तर्वासी परमात्मा अन्दर की तरफ खींचता है और यह मन उससे अलग हो जाता है, दूर भागता है। इस प्रकार निरन्तर खींच-तान चल रही है। जिन अध्यात्मभूमियों अर्थात् परमेश्वर के विभिन्न रूपों का यह आकर्षण है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

जुग-जुग मन भटक्यो फिर्‌यो नाम रूप अनजाण।
नैन पुतरिया में मिल्यो मनमणि का कमठाण।।२३।।

यह मन युग-युगों तक अपने नाम रूप अर्थात् आत्म-तत्त्व के वास्तविक स्वरूप के प्रति अनजान बना हुआ भटकता फिरता रहा है। ऐसे मेरे मनमणि को अन्तर्मुखी होने पर, आँख बन्द कर ध्यानस्थ होने पर नैन पुतरिया अर्थात् ध्यान निमीलित नेत्रों में ही अपना कमठाण अर्थात् रणमीय स्थल मिल गया है।

जिसमें सब सबमें स्वयं सत्य सेतु संधाण।
हिल मिल रास रचाव में मनमणि का कमठाण।।२४।।

जिसमें सभी समाये हैं और जो सबमें स्वयं समाया है, उस परमात्मा का जो सत्य सेतु सन्धान है अर्थात् आत्मा को उससे मिलाने वाला जो सच्चा प्रेम है, उस प्रेम में मग्न एवं तन्मय होकर की जा रही इस रासलीला में अर्थात् आत्मा-परमात्मा की रसपूर्ण अध्यात्म क्रीड़ा में ही मेरे मनमणि का कमठाण है।

रास रचा ब्रह्माण्ड में अपने-अपने ठाण।
जिन हाथों यह डोर है मनमणि का कमठाण।।२५।।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भक्त जीवात्माओं के साथ अपने-अपने स्थान पर यह रास (आनन्दमय क्रीड़ा) रचा है। इस आनन्दमय रास की डोर प्रभु के जिन करुणामय हाथों में है, वे ही मेरे मनमणि का कमठाण हैं।

तीन पाँच का सघन वन उलझा मन अनजाण।
विश्व विटप के मूल में मनमणि का कमठाण।।२६।।

तीन गुणों और पाँच तत्त्वों का यह सघन वन अर्थात् संसार चक्र है। इसमें अनजान बना मन अर्थात् तत्त्व ज्ञान से विमुख हुआ मन उलझा हुआ है। इस सघन एवं विचित्र विश्व विटप (संसार वृक्ष) के मूल परमप्रभु में ही मेरे मनमणि का कमठाण है।

जग जंगल में विहग मन उड़ता विविध उड़ाण।
थक-थक जो शरणा गहे मनमणि का कमठाण।।२७।।

इस संसार रूपी जंगल में मन रूपी पंछी नाना प्रकार की उड़ान उड़ता रहता है अर्थात् सुख की तृष्णा में जगह-जगह भटकता रहता है। परन्तु कहीं भी वास्तविक सुख नहीं मिलने पर अन्ततः

जिस आनन्दकन्द भगवान की शरण में आता है, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

काशी काबा में फिरा कण-कण लीना छाण।
अन्तर पट की ओट में मनमणि का कमठाण।।२८।।

मैं जिज्ञासु भक्त के रूप में तत्त्वज्ञान, धर्म व सुख पाने के लिए काशी, काबा अर्थात् विविध तीर्थस्थानों में फिरा एवं कण-कण छान मारा परन्तु कहीं अभीष्ट नहीं मिला। जब शान्त होकर ध्यान समाधि में खोजना प्रारम्भ किया तो देखा कि अन्तर पट की ओट में अर्थात् बहिर्मुखता के द्वार बन्द करते ही उसके पीछे ही मेरे मनमणि का कमठाण है।

गूंगा बहरा बावला पापपुंज पाखाण।
कृपा मेघ सब पर ढरे मनमणि का कमठाण।।२९।।

चाहे कोई गूंगा, बहरा व बावला (पगला) हो, चाहे पाप का पुञ्ज (पापी) या पाखाण अर्थात् पाषाण तुल्य निपट मूर्ख हो, तो भी उस परम दयालु प्रभु का कृपामेघ सब पर ढलता रहता है अर्थात् उडेला जाता है। अर्थात् वह प्रभु अपनी कृपा से सभी को सन्मार्ग व सुख पाने की प्रेरणा करता रहता है, ऐसा परम दयालु परमेश्वर मेरे मनमणि का कमठाण है।

गिरि गह्वर और सघन वन कण-कण लीने छाण।
दीन कुटी के कुंज में मनमणि का कमठाण।।३०।।

गिरि गह्वर अर्थात् पर्वत कन्दराएं एवं सघन वन– इन सबका कण-कण छान लिया अर्थात् सभी जगह भ्रमण किया, परन्तु कहीं शान्ति का स्रोत नहीं मिला। अन्त में दीन कुटी के कुञ्ज में ही शान्ति का स्रोत मिला, वही मेरे मनमणि का कमठाण है। भाव यह है कि तत्त्व की खोज में सब जगह भ्रमण करने पर भी जब कुछ न मिला तो लताओं एवं वृक्षों से आच्छादित छोटी-सी कुटिया बनाकर शान्त एकान्त स्थान में ध्यान-साधना करने पर शान्ति का स्रोत मिल गया, वही मेरे मनमणि का कमठाण है।

डाल पात भागा फिरे मन बिन जाण पिछाण।
सबके आदि मूल में मनमणि का कमठाण।।३१।।

शान्ति की खोज में यह मन डाल-पात पर भागा फिरता है, अर्थात् बाहरी साधनों की खोज में लगा रहता है। परन्तु इन सबका जो मूल है, शान्ति का स्रोत दयालु प्रभु, उसी में मेरे मनमणि का कमठाण है।

अलख सुलख के मध्य में निर्गुण सगुण वितान।
सुषमा सघन निकुंज में मनमणि का कमठाण।।३२।।

अलख अर्थात् स्वरूपतः निराकार परम प्रभु तथा सुलख अर्थात् माया किंवा प्रकृति के साकार रूपों के मध्य में निर्गुण एवं सगुण रूप का वितान है, प्रसार है। इस प्रकार वह जगदीश्वर ही अलौकिक सुषमा का सघन निकुंज है, उसी में मेरे मनमणि का कमठाण है।

सब जग हितकारी लखे भूखे की पहचान।
ऐसी पावन भूख में मनमणि का कमठाण।।३३।।

सारा जग हितकर लगता है, यही भूखे की पहचान है अर्थात् जिसे अध्यात्म की भूख होती है, उसे संसार हितकर ही दिखता है, कोई अहितकारी नहीं दिखता। वह प्रतिकूलताओं में भी हित का ही भाव पाता है और उनके द्वारा अपने को निखारता है, अपनी साधना में सहनशीलता को बढ़ाता है तथा सहज होता जाता है और संसार के विषयों से अधिकाधिक पराङ्मुख होता जाता है। अध्यात्म की ऐसी निराली और पावन भूख में ही मेरे मनमणि का कमठाण है। श्री महाराज का एक वचन है– साधक के लिए कुछ भी प्रतिकूल नहीं है।

तरुवर सरवर सन्तजन सहजशील सुखधाम।
सार सिन्धु के बिन्दु में मनमणि का कमठाण।।३४।।

तरुवर व सरोवर के समान निःस्वार्थ परोपकार भाव में निरत सन्तजन सहजशील=स्वाभाविक उत्तम आचरण युक्त एवं निर्मल सुख के धाम होते हैं। ऐसे ये सन्तजन सारतत्त्व के सागर हैं, धर्म के निधान हैं। इनके छोटे से बिन्दु अर्थात् अंश में भी मेरा मन रमता रहा है, अतः उसी में मेरे मनमणि का कमठाण है।

सगुण मात निर्गुण पिता सहचर पावन प्राण।
पूरण परमानन्द में मनमणि का कमठाण।।३५।।

सगुण माता अर्थात् तीन गुणों वाली प्रकृति मातारूप है तथा निर्गुण अर्थात् त्रिगुणातीत परमेश्वर पिता है। पावन (पवित्र) रूप वाले अर्थात् किसी प्रकार की आसक्ति न रखने वाले, निःस्वार्थ रूप में अहोरात्र गतिशील प्राण ही अध्यात्म साधना में सहचर हैं। इस प्रकार की साधना में भगवान् की कृपा से जो पूर्ण परम आनन्द मिलता है, उसी में मेरे मनमणि का कमठाण है।

अनदेखे दीखण लगे, देखत होवे हाण।
अलख सुलख परिधान में मनमणि का कमठाण।।३६।।

बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ जब अपना व्यापार बन्द कर देती हैं अर्थात् बाहर देखना बन्द कर देती हैं तो उस शान्त नीरव स्थिति में वह आत्मतत्त्व उद्घटित हो जाता है, दिखने लगता है, किन्तु जब ये साधन अपने-अपने व्यापार में व्यापृत हो जाते है अर्थात् बहिर्मुखी हो जाते हैं, तो वह तिरोहित हो जाता है। ऐसे अलख अर्थात् निर्गुण, सुलख अर्थात् सगुण, इन दोनों परिधानों, रूपों में विद्यमान परमतत्त्व में ही मेरे मनमणि का कमठाण है। श्री महाराज कहा करते हैं– **'वासुदेवः सर्वमिति', 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'।**

प्रेम गली अति साँकरी गुण निर्गुण सोपान।
नित नूतन निर्वाण में मनमणि का कमठाण।।३७।।

प्रभु के प्रेम की गली बहुत संकरी है। उस प्रेम गली में प्रभु तक पहुँचने के लिए सगुणोपासना

और निर्गुणोपासना रूप सोपान अर्थात् पैड़ियाँ बनी हुई हैं। भाव यह है कि कोई भक्त उसके माया सहित रूप की स्तुति करता है तो कोई निर्गुण रूप की। इस प्रकार दोनों भक्ति के माध्यम से मन को निर्मल कर उस तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। भक्तों को ऐसी भक्ति द्वारा जो नित नूतन निर्वाण अर्थात् शान्तिमय पद मिलता है, वही मेरे मनमणि का भी कमठाण है।

तत् देखा तत् हो गया तत् ही था तन्मान।
तत्त्वमसि के धाम में मनमणि का कमठाण।।३८।।

उस परम तत्त्व को देखा और उस जैसा ही हो गया क्योंकि पहले से ही उससे ओत प्रोत था। ऐसे 'तत्त्वमसि' के धाम में मेरे मनमणि का घर है।

शून्य भित्ति पर चित्र रंग तनु बिन रचा जहान।
ऐसे अद्भुत अंग में मनमणि का कमठाण।।३९।।

बिना शरीर के ही शून्य भित्ति पर चित्र-विचित्र रंगों से युक्त जिसने यह सारा जहान रच डाला, ऐसे उस अद्भुत कलाकार में मेरे मनमणि का ठिकाना है।

दीखूँ-दीखूँ मत कहो देखूँ-देखूँ जाण।
इस देखूँ का देखणा मनमणि का कमठाण।।४०।।

मैं दूसरों को दिखूँ– यह मत सोचो। इस अहंकार से अपने को बचाओ। बल्कि मैं भगवान् को देखूँ– इसे ही अपने सामने रखो। इस देखने के दर्शन में ही मेरे मनमणि का ठिकाना है।

दीन हुए दाता मिले भक्त हुए भगवान्।
परहित पावन गंग में मनमणि का कमठाण।।४१।।

दीन होते ही हमें दाता मिल जाता है और भक्त होते ही भगवान्। इस परहित की पावन गंगा में मेरे मनमणि का ठिकाना है, मेरा मन सुरक्षित है।

मोहक माया महल में आया मन महमान।
भेद खुला गुरु शरण में मनमणि का कमठाण।।४२।।

यह मन रूपी महमान मोह लेने वाले इस संसार रूप महल में आया हुआ है। इस बात का भेद मुझे गुरु शरण में आने पर पता चला– ऐसा वह गुरुशरण मेरे मनमणि का ठिकाना है।

गंग गोत्र जंग झार में ढूंढत फिरे अजाण।
सखी सखरज निकुञ्ज में मनमणि का कमठाण।।४३।।

गंगा, गोत्र=पहाड़, जंगल, झाड़ में अनजान बनकर ढूँढता फिरता रहा, किन्तु बाद में पता चला कि वह तो मैत्री से परिपूर्ण सखाओं के रजकण में ही बस रहा है। ऐसे अद्भुत प्रेम निकुञ्ज में मेरे मनमणि का ठिकाना है।

सत्य सलिल मन मीन है सहजशील पवमान।
नित नूतन रस रास में मनमणि का कमठाण।।४४।।

सत्य जहाँ सलिल=जल है और मन मीन है तथा सहजशील पवित्र करने वाला है, ऐसे नित्य नूतन रस की क्रीड़ा में मेरे मनमणि का ठिकाना है।

❋❋❋❋❋

☞ जय-विजय जती-सतियों की जय हो!

☞ एकान्त! सुशान्त! प्रशान्त! (श्रद्धा)। सत्यम्! शिवम्! सुन्दरम्! (भक्ति)।

☞ मनुष्य आन्तर नियमों और पशु बाह्य नियमों से शासित।

☞ सुन्दर पात्र का श्रेय उसके निर्माता को है, न कि पात्र को।

☞ सरल ऋषि प्राण! सनकादि ब्रह्म ऋषियों का स्तर है सरल ऋषि प्राण!

☞ मुझ जीव के लिए नैतिकता में सरलता, सौम्यता, कुलीनता और शालीनता ही सनकादि ऋषि हैं।

☞ मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार भावलोक के सनकादि ऋषि हैं। **प्राणा वाव ऋषयः!**

☞ अपने पवित्र शुद्ध चित्त की सरल वृत्तियों को ही सनकादिक ऋषि कहते हैं। ये ब्रह्मा के मानस पुत्र कहलाते हैं।

☞ आकाशगंग ब्रह्मद्रवी के रजस् कण में अपना घर है। पायो जी म्हाने राम रतन धन पायो। वस्तु अमोलक दी म्हारे सद्गुरु, किरपा कर अपनायो।।

☞ जीवन में रस की अनुभूति का अर्थ है– मोक्ष। नहीं तो प्रायश्चित्त! प्रायश्चित्त= मन का शोधन, दासता, हवालात, कारावास।

☞ अणोरणीयान् के पद से महतो महीयान्! अणोरणीयान् में से महतो महीयान्!!
अणोरणीयान् ही महतो महीयान्!!!

☞ पञ्चतत्त्वमय-त्रिगुणमयी प्रकृति माता हमारे जीवन को संभालने वाली धात्री है।

☞ विश्व के छोटे से छोटे घटक (वामन) से अणु (छोटे) हो जाओ। वही घटक महतो महीयान् प्रतीत होगा।

☞ साधु तो कोई विरला है हिलमिल रहे बेलाग। **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**। यदि क्षणिक का नित्य के लिए अहंकार का प्रेम के लिए, सुख का आनन्द के लिए, आंशिक का समग्र के लिए त्याग है तो **'यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** सर्व से बाधाहीन मिलन। विशुद्ध सत्त्व में निषेध वर्ग सहजभाव से समाप्त हो जाता है।

☞ संस्कारी जीवों का अवतरण (जन्म) विशुद्ध सत्त्व (सुमेधा) में होता है– खुली आँख– यह नित्य उषा का देश है। यहाँ आत्मसूर्य का सौम्य प्रकाश अजस्र भाव में है। **यत्रज्योतिरजस्रम्०**!

☞ आज का गर्दा आज ही झाड़ दो।

६१. तत्त्वमसि

श्री महाराज का एक अत्यन्त प्रिय वचन है– **'तत्त्वमसि'**। श्वेतकेतु के पिता आरुणि अपने पुत्र को उस 'आदेश' के बारे में समझा रहे हैं, जिसके जान लेने पर सब कुछ विज्ञात हो जाता है **(यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति)**। जो भी उपदेश, आदेश, सन्देश हैं वे सब हमारे जीवन को आनन्द से ओत-प्रोत करने के लिए होते हैं। हम दुःख या कष्ट में क्यों हैं? क्योंकि हम अपने ही स्वरूप से अपरिचित हैं। उपर्युक्त वचनों में दो सर्वनाम पद सुनाई पड़ रहे हैं– 'त्वम्' और 'तत्'; 'असि' क्रियापद है। **'त्वम्'** पद से आरुणि के समक्ष प्रत्यक्षतः पुत्ररूप में उपस्थित एक जीव का उपलक्षण के तौर पर संकेत किया जा रहा है जो कि वर्तमान अवस्था में अज्ञान व अहंकार से उपहित (युक्त) है और अब अपने उपलब्ध ज्ञान के अनुसार वस्तु, व्यक्ति व विचार के साथ उनसे सुख पाने के लिए सम्बन्धित होना चाहता है, और जिस समय उनको दुःखदायी देखता है तो उनसे अपने को बचाता है। इस प्रकार इस ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया को अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार आगे बढ़ाता रहता है, प्राप्त वस्तु, व्यक्ति व विचार से सुखी-दुःखी होता रहता है। **'तत्'** पद से उस परोक्ष ब्रह्म का संकेत है जो समस्त प्रतीयमान गति के मूल में या आधार में स्थिति के रूप में विराजमान है, जो एक ही साथ निर्गुण भी है सगुण भी, सदा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, करुणा व प्रेम का सागर है, कण-कण में व्यापक है, सारे वेद जिसका गीत गाते हैं, जिसे श्रुति **'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'** रूप में वर्णन करती है। जो अनिर्देश्य, अपरिमेय, अचिन्त्य, अविनाशी है। जो अभिध्यान मात्र से अर्थात् संकल्पमात्र से अपने भक्तों का कल्याण करता है, उनका अज्ञान नष्ट कर देता है, ऐसे उस 'तत्' से तुम (त्वम्) ओत-प्रोत हो।

जीव को यह सामर्थ्य प्राप्त है– वह जब बहिर्मुख होता है तो दृश्य के साथ एकरूप हो जाता है, किन्तु यदि वह अन्तर्मुख होता है तो– 'तत्' के साथ उसी प्रकार एक रूप हो जाता है जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहा अग्नि के साथ। यहाँ ऐसा समझना चाहिए– मुख्यार्थ की बाधा होने के कारण लक्षणा प्रवृत्त हो रही है। क्योंकि 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अभिधेयार्थ पृथक्-पृथक् है। 'तत्' और 'त्वम्' कभी भी एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते अर्थात् तत् और त्वम् का समानाधिकरण नहीं हो सकता, किन्तु उपर्युक्त वाक्य से तो इन दोनों की एकरूपता का कथन हो रहा है, अतः मुख्यार्थ की बाधा होने से इस वाक्य का अर्थ लक्षणा से करना होगा। या तो अर्थ होगा– वह अन्तर्यामी तुम में है या चेतनत्वेन उस अन्तर्यामी के समान धर्मवाले तुम हो। 'तत्' की ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति का 'त्वम्' से भेद होते हुए भी चैतन्य रूप से कुछ भी भेद नहीं है, व्याप्य-व्यापक रूप से भी तत् और त्वम् का एकत्व है। दोनों के चैतन्य की एकरूपता के कारण ही 'त्वम्' में 'तत्' के ज्ञान, बल, प्रेम, करुणा, शान्ति आदि धर्मों के साथ एकरूप होने की योग्यता है। 'त्वम्' चाहे तो 'तत्' के साथ एकरूप हो सकता है, न चाहे तो

बेशक न हो।

इसी शैली से 'सोऽहम्' का अर्थ होगा– 'वह' परोक्ष ब्रह्म मुझ जीव में है अथवा चेतनत्वेन 'वह और मैं' में एकरूपता है।**'अयमात्मा ब्रह्म'** जीवात्मा ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म जैसा है। जब हम यह कहते हैं– यह बालक सिंह है, तो उसका यही अर्थ होता है कि सिंह जैसा है। जहाँ भी किन्हीं दो चीजों का सादृश्य बताया जाता है तो वहाँ भेद और अभेद दोनों ही होते हैं, तत्त्वतः भेद रहता है किन्तु गुणसादृश्य से अभेदप्रतीति होती है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** इत्यादि सभी वाक्यों में अभेद प्रतीति की सघनता बताने के लिए इस प्रकार के प्रयोग किये गये हैं। मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म का समानधर्मा हूँ। इस प्रकार अभिधा में दो पदार्थों की उतनी अभिन्नता नहीं बताई जा सकती जितनी कि लक्षणा से, अतः सप्रयोजन लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। इन आर्ष वचनों में किसी का विश्वास हो तो उसके लिए इस प्रकार के सभी निर्देश बहुत बड़े संबल का काम कर सकते हैं। इन सब वाक्यों के द्वारा हमें यही संदेश दिया गया है कि हम उस अन्तर्वासी के साथ एकरूप होकर आनन्दमय तथा चिन्मय जीवन जी सकते हैं।

*****

- ☞ सच्चे साहस में न अधीरता होती है न आवेश।
- ☞ दोषों में संघर्ष, गुणों में समन्वय और मिश्रण में मन्थन।
- ☞ लोकपाल= जती-सती के हाथों से बना शीलवस्त्र! 'कुलीनता' कृतज्ञता से मापी जाती है!
- ☞ अतीन्द्रिय के सम्बन्ध में श्रवण के बिना भक्ति नहीं हो सकती।
- ☞ अपने जीवन के सुखों के बाँटने में ही शाश्वत आनन्द है।
- ☞ संयम और परिश्रम ही सब सिद्धियों का आधार है।
- ☞ चित्त की द्रवावस्था ही रस है। सारी सृष्टि का चित्त-सत्त्व (समष्टि चित्त) एक है।
- ☞ मैं हूँ– सत्! मैं अपने को जानता हूँ– चित्! मैं अपने से प्यार करता हूँ– आनन्द!
- ☞ **मामेकं शरणं व्रज! मन्मना भव**! प्रेम गली अति साँकरी ता में दो न समाय (मन में दो चीजें न हों)।
- ☞ अपने को प्रिय लगे– ऐसा दूसरों से वर्ताव ही 'व्यवहार' है।
- ☞ किसी दुःखी प्राणी को देखकर दुःखी होना धर्म है।
- ☞ सहज परिवर्तन के प्रति उदासीन रहो, यह ज्ञान का परिणाम है।
- ☞ अपने से धीरे-धीरे मुक्त होकर 'स्व' का मोह त्याग कर पर का अनुराग करना, यह परानुराग ही बुढ़ापे का अमृत है।
- ☞ अपराध का प्रतिकार और व्यक्ति से प्रेम।
- ☞ रोग का प्रतिकार और व्यक्ति से प्रेम, यह सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

६२. निर्भयता और विनय

यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।। (यजु० ३६.२२)
विद्या ददाति विनयम्।

जैसे पृथ्वी के दो ध्रुव हैं– उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव। पृथ्वी तो सतत घूम रही है– अपनी धुरी पर भी और सूर्य के चारों तरफ भी, किन्तु उसके उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव में परिवर्तन नहीं आता, वे यथावत् बने रहते हैं। उत्तरी ध्रुव के होने से ही दक्षिणी ध्रुव का अस्तित्व है, इसी प्रकार दक्षिणी ध्रुव के होने से उत्तरी ध्रुव की सत्ता है। वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे से सदा ही परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। पहला न हो तो दूसरा समाप्त हो जायेगा अर्थात् दूसरे का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा, यही बात दूसरे के सन्दर्भ में पहले पर लागू होगी।

श्री महाराज इस दृष्टान्त के द्वारा जीवन की व्याख्या करते हैं कि हम जो कुछ भी करें, जहाँ कहीं भी जाएँ, अकेले हों या समूह में, जीवन के दो ध्रुव बने रहने चाहिएँ– 'निर्भयता और विनय'। पहले तो निर्भय रहें अर्थात् ऐसे भरे-पूरे परिपूर्ण (Unique) रहें कि किसी भी प्रकार का भय न हो। मनुष्य कितने ही प्रकार के भयों से सदा घिरा रहता है– कहीं कोई नाराज न हो जाए, कोई बुरा न मान जाए। कोई मेरे बारे में सच्ची या झूठी टिप्पणी न कर दे। कोई मेरा दुष्प्रचार न करे, कहीं कोई अपमान न करे। कोई बलवान् मुझे पीट न दे। कोई मेरा प्रतिद्वन्द्वी मुझसे आगे न निकल जाए। कोई काम करते हुए असफल न हो जाऊँ। मन व इन्द्रियाँ मुझे भटका न दें। कई बार व्यक्ति भावी भय के कारण संशय में झूलता रहता है कि अमुक कार्य करूँ या न करूँ? जैसे कोई नया व्यापार प्रारम्भ करना चाहता है किन्तु सफल न होने का भय बीच में आ जाता है। किसी प्रवचन-कर्त्ता को लगता है कि पता नहीं सभा जम पायेगी या नहीं। परीक्षा में उत्तीर्ण हो पाऊँगा या नहीं। किसी उच्च स्पर्द्धा में पिछड़ तो नहीं जाऊँगा। सर्दी में बारिश होती है तो किसान को एक तरफ तो अच्छा लगता है साथ में हृदय धड़कता रहता है कि कहीं ओले न गिर पड़ें। जमीन में कोई बोर-वैल लगा रहे हैं तो डरते रहते हैं कि कहीं पानी ही न मिले और सारा परिश्रम व्यर्थ चला जाए। किसी ने कोई व्यसन छोड़ा है तो डरता रहता है कि कहीं दुबारा इसी व्यसन में न पड़ जाऊँ। सोने से पहले किसी को दुःस्वप्न का ही भय लगा रहता है। इसी प्रकार कुछ लोग अगले जन्म को लेकर भयभीत रहते हैं कि आगे हमें कैसा जन्म मिलेगा? कन्यायें भयभीत रहती हैं कि अयोग्य पति न मिल जाए। गृहस्थ भयभीत रहता है कि कहीं कन्या पैदा न हो जाए! कोई भौतिक असुरक्षा से भयभीत रहता है तो दूसरा मनोवैज्ञानिक असुरक्षा से– इस सूची को कितना ही लम्बा करके देखा जा सकता है।

श्री महाराज का कहना है– भय कोई समाधान नहीं है, बल्कि जिन चीजों से व्यक्ति भयभीत रहता है, परोक्ष रूप से उन्हें अपना निमन्त्रण दे रहा है। मनुष्य के पास वे ही चीजें आती हैं जिनकी

मनुष्य इच्छा करता है, संकल्प करता है, जिनके बारे में सोचता है, जिनको महत्त्व देता है। मनुष्य के पास 'मन' एक सशक्त यन्त्र है जो विभिन्न तरीकों से या निमित्तों से चीजों को अपनी तरफ खींच रहा है। उन्हीं में से भय भी अवाञ्छित चीजों को अपनी ओर खींचने का एक तरीका है। व्यक्ति मूलतः इसलिए डरता है कि उसके सुख में उसे किसी भी रूप में बाधा पहुँचती नजर आती है पर वह सुख का सातत्य चाहता है। अतः भय उस सिक्के का दूसरा पहलू बन जाता है। **जब तक मनुष्य में वस्तु-व्यक्ति-सम्बन्ध या क्रियाओं से सुखी होने की चाह जीवित है, तब तक इस चाह के साथ भय तो छाया की तरह लगा ही रहेगा।** अतः व्यक्ति यदि सच्चाई के साथ भयमुक्त जीवन जीना चाहता है तो भय के इस सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक ढाँचे को समझना होगा। भय का मूल सुखैषणा, सुखैषणा का मूल अहंकार, अहंकार का मूल अज्ञान है। यह भी सत्य है, जब तक व्यक्ति भयाक्रान्त है तब तक न तो 'सत्य' की खोज कर सकता है, न पूर्ण सुखी रह सकता है और न ही ठीक प्रकार की भौतिक, नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है।

श्री महाराज सावधान करते हैं कि निर्भयता सचमुच जीवन की उच्चतम उपलब्धियों में से एक है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यक्ति उच्छृंखल हो जाए। लोक में उच्छृंखल व्यक्ति के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हो जाता है, जैसे अमुक व्यक्ति बड़ा ही निडर है, किसी से भी डरता नहीं है इत्यादि। महाराज कहते हैं– 'निर्भयता' उच्छृंखलता में न बदले, इसके लिए इसके दूसरे ध्रुव 'विनय' को पकड़ना होता है। विनय के द्वारा निर्भयता की रक्षा होती है। व्यक्ति यदि विनय को अपने अन्दर काम करने के लिए जगह दे देता है तो 'विनय' व्यक्ति को कभी भी उच्छृंखल नहीं होने देती। विनम्रता के अभाव में तथा-कथित निर्भय व्यक्ति मुँहफट हो जाता है, किसी का भी अपमान कर सकता है, घमण्डी हो जाता है, झगड़ा करने के लिए तैयार रहता है। अकेली निर्भयता (विनयरहित निर्भयता) उद्धतता या उद्दण्डता में बदल सकती है। निर्भयता (अभय) एक दैवी सम्पत्ति है, जबकि उद्धतता आसुरी सम्पत्ति बन जाती है। अतः महाराज कहते हैं कि जीवन के एक सिरे में निर्भयता तथा दूसरे में विनय होनी चाहिए।

निर्भयता जैसे जीवन का एक उच्च आधारभूत नियम है, वैसा ही विनय भी है। विनय का अर्थ है दूसरों का सम्मान करना, दूसरों का ध्यान रखना, सीखने के लिए तत्पर रहना, अपने को विशेष न समझना, अहंकारमुक्त रहना। विनय का एक अर्थ और भी है– 'स्वानुशासन' जैसा कि चाणक्य ने कहा है– **'इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः'**। करुणा, प्रेम, दया, सोम्यता, सरलता, विनय (Humility), ये सब एक ही परिवार के सदस्य हैं। विनयशील व्यक्ति दूसरों के प्रति सहृदय (Kind hearted) होता है। किन्तु महाराज यहाँ भी एक विशेष बात कहते हैं– यदि व्यक्ति में निर्भयता न हो और केवलमात्र विनय हो तो उसकी विनम्रता प्रायः चापलूसी में बदल जाती है। जैसे उच्छृंखलता 'विकृत अहंकार' का एक रूप है, वैसे ही चापलूसी भी उसी का दूसरा रूप है। निर्भयता के द्वारा विनय की रक्षा होती है अर्थात् निर्भयता विनय को चापलूस या दब्बू होने से बचाती है। विनयशील व्यक्ति सत्य के प्रति, सौन्दर्य के प्रति, समस्त शुभ के प्रति, मङ्गल के प्रति, दिव्यता के प्रति सदा ही उद्घटित रहता है,

अपने हृदय-द्वार खुले रखता है और साथ में चूँकि वह निर्भय भी है अर्थात् वस्तुनिष्ठ (Objective) सुख से निरपेक्ष है, अतः उसके अन्दर किसी भी प्रकार की हीनभावना (चापलूसी) को जगह नहीं मिल पाती। दूसरे से सुख विशेष पाने की लालसा के कारण व्यक्ति चापलूस बनने के लिए बाध्य हो जाता है। सो महाराज कहते हैं कि जीवन के ये दो ध्रुव हैं, जो एक साथ बने रहते हैं तो जीवन परिपूर्ण रहता है। जितनी निर्भयता आवश्यक है, विनय भी उसके साथ उतनी ही आवश्यक है और यदि दूसरी तरफ से कहें तो कहना होगा– विनय यदि आवश्यक है तो निर्भयता भी उतनी ही आवश्यक है।

इस सब को प्राचीन वैदिक शब्दावली में प्रकट करें तो कह सकते हैं– **'अग्निषोमात्मकमिदं जगत्'**। अर्थात् सम्पूर्ण पिण्ड व ब्रह्माण्ड अग्नि-सोममय है। यज्ञ में यज्ञकुण्ड के उत्तर-दक्षिण में उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव की प्रतीक स्वरूप 'अग्नये स्वाहा' 'सोमाय स्वाहा' दो आहुतियाँ दी जाती हैं। अग्नि की रक्षा के लिए सोम है और सोम की रक्षा के लिए अग्नि। व्यक्ति में अग्नितत्त्व की प्रधानता से वीरता और निर्भयता आती है, दूसरी तरफ सोम के प्रबल होने से व्यक्ति विनयसम्पन्न होता है। सूर्य से धरती पर आने वाली किरणों को आग्नेय कहा जाता है तथा धरती से सूर्य की तरफ वापस लौटने वाली किरणों को सोम्य। जहाँ 'सोम' अग्नि को जलाने से, सब कुछ भस्म करने से रोकता रहता है, वहाँ 'अग्नि' सोम को गति देता रहता है, सक्रिय करता है। इस प्रकार अग्नि और सोम अर्थात् निर्भयता और विनय में ही जीवन की परिपूर्णता है।

श्री महाराज इस निर्भयता और विनय को शब्दान्तर से भी व्याख्यायित करते हैं– जीवन दृढ़ता और लचक का समुच्चय होना चाहिए– दृढ़ता की रक्षा लचक से होती है और लचक की दृढ़ता से, दोनों एक-दूसरे के Reciprocal हैं, पूरक हैं।

*****

- ☞ एकान्त का अर्थ है आत्मा में स्थिर रहना, कहीं इधर-उधर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं।
- ☞ भगीरथ (पुरुषार्थ), अगस्त्य (ज्ञान प्रसार), प्रह्लाद (शील), शिवि (शरणागतवत्सल), दधीचि (त्याग), हरिश्चन्द्र (सत्यप्रतिज्ञ), दिलीप (गोभक्त), रघु (दाता)।
- ☞ अहंकार के साथ ही वासनाओं का उदय व अस्त होता है।
- ☞ अन्तर्मुखी मन 'निवृत्ति' है और बहिर्मुखी मन 'प्रवृत्ति'। परन्तु आत्मा से परे कुछ भी नहीं है, दोनों एक ही हैं।
- ☞ विचारों से युक्त मन, हृदय में लीन होने पर चित्त ही है।
- ☞ महापुरुष स्वयं सत्यमय हैं, उनका चरित्र धर्म है, उनकी वाणी ही शास्त्र है और उनका मनोलोक ही वैकुण्ठ है, स्वर्ग है, शिवलोक है।
- ☞ तृष्णा संसार के सभी दुःखों में से अधिक दुःखदायिनी है, यह प्रबुद्ध और सुरक्षित व्यक्ति को भी संकट में डाल देती है।

६३. प्रेममयी माँ

श्री महाराज के हृदय में मातृशक्ति के प्रति अगाध श्रद्धा है। वे प्रायः ही यह बात कहा करते हैं– इस मर्त्यलोक में सेवा व प्रेम का मूर्तरूप किसी को देखना हो तो वह माँ है। उनका भाव है– सेवा को समझने के लिए माँ से अच्छा उदाहरण मिल पाना असम्भव ही है। महाराज माताओं की जीवनचर्या, सन्तान के प्रति उनकी भावनायें, उनके तप-त्याग का बहुत सूक्ष्मता से अवलोकन करते रहते हैं। महाराज के साथ घटी एक सच्ची घटना से माताओं के हृदय की अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। एक माता के दो बच्चे थे, एक स्वस्थ दूसरा रोगी। पर्याप्त सेवा व औषधोपचार करने पर भी आखिर वह रोगी बालक बच न सका। अब माँ विलाप करती हुई महाराज से कहने लगी– ''यह दूसरा क्यों नहीं मर गया, अब मैं क्या करूँगी" सचमुच कैसी है माँ की निरपेक्ष दृष्टि।

महाराज इस विषय में बुद्ध की एक घटना सुनाया करते हैं। बुद्ध के जीवन काल में ही उनके एक महान् शिष्य हुए सारिपुत्र। चूँकि सारिपुत्र बुद्ध से उम्र में ३५ वर्ष बड़े थे, अतः बुद्ध के समक्ष ही उनका देहपात हो गया। बुद्ध अब सारिपुत्र की अस्थियों को लेकर भिक्षुओं से पूछने लगे– बताओ ये क्या हैं? सभी भिक्षु एक-एक करके सारिपुत्र को अपनी श्रद्धाञ्जिलि भेंट करते हुए उनके गुणगान गा रहे हैं। पर बुद्ध प्रत्येक भिक्षु के वक्तव्य पर यही कह देते हैं– नहीं भिक्षुओं! सारिपुत्र के वास्तविक व समग्र स्वरूप का वर्णन नहीं हो पाया। कोई उन्हें महान् तपस्वी के रूप में स्मरण कर रहा है तो दूसरा एक शान्त स्थितप्रज्ञ योगी के रूप में, तो कोई तेजस्वी वक्ता के रूप में, तो कोई विद्वान् के रूप में। पर जब बुद्ध के द्वारा सारिपुत्र के बारे में प्रस्तुत किये गये सभी चित्रण अपूर्ण कह दिये जाते हैं तो अन्त में भिक्षुसंघ तथागत से ही निवेदन करते हैं– तो फिर महाराज! आप ही बताइये– सारिपुत्र का सच्चा स्वरूप क्या है? भगवान् कहते है भिक्षुओं! सारिपुत्र के जीवन की व्याख्या जानना व समझना चाहते हो तो सुनो– ये माँ की अस्थियाँ हैं। माँ मनुष्य नहीं बल्कि मनुष्य की जननी होती है। भौतिक रूप में अपने गर्भ से मनुष्य के बच्चे को जन्म देने मात्र से माँ का काम पूरा नहीं हो जाता। यह तो हृदय की एक विशेष स्थिति का नाम है जो मनुष्य के अन्दर छिपी हुई समस्त दिव्यताओं को ठोस साँचे में ढाल कर सतह पर प्रकट कर देती है। सो सारिपुत्र की समग्र व्याख्या एक शब्द में करने के लिए कहा जाये तो वह होगी– **"मातृहृदय"**।

महाराज अपने इस गम्भीर विचार के समर्थन में स्वामी दयानन्द का भी प्रमाण दिया करते हैं। वे कहते हैं– देखो स्वामी दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का प्रारम्भ माँ शब्द से ही किया है। उनका कहना है– सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास तो मंगलाचरण के रूप में है। सत्यार्थप्रकाश का आरम्भ तो दूसरे समुल्लास से ही कहा जाना चाहिए और उसके आदि में 'मातृमान्' शब्द पढ़ा गया है, इस प्रकार 'माँ' की महत्ता पर स्वामी जी ने अपनी मुहर लगा दी है। स्वामी दयानन्द इस महान् अर्थगर्भित शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं- 'जितना विदुषी व धार्मिक माँ से सन्तान का उपकार होता है उतना किसी

से नहीं'। महाराज स्वयं अपने अन्दर धर्मभाव का बीजारोपण अपनी माता के द्वारा हुआ-हुआ मानते हैं।

एकबार एक बहिन गर्मी के दिनों में पंखा करने लगी। महाराज ने तत्काल उसे यह कहते हुये मना कर दिया– नहीं जीजी! तुम यह काम न करो। लेखक ने पूछा– स्वामी जी इनको किसलिए मना कर रहे हैं– महाराज ने अपनी सहज सरल भाषा में उत्तर दिया– क्योंकि इनसे जन्म ग्रहण किया है, इन्होंने हमें घूँटी पिलाई है।

महाराज सुनाया करते हैं– एक बहिन मुझसे पूछने लगी कि स्वामी जी आप मातृशक्ति का जो इतना गुणगान करते हैं क्या सचमुच हममें इतनी शक्ति है ही या हमारा उत्साह बढ़ाने के लिए आप ऐसा कहते हैं? महाराज कहने लगे– जीजी! मैं क्या बताऊँ– मेरी तो ऐसी ही निष्ठा है। मैं तो मातृशक्ति के द्वारा सदा अपने आप को सुरक्षित अनुभव करता हूँ। कोई कितना भी वर्णन करे, वह आंशिक ही होगा।

माँ की प्रेममयी दृष्टि का एक और उदाहरण महाराज सुनाया करते हैं– महाराज एक बार रेल में सफर कर रहे थे कि क्या देखा कि एक छोटे बच्चे की हाथ की अंगुली माँ की आँख में लग गयी। आँख से पानी बहने लगा। माँ ने अपनी आँख को थोड़ा सहलाकर बच्चे को अपनी छाती से लगा लिया। महाराज यह सब दृश्य देख ही रहे थे। उनसे रहा नहीं गया, माँ से पूछने लगे– बहिन! बच्चे की अंगुली आपकी आँख पर लगने पर भी क्या कारण हुआ कि आपको क्रोध नहीं आया? माँ ने अपनी सरल भाषा में जो उत्तर दिया- उससे मानव जीवन की बहुत सारी कठिन समस्याओं का समाधान हो जाता है। माँ कहने लगी– इसमें कोई वैचित्र्य नहीं है– माँ की यही सतह है। जैसे कई बार आपका अपना ही हाथ जब कभी आपकी अपनी आँख आदि से लग जाता है तो– क्या कभी उस समय आपको क्रोध आता है? महाराज ने कहा– चलो! माना बच्चे के हाथ को आपने अपना ही हाथ समझा हुआ है पर आपने बच्चे के लिए पहले से भी अधिक प्रेम प्रदर्शन क्यों किया? उसकी क्या आवश्यकता थी? माँ ने कहा– वह इसलिए किया कि मैं क्रोध न करने का दिखावा नहीं कर रही थी, बल्कि अन्दर भी मैं वैसे ही प्रेममय थी जैसे कि बाहर।

एक पुरुष की दो देवियाँ थी। उनमें से एक बिना पुत्र के थी। जब दूसरी का पुत्र हुआ तो बिना पुत्र वाली देवी ने पालन-पोषण करना प्रारम्भ कर दिया। वह बच्चा भी सदा उसके पास ही रहता और उसे ही अपनी असली माँ समझने लगा। दूसरे लोगों की दृष्टि में भी यही बात जम गयी कि जिसके पास वह बालक रह रहा है वही उसकी माँ है। इस प्रकार धीरे-धीरे सभी के द्वारा बच्चे को जन्म देने वाली माँ की उपेक्षा होने लगी। बात बहुत बढ़ गयी और राजा तक पहुँच गयी। अब राजा तो बहुत भारी संशय में पड़ गया कि इस समस्या को कैसे सुलझाया जाये। रानी को पता चला तो उसने कहा– यह देवियों से सम्बन्धित समस्या है। आप इसको मुझ पर छोड़ दीजिए, इसको मैं सुलझाती हूँ। दरबार में दोनों देवियों के समक्ष रानी ने घोषणा की, कि आप दोनों इस बच्चे को अपना-अपना बालक बता रही हैं। किसी एक को इस बालक को सौंपने का अर्थ है– दूसरी के हृदय पर आघात पहुँचाना। ऐसा करते हैं– इस बालक को बीच से आधा-आधा चीर देते हैं। इस निर्णय से जिस देवी का वह बालक नहीं था वह तो तत्काल राजी हो गयी, पर जो असली माँ थी, उसने कहा– नहीं! यह बालक इन्हीं का है, मेरा नहीं है। इन्हीं को दे दीजिये। ऐसा होता है मातृहृदय।

६४. श्री स्वामी स्वतन्त्रनन्द जी महाराज का सन्देश

सोम! संसार से तुम्हारा सम्बन्ध इतना ही है कि जब सेवा के लिए संसार में हाथ डालो तो वह बिना सने या बिना अटके जब खींचना चाहो वापस चला आए, चाहे जिस किसी वस्तु व्यक्ति या विचार से जुड़ो या किसी कर्म में प्रवृत्त होओ तो जुड़ने से पहले जैसे कोरे थे वैसे ही कोरे बाद में भी बने रह सको तो समझना– संसार के साथ तुम्हारे सम्बन्धों की दिशा ठीक है। यदि इससे आगे बढ़ गये तो बस समझना होगा संसार के साथ गलत सम्बन्ध हो गये हैं।

इन थोड़े से सारगर्भित शब्दों में मुक्त जीवन जीने की कला या कुञ्जी हाथ में पकड़ा दी गयी है। संयोग में तो प्रायः व्यक्ति को मधुरता प्रतीत होती है, पर वियोग में कटुता घेर लेती है। सम्बन्ध होने से पहले जैसे व्यक्ति उस-उस सम्बन्धित वस्तु के प्रिय या अप्रिय किसी भी प्रकार के संस्कारों से मुक्त होता है वैसा बाद में नहीं रह पाता, या तो उस-उस चीज के साथ व्यक्ति का राग हो जाता है या द्वेष। और द्वेष तो साक्षात् आग बनकर जलाता है ही, पर राग भी जलाता रहता है। इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही राग और द्वेष की अग्नि में जलता हुआ बीत जाता है या बीतता रहता है। इसलिए महाराज सम्बन्धों के सन्दर्भ में एक बहुत ही गम्भीर बात कहते हैं कि साधक को संसार के साथ सम्बन्धित होते समय अपने और संसार के बीच अवश्य ही एक लक्ष्मण रेखा (Border - line) खींचकर रखनी चाहिये। वस्तुतः महाराज के अनुसार सुख बाँटना रूप सेवा का सम्बन्ध ही वह सच्चा सम्बन्ध है जो किसी भी साधक को संसार के साथ बना कर रखना चाहिए।

*****

- ☞ 'मैं' और 'हूँ' के बीच जो है वह माया है। माया की परिभाषा है– जो दिखाई तो दे पर वास्तव में न हो।
- ☞ पाँच दृष्टियों से कर्म– अनन्त के लिए; समष्टि की सेवा के लिए; आदर्श के लिए; आजीविका के लिए; अहंतृप्ति के लिए।
- ☞ जिस चीज पर भी तुम अपने मैंपन की मुहर लगा दोगे, वह तुम्हारे पास से चली जायेगी। अच्छाई पर लगा दोगे तो अच्छाई चली जायेगी और बुराई पर लगा दोगे तो बुराई **मैं गुणी तो गुण खत्म; मैं पापी तो पाप खत्म।**
- ☞ मन ग्वाला, इन्द्रियाँ गायें, आत्मा स्वामी दूध दुहने वाला। इन्द्रियाँ जैसा चारा चरेंगी– जिन चीजों से अपना पेट भरेंगी– शुद्ध या अशुद्ध, स्वभावतः वैसा ही दूध बनेगा और वही स्वामी को मिलेगा।
- ☞ धन्य हैं वे तपोनिष्ठ पावन व्यक्तित्व जिनके घर गुणलुब्धा सम्पदा की अविरल वर्षा हो रही है। परन्तु पाँच यज्ञों के भुगतान द्वारा गरीब (अपरिग्रही) हैं।
- ☞ धन्य हैं वे उदार गरीब जो सब कुछ लुटाकर सम्पन्न हो गये हैं।

ॐॐॐ

६५. जीवन यात्र में ठीक दिशा का महत्त्व

महाराज का कहना है– ज्यों ही हमें मनुष्य जन्म मिला, इसका सीधा सा अर्थ है– उद्धार हो चुका है, प्रकृति माँ अपना कार्य कर चुकी है। जीवन खेल अभी शुरू ही नहीं हुआ कि 'जीत पहले ही हो गयी'। परिश्रम कुछ किया नहीं और पारिश्रमिक पहले ही मिल गया, कर्तव्य किया नहीं अधिकार पहले ही प्राप्त हो गया। इसलिए जब कभी कोई महाराज के समक्ष 'अवसर बीतो जाय' ऐसी बोली में बोलने लगता है तो महाराज तत्काल उसका सुधार करते हुए कहते हैं– ऐसा मत बोलो भाई! इसके स्थान पर ऐसा बोलिये– 'अवसर लाग्यो हाथ'। शिशु का अर्थ ही है माँ का जागरण, शिशु भौतिक रूप में जन्म ग्रहण करने से पहले ही माँ के संकल्प में आ जाता है। सो भगवान् के बालक इस मानव शिशु की उपस्थिति भी यह सिद्ध करती है– भगवान् इसके प्रति जागरित हो चुके हैं। स्वयं भगवान् जिसके सारथी हैं ऐसे योद्धा की पराजय सर्वथा अकल्पनीय है। इसी प्रकार जब कोई महाराज के समक्ष 'अब सौंप दिया इस जीवन का सब भार तुम्हारे हाथों में, है जीत तुम्हारे हाथों में, है हार तुम्हारे हाथों में' ऐसा गीत गाता है तो महाराज कहते हैं– नहीं भाई! इसको ऐसा बोलिये– 'सदा जीत तुम्हारे हाथों में, नहीं हार तुम्हारे हाथों में'। अहा! महाराज कितना सुन्दर सन्देश दे रहे हैं– मनुष्य जीवन पाकर इस प्रकार की सब शिकायतें समाप्त हो जानी चाहिएँ कि क्या करें हमारे कर्म ही खराब थे। वे कहते हैं कर्मों को कभी दोष नहीं देना चाहिए क्योंकि मनुष्य जीवन के साथ ही कर्मों की छटनी तो हो चुकी है अर्थात् इतने बुरे कर्म नहीं हैं कि दुःखी ही होते रहें। प्रकृति माँ कहो या भगवान् कहो– उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता– इस जीवन यात्रा को प्रारम्भ करने से पहले ही उसने हमारे हाथ में एक निश्चित पूंजी रख दी है– यदि दिशा ठीक नहीं है तो उस पूंजी को हम घटा सकते हैं और यदि इस यात्रा की दिशा सर्वथा ठीक है तो यह ऐसा पथ है या ऐसा विधान है कि जहाँ घटने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह पूंजी जो हमें प्रारब्ध के रूप में मिली थी, सदा बढ़ती ही रहेगी। **इस सही दिशा वाले पथ का नाम है– सत्य-करुणा-प्रेम-सहिष्णुता-समता व पुरुषार्थ का पथ।**

*****

☞ इस जीवन-रूपी गाड़ी में हम सब लोग सफर कर रहे हैं। जिनके पास श्रद्धा रूपी टिकट है वे निर्भय रहते हैं अन्यथा हर वक्त भय सताता रहता है।

☞ महाराज जी, क्या आप महाप्रयाण की तैयारी करने लग गये हैं? हाँ भाई! सोने का समय होता है तो सभी बिस्तरादि बिछाना प्रारम्भ कर ही देते हैं।

☞ मौत कोई भयावह चीज नहीं है– हम प्रतिदिन सोने के लिए जाते हैं, क्या उससे कभी डरते हैं, बल्कि आनन्द मनाते हैं। सारी थकावट दूर हो जाती है। प्रातः फिर नये उत्साह से अपने काम में लग जाते हैं।

☞ मृत्यु और निद्रा बिल्कुल एक ही हैं, बस! फर्क इतना है– एक आठ घण्टे की है, दूसरी थोड़ी लम्बी है।

६६. भगवान् का सहारा

श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली से आकर एक साधक आश्रम में तीन दिन ठहरा। अन्तिम दिन महाराज से पूछने लगा कि योग की विभूतियों के विषय में आपका क्या विचार है? क्या आपने भी कोई योगसिद्धि प्राप्त की है?

श्री महाराज कहने लगे– हाँ! अवश्य। देखना चाहते हैं तो आइये अभी दिखा देता हूँ। आगन्तुक साधक व एक लाठी हाथ में लेकर महाराज निकट ही एक कदम्ब के वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। महाराज कहने लगे अच्छा! एक काम करिये– जिन कृपा, करुणा, दया के हाथों ने इस सृष्टि को या यों कहिये हम लोगों को थामा हुआ है– थोड़ी देर के लिए उन्हें हटा दीजिये। साधक ने कहा– ऐसा कैसे हो सकता है। महाराज ने कहा– थोड़ी देर के लिए कोई काल्पनिक रास्ता निकाल लीजिए। उसने कहा ठीक है– मान लिया कि कृपा-करुणा-प्रेम व दया के हाथों ने हमें छोड़ दिया। अब महाराज ने कहा– देखो! इस लाठी को जब तक मैंने पकड़ रखा है तब तक ही यह सीधी खड़ी है। यदि एक क्षण के लिए भी मैं इसे छोड़ दूँ तो जो हालत इस लाठी की होगी वही प्रेम व करुणा के हाथों से छूटते ही हमारी भी होगी। महाराज ने आगे कहा– मनुष्य का तो या यों समझ लीजिए मेरा तो इतना ही चमत्कार है। इससे आगे जो भी चमत्कार हैं या विभूतियाँ हैं– सब 'उसी' की हैं। भागवत नियमों व भागवत विधान के प्रति ऐसी है निष्ठा हमारे श्री महाराज की।

*****

- ☞ कठिनाइयों का स्वागत करो। ये तो आवे की आग हैं। घड़ा आवे की आग में पकेगा नहीं तो शीतल जल पिलाकर प्यासे लोगों की प्यास बुझाने वाला कैसे बन पायेगा?
- ☞ जीने वाले इस तरह से जी, मरने वाले इस तरह से मर कि दे जाए कुछ सबक तेरी जिन्दगी और मौत भी।
- ☞ किसी भी विषय में अध्यापक साक्षर करता है, गुरु दीक्षित।
- ☞ **असतो मा सद् गमय–** 'मैं हूँ– सत्'। ऐसी धारणा से सारी असद् वृत्ति का निराकरण सहज ही हो जाता है।
- ☞ **तमसो मा ज्योतिर्गमय–** 'मैं जानता हूँ– चित्'। ऐसी स्थिति के जागरित होते ही समस्त वैचारिक तमिस्राओं का निरसन हो जाता है।
- ☞ **मृत्योर्माऽमृतं गमय–** 'मैं अपने से प्यार करता हूँ– आनन्द'। ऐसी स्थिति में साधक नित्य नवीन प्रेम-रस के अमर सोम सरोवर में तैरता रहता है।

६७. एकान्त में संयम

एकान्त में संयम विषय को समझाने के लिए महाराज एक बूढ़े-बुढ़िया का दृष्टान्त सुनाया करते हैं– एक बार एक बूढ़ा और बुढ़िया कहीं जा रहे थे। बूढ़ा आगे-आगे चल रहा था– बुढ़िया पीछे-पीछे। चलते-चलते बूढ़े ने देखा– रास्ते के निकट सोना पड़ा हुआ है। उसके मन में विचार आया कि कहीं सोने को देखकर बुढ़िया के मन में लोभ न आ जाये, इस कारण सोने के ऊपर मिट्टी डालने लगा। बुढ़िया ने पीछे से देख लिया, पूछने लगी यह क्या कर रहे हैं? वृद्ध ने उत्तर दिया– हम सोने व मिट्टी में कुछ भेद (फर्क) नहीं समझते। वृद्धा ने कहा– जब भेद ही नहीं है तो मिट्टी पर मिट्टी क्यों डाल रहे हैं? मिट्टी पर मिट्टी तो कोई डालता देखा नहीं गया। तुम तो सोने पर मिट्टी डाल रहे हो। वृद्धा के उत्तर से अब वृद्ध की आँखें खुलीं– ये तो तुझसे भी आगे निकल गयी। तेरे अन्दर तो सोने का थोड़ा संस्कार तो था ही क्योंकि तुलना तो दो अलग-अलग चीजों में ही होती है, इसके अन्दर तो उतना भी संस्कार नहीं है। सचमुच ऐसी संस्कार रहित मन की भाव दशा का नाम ही है– एकान्त में संयम। बूढ़े ने कम-से-कम सोने का अस्तित्व तो स्वीकार कर ही लिया। उसके बाद उसमें मिट्टी की भावना करके उससे अपने मन को अलग करना चाहा। पर वृद्धा को तो स्वर्ण का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं हुआ। जिसका अस्तित्व ही नहीं उससे हटने या हटाने का तो फिर प्रश्न ही नहीं उठता। समस्त जागतिक विषयों के प्रति जिनकी ऐसी दृष्टि विकसित हो गयी– उनका संयम तो मानो पूर्ण सहज ही हो गया है फिर चाहे वे एकान्त में हों या समूह में। **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः।** यह है एकान्त में संयम का सुन्दर उदाहरण।

❋❋❋❋❋

- ☞ यह सर्वभूत हृदय है। क्षीर सागर है। अपना घर है। कमठाण है। जीवन धन की टकसाल है। निरन्तर चलते रहने वाले सदाव्रत का मधुकोष है। अन्नपूर्ण है।
- ☞ श्रीकृष्ण : सेवामूर्त्ति, प्रेममूर्त्ति, ज्ञानमूर्त्ति और क्षमामूर्त्ति
- ☞ मेरी टेर! करुण रस तेर! शील सुमेर रहा उर घेर!!
  मेरी टेर! अपनपो तेर! प्रेमपयोद रहा उर घेर!!
  मेरी टेर= शुद्ध अपरा प्रकृति। अपनपो तेर= परा प्रकृति का ज्ञान।
  तेरी टेर= परावाक्=ऋतवाक्। शील सुमेर (शील= समष्टि का सार)।
- ☞ श्रद्धा माता और अग्नि पिता। (सामवेद पूर्वार्चिक आग्नेयपर्व)
- ☞ सहज सरल मूक भोला-पन; सहज-ज्ञान पावन-ज्ञान हमारा विधेय है।
- ☞ सृष्टि-संस्था का प्रत्येक घटक शील-सुमेर की चुम्बकीय चट्टान (तट) है।
- ☞ जिसका निराकरण उसका अस्तित्व नहीं।

६८. दुर्ग का निर्माण

द्वीपं कुर्यान्मेधावी यमोघो नाभिकीरति। (धम्मपद)

श्री महाराज का कहना है– हम सबको पहले ही अपने-अपने लिए एक मजबूत दुर्ग का निर्माण करके रख लेना चाहिए ताकि जब मृत्यु का कोई भी रूप हमें अपनी विकराल दाढ़ों में दबोचना चाहे तो तत्क्षण उसमें घुस जायें और अपने को मृत्यु का चबेना बनने से बचा सकें। मृत्यु कभी मान-सम्मान के रूप में तो कभी कामवासना के रूप में, कभी क्रोध के रूप में तो कभी लोभ के रूप में, कभी किसी मद या अहंकार के रूप में तो कभी ईर्ष्या-द्वेष के रूप में या फिर एक शब्द में प्रमाद के रूप में जब-जब हमें खाने के लिए दौड़े तो चूहे की तरह अपने उस सुरक्षा-दुर्ग (अपने बिल) में घुस जाना चाहिए, जिसका निर्माण चूहे ने बिल्ली के रूप में साक्षात् मौत का सामना होने पर किया था।

घटना ऐसी घटी कि एक बार बिल्ली ने सब छोटे-छोटे जीव जन्तुओं व पक्षियों को बहला फुसलाकर एक कमरे में बन्द कर लिया। उनमें एक चूहा भी था। उसने चुपचाप अपनी रक्षा हेतु एक बिल खोद कर रख लिया। अब बिल्ली की तरफ देखकर चूहा अपनी मूछें हिलाने लगा। बिल्ली ने पूछा अरे! तू ये मूछें किस पर पैना रहा है? चूहे ने झट से कहा– तुम पर ही। अब तो बिल्ली बहुत ही क्रुद्ध होकर तेजी से उस पर झपटी। पर वह तो अपने दुर्ग के समीप ही बैठा था, तत्काल घुस गया अपने किले में। महराज कहते हैं जब लोग दूर-दूर से चलकर मेरे समीप आते हैं, विविध रूपों में अपनी श्रद्धा की भेंट चढाते हैं तो मैं उनको धन्यवाद देता हुआ अपने दुर्ग में प्रविष्ट हो जाता हूँ। यह 'धन्यवाद' ही मेरा रक्षा कवच बन जाता है। मैं सोचता हूँ– यह मान-सम्मान या श्रद्धा तो 'उसी' के लिए है, 'उसी' का यह सब माहात्म्य है और निमित्त मुझे बना दिया गया, इसके लिए मेरा मन अपार कृतज्ञता से भर जाता है और इस प्रकार मान सम्मान रूपी मौत की झपट से बच जाता हूँ।

इसी प्रकार महाराज का कहना है– जब-जब भी कभी प्रमाद का किसी रूप में आक्रमण हो तो साधक को चाहिए कि वह अप्रमाद रूपी दुर्ग में घुस जाये। अध्यात्म की राह तो ऐसी ही है कि जिसमें जीवन और मरण का निर्धारण एक ही क्षण में होता है। महाराज कहते हैं– हर क्षण हमारा कर्म यज्ञ चलता रहता है। यज्ञ में आहुतियाँ देते समय कदाचित् चम्मच टेढ़ा हो गया तो जो हविः देवों को मिलनी थी वह असुरों के मुख में चली जाती है। जब तक चम्मच सीधा रहता है– अपनी समता को नहीं खोता तब तक तो हविः अग्नि के मुँह में जाती रहती है, पर थोड़ा सा भी टेढ़ा होते ही वह आहुति यज्ञाग्नि से बाहर ही बिखर जाती है और वहाँ यज्ञ वेदी के आस-पास जो स्वार्थरूपी लम्बी जीभ वाली कुतिया घूमती रहती है वह उसे झट से साफ कर देती है। यही है वह प्रमाद जिसको कि साक्षात् मृत्यु के रूप में वर्णित किया गया है। इससे बचने का केवल मात्र एक ही साधन है– अप्रमाद। इसी प्रकार संसार के प्यारे-प्यारे विषय जब व्यक्ति के चित्त को भरमाने लगें, तो साधक को चाहिये कि

वह निर्विषय या निर्विचार रूप अपने हृदय की गहराई में उतर जाये। क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेष अथवा अहंकार के किसी भी रूप के द्वारा आक्रमण करने पर अपने हृदयरूपी सुदृढ़ दुर्ग में प्रवेश कर अवस्थित हो जाये। जो ऐसा करने में समर्थ हो पाते हैं वे ही इस मृत्यु के द्वारा विविध रूप धारण किये हुये मगरों से भरे हुए समग्र संसार सागर में रहते हुए भी पूर्ण निर्भय व सुरक्षित जीवन जीते हैं।

*****

☞ अग्नि-सोमात्मक ताने-बाने से बना शीलवस्त्र!
उत्तर (तप) की हवा से बना शीलवस्त्र!
शान्ति और तेज के तारों से बना शीलवस्त्र! **नमः शान्ताय तेजसे!**

☞ जिस रस **(देवस्य पश्य काव्यम्)** का स्पर्श शरीर-संस्था के प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पावन कर दे, अभिषिक्त कर दे, वह शीलोदक है! शीलवस्त्र है! मित्र-वरुण के हाथों से बना शीलवस्त्र! **प्राणाय नमः।** सुरत-निरत=सगुण-निर्गुण। इन के तारों से बना शीलवस्त्र! झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
सरलता-सौम्यता के तारों से बनी शीलचदरिया= शालीन चदरिया।
माँ के कर-कमलों से बनी शीलचदरिया।
गति और स्थिति के ताने-बाने से बनी शीलचदरिया।

☞ सावित्री (भगवत्कृपा) रूपी संजीवनी ने मरे हुए सत्यवान् रूपी जीव को जिला दिया और जब सत्यवान् सचेत हुआ तो सावित्री ने सत्यवान् से कहा– आओ! धरती का धर्म धारण करें! धरा-धाम को बुहारें, सँवारें, सजायें! माँ का पूजन व नमन करें– **वन्दे मातरम्**!

☞ हे मेरी शीलसंजीवनी! हे नित्यनूतन रसरूप सहजशील दुहितर्दिवः! द्युलोक की कन्या! **महे नोऽद्य बोधय०!**

☞ शिशु की पाठशाला है माँ का हृदय; पुस्तक है प्रकृति! श्रेणियाँ हैं– सहिष्णुता, समता और आनन्द।

☞ जीवन-धन= श्रद्धा भक्ति प्रेम का साक्षात्कार भगवत्कृपा (उषा) से होता है। **महे नोऽद्य बोधय०**!

☞ जहाँ तीसरा नेत्र खुला ही रहता है और इसी नेत्र के प्रकाश में ये जीवन-मरण के अभिनय चलते रहते हैं। संस्कारी जीव इसी सत्त्व के प्रकाश में अपनी नर-लीला करते हैं। वे नित्य समाधिस्थ (तुर्यावस्थित) आँख खोले हुए जन्मते हैं और आँख खोले ही महालय (मृत्यु=समाधि=सुषुप्ति) में जाग्रत् रहते हैं। **यत्र ज्योतिरजस्रम्....!**

☞ **'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि युगे-युगे'** महापुरुष अपनी मूल परा प्रकृति को अधिष्ठित करके युग-युग में पैदा होते हैं।

☞ श्रम-तप-पुरुषार्थ के द्वारा श्रद्धा की प्राप्ति होती है। श्रद्धा की प्राप्ति के लिए शरीर को तप में झोंक देना है। स्वेच्छा से दुःखों को अपनाने का नाम तप है।

ॐॐॐ

६९. महापुरुष स्वरक्षित या सुरक्षित?

श्री महाराज **इस** उपर्युक्त महान् अर्थगर्भित वचन के साक्षात् मूर्तरूप हैं। स्वरक्षित होने का तात्पर्य है– अपनी अन्तरात्मा के द्वारा रक्षित। स्वरक्षा का क्षेत्र पूर्णरूप से आध्यात्मिक होता है, जबकि सुरक्षा बाह्य (भौतिक) हुआ करती है। भोजन, वस्त्र, मकान, औषध आदि भौतिक जीवन के आधारभूत घटक होते हैं, इनके बिना भौतिक जीवन एकदम से टूट जाता है। पर महापुरुष निश्चय ही इससे ऊपर उठ जाते हैं। क्योंकि वे देखते हैं कि ये ऐसी चीजें हैं जो केवल शरीर को ही जीवित रख सकती हैं, आत्मा को नहीं। बाह्यरूप से पूर्ण सुरक्षित होता हुआ भी कोई व्यक्ति यदि अपने अन्दर असुरक्षित है तो स्वरक्षित नहीं कहा जा सकता। विषय-वासनाओं, विविध कामनाओं व तृष्णाओं की आग से कोई बचाने वाला हो सकता है तो वह है– उसका अपना ही आपा, अपना ही आत्मा। असन्तोष, अज्ञान व प्रमाद की अन्धतमिस्रा के ग्रास से बचने में वस्तु, व्यक्ति, धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा कैसे सहायक हो सकते हैं? उसके लिए तो अपने अन्तर में सतत आत्मदीप ही जलते रहना चाहिए। इसीलिए तो भगवान् बुद्ध ने अपना दीपक अपने आप बनने पर अपार बल दिया। जो व्यक्ति अपने अन्दर अपने ही द्वारा पूर्णरूप से रक्षित होता है, उसके लिये देहपात जैसी महान् घटना भी अति तुच्छ हो जाती है। हर अगला क्षण ही उसके जीवन का अन्तिम पड़ाव होता है, न उसे मरने में शोक और न जीने में किसी प्रकार का हर्ष अनुभव होता है। महाराज के शब्दों में 'बहती नवल नशीलीधार' की उक्ति प्रतिपल उसके जीवन का सारतत्त्व होती है।

आत्मना रक्षित व्यक्ति के लिए न कुछ अनुकूल होता है न प्रतिकूल, वह तो बस मन में सौम्यता, वचन में सरलता और कर्म में समता रूप पावन त्रिवेणी का संगम स्थल ही बन जाता है। मन-प्राण व शरीर उसके ज्ञान रूपी सूर्य को सदा आलोकित रखते हैं। वह समस्त बाह्य रक्षाओं के प्रति चाहे वे आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, शारीरिक किसी भी स्तर की क्यों न हों, पूर्ण उदासीन हो जाता है। आत्मक्रीड़, आत्मरति, आत्माराम, आत्मतृप्त, आत्मन्येवात्मना तुष्टः जैसे शब्दों का प्रयोग ऐसे ही स्वरक्षित महापुरुषों के लिए हुआ करता है। सचमुच वे लोग कितने सौभाग्यशाली हो सकते हैं जो अपने ही हृदय को अपने आप खाते रहते हैं और इसी में सदा तृप्त रहते हैं, एक क्षण के लिये भी जिन्हें अपनी भूख मिटाने के लिए न तो लावण्ययुक्त माँस पिण्ड व हड्डियों के ढेर की तरफ देखना पड़ता है, न सोने के टुकड़ों की तरफ, न अपार धन-वैभव की तरफ, न भीड़ के द्वारा दी गयी वाह-वाह की तरफ, न विशाल भूखण्ड या सुकोमल फूल मालाओं की तरफ। ऐसी होती हैं स्वरक्षित महान् आत्मायें। आइये हम भी बाह्य रक्षाओं और सुख-सुविधाओं की परवाह न करके अपनी आत्मा में डुबकी लगाना सीखें। वहीं हमें शाश्वत रक्षण व पोषण प्राप्त हो सकेगा।

- मृत्यु की समस्या? इस समस्या के समाधान के तीव्र जिज्ञासु– नचिकेता, सती, परीक्षित और सावित्री।

७०. पवित्रेण शतायुषा

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा।। यजु० १९.३९।।

''पवित्रेण शतायुषा" इस याजुष मन्त्रांश को उद्धृत करते हुये श्रीमहाराज एक विशेष बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि वेदों में जो जगह-जगह कम-से-कम सौ वर्ष तक जीने का सन्देश मिलता है उसके साथ 'पवित्रेण' यह विशेषण जोड़कर उक्त शिक्षा को बहुत ही सारगर्भित बना दिया गया है। महाराज का कहना है– पवित्रता के साथ यदि सौ वर्ष तक देखते हुये, सुनते हुये, चलते-फिरते हुये, बोलते हुये जीवन जिया जा रहा है तो ही समझना चाहिए कि वैदिक आदेश पूरा हो रहा है। **प्रत्येक साधक को यह बात अपने मन में अच्छी प्रकार बिठा लेनी चाहिए कि जितना जीवन पवित्रता के साथ जीया गया है, वही उसकी वास्तविक आयु है।**

भले ही आरम्भ तो कहीं से भी किया जाये, पर आरम्भ करने के बाद इस जन्म में यदि यह सौ वर्ष की गणना पूरी नहीं हो रही है, तो क्रम-विकास को दृष्टिगत रखते हुये आने वाले जन्मों में इसे पूरा करना है।

क्या है भला यह 'पवित्रता'? यदि यह पूछा जाये तो कहना होगा– **चित्तशुद्धि ही पवित्रता का स्वरूप है।** 'एकै साधे सब सधें' उक्ति के अनुसार शान्ति, प्रेम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, करुणा, दया, सहयोग, श्रद्धा इत्यादि सब शुद्धचित्त रूपी मणि के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। चित्त जब निर्विषय अनागस् हो जाता है तो सच्चाइयाँ और अच्छाइयाँ सहज भाव से अपने आप होने लगती हैं। उस अवस्था में बुद्धि की खींचतान समाप्त हो जाती है। चित्तशुद्धि या हृदय-शुद्धि की मोटी पहचान यह है– उस अवस्था में जीवन 'रस' से भरा रहता है। चित्त सब तरह से निरपेक्ष रहने से रस की धारा सतत बहती रहती है। बीच-बीच में टूटती नहीं है। जीवन का ऐसा स्वरूप ही पवित्रता से युक्त कहा जा सकता है अथवा यों कहें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि निषेध वर्ग के बीच में आने से चित्त अपवित्र हो जाता है।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी पवित्रता-अपवित्रता को समझा जा सकता है। समस्त मन व इन्द्रियों के साथ अच्छा या बुरा, प्रिय अथवा अप्रिय, राग व द्वेष जुड़ते ही चित्त अपवित्र हो जाता है। आसक्ति या द्वेष से रहित होकर यदि मन संकल्प करे, इन्द्रियाँ देखना-सुनना आदि करती रहें तो यही वह अवस्था है जो शुद्ध अन्तःकरण नाम से कही जाती है। यह प्रियता-अप्रियता ही तो है जो अन्तःकरण को अशुद्ध, अपवित्र या विकृत कर देती है।

*****

☞ चिकित्सा– जो एक रोग के शमन होने पर फिर वह रोग न हो।

☞ यात्रा– जहाँ एक रात्रि पड़ाव होने पर फिर वहाँ दूसरा पड़ाव न हो।

☞ प्रार्थना और प्रायश्चित्त (तोबा) उसको कहते हैं जो एक बार करके दोबारा न करनी पड़े।

७१. सरलता ही शिष्टाचार है

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्। एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति।।
सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु वार्जवम्। उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते।।

श्रीमहाराज की उपदेशरूपी मोतियों की बनी माला का सरल होते हुए भी एक अत्यन्त गम्भीर वचनरूपी मोती है– 'सरलता ही शिष्टाचार है'। आज के इस बुद्धिप्रधान युग में शिष्टाचार की चर्चा बड़े जोरों पर रहती है। स्कूल कालेजों में बच्चों को शिष्टाचार सिखाने पर बहुत बल दिया जाता है। वहाँ शिष्टाचार की व्याख्या इस रूप में की जाती है कि मन में तो चाहे जो कुछ भी भरा रहे पर प्रकटतः ऐसा दिखावा करना चाहिए जिससे अगले व्यक्ति को यह अनुभव हो कि सचमुच ही मैं उसका हितैषी हूँ, उसके प्रति शालीन हूँ इत्यादि। ऐसा करना व्यवहार कुशलता समझी जाती है। इस शिक्षा का दुष्परिणाम यह होता है कि समस्त संसार एक दूसरे के साथ दोहरा खेल खेलता रहता है। मन में कटुता भरे हुए भी वाणी और व्यवहार में माधुर्य का प्रदर्शन किया जाता है। पर कभी न कभी, किसी न किसी माध्यम से जब कलई खुलती है तो उस व्यक्ति का हृदय और भी अधिक द्वेषाग्नि से भर जाता है। अवसर पाकर वह व्यक्ति भी उसके साथ वैसा ही हितशत्रु (मुंह में राम बगल में छुरी) का व्यवहार करता है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के साथ धोखा धड़ी का अन्तहीन सिलसिला चालू रहता है।

श्री महाराज कहते हैं– **शिष्टाचार को निभाने के लिए प्रदर्शन नहीं सरलता चाहिए, बालक जैसी सरलता।** महाराज यह बात बहुत दृढ़ता से कहते हैं– सरलता में न कृत्रिमता होती है, न भय और न दूसरे का तिरस्कार। जिन लोगों के सम्बन्ध (पारस्परिक व्यवहार) सरलता पर आधृत होते हैं वे स्थायी होते हैं, उनके टूटने का कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। जबकि आजकल का यह तथाकथित शिष्टाचार इन सभी दोषों से दूषित रहता है। सरलता के अभाव में व्यक्ति को जटिल व कुटिल रहते हुये शिष्टाचार का दिखावा करना पड़ता है। जटिलता व कुटिलता की उपस्थिति में व्यक्ति चाहे जो कुछ करे– परिणाम में अशान्ति ही प्राप्त होती रहती है। सरलता में व्यक्ति को कोई बनाव-ठनाव नहीं करना पड़ता, इसलिए वह सदा शान्त रहता है।

ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा कि किसी अनजान बच्चे की उपस्थिति से किसी के अन्दर ईर्ष्या-द्वेषादि नकारात्मक भावों का उदय हो जाये। आखिर ऐसा क्यों? उत्तर स्पष्ट है– बच्चे का मन पूर्ण सरल होता है। इसी प्रकार किसी सरल चित्त सन्त के पास बैठने मात्र से (चाहे वह एक शब्द भी न बोले), परम शान्ति का अनुभव होता है। जबकि कई बार हमारे मित्र की भी उपस्थिति से, यद्यपि वह हमें कुछ भी ऐसी अभद्र बात नहीं बोल रहा होता है, तो भी हम बैचेन हो उठते हैं। क्यों? क्योंकि उसका चित्त सरल नहीं है। किसी न किसी के प्रति अवश्य ही वह ढेर सारी शिकायतें अपने मन में लिये हुये होता है।

वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है– हमारा मन जो हम होते हैं– सूक्ष्म तरंगों के रूप में उसको बाहर फेंकता रहता है। तथा दूसरी तरफ बाहर से आती हुयी तरंगों को ग्रहण भी करता है। अर्थात् यह ऐसा एक अद्‌भुत यन्त्र है कि एक ही साथ संप्रेषक (Transmitter) और प्रापक (Receiver) दोनों का पार्ट अदा करता रहता है। इसीलिये तो श्रीमहाराज के अन्दर से उठती हुयी करुणा, भक्ति व प्रेम की तंरगों से आश्रम का वायुमण्डल सदा सम्पूरित रहता है और इसलिए ग्रहणशील आगन्तुकों के मनों में भी वही अद्‌भुत शान्ति भर जाती है। सो सरल मन कभी भी अपने से बाहर कटुता को नहीं बिखेरता। कटुता का जन्म इस 'अहम्' के कारण ही तो होता है। जबकि सरल मन पूर्णरूप से 'निरहम्' होता है। न तो वह किसी को दबाता है और न किसी से दबता है। न किसी का अपमान करता है और न ही किसी भी अवस्था में किसी के द्वारा अपमानित होता है। न दिखावा करना चाहता है न लुकाव-छिपाव। न किसी को धोखा देता है न धोखा खाता है। सरलता एक ऐसी पूर्णता है जिसको बाह्य क्रिया-प्रतिक्रिया से न तो घटाया जा सकता है न बढ़ाया। सरल चित्त व्यक्ति हृदय से उठती हुयी प्रेरणाओं की मन्द सुवास के अनुसार चलता है, न कि विचारों और वृत्तियों की आँधी के अनुसार। जटिलता या कुरूपता को जन्म देने वाली ये वृत्तियाँ ही तो होती हैं। इसलिए श्रीमहाराज कहते हैं– समस्त शिष्टाचार सरलता में ही समाया हुआ होता है।

❋❋❋❋❋

☞ **श्री महाराज की माँ (जननी) की सिखावन!**

१. रात की कमाई और भौं (भूमि) पड़ी पाई!
२. छायँ आना छायँ जाना और मीठी रोटी खाना!
३. घी का दीपक जलाना, चाहे रूखी रोटी खानी पड़े!
४. गंगा और गौ माता पर श्रद्धा! सहज मिले अविनाशी!! गति में प्रवाह!!!
५. रहिमन इस संसार में सबसे मिलिये धाय।
   ना जाने किस जूण (भेष) में नारायण मिल जाय।।
६. कन्या के चरण और गौ के खूँटें व खुर को भगवान् समझकर पूजना।
७. माँ का आधार वाक्य– मनवा राम के गुण गाय।
   काँटों नाय लागे पाय, दुनियाँ राह लागी जाय।।

☞ लड्डू= सगुण साकार; मिठास= निर्गुण निराकार;
लड्डू हाथ में है तो मिठास भी हाथ में आ गयी।
साधन हाथ में है तो अब साध्य कहाँ जायेगा?

☞ जगत् का अस्तित्व न तो समाधि में है, न सुषुप्ति में। दृष्टि-विपर्यय न तो प्रदीप्त ज्योति में हो सकता है, न निपट अन्धकार में। धूमिल प्रकाश में ही जगत् रज्जु में सर्पवत् भासता है। इसी प्रकार निर्मल चित्त प्रकाशयुक्त है। यह शुद्ध ज्ञान है। इसमें से मन की उत्पत्ति होकर ही पदार्थों की पृथक् उत्पत्ति की भ्रान्ति होती है।

७२. जीवन के सहारे

श्रीमहाराज ने मनुष्य के सहारों की खोज की और यह पाया कि या तो वह श्रम के सहारे जीता है या फिर बुद्धि के, या संकल्प के, या श्रद्धा के या फिर कृपा के। महाराज ने इन सबको अपने अलग-अलग पाँच नाम दिये– श्रमजीवी, बुद्धिजीवी, श्रद्धाजीवी, संकल्पजीवी व कृपाजीवी। कृपाजीवी को वे भगवज्जीवी नाम से भी पुकारते हैं। शारीरिक श्रम पर जिनका जीवन टिका हुआ होता है वे होते हैं श्रमजीवी। पढ़ने-पढ़ाने वाले, लेखक, प्रवक्ता, कलाकार, दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सब के सब होते हैं– बुद्धिजीवी। संकल्प के धनी लोगों को कहते हैं– संकल्पजीवी। सदा श्रद्धा से जिनका हृदय भरा रहता है वे हैं– श्रद्धाजीवी। भगवत्कृपा पर ही जो श्वाँस ले रहे हैं– वे ही हैं कृपाजीवी। महाराज अपने विषय में यही कहते हैं कि भाई! हम तो कृपाजीवी हैं। महाराज से कोई पूछता है– भगवान् क्या है जो आप उनकी कृपा पर जी रहे हैं? तो इसका वे बहुत ही सुन्दर उत्तर देते हुए पूछने वाले से ही उल्टा प्रश्न कर देते हैं– मुझे जरा यह बताओ भगवान् क्या नहीं है? भाई! मुझे तो भगवान् सब कुछ ही दिखाई देते रहते हैं। वे गणितीय शब्दावली में भगवान् की बहुत ही रुचिकर व्याख्या करते हैं। उनका कहना है– मनुष्य वह अमर्यादित वृत्त है (घेरा है) जिसकी परिधि की सीमा का कोई अन्त नहीं, लेकिन केन्द्र निश्चित है और परमेश्वर एक ऐसा वृत्त है जिसकी कोई परिधि नहीं है और केन्द्र सर्वगत है अर्थात् अनन्त है। जहाँ भी हाथ धरेंगे, वहीं तो भगवान् का केन्द्र है। सो महाराज कहते हैं– हम तो ऐसे उस ज्ञानरूप भगवान् के सहारे ही जी रहे हैं।

❋❋❋❋❋

- ☞ रात्रि, समाधि, मृत्यु और प्रलय ये प्रकृति की नवीनीकरण की विधायक प्रक्रियाएँ हैं। इनके द्वारा प्रकृति क्रमशः अपनी थकावट दूर करके पुनः-पुनः सक्रिय होती रहती है। यदि हम प्रकृति को थकने न दें तो इनकी आवश्यकता ही नहीं।
- ☞ जीवन में नित्य नूतन रस बह रहा है तो पर्वों की कोई आवश्यकता नहीं।
- ☞ श्रद्धा, भक्ति और प्रेम अपना घर है (जीवन विधान की संहिता) जिसके विधान में दूरी देरी और मजबूरी नहीं है।
- ☞ दो तीन डॉक्टर आ पहुँचे, **स्वामी जी ने कहा–** आज रोग नहीं बचेगा और बच गया तो फिर बीमार दो धेले का। किसी भी कमी को अपने ऊपर लेना, न कि दूसरे पर डालना।
- ☞ **स्वस्य च प्रियमात्मनः–** दूसरा मुझसे ठीक बोले तो इसके लिए अपनी ओर से पहल करो।
- ☞ **भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे, मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्टसंदेहवृत्तेः।**
  द्वन्द्वातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्ततत्त्वावबोधं, निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतां को विधिः को निषेधः।।

ൟൟൟ

७३. शिक्षा

श्री महाराज ने गुरुकुलीय शिक्षा को पाँच भागों में विभक्त किया है, जो इस प्रकार है-

द्रव्यशुद्धि
वाक्शुद्धि
भावशुद्धि
विभूतिदर्शन
गृह-विज्ञान (माताओं के लिए)

१. द्रव्यशुद्धि :- शिक्षा में सबसे पहला विषय होना चाहिए द्रव्यशुद्धि। भौतिक द्रव्यों की शुद्धि ही द्रव्यशुद्धि है। जल व वायु की शुद्धि के लिये बच्चों को सर्वप्रथम वृक्षारोपण व यज्ञ-हवन की महत्ता का बोध सिखाना व समझाना चाहिए। जहाँ रहे उस स्थान को व वस्त्रों को स्वच्छ रखना, प्रतिदिन स्नान करना, गो-सेवा, कृषि, भवननिर्माण, कूपनिर्माण, दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुओं की निर्माण कला तथा समस्त शिल्पविद्या का समावेश द्रव्यशुद्धि के अन्तर्गत होता है।

२. वाक्शुद्धि :- सत्य, हित, मित व मधुरवाणी का प्रायोगिक अभ्यास ही वाक्शुद्धि है।

३. भावशुद्धि :- भावशुद्धि का अर्थ है– मनःशुद्धि। मनोनिरोध व ठीक दिशा में ही मन को गति देने की विद्या से परिचित कराना भावशुद्धि कहलाता है। महाराज का कहना है इसके लिए गीता उपनिषद् जैसे साहित्य विषय को पाठ्य विषय के रूप में रखना उत्तम है।

४. विभूतिदर्शन :- ऐतिहासिक महान्-पुरुषों व सन्त महात्माओं के जीवन-चरित्रों को इस विषय के अन्तर्गत पढ़ाना चाहिए।

५. गृहविज्ञान :- श्री महाराज माताओं के लिए इस विद्या को अति आवश्यक बताते हैं और यहाँ तक कह देते हैं– कि यही एक ऐसी विद्या है जो मानव जाति को डूबने से बचा सकती है। स्वस्थ व बुद्धिमान् सन्तान का निर्माण देश, काल व ऋतु अनुकूल भोजन और सामान्य औषधज्ञान का समावेश गृहविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

- भगवान् भूखे के निकट– **'नमोऽकिञ्चनवित्ताय' 'तद् दूरे तद्वन्तिके'**।
- सहज मिले अविनाशी 'तत्'!, जो आकर न जाए वह 'तत्'!
  नेति-नेति से जो शेष रह जाए वह 'तत्'!, **तत्= तद्धाम परमं मम! तत्त्वमसि सोम्य! तत्त्वं पूषन्नपावृणु! शून्यम्!**
- जीवन और मृत्यु एक हैं, जैसे अविरल रूप से बहने वाली नदी के लिए दिन और रात।
- 'मन' प्राणों के नियमन (प्राणायाम) से समत्व युक्त (अचञ्चल) होता है।

७४. चार आश्रम, उनकी निष्ठाएँ व भावनाएँ

श्री महाराज चारों आश्रमों से सम्बन्धित चार भावनाओं और चार निष्ठाओं व उनकी साधनाओं का बहुत ही उपयोगी वर्णन किया करते हैं। उनका कहना है– 'निष्ठा' उस आधार का नाम है जिस पर वह चीज टिकी हुयी होती है। निःशेषेण स्थिति ही निष्ठा है और 'भावना' परिवेश के साथ उस चीज के उचित सम्बन्ध को इंगित करती है। जैसे नट की बाँस में निष्ठा है, खेल का प्रदर्शन उसकी भावना है तथा निष्ठा व भावना को सिद्ध करने के लिए किये गये प्रयत्न का नाम साधना है।

१. ब्रह्मचर्य :- प्रकृत प्रसंग में ब्रह्मचारी की निष्ठा होती है 'गुरु में अकम्पित स्थिति' और भावना होती है 'पारिवारिक'। इस प्रकार गुरु के कुल में रहते हुए शारीर, मानस व बौद्धिक बल प्राप्ति की साधना की जाती है। अपने कल्याण का इच्छुक ब्रह्मचारी गुरु में अर्थात् गुरु के जीवन-दर्शन या वचनों में सदा-सर्वदा अविचल-श्रद्धा, भक्ति, प्रेम व समर्पण से युक्त रहता है। उसे इस बात में पूर्ण विश्वास होता है या होना चाहिए कि एक क्षण के लिए भी गुरु से हटने का अर्थ है– मौत के हाथों में जाना। नट बाँस से थोड़ा भी इधर-उधर होते ही जैसे सीधा ऊपर से नीचे गिर पड़ता है, तद्वत् गुरु से थोड़ा सा भी हटते ही ब्रह्मचारी भी अपनी उन्नत अवस्था से नीचे पहुँच जाता है। नीचे गिरने पर कितनी हानि हो सकती है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती; कुछ भी हो सकता है। सम्भव है केवल अंग-भंग होकर रह जाये और यह भी सम्भव है कि प्राण-पखेरू ही उड़ जायें। अतः गुरु में अविचल स्थिति ही ब्रह्मचारी की रक्षा का उपाय है।

अब गुरु में स्थिर होकर परस्पर गुरुभाइयों के साथ प्रेमपूर्वक रहते हुए उसे अपना खेल खेलना होता है– यही है उसकी साधना अर्थात् सब प्रकार के बलों की वृद्धि अर्थात् शरीर-आत्मा-मन व बुद्धि बल को सब प्रकार से बढ़ाते रहना। नट बाँस पर केवल स्थित मात्र हो जाये और अपना खेल न दिखाए तो कहा जायेगा; अच्छा खिलाड़ी नहीं है। इसी प्रकार जो ब्रह्मचारी गुरुनिष्ठ तो है, पर खेल अच्छा नहीं खेल रहा, पुरुषार्थ कम कर रहा है, तो कहना होगा उसका साधना पक्ष शिथिल है। निष्ठा, भावना और साधना तीनों की पूर्णता में ही ब्रह्मचारी की सच्ची पूर्णता छिपी रहती है।

२. गृहस्थ :- गृहस्थ की निष्ठा होती है 'दाम्पत्य' व भावना 'सामाजिक'। पति-पत्नी एक दूसरे में तल्लीन होकर रहें– यही है दाम्पत्य निष्ठा। पञ्चायतन पूजा में माता-पिता-आचार्य व अतिथि को देवता समझकर पूजा करने के लिए कहा गया है। इन चारों देवताओं के साथ पाँचवाँ देवता पति के लिए पत्नी तथा पत्नी के लिए पति हुआ करता है। अर्थात् परस्पर की एक दूसरे में स्थिति ही दाम्पत्य निष्ठा है। दो शरीरों में एक ही विचार, एक ही भाव, एक ही इच्छा, एक ही लक्ष्य का होना ही इस निष्ठा का स्वरूप हो सकता है। महाराज के शब्दों में शरीर दो हैं, धड़कन एक है। जो चीज पति के लिए प्रिय है,वह पत्नी को भी प्रिय हो और जो पत्नी को प्रिय है, वह पति को भी प्रिय हो। स्वामी

दयानन्द ने इस स्थिति को दर्शाने के लिए अपनी 'व्यवहारभानु' पुस्तक में ठीक इसी शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं– **'पति-पत्नी सदा एक दूसरे का प्रियाचरण करें।'** वे आगे प्रश्न उठाते हैं– यदि पति-पत्नी परस्पर प्रियाचरण न करें, तो इसका क्या फल होगा? उत्तर देते हैं– 'सर्वस्वनाश'। श्री महाराज ने भी 'दाम्पत्य निष्ठा' शब्द का प्रयोग कर इसी अर्थ को शब्दान्तर से दोहराया है। क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया निष्ठा से डिगने का अर्थ है– मौत को पकड़कर गले में डालना।

श्री महाराज के अत्यन्त प्रिय शिष्य डा० भूदेव जी ने लेखक को इस सन्दर्भ में एक बहुत ही उपयोगी सूचना दी है, जो संसार भर के गृहस्थ समाज का उचित मार्गदर्शन करने का सामर्थ्य रखती है। श्रीभूदेव जी कहते हैं– महाराज ने हमको एक बात सिखायी कि तुम दोनों पति-पत्नी एक-दूसरे में लीन होकर रहो, एक दूसरे में केन्द्रित हो जाओ। ऐसा करने से जिस ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये ब्रह्मचारी लोग चित्त-निरोध या ईश्वर-प्रणिधान जैसी कठिन तपश्चर्यायें या साधनायें करते हैं, तुम्हें वह सहज ही सिद्ध हो जायेगी। तुम वृत्तियों में नहीं रहोगे। और वृत्तियों में न रहने से तुम्हारा मन सहज रूप से शान्त रहेगा। क्योंकि ब्रह्मचर्य शरीर का कम, मन का खेल ज्यादा है, यह हुई 'दाम्पत्य निष्ठा'। अब आती है– भावना। गृहस्थ की भावना हुआ करती है सामाजिक। गृहस्थ सम्पूर्ण समाज को अपने सामने रखते हुए जीवन के विविध प्रसंगों में सहिष्णु रहने की साधना करता है। इसलिए उसे अभ्यासी साधक कहा गया है। अर्थात् समाज में रहता हुआ वह जीवन में आने वाले सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण को देखने समझने की चेष्टा करता है।

३. वानप्रस्थ :- वानप्रस्थ की निष्ठा होती है 'चित्तशुद्धि' और भावना 'राष्ट्रीय'। वानप्रस्थ की आधार शिला होती है– चित्तशुद्धि अर्थात् चित्त की रागरहित निर्मल स्थिति। वह प्रत्येक क्रियाकलाप, प्रत्येक विचार, प्रत्येक भाव-भावना 'चित्तशुद्धि' को मध्यगत रखते हुए ही करता है। संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति के साथ आसक्तिपूर्ण व द्वेषपूर्ण सम्बन्धों का त्याग कर वह अपने चित्त को सदा सर्वदा प्रसन्न रखना चाहता है। वह किसी भी वस्तु या व्यक्ति के साथ कोई सम्बन्ध रखता है तो एक मात्र सेवा का ही सम्बन्ध रखता है और इस प्रकार जिस समाज या देश में रहता है उसकी उन्नति व भले के लिए निष्पक्ष होकर अपने आपको बाँटता रहता है। इस प्रकार वानप्रस्थ चित्तशुद्धि रूपी भित्ति पर खड़ा हुआ सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये अपना खेल खेलता है।

४. संन्यास :- संन्यासी की निष्ठा है 'ब्रह्म' तथा भावना 'वैश्व'। समस्त दृश्यमान नाम-रूपात्मक जगत् के पीछे की अदृश्य चेतन सत्ता का नाम है– ब्रह्म। मन प्राण व शरीर का जो आधार है, अस्तित्व मात्र की ही जो टेक है, सहारा है, सदा सर्वदा उसी ब्रह्म में संन्यासी निर्भय होकर विचरता रहता है। चलना, खाना, पीना, सोना, जागना, पढ़ना-लिखना उपदेश करना, जो कुछ भी संन्यासी करता है, वह ब्रह्म में स्थित रहता हुआ ही करता है। उसकी दृष्टि सब भूतों में एक ही निर्दोष सम ब्रह्म का दर्शन पाकर सदा सम बनी रहती है। जैसे अचलप्रतिष्ठ समुद्र में नदियाँ निरन्तर गिरती रहती हैं, पर वह अपनी शान्त स्थिति का कभी भी अतिक्रमण नहीं करता, तद्वत् कामनायें

जिसमें पहुँचकर अपने नाम रूप को समाप्त कर विलीन हो जाती हैं। निःस्पृह हुआ-हुआ अर्थात् सदा ही जो मैं और मेरे से ऊपर उठा हुआ अपनी शान्त ब्राह्मी स्थिति में विराजमान रहता है और इसके कारण जिसमें समस्त उष्ण वासनाएँ सदा के लिए बुझ गयी होती हैं। बस! इसीलिये तो वह इन प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति के सान्त रूपों को नहीं चाहता। न कोई उसका अपना होता है, न पराया अथवा सभी अपने ही होते हैं। न वह किसी से अपने को ऊँचा समझता है, न किसी से नीचा। सदा ही उसके मुखमण्डल पर सब भूतों के प्रति प्रेम व करुणा की एक अद्‌भुत आभा दमकती रहती है। प्राणिमात्र को अभयदान देकर स्वयं भी अभय हो जाता है। एक अर्थ में सम्पूर्ण वसुधा के लिये अपने आपको सदा बाँटता रहता है। ऐसी होती है संन्यासी की ब्रह्मनिष्ठा और ऐसी होती है उसकी वैश्व भावना।

*****

- ब्रह्म का चिन्तन कैसे करें? उसके अस्तित्व 'है' भाव से– **अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथन्तदुपलभ्यते।**(कठोप०)
- अपना घर है– प्रेम। **यत्र विश्वम्-भवत्येकनीडम्।**(यजु०)
- जब इन्द्रियाँ अन्धकार में विलय होती हैं तो इसको निद्रा कहते हैं। जब इन्द्रियाँ प्रकाश में विलय होती हैं तब इसको समाधि कहते हैं।
- मन का प्रकृति में लीन हो जाना ही सुषुप्ति है और सच्चिदानन्द में एकीभाव से तल्लीनता ही तुर्यपद है।
- सुषुप्ति के आनन्द को जाग्रत् में लाना है और जाग्रत् के प्रकाश से सुषुप्ति को प्रकाशित करना है; बस यही साधना है।
- जिस प्रकार किसी वृक्ष के कट जाने पर वह पुनः हरा-भरा हो जाता है, ऐसे ही हृदय में स्थित वासना की जड़ें मृत्यु के बाद पुनर्जन्म के रूप में फूट निकलती हैं।
- अहंकार के स्रोत की खोज करने से अहंकार लुप्त (नष्ट) हो जाता है और फिर जो शेष रहे वह आत्मा है।
- संविद् अर्थात् चेतना (आत्मा) से प्रक्षिप्त प्रकाश ही महत् है, फिर अहंकार, फिर मन व इन्द्रियाँ।
- मन= आत्मा का यन्त्र! शरीर= मन का यन्त्र! पुनर्जन्म= अहंकार का जन्म, प्रतिबन्धों का जन्म।
- समाधि मनुष्य की सहज अवस्था है। यह तीनों अवस्थाओं का आधार है। यह अर्थात् 'मैं' इन अवस्थाओं में नहीं है। अपितु ये अवस्थायें इसमें हैं। यदि हमें जाग्रत् अवस्था में समाधि प्राप्त हो जाए, तो यह अवस्था गहननिद्रा में भी बनी रहेगी। सचेत तथा अचेत अवस्था का भेद मन के क्षेत्र का है। सत् आत्मा की अवस्था उससे परे है।
- आत्मा का साक्षात्कार सहज सिद्ध है। इसके लिए किसी मन-इन्द्रिय आदि साधन की आवश्यकता नहीं है। **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्!**

ॐॐॐ

७५. क्षमा मूर्त्ति सन्त तिरुवल्लुवर

श्री महाराज क्षमामूर्ति सन्त तिरुवल्लुवर के जीवन की एक घटना सुनाया करते हैं कि जो सहन करने में **'कितना'** इस शब्द को अपने मन से निकाल देते हैं, वे ही सन्त तिरुवल्लुवर की भाँति हर परिस्थिति में शान्त रहते हैं। कोई भी प्रतिकूल से प्रतिकूल घटना भी उनकी अविचल शान्ति में बाधा नहीं पहुँचा सकती। दक्षिण का यह सन्त अपने जीवन काल में ही किसी भी अवस्था में क्रोधित न होने के लिये विख्यात हो गया। एक युवक के मन में विचार आया कि मैं देखता हूँ कैसे क्रोधित नहीं होता? युवक ऐसा कठोर निश्चय करके सन्त के घर पर पहुँच गया। घर पर पता चला कि वे तो अमुक स्थान पर वस्त्र बेचने के लिए गये हैं। युवक भी ढूँढ़ तलाश करता हुआ वहीं पहुँच गया। सन्त जी से पूछने लगा– एक गज वस्त्र का कितना मूल्य है उत्तर मिला ४ रुपये। वस्त्र को उठाया बीचों बीच फाड़कर पूछने लगा– इस आधे हिस्से का कितना मूल्य होगा? सन्त ने कहा– आधे हिस्से का २ रुपये। उसको भी फाड़कर फिर वही बात पूछ ली। सन्त भी अपने सहज स्वभाव से जो मूल्य बनता था, बताता रहा। छोटे-छोटे टुकड़े करने पर कहने लगा– मुझे तो यह वस्त्र पसन्द नहीं आया। उसे कैसा वस्त्र खरीदना था, वह तो सन्त जी के क्रोध की परीक्षा लेने आया हुआ था। सन्त जी भी कोई भोबली (रेतीली) मिट्टी के बने हुए थोड़े ही थे। उसके फौलादी जिस्म को युवक के अपव्यवहार रूपी वाग्बाण तनिक भी छू तक न सके। उन्होंने कहा– कोई बात नहीं, नहीं पसन्द आया तो मेरा वस्त्र मेरे पास है। ऐसे शालीनता पूर्ण उत्तर को सुनकर अब युवक सकपकाया और कहने लगा– ठीक है, अब तो मैं इसको खरीद ही लेता हूँ। मेरी भूल का दण्ड आप पर नहीं पड़ना चाहिए। सन्त कहने लगा– पर अब इस वस्त्र का उतना मूल्य रहा नहीं। आपको तो यह कुछ काम आ नहीं सकेगा, मैं तो फिर भी अपने घर पर इसका कुछ आसन या गुदड़ी आदि बना लूँगा। अब तो इसे मैं अपने पास ही रखूँगा।

महाराज कहते हैं– जिनके पास इतना अधिक धैर्य व सहन क्षमता होती है, वे ही इस प्रकार की अग्निपरीक्षाओं में सफल हो पाते हैं। अन्यथा तत्काल व्यक्ति के मन में ये शब्द आ जाते हैं– कितना सहन करें? सहन करने की कोई सीमा भी तो हो? महाराज का कहना है सहन करने के क्षेत्र में 'कितना' शब्द बड़ा भयंकर है। कितना शब्द आया नहीं कि इधर धैर्य का बाँध टूटा नहीं। महाराज का भाव है– सहन करने वाले बस सहन करते हैं, साक्षात् भगवान् की तरह, और यह साधित होता है अपनी अन्तर्निहित अनन्त सामर्थ्य व बल के आधार पर। यदि उस आन्तरिक सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जाता है तो यह तो इतना चिकना मार्ग है कि इस पर अडिग खड़े रह पाना सर्वथा नामुमकिन है। शान्ति के जो प्यासे हैं केवल मात्र वे ही लोग– सन्त तिरुवल्लुवर की भाँति अपने स्वरूप में रहते हैं और किसी भी बड़ी-से-बड़ी शक्ति के द्वारा हिलाये नहीं हिलते।

७६. अनुकूलताओं में वैराग्य

श्रीमहाराज का यह एक प्रिय जीवन सूत्र है– अनुकूलताओं में वैराग्य। प्रायः समझा यही जाता है कि वैराग्य को जन्म देने वाली चीज दुःख, दर्द, पीड़ा-बाधा-कष्ट-प्रतिकूलतायें हुआ करती हैं। मानव मन ही क्या, जीव मात्र ही प्रतिकूलताओं से जितना बन सके शीघ्रातिशीघ्र बाहर होना चाहता है। प्रतिकूलतायें जितनी अधिक होती हैं उतनी ही छटपटाहट तेज होती है और उसके परिणामस्वरूप प्रतिकूलताओं पर विजय पाने का या उनसे पीछा छुड़ाने का कोई-न-कोई उपाय खोज ही लिया जाता है। पर अनुकूलताओं में व्यक्ति का मन मन्द या सुस्त पड़ जाता है। उन्हीं में लीन हो जाता है। यही कुछ तो इस समस्त जीवन और जगत् में हो रहा है। बीच-बीच में अनुकूलताओं का रस चखने को मिलता रहता है और वह रस चाहे भले ही क्षणिक ही हो; व्यक्ति को बाँधे रहता है या यों कहें व्यक्ति को आगे बढ़ने से रोके रखता है। सांख्य की भाषा में कहें तो व्यक्ति तुष्टि दोष के प्रभाव में आ जाता है। श्रीमहाराज का कहना है– जैसे प्रतिकूलतायें व्यक्ति को साक्षात् जलाने वाली प्रतीत होती हैं तद्वत् अनुकूलतायें भी व्यक्ति में वेदना उत्पन्न कर सकें, तो समझना चाहिये अब उस व्यक्ति का अविलम्ब ही भगवान् के राज्य में प्रवेश हो जायेगा। महाराज इस बात पर बहुत ही बल देते हुये कहते हैं कि भगवान् के राज्य में प्रवेश इन वेदनाओं से ही होता है। यहीं से मानव जीवन का उत्तरायण आरम्भ होता है– यही श्रेयमार्ग है।

महाराज जीवन विकास के जिस उच्चतम बिन्दु पर खड़े हैं, महाराज को यहाँ पहुँचने के लिए किन-किन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा है– इस तथ्य से जिन्हें परिचित होने का थोड़ा-सा भी मौका मिला है, वे जानते हैं बाह्य रूप से अर्थात् जीवन के लिए आवश्यक साधन सामग्री मान-प्रतिष्ठा की महाराज को कभी कमी नहीं रही। चाहे वे नानुखोड़ (यह पटौनी के पास गाँव है) में एक अध्यापक के रूप में रहे हों या लाहोर उपदेशक विद्यालय में स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज की छत्र-छाया में उनके एक प्रिय शिष्य के रूप में, अथवा पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक के रूप में या फिर रिवाड़ी नगर में श्री सोमदेव वैद्य के रूप में या आर्य समाज रिवाड़ी के मन्त्री के रूप में, इन सभी रूपों में अपने शालीन व सौम्य स्वभाव, अपनी निःस्पृह सेवावृत्ति, अपनी मधुर व प्रिय वाणी की अमिट छाप सम्पर्क में आने वाले सब लोगों पर छोड़ते गये। सार रूप में कहें तो सबके हृदय-सम्राट् बनकर रहे। महाराज कहते हैं इन सब अनुकूलताओं ने मेरे पैर खींचने के बजाए मुझे आगे ही बढ़ाया। सदा मेरे मन में एक ही बात आती थी कि ये लोग तुझे कितनी उच्च दृष्टि से देख रहे हैं, इनके पैमाने पर खरे उतरने के लिए तुझे और भी अधिक तप करना चाहिए। यह भाव ही मुझे ऊँचा उठने के लिए बार-बार प्रेरित करता रहा और वह चढ़ाई चढ़ना मैंने समाप्त नहीं कर दी है। समष्टि से जितना मुझे समर्थन मिलता है, उतना ही और भी अधिक मैं अपने आप को सेवा व तप की आग में जलाने के लिये प्रयत्न करता हूँ। यही है अनुकूलताओं से लाभ उठाने का सही दृष्टिकोण, जो प्रत्येक साधक को विधेय है। श्री महाराज के अनुकूलता-प्रतिकूलता विषयक दृष्टिकोण को श्रीमद् भगवत् गीता के प्रकाश में भी देख लेना चाहिए–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (गी० २.६९)

अपनी आर्ष प्रज्ञा के द्वारा महाराज गीता के इस श्लोक की व्याख्या उपर्युक्त प्रसंग के अनुकूल बहुत ही सुन्दर किया करते हैं। वे कहते हैं– सब भूतों के लिए निशा के समान जो प्रतिकूलतायें होती हैं, संयमी उनमें भी जागता रहता है अर्थात् उन प्रतिकूलताओं के प्रति इतना सचेतन हो जाता है कि या तो अपनी ज्ञानशक्ति (विवेक) का प्रयोग कर उन्हें अनुकूलता में बदल देता है या फिर उनमें भी या उनके द्वारा भी अपने जीवन विकास की कोई राह खोज लेता है। जबकि संसारी लोगों की बुद्धि प्रतिकूलतायें आते ही सो जाती है, कुण्ठित हो जाती है, किंकर्तव्यविमूढ हो जाती है। 'या निशा' का एक अर्थ महाराज यह भी कहते हैं– जो यह आलस्य प्रमाद की तमिस्रा है जिसमें सब प्राणी सो रहे हैं, संयमी उसमें सदा जागता रहता है। इसी प्रकार 'यस्यां जाग्रति भूतानि'= जिन अनुकूलताओं के लिये समस्त प्राणिगण ललचाते रहते हैं, जागते रहते हैं, एक अर्थ में उन्हीं में मस्त हो जाते हैं, पश्यन्मुनि (ज्ञानी) के लिये वे सब बड़ी-से-बड़ी अनुकूलतायें भी निशा (रात्रि के समान) ही होती हैं अर्थात् उन तथाकथित अनुकूलताओं के प्रति ज्ञानी पुरुष अपनी आँखें मूँद लेता है, यानी उनसे विरक्त होकर आगे बढ़ जाता है।

१. द्रष्टव्य लेख– साधक को क्या प्रतिकूल? (पृष्ठ– २५७-२६०.५४वां लेख)

*****

- ध्यान किसी एक आकृति पर होता है, जो अन्य असंख्य आकृतियों को निरस्त कर देता है। फिर शनैः शनैः समाधि में इसका भी निराकरण।
- साक्षात्कार से पूर्व ध्यान का स्थान है। ध्यान किसी आकृति या बिन्दु या नाम पर होता है। अतः ध्यान-बिन्दु मन को स्थिर होने में सहारा देता है।
- आत्मा हर समय तरंगित रहती है। इसकी तरंग-स्फुरण-स्फुल्लिंग-किरण-दीप्ति दृश्य से जब तादात्म्य कर लेती है तो इसको अहंभाव कहते हैं। जीव बाह्य दृश्य (देहात्मभाव) से तादात्म्य कर अपने को भ्रम से ऐसा ही समझ लेता है जैसी ये वृत्तियाँ (विवर्त) होती हैं। और यदि यह अहं (संस्कारी अहं, उज्ज्वल जाग्रत् अहं) तादात्म्य नहीं करता है तो फिर अपने मूल आत्मा में विलीन हो जाता है।
- मन को मीन समझो और अहंकार मछलीमार! क्या यह अहं रूपी मछुवा अपनी वंशी के काँटे में खाने की वस्तु मछली को खिलाने के लिए लगाता है?
- सुषुप्ति में आत्मा चित्रपट की चद्दर की तरह बाह्य नाम-रूप से अप्रभावित है– यही है जो कुछ हम हैं– **तत्त्वमसि सोम्य!**
- यस्मै त्वमायजसे०– जो तेरी दया की तरंग में! माँ और शिशु! जिसको तू चुन ले, वरण कर ले (सावित्री सत्यवान्), जिसको तू खैंच ले (चुम्बक) जिसको तू अपना ले (कीटभृङ्गी)।

७७. स्वधर्म परधर्म

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। (गीता ३.३५)

गीता में स्वधर्म और परधर्म की चर्चा कई श्लोकों में आयी है। महाराज 'स्व' तथा 'पर' की बहुत सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या किया करते हैं और उसके द्वारा स्वधर्म में ही दृढ़ता से स्थित होने का सन्देश देते हैं। महाराज कहते हैं– स्वधर्म का अर्थ है– अपनी अन्तरात्मा का धर्म अथवा अपनी सहज प्रकृति, और परधर्म के मायने हैं– मन-इन्द्रियों, शरीर, किसी भी दूसरे व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठीयमान धर्म, कोई भी रूढ़ि, कोई भी मान्यता। महाराज का कहना है– कर्म के विषय में व्यक्ति को अपनी आन्तरिक प्रकृति की खोज करनी चाहिए, जिसका कि जन्मजन्मान्तर के अनन्त प्रवाह में से गुजरते हुये एक गेड (धारारूप) बन गया है और इसलिए जो कि अत्यन्त सहज हो गया है। एक क्षण के लिए बाह्यरूप से देखने में भले ही वह स्वधर्म (आत्मा का धर्म) विगुण भी क्यों न प्रतीत हो और परधर्म अर्थात् अपनी प्रकृति से बहिर्भूत धर्म का अनुष्ठान कितना भी अच्छे-से-अच्छा क्यों न सम्पन्न हो जाये, तो भी परिणाम में व्यक्ति के लिए स्वधर्म का अनुष्ठान ही कल्याणकर होगा।

महाराज का भाव है- स्वधर्म व्यक्ति के केन्द्र की माँग होता है जबकि परधर्म बिना ही केन्द्र के केवल मात्र परिधि के रूप में दिखाई देने वाला आपातरमणीय क्षणिक छाया मात्र होता है। मूल बात जो यहाँ ध्यान देने योग्य है वह यह है कि परधर्म का अनुष्ठान करते हुये भी यह सर्वथा सम्भव है कि कोई व्यक्ति संसार की आँखों में एक सफल व्यक्ति के रूप में पहचाना जाये, क्योंकि सफलता और असफलता के संसार के अपने ही पैमाने हैं, संसार तो प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को सफलता का फतवा देता है जिन्होंने भौतिक क्षेत्र में कोई विशेष कार्य कर दिखाया है– अर्थात् जिन्होंने पर्याप्त धन-सम्पत्ति अर्जित की है या फिर किसी कला में सबसे आगे निकल गये हैं या कोई ऊँचा सम्मानजनक पद प्राप्त कर लिया है इत्यादि। पर ये सब पाकर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस व्यक्ति को अब जीवन में अवश्य ही रस की अनुभूति होगी या रस की अनुभूति हो रही है। क्योंकि 'रस' कोई ऐसी सतही चीज नहीं है जो सोने के टुकड़ों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं, यातायात के उत्तम साधनों, विपुल इन्द्रिय भोगों, संसार के ऊँचे-ऊँचे जयकारों, सम्मानित पदों, गले में लोगों के द्वारा डाली जा रही फूलमालाओं, एक शब्द में कहें तो- 'समस्त भौतिक साधनों' के द्वारा खरीदी जा सके।

आज से हजारों वर्ष पहले याज्ञवल्क्य ने भी अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए यही बात रखी थी कि **'यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति'** अर्थात् वित्त से यानी भौतिक साधनों से शरीर को तो सुख मिल सकता है, साधन-सम्पन्न लोगों की तरह जीवन जिया जा सकता है, पर इसके द्वारा कोई रस की या अमृत तत्त्व की आशा करे तो यह असम्भव

है। श्री महाराज कहते हैं रस के भूखे व्यक्ति को बाहर देखना बन्द करना ही होगा। महाराज के शब्दों में रस केवल मात्र हृदय की चीज है और हृदय में प्रवेश पाने के लिए विचारों, वृत्तियों व बाह्य मान्यताओं के कोलाहल को बन्द करना ही होता है। या यों कहें नचिकेता जैसी तीव्र जिज्ञासा का होना आवश्यक है जिसके द्वारा समस्त बाह्य जगत् का सहज रूप से अस्वीकार हो जाये। महाराज के शब्द हैं– निश्चल नीरवता वह द्वार है जिससे हम अनन्त में प्रवेश पाते हैं। क्योंकि भगवान् जाना नहीं जा सकता, वह हुआ जा सकता है। हृदय ही हमारा असली घर है जहाँ हमारी शाश्वती माँ अपने बच्चों को स्तन्यपान कराने के लिए सदा बाट जोहती रहती है। वहाँ स्तन्यपान कर और उससे शक्तिमान् हो जब हम बाहर अर्थात् मस्तिष्क में या मन में अपना खेल खेलने के लिए आते हैं तो वही हमारा **स्वधर्म** होता है। अन्दर से चलने का नाम **स्वधर्म** है। यदि ऐसा नहीं किया जाता और दूसरों की देखादेखी किसी कर्मप्रवाह में बह जाते हैं या फिर किसी भय, आसक्ति अथवा प्रलोभन के वशीभूत होकर किसी कर्म का चुनाव कर बैठते हैं तो वह **परधर्म** होता है और निश्चय ही वह हमारे लिए बड़ा भयानक होता है। क्योंकि हम उस-उस काम को करते जाते हैं और उसकी निन्दा भी करते रहते हैं। व्याकरण भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि के शब्दों में 'तत्कारी और तद्द्वेषी' बने हुये अपने जीवन के दुर्भाग्य को दिन-दिन ढोते रहते हैं।

जैसे कि जब कभी किसी के समक्ष यह प्रश्न किया जाता है कि रस आ रहा है तो तत्काल उसका यही उत्तर होता है कि अजी! रस तो क्या आ रहा है? पर बस अपना टाइम पास कर रहे हैं। और जब बड़े-बड़े सफल समझे जाने वाले व्यक्ति भी इसी बोली में बोलते हुए देखे या सुने जाते हैं तो फिर यह बिल्कुल प्रमाणित हो जाता है कि स्वधर्म से हटते ही यही विरस फल हाथ लगता है। एक युवा को पर्वतारोहण में रस आता था, पर उसके माता-पिता ने उसको अपने किसी उद्योग में लगा दिया। वह एक अच्छा खासा उद्योगपति बन भी गया, पर वह अन्दर से सूना-सूना ही रहता था। इसी प्रकार विश्व के एक महान् डॉक्टर के जन्म दिवस पर जब सब ओर से उपहारों का अम्बार लग रहा था तो वह रो रहा था कि मेरी आन्तरिक रुचि तो सितार बजाने में थी, पर मेरे पिता ने मुझे इस मार्ग में डाल दिया। ये और इस प्रकार के सभी उदाहरणों से स्वधर्म को समझने-समझाने में अवश्य ही उचित दिशा मिलती है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वधर्म में जीना और मरना सच्चे सुख का या रसमय जीवन का हेतु है। दूसरी तरफ परधर्म का अनुष्ठान जीवन को एकदम नीरस बना देता है। यहाँ इतनी बात विशेष समझ लेनी चाहिए जिसका गीताकार ने भी स्पष्ट संकेत या निर्देश किया है कि हमें अपनी प्रकृति की खोज करके उसके अनुसार ही अपने कर्म का चुनाव करना चाहिए। अपनी अन्तःप्रकृति के विरुद्ध जोर जबरदस्ती कभी नहीं करनी चाहिए। सम्पूर्ण सृष्टि चक्र अपनी प्रकृति के अनुसार ही चल रहा है। प्रकृति के विरोध में निग्रह की कुछ पेश नहीं खाती। गीता के इन उपर्युक्त वचनों से ऐसा लगने लगता है कि फिर मनुष्य के पास स्वतन्त्र इच्छा शक्ति नाम की कोई चीज ही नहीं रही– जो कोई जहाँ जो कुछ भी कर रहा है या हो रहा है सब ठीक ही है, अच्छा बुरा कुछ रहा ही नहीं। पर वस्तुतः गीता के उस प्रकरण को ध्यान से देखने से पता चलता है कि स्वयं गीता ही अपने कण्ठ से यह बात भी कह रही है–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (गी० ३.३४)

मनुष्य के पास पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ और एक आन्तर-इन्द्रिय मन नाम से ज्ञान के साधन हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के साथ राग व द्वेष (प्रियता-अप्रियता) जुड़े हुये हैं, इसलिए किसी भी उपाय से इन राग व द्वेष (अच्छा या बुरा) के वश में न आवें; ये ही इसको लूट लेने वाले डाकू हैं। सो साधक को अपनी प्रकृति के अनुसार तो अवश्य चलना है पर इन इन्द्रियों के बहकावे में कभी नहीं आना है। इससे यह भी निर्धारण हो जाता है कि इस लेख के प्रारम्भ में जिस तथ्य का संकेत किया गया है– "श्रीमहाराज 'स्वधर्म' से 'अपनी अन्तःप्रकृति या अन्तरात्मा का धर्म' ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं और परधर्म से इन्द्रियों का धर्म" वह गीताकार के अभिप्राय के सर्वथा अनुकूल ही है। अपने मन व इन्द्रियों की चाहत या उनकी मौज बहार को एक तरफ कर साधक को पूर्णरूप से अपनी अन्तरात्मा की आवाज को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि अन्दर के प्रकाश से चलना ही आर्ष शैली कही गयी है– **'आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश' 'आत्मदीपो भव',** यद्यपि यहाँ व्यक्ति अपनी मन की बात को अन्तरात्मा की आवाज समझने की भूल तो कर सकता है, पर चित्त यदि शुद्ध है तो यह भूल कभी नहीं होती। किसी भी प्रकार की कामना से मुक्त चित्त ही शुद्ध चित्त कहा जाता है। सो उस अन्तर्वाणी को सुनकर उसी के अनुसार अपने जीवन की धारा को गति देनी चाहिए। एक शब्द में महाराज के भाव को रखा जाये तो कहना होगा कि कर्म का चुनाव पूर्णरूप से अपनी अन्तःप्रेरणाओं के अनुसार होना चाहिए, न कि किसी भी बाह्य हेतु से।

इस विषय में महाराज गीता का ही एक और सन्दर्भ भी प्रस्तुत किया करते हैं–

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। (गीता १८.४८)

महाराज कहते हैं जो कर्म सहज रूप से करने को मिला है– उसमें कुछ दोष भी नजर आयें अर्थात् आपात दृष्टि में वह पूरा निर्दोष न प्रतीत हो तो भी उसका त्याग न करें। क्योंकि उसको छोड़कर जिसमें भी तुम हाथ डालोगे वही स्थिति वहाँ भी मिलेगी, आग जलाते समय एक बार तो धुँआ उठता ही है, सो जो कुछ भी तुम करना चाहोगे– पहले ही झटके में पूर्ण निर्दोष स्थिति को कैसे प्राप्त कर सकोगे? जब सब जगह यही बात है तो अपने सहज प्राप्त कर्म को ही क्यों न गति दी जाये। वह तुम्हारी प्रकृति के अधिक अनुकूल होने के कारण उसमें अधिक शीघ्र उन्नति कर सकोगे या फिर प्रतीयमान दोष से अधिक शीघ्रता से मुक्त हो सकोगे। महाराज इस बात पर बहुत ही बल देते हैं कि 'सहज मिले अविनाशी'। उनका कहना है जो भी उद्धारक चीजें आयेंगी वे सहज मिलेंगी और आये-जाये सो माया। जो कुछ बुद्धि की खींचतान से प्राप्त किया जाता है वह शीघ्र ही खिसक जाता है, जबकि सहज प्राप्त एकदम स्थायी होता है, शर्त है व्यक्ति उसके प्रति प्रमाद न करे।

७८. जिसको छोड़ना है, अन्दर से छोड़ना

एक और बात– जैसे श्री महाराज किसी चीज को पकड़ने में सहजता पर बल देते हैं उसी प्रकार किसी चीज को छोड़ने के सन्दर्भ में भी उनका इसी बात पर जोर होता है कि किसी भी अवर चीज को छूटना चाहिए– छोड़ना नहीं। जैसे कोई फल पकने के बाद डाल से स्वतः ही अलग हो जाता है। उतना ही सहज होना चाहिए हमारे लिये हेय का हान। महाराज कहते हैं यह तभी हो पायेगा जब अगली चीज पकड़ में आयेगी। सीढ़ी का अगला डण्डा पकड़ में आते ही पिछला अपने आप ही तो छूट जाता है, उसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। महाराज कहते हैं जब अगली चीज पकड़ में नहीं आती और जो हाथ में है उसे छोड़ने का प्रयास किया जाता है, तो यह ऐसा ही होता है जैसे– किसी कच्चे फल को डाल से तोड़ डालना। उनका कहना है– इस प्रकार से छोड़ी हुई चीज में कडवाहट होती है, मिठास या रस नहीं आता। महाराज कहते हैं– प्रयास पूर्वक छोड़ी हुई चीजें बार-बार याद आती रहती हैं और सहज छूटी हुई चीजों के सन्दर्भ में ऐसा कभी नहीं होता। प्रकृत में उनका भाव स्पष्ट है– जो चीजें छोड़ी जाती हैं– वहाँ चीजों को तो छोड़ दिया जाता है, पर उनका रस मन में बसा रहता है, और वह रस पुनः-पुनः स्मृति पटल पर उभर कर आता रहता है। मनुष्य के लिए यह बहुत ही दुःखकर या कष्टकर स्थिति होती है कि चीज तो मिले नहीं और मन उसके लिए अन्दर ही अन्दर ललचाता रहे। सहज छुटी हुई चीजों में ऐसा नहीं होता। कारण, चीज के साथ ही उसका रस भी चला जाता है। मन एक तरफ हो जाता है और सदा शान्त रहता है।

*****

☞ 'मैं संन्यासी हूँ' ऐसी अहंकारपूर्ण घोषणा करते ही संन्यास को विफल समझो।

☞ मन पदार्थ और प्रकाश है अर्थात् उभयमय (दोनों) है। इससे पदार्थों को ओझल कर दो तो मन प्रकाश है, आत्ममय है, आत्मा के साथ एक है। प्रकाश से दूर हटकर यह अहंकार है, प्रकृति के घनीभाव में है, पदार्थमय है।

☞ पावन धर्म विहार! निर्मल गंगा धार! जीओ वर्ष हजार!
शील सुमेर! पूषन्नेक! **यत्र ज्योतिरजस्रम्०!** शीलधाम की नींव! शील सम्पत्ति अचल है, ध्रुव है।

☞ शुद्ध आकाश प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करता। जलाकाश ही ऐसा कर सकता है। कांच वस्तुओं को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता, कांच की पतली परत जिसके पीछे अपारदर्शी लेप लगा रहता है, सम्मुख रखे पदार्थों को प्रतिबिम्बित कर सकती है। इसी प्रकार शुद्ध ज्ञान न तो स्वयं में पदार्थ को समाहित कर सकता है, न ही प्रतिबिम्बित कर सकता है। परिसीमन करने वाली उपाधि जो मन है, वही इस जगत् को प्रतिबिम्बित करता है।

७६. यह कैसा अतिथि पूजन....

बात ऐसी थी कि किसी गृहस्थ का यह नियम था कि प्रतिदिन किसी-न-किसी एक अतिथि को भोजन कराने के बाद ही भोजन ग्रहण किया करता था। इस गृहस्थ को तीन दिन बीत गये, पर कोई अतिथि नहीं प्राप्त हो सका। उधर इसी प्रकार तीन दिन से एक ८५ वर्ष के व्यक्ति को भोजन प्राप्त नहीं हो सका था। वह घूमता हुआ इस गृहस्थ के घर में आ गया। ये तो ऐसे व्यक्ति की तलाश में थे ही, अपना बड़ा सौभाग्य मनाया। अतिथि को सम्मानपूर्वक आसन पर बिठाया, भोजन का थाल उनके समक्ष परोस दिया गया। इस अतिथि का अपना कुछ नियम था कि अग्निपूजन करके ही भोजन ग्रहण किया करता था, सो उसने अपना नित्य-कर्म पूरा करने के लिए गृहस्थ से थोड़ी अग्नि की माँग की। उन्होंने पूछा– अग्नि का क्या करोगे? अतिथि ने कहा– मैं अग्नि पूजन करके ही भोजन ग्रहण करता हूँ ऐसा मेरा नियम है। अब तो गृहस्थ क्रुद्ध होकर उससे कहने लगा कि अच्छा किया आपने पहले बता दिया,आप यहाँ से तुरन्त उठ जाइये, हम अग्निपूजकों को भोजन नहीं कराया करते हैं। वह बेचारा भूखा ही तत्काल उठकर चल दिया। अतिथि के घर से चले जाने के पश्चात् गृहस्थ के मन में आकाशवाणी हुई– ओ आस्तिक! जिसको तुमने नास्तिक कहकर दुत्कार दिया उसका ८५ वर्ष तक पालन पोषण किसी ने तो किया ही होगा, तुम तीन दिन के भूखे को एक समय भी भोजन नहीं करा सके। अब तो वह छटपटाने लगा– इधर-उधर उस अतिथि की ढूँढ तलाश करने लगा, पर अब वह कहाँ मिलना था।

*****

- ☞ बाँट दिया सो बो दिया। खा लिया सो खो दिया।।
- ☞ जैसे हरिण को पकड़ने के लिए हरिण का उपयोग किया जाता है, वैसे ही जीव (शिष्य) के उद्धार के लिए गुरु ने शिष्य जैसी देह धारण की है।
- ☞ चित्त शुद्धज्ञानमात्र है, मन की इसमें से उत्पत्ति होती है, यह संकल्पों से निर्मित होता है। अन्धकार अथवा अज्ञान की आड़ के कारण शुद्ध ज्ञान अन्य रूप से भासित होने लगता है। यह या तो 'अहम्' या 'जगत्' के रूप में भासित होने लगता है जो काम, राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण है।
- ☞ देश-काल मन में समाहित हैं। एक समाधान है– 'अभ्यास'।
- ☞ समस्त जन्मों का आदि कारण अज्ञान (मिथ्याज्ञान) है। इसी आदि कारण से वर्तमान में सन्देह, भ्रम, संशय, प्रश्न आदि उठ रहे हैं। इस अज्ञान का निवारण ज्ञान द्वारा होगा। **धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्**!
- ☞ हमारी वास्तविकता है परोक्ष में! ऋत के मूल में! तत् में! तदेव! नेदम्!

८०. उपदेश-नवनीत

१. एक बार महाराज किसी व्यक्ति को गाय के दूध के लिए सलाह दे रहे थे। उसने कहा– जी! गाय का तो नहीं है, भैंस का है। स्वामी जी महाराज ने कन्धों की तरफ इशारा करते हुए कहा– भाई! भैंस का दूध तो यहीं तक जा पाता है और फिर मस्तक की तरफ संकेत करते हुए कहने लगे– मनुष्य को तो विशेष रूप से इसकी आवश्यकता है न?

२. एक बार लेखक के साथ नारनौल से एक माता जी महाराज से मिलने आश्रम पहुँचीं। वे पूछने लगीं– स्वामी जी! सन्ध्या में मन नहीं लगता, क्या करें? महाराज ने प्रतिप्रश्न करते हुए उत्तर दिया– झाड़ू लगाने में या चक्की चलाने में मन लगता है? यदि उसमें लगता है तो उसी में आनन्द लेते हुए पड़ोसियों के भी घर के सामने तक झाड़ू लगा दिया करो। फिर देखो आपको कितनी खुशी मिलती है? आगे किसी के सामने यह प्रश्न ही नहीं करेंगी।

३. श्री अभयसिंह यादव I.A.S. ने लेखक को बताया कि अनुभव के विषय में श्री महाराज एक विशेष बात कहते हैं– एक छोटा बच्चा अपने चारों तरफ कितनी-सी जगह देख पाता है! किन्तु वही जब अपने पिता के कन्धे पर चढ़ जाता है तो बहुत दूर तक के सब दृश्य देख पाने में समर्थ हो जाता है। समस्त ज्ञान-विज्ञान, कला, संस्कृति-सभ्यता एवं साहित्य का विकास इसी प्रकार से तो संगुणित (Multiply) होता हुआ अनन्त विस्तार को धारण किये हुए है। श्री महाराज यह कहना चाहते हैं कि हम इस जीवन की कठिन यात्रा को दूसरों के अनुभव से लाभ उठाकर सरल बना सकते हैं। इस थोड़े से जीवन काल में संसार रूप बृहत् सागर को हम केवल अपने अनुभव से कैसे पार कर सकते हैं?

४. प्रश्न– स्वामी जी! आध्यात्मिक उन्नति के लिए सरल मार्ग क्या है?

उत्तर– (थोड़ा मुस्कुराते हुए) सरल मार्ग! ऊँचाई पर भी चढ़ना चाहते हो और पसीने से भी घबराते हो। सरल तो लुढ़कना है, चले जाओ आराम से लुढ़कते, कहीं तक भी।

५. प्रश्न– स्वामी जी! आपके समक्ष स्वामी दयानन्द अथवा आपके गुरु की ही कोई निन्दा करने लगे तो आपको कैसा लगेगा?

उत्तर– मेरे स्वामी दयानन्द की अथवा मेरे गुरु की संसार का कोई भी व्यक्ति निन्दा नहीं कर सकता। स्वामी दयानन्द अथवा मेरे गुरु का जो चित्र मेरे मन में बैठा हुआ है, निन्दा करने वाला व्यक्ति उस चित्र की न तो निन्दा करता है और न ही कर सकता है। वह तो उसके अपने ही द्वारा किसी कल्पित चित्र या कल्पित रूप की निन्दा करता है।

६. एक बार लेखक ने श्री महाराज से श्रीमद्भगवद्गीता के एक श्लोक का अर्थ जानना चाहा। महाराज का उत्तर था– भाई! मैं गीता का व्याख्याकार नहीं हूँ। गीता से मुझे जितना जो कुछ चाहिए, लेता रहता हूँ। आगे कहा– गीता ही नहीं, अन्य शास्त्रों के साथ भी अपनी तृप्ति मात्र को लक्ष्य कर जुड़ा हुआ हूँ।

७. श्री महाराज का बैठना, चलना, बातें करना, दूसरों की बातें सुनना, कार्य करना या करवाना– इन सब क्रियाकलापों में लेखक ने उनमें एक 'अद्‌भुत स्थिरता' को पाया। एक बार वे रात्री में प्रतिदिन की भाँति टेपरिकार्डर से किसी का प्रवचन सुन रहे थे, सौभाग्य से लेखक को भी उस दिन सुनते हुए महाराज जी को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। लेखक ने देखा कि डेढ़ घण्टा एक पत्थर की तरह महाराज स्थिर बैठे रहे, आँखें थोड़ी बन्द थीं, हाथ घुटनों पर रखे हुए थे। आज भी उस चित्र जो जब लेखक याद करता है तो बहुत भाव-विभोर हो जाता है। लेखक को उनकी शान्ति, उनके शरीर-मन व बुद्धि का स्थैर्य बेहद पसन्द है, जिसमें थोड़ी सी भी कृत्रिमता नहीं है, सदा ही एक विनम्रतापूर्ण सहजता होती है।

८. लेखक को कोई उनके व्यक्तित्व की कम से कम शब्दों में व्याख्या करने को कहे तो वह यह कहना चाहेगा कि वे सत्य, करुणा, प्रेम, ज्ञान, आनन्द, ब्रह्मचर्य, सरलता, सोम्यता, निर्भयता, निष्कामता (अकामता), स्थिरता, पुरुषार्थ के मूर्त्त अवतार थे।

९. श्री महाराज एक बात कहते थे कि भौतिक स्तर पर भी और आध्यात्मिक स्तर पर भी आकाशवाणी तो निरन्तर होती रहती है। कब कौन उसके साथ एकरूप होकर उसे सुन पाता है, यह अलग बात है।

१०. लेखक के प्रिय सुहृत् श्री स्वामी ब्रह्मदेवजी (कर्नाटक) श्री महाराज का एक संस्मरण सुना रहे थे कि मेरी बहुत दिन से द्वैत-अद्वैत की समस्या उलझी हुई थी। महाराज ने उसे बड़ी सहजता से एक ही वाक्य में सुलझा दिया-'व्यवहार में द्वैत है, भाव में अद्वैत'।

११. एक बार डॉ० भूदेव जी ने महाराज के समक्ष अपनी समस्या रखी कि मुझे तो शब्दों का बहुत कम बोध है, न तो व्याकरणादि पढ़ा हूँ और न ही शास्त्र। अतः जब आप अपने स्वरचित भजन कविता आदि सुनाते हो तो उनके अर्थ का ही पता नहीं चलता। महाराज ने समझाया– मैं तुम्हें ऐसा सूत्र देता हूँ कि शब्द स्वयं अपना स्वरूप तुम्हारे समक्ष प्रकट कर देगा, अपना हृदय खोलकर रख देगा। तुम ऐसा किया करो जब भी तुम्हें किसी शब्द का अर्थ अस्पष्ट हो, पता न चल रहा हो तो उस वाक्य को बार-बार मन ही मन शान्ति और धैर्य के साथ गुनगुनाते रहो। जो चीजें पहली दृष्टि में सर्वथा अस्पष्ट थी वे शनैः शनैः स्पष्ट होती जा रही हैं, ऐसा तुम्हें स्वयं अनुभव होगा।

१२. एक तथाकथित राजनेता ने कहा कि महाराज, कुछ आशीर्वाद दीजिए। स्वामी जी बोले कि आपको क्या आशीर्वाद दें? आप तो ढपोलशंख हैं। बोलना दुगना-चौगुना; किन्तु करना कुछ नहीं! फिर भी मेरा आशीर्वाद हारने वाले के लिए जीतने वाले से दुगना है। आपको कौन-सा चाहिए?

१३. स्वामी जी महाराज के समक्ष जब कोई प्रश्न करता कि सन्ध्या के नाम से बैठते हैं तो मन और अधिक चञ्चल हो जाता है। इसे रोकने का क्या उपाय किया जाए? तो ऐसे लोगों को महाराज का उत्तर होता है कि मन एक जगह नहीं रुकता तो उसके साथ झगड़ा करने के बजाए उसे सेवा में लगा दीजिए। अपनी रुचि का कोई भी काम सेवा-भाव के साथ करने लग जाइए। कुछ समय बाद आप देखेंगे कि आपको वह सेवा-कार्य करने में बड़ा आनन्द भी आ रहा है तथा मन की चञ्चलता

कम होकर सहज रूप में वह **शान्त भी** होने लगा है।

१४. महाराज के सम्पर्क में आने वाले लोग जानते हैं कि सेवा उनका बाल्यकाल से ही अतिप्रिय विषय रहा है। जब वे छोटे थे और स्कूल में पढ़ रहे थे, उस समय भी अपने कुर्ते की जेब में अमृत धारा की शीशी साथ रखते और किसी को वमन-दस्त हो जाते तो झट उसकी सेवा में उपस्थित हो जाते। महाराज इस बारे में अपना अनुभव सुनाते हैं कि ऐसा करके मुझे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती थी। महाराज के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा लगता है कि इसी मूल सूत्र ने उनको परम सत्य तक पहुँचा दिया। महाराज से जब कोई मिलने जाता है तो प्रसन्न व्यक्तियों को देखकर इतने खुश होते हैं जैसे उनके समक्ष स्वर्ग ही चलकर आ पहुँचा हो और दुःखियों को देखकर उनके हृदय में बुद्ध की तरह करुणा का सागर फूट पड़ता है।

१५. लेखक के साथ घटित एक घटना से एकदम स्पष्ट हो जाता है कि महाराज को जो हम 'सेवा के मसीहा' के रूप में पूजते हैं, वह सर्वथा यथार्थ है। घटना इस प्रकार है– बहुत वर्ष पहले एक बार माँदी निवासी श्री सुभाष जी आर्य महाराज के पास जा रहे थे। लेखक ने कहा– सुभाष जी मेरे लिए भी श्री महाराज से एक शब्द लिखवाकर ले आना। सुभाष जी जब महाराज से मिलकर वापस आने लगे तो लेखक की बात भी रख दी। महाराज पहले तो कहने लगे– भाई! शब्द क्यों माँग रहे हो, शब्द ही तो उसका विषय है, शब्दों में ही तो वह रात दिन खेलता-कूदता है। फिर कहने लगे– एक दृष्टि से तो ठीक ही माँग की जा रही है– शब्द के साथ आचरण का योग हो जाता है तो उसमें जीवन आ जाता है; अन्यथा शब्द निर्जीव-सा रहता है। चलो! अपनी प्रियतम चीज भेज देता हूँ– यह कहते हुए एक कागज पर निम्न वाक्य लिखकर दे दिया– **"सेवक तो कोई बिरला है आठों प्रहर रहे जाग"**। बाद में किसी अन्य प्रसङ्ग में महाराज ने स्वनिर्मित कविता की शेष पङ्क्तियाँ भी सुनाईं-

प्रेमी तो कोई विरला है हेतुरहित अनुराग!
साधु तो कोई विरला है हिल मिल रहे बेलाग!
दाता तो कोई विरला है जीवन-धन महाभाग!
जती-सती कोई विरला है श्वेत वस्त्र बेदाग!
व्रती तो कोई विरला है चले सहज सन्मार्ग!
अपना तो कोई विरला है सहजशील रसराज!

१६. महाराज अपने प्रवचनों में सेवा की महत्ता पर बोलते हुए अपने तथा अन्यों से सम्बन्धित अनेक घटनायें सुनाया करते हैं। लीजिए, उन्हीं के साथ घटी एक घटना। बहुत वर्ष पहले श्री महाराज घूमते हुए एक बार जीन्द के पास एक आश्रम में पहुँचे। महाराज को सूचित किया गया- यहाँ आश्रम का एक बड़ा ही खूँखार कुत्ता है, उससे सावधान रहें। कुछ देर बाद श्री महाराज वहाँ के आश्रमाध्यक्ष श्री स्वामी जी के साथ बात करने लगे। इसी बीच कुत्ता भी घूमता-फिरता दोनों स्वामियों के मध्य आकर बैठ गया। कुत्ते को कहीं चोट लगी हुई थी और उस पर बार-बार मक्खियाँ बैठ रही थीं। उसे देखकर

करुणामय होकर महाराज ने अपने तौलिये से कुत्ते की मक्खियाँ उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय बातें होती रहीं और कुत्ता भी शान्ति से लेटा हुआ महाराज की सेवायें ग्रहण करता रहा। चर्चा के उपरान्त महाराज को ठहरने के लिए एक कुटिया दी गयी। अब जिधर महाराज जाएँ, कुत्ता भी पीछे-पीछे जाने लगा। महाराज अपनी कुटिया में जाएँ तो कुत्ता भी कुटिया के सामने जाकर बैठ जाए। पाकशाला की तरफ जाएँ तो कुत्ता भी साथ-साथ पाकशाला में पहुँच जाए।

आश्रमवासी महाराज से बहुत चकित होकर पूछने लगे कि महाराज! आपने क्या जादू कर दिया? यह तो बहुत खूँखार कुत्ता था। आपको आये एक दिन हुआ है और कुत्ता जहाँ भी आप जाते हैं वहीं पहुँच जाता है। महाराज ने अपना उत्तर देते हुए कहा– मेरे पास तो कुछ जादू नहीं। बस! इतनी बात है– यह मुझसे सेवा लेना चाहता है। थोड़ी देर इसके घाव पर बैठ रही मक्खियों को मैंने उड़ा दिया। उसी के कारण यह अपने खूँखार रूप को त्यागकर प्रेम से भरा हुआ पीछे-पीछे दौड़ता फिर रहा है। पाठक समझ रहे होंगे कि महाराज इस सत्य घटना से हमको क्या सिखाना चाहते हैं?

१७. किसी ने पूछा कि हम आपका चित्र लेना चाहते हैं। महाराज ने कहा– चित्र लेना है तो हृदय का चित्र लो।

१८. एक बार श्री महाराज भिवानी-रिवाड़ी रेलवे लाइन से रिवाड़ी की तरफ जा रहे थे। ट्रेन में कुछ उद्दण्ड लड़के युवतियों के साथ अभद्र व्यवहार करने लगे। नाँगल मूँदी रेलवे स्टेशन पर जैसे ही गाड़ी रुकी, महाराज ट्रेन से नीचे उतर लिये। टिकट फाड़कर फेंक दिया और व्रत लिया कि आज के बाद ट्रेन में नहीं बैठूँगा। रिवाड़ी १४ किलोमीटर पैदल ही चलकर पहुँचे। महापुरुषों की हर एक क्रिया में एक विलक्षणता होती है।

१९. इसी प्रकार एक बार पाल्हावास से रिवाड़ी जा रहे थे। ताँगे वाले के साथ इस शर्त पर ताँगे में बैठे कि तुम घोड़े को गाली नहीं दोगे। लेकिन उसका अपना प्रवाह यों सहज में कैसे टूटने वाला था? कुछ देर बाद ही उसके मुँह से गाली निकल पड़ी। महाराज ने तुरन्त ताँगा रुकवाया और ताँगे से उतरकर पैदल चल दिये। संकल्प लिया कि आगे से कभी ताँगे पर नहीं बैठूँगा।

२०. एक बार लेखक अपने मित्र श्री पं० रूपचन्द्र जी 'दीपक' को महाराज से मिलाने के लिए आश्रम ले गया। लेखक महाराज से प्रश्नोत्तर कर रहा था। दीपक जी पास में बैठे शान्ति से सुन रहे थे। दीपक जी ने वर्षों बाद यह घटना लेखक को बतायी कि आपने महाराज जी से पूछा कि लोगों के बीच हम कुछ काम करते हैं, उधर लोग हमारी कमी निकालने लगते हैं, हमें उनकी बातें अच्छी नहीं लगतीं तो ऐसे मौके पर क्या करें? महाराज ने उत्तर दिया– आप अपने को आचार्य क्यों मानते हो? अपने को सीखतड़ मानो, अपने को कुछ मान लिया तो उसके विरोध में सुनने पर जरूर कष्ट होगा। सीखतड़ मानोगे तो स्वतः ही अहङ्कार नहीं होगा और इसलिए कष्ट भी नहीं होगा।

२१. श्री विनय सिंह जी I.A.S. ने महाराज के दिव्य संस्मरण बड़े भाव-विभोर होकर सुनाये। उन्होंने कहा कि महाराज यह कहते थे– **'या तो सिर पर हाथ फेर दो या फिरवा लो'। अर्थात् या**

तो पूर्ण जिम्मेदार बन जाओ या पूर्ण समर्पित हो जाओ! मनुष्य के लिए इससे भिन्न कोई भी स्थिति कल्याणप्रद व श्रेयस्कर नहीं है। श्री विनय सिंह जी का कहना है कि इस चीज ने मेरे हृदय को अन्दर तक छू लिया। महाराज की एक अन्य शिक्षा की तरफ भी उन्होंने ध्यान दिलाया कि **'मान कर चलो और दिया हुआ खाओ'।** स्वयं लेखक ने भी ये वचन श्री महाराज के मुख से अनेक बार सुने हैं।

२२. एक बार लेखक श्री महाराज को अपना लिखा हुआ एक लेख सुना रहा था कि सत्य की राह पर चलने वाले लोगों के मार्ग में कठिनाइयों और बाधाओं का आना स्वाभाविक है। सीता को ही अग्नि परीक्षा देनी होती है। क्या कभी किसी वार-वधू को अग्नि परीक्षा देते हुए सुना है! महाराज इस वाक्य को सुनते ही गम्भीर हो गये और कहने लगे कि भाई! मातृशक्ति के प्रति मैं ऐसे शब्दों को कभी नहीं सुन सकता। मातृशक्ति मेरे लिए माँ है! केवल माँ! मातृशक्ति के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करना उसका अपमान करना है। मैं माँ का अपमान न सुनना चाहता हूँ, न सुन सकता हूँ। महाराज कहते हैं मातृशक्ति के प्रति इस निष्ठा के कारण मैं पूर्ण सुरक्षित रहा हूँ।

२३. श्री स्वामी रामदेव जी जब खानपुर गुरुकुल में पढ़ते थे तो हम सब लोग महाराज से मिलने के लिए एक दिन आश्रम जा रहे थे। उन दिनों पाल्हावास से नूरगढ़ आश्रम के लिए कम ही साधन थे। हमने कहा चलो दौड़कर चलते हैं। आश्रम लगभग ८ किलोमीटर था, शीघ्र ही पहुँच गये। शाबाशी लेने के लिए बड़े उत्साह से लेखक महाराज के सामने अपना पराक्रम सुनाने लगा कि हम सभी पाल्हावास से दौड़कर आये हैं। महाराज हमारी बात सुनकर थोड़े गम्भीर हो गये। कहने लगे– थोड़ा इस वेश का ध्यान रखा करो, कोई देख रहा होगा तो क्या कहेगा– ये भी हमारी तरह ही हैं, किसी को भी शान्ति नहीं है। फिर अपने बारे में कहने लगे कि देखो! मैं कभी बस में दौड़कर नहीं चढ़ा। बस चल पड़ी तो उसे छूटने दिया और अगली बस से ही आगे गया।

२४. पटीकरा ग्राम निवासी श्री किशोरीलाल जी ने एक बार लेखक को सुनाया कि मैंने महाराज से कहा कि स्वामी जी मेरी पत्नी के घुटनों में दर्द रहता है। यह सुनकर श्री महाराज गम्भीर होकर कहने लगे– 'अब भी पत्नी ही कहते रहोगे। माता कहने का साहस नहीं है तो कम-से-कम बच्चों की माँ तो कह दिया करो'। यह ध्यातव्य है कि स्वयं श्री महाराज ने अपनी सहधर्मिणी को गृहस्थ आश्रम में ही 'माताजी' कहना प्रारम्भ कर दिया था।

२५. एक बार महाराज से लेखक ने पूछा कि आप श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को किस रूप में देखते हैं? उनका उत्तर था वे एक बड़े सर्जन थे। शास्त्रों में आई हुई विकृतियों को, समाज में फैली हुई कुरीतियों को, अर्थहीन रूढ़ियों को उन्होंने चीरफाड़ कर स्वस्थ कर दिया। वे इसके अधिकारी थे। उन्होंने युगधर्म की आवश्यकता के अनुसार जो कुछ भी किया वह सर्वथा उचित ही था। किन्तु अब उनके पथ पर चलने वाले उनके अनुयायियों का उन्हीं की बोली में बोलना मुझे ठीक नहीं लगता। कम-से-कम मैं तो अपनी स्थिति का आकलन करूँ तो यही पाता हूँ कि मैं एक ऑपरेशन के पश्चात् मरहम पट्टी करने वाले कम्पाउन्डर की भूमिका का निर्वाह तो कर सकता हूँ, पर चीरफाड़ करने

वाले सर्जन की योग्यता मुझ में नहीं है।

२६. श्रीमहाराज कार्यों की ज्यादा लम्बी सूची बनाकर रखने के पक्षधर नहीं थे। इस विषय में उन्होंने एक घटना सुनाई– महाराज एकबार किसी कार्य से दिल्ली जा रहे थे। रिवाड़ी स्टेशन पर स्वामी भूमानन्दजी मिले जो कि भगवद् भक्ति आश्रम, रिवाड़ी में रहते थे। आपस में चर्चा होने लगी। महाराज ने स्वामी भूमानन्दजी से पूछा– कहाँ जा रहे हैं? उनका उत्तर था– मैं कोई प्रोग्राम बनाकर फिर उसके पीछे-पीछे घिसटता नहीं फिरता। जिधर की ट्रेन आयेगी उधर ही चल देंगे। स्वर्ग और नरक दोनों ही जगह हमारे मिलने वाले हैं।

२७. श्री महाराज अपने गुरुदेव के विषय में एक घटना सुनाते थे। घटना हिसार रियासत के नबाब के अधीनस्थ लुहारु शहर की है। २६ मार्च १६४१ को सायंकाल के समय कुछ श्रद्धालु सज्जन नगर-कीर्तन के रूप में एक जुलूस निकाल रहे थे, जिसका नेतृत्व स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज कर रहे थे। लुहारु उस समय मुस्लिम बहुल क्षेत्र था। कुछ मतान्ध लोगों ने गुरुदेव श्रीस्वामी जी पर हमला कर दिया। उस समय उनकी आयु ६४ वर्ष थी। सिर में कुल्हाड़ी का वार किया जो लगभग ६ इञ्च गहरा था। और भी कितनी ही चोटें लगीं, पर खड़े-खड़े सहते रहे। श्रीमहाराज ने सुनाया कि गुरुदेव से मिलने के लिए सर छोटूराम विलिंगडन हॉस्पिटल दिल्ली पहुँचे तो उन्होंने कहा– आप तो इतने शक्तिशाली हैं, आप के हाथ में मोटा सोटा भी होता है– विरोध-प्रतिरोध क्यों नहीं किया? गुरुदेव श्रीस्वामी जी ने उत्तर दिया– संन्यासी का दण्ड किसी को मारने के लिए नहीं होता– वह तो इसलिए होता है कि जब कोई उस पर हमला करे तो वह अपने को सम्भाल सके, अगली चोट सहने के लिए खड़ा रहे। लगभग १० वर्ष बाद उसी लुहारु शहर में महाराज को वहाँ के नबाब ने फिर बुलाया, क्षमा माँगी, बड़ा भव्य स्वागत किया गया– उस समारोह में खुली गाड़ी में गुरुदेव बैठे थे– उन्होंने अपने प्रिय शिष्य सोम को बुलाया और अपने पास बिठा लिया। उस समय गुरुदेव ने अपने शिष्य से एक बात कही– देख रहे हो! यहाँ कुछ खून की बूँदें बीज रूप में बिखेरी थीं, वह खेती अब लहरा रही है। जिस नवाब के राज्य में गुरुदेव के साथ इतना बड़ा हादसा हो गया, उसी के बारे में बाद में श्रीमहाराज ने गुरुदेव से पूछा कि आप नवाब से मिले, उनसे बात चीत भी हुई, उन्हें किस रूप में देख रहे हैं? उनका उत्तर था– वह है तो भला आदमी। परिस्थितिवश कुछ ऐसी घटना हो गई

२८. एक व्यक्ति का नियम था एक घण्टा प्रतिदिन सन्ध्या करना, किन्तु उन्हें बीच-बीच में नींद आती रहती थी। महाराज ने कहा– देखो! एक घण्टा तो सन्ध्या नहीं हुई झपकी के समय को अलग करके हिसाब लगाना चाहिए। इस दृष्टान्त से महाराज **'पवित्रेण शतायुषा'** (यजुः० १६.३७) इस मन्त्रांश की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि हमें जैसे-तैसे जीवन के सौ वर्ष पूरे नहीं करने बल्कि पवित्रता से ओत-प्रोत रहते हुए करने हैं। जैसे ध्यान का वही समय गणनीय है जो ध्यान में बीता है, उसी प्रकार जीवन का पवित्रकाल ही आयु के रूप में गणनीय काल है।

२९. हरियाणा में पानीपत जिले के सालवन ग्राम में १२ वर्ष के एक बालक ने महाराज से प्रश्न किया कि आत्मा के सोलह संस्कारों में से 'अन्त्येष्टि' भी एक है। जिस शरीर को आत्मा ने छोड़ दिया उसका भी इतनी धूम-धाम से संस्कार क्यों किया जाता है? महाराज का उत्तर था– आत्मा का ही तो यह विजयोत्सव है– **'कीर्तिर्यस्य स जीवति'।**

३०. श्री महाराज के तेजस्वी वचनों में एक है 'मनुष्य जन्म के साथ ही शैतान की मौत हो गई'। उनका भाव है मनुष्य के शरीर में जब विचारशील मन, प्रज्ञावान् मन का जन्म हो जाता है तो उसके समक्ष शैतान मर जाता है। महाराज मनुष्य की देह को 'देवपुरी', मन व इन्द्रियों को 'देवगण' तथा मनुष्य की आत्मा को उन सब देवों के अधिष्ठाता 'इन्द्र' के रूप देखते हैं। जो कि नररूप में साक्षात् नारायण ही वास कर रहा है। वे पुराणकाल की इस मान्यता से सहमत नहीं है कि **'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः'**। वे बड़े ही सशक्त शब्दों में कहते हैं– देखो! वेद में मनुष्य के गौरव का कैसे ओजस्वी शब्दों में बखान किया है– **'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'**। भगवान् वरुण है तो यह मनुष्य भी सदा अकम्पित रहने वाला अथर्वा है। आचार्य यास्क भी कहते हैं **'आर्य ईश्वरपुत्रः'** किन्तु महाराज कहते हैं वृत्तियों से परे ही उसे अपने इस महान् स्वरूप का दर्शन हो सकता है।

३१. प्रश्न– स्वामी जी कर्म और ज्ञान के बीच पारस्परिक सम्बन्ध क्या है?

उत्तर– कर्म की पूर्णता ज्ञान में है और ज्ञान की चरितार्थता कर्म में है।

प्रश्न– कोई व्यक्ति आश्रम में पहुँचा। उस व्यक्ति ने श्री महाराज से कहा– महाराज! आप किसी से परिचय नहीं पूछते? महाराज बोले– भाई! परिचय किससे पूछूँ सब अपने ही तो हैं?

प्रश्न– आलस्य व प्रमाद में क्या भेद है?

उत्तर– आलस्य अजगर की तरह संज्ञाहीन है, जिसे पता ही नहीं होता कहाँ पड़ा है तू। जानते हुए किसी कार्य को न करना प्रमाद है। पता है धर्म का आचरण सुखदायक है, यम-नियमों का पालन करना जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए अत्यावश्यक है, परिश्रम करना शरीर सुख के लिए अनिवार्य साधन है इत्यादि उच्च जीवन की सम्पूर्ण जानकारी होते हुए भी जो कोई वैसा आचरण नहीं करता और अपनी हानि करता जाता है, यही प्रमाद की स्थिति है और इसी को साक्षात् मृत्यु भी कहा गया है।

३२. एक बार लेखक को श्री महाराज ने वैदिक विनय के लेखक आचार्य अभदेव जी के साथ हुई भेंटवार्ता का एक प्रेरक प्रसंग सुनाया जिससे कि 'जब हम कुछ सीखने के लिए किसी के पास जाते हैं तो हमें अपने मन की किस भाव दशा में उसके पास रहना चाहिए' इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। महाराज ने आचार्य जी से पूछा– आप बीस वर्ष पाण्डिचेरी में रहे क्या आपने वहाँ कुछ अवैदिक भी देखा? आचार्य जी ने इसका बहुत ही सुन्दर उत्तर दिया– भाई! मैं तो प्यासा गया था, पानी पीता रहा। वैदिक-अवैदिक देखने की फुर्सत ही नहीं लगी। प्यासा आदमी पानी पी चुकने के बाद जब थोड़ा अवकाश में होता है तब वह इधर-उधर ढूँढ तलाश या देखभाल करता है कि यहाँ

क्या मेरे अनुकूल है और क्या प्रतिकूल, क्या वैदिक है क्या अवैदिक?

३३. एक कबीर पन्थी संन्यासी किशोरीदास जी कहते हैं– न था दिन, न थी धरती, न था पानी, न आकाश, न अण्ड, न पिण्ड, न थी वेद की तेवी (ध्वनि) बताओ किस विधि रची बाजी। महाराज ने कहा– भाई! हम तो वेद तक ही जानते हैं। आगे की तो आप ही जानो।

३४. जिसके साथ 'श्रद्धया सत्यम्' लग गया वह शाश्वत है, पूर्ण है। जागृति में पूर्ण सत्य नहीं, अतः यहाँ पूर्ण आनन्द नहीं, 'मिथ्या मैं' का घनत्व है। सुषुप्ति में 'मिथ्या मैं' नहीं था परन्तु वहाँ 'सत्य मैं' भी नहीं था, अतः वहाँ भी----!

३५. जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्त हो जाओ, यही साक्षात्कार है। प्रयास 'वास्तविक मैं' को प्रकट करने के लिए नहीं, बल्कि 'मिथ्या मैं' को हटाने के लिए किया जाता है; चूँकि 'सत्य मैं' नित्य है, अतः उसके लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं।

३६. लेखक के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली श्री महाराज की सारभूत शिक्षाओं में से अन्यतम शिक्षा यह है– 'प्याऊ वाले बनकर पानी पिलाते रहो'। प्याऊ वाला कभी भी यह नहीं देखता कि किस-किस व्यक्ति ने मेरे पास कितना पानी पिया है। कोई थोड़ा पानी पीना चाहता है उसे थोड़ा पिला देता है, अधिक पीना चाहता है तो उसे अधिक। कोई हिसाब किताब नहीं रखता कि कितने लोगों को पानी पिला दिया है और आगे कितनों को पिलाना है। कोई पानी को मीठा या अच्छा बताता है, तो उसे भी स्वीकार करता है; कोई खारी, नमकीन या बुरा बता देता है तो उसे भी। किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता। पानी पिलाकर मैं पीने वालों को धन्य कर रहा हूँ– ऐसा नहीं समझता, बल्कि पीने वालों से मैं स्वयं ही धन्य हो रहा हूँ, यह समझता रहता है। एक मात्र पानी पिलाते हुए ही सम्पूर्ण फल (रस) प्राप्त कर लेता है– पीछे के लिए कुछ छोड़ता ही नहीं।

❋❋❋❋❋

- ☞ भक्त के लक्षण– **कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्। सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः।।**
- ☞ ध्याता किसका ध्यान करें? केन्द्र कहाँ जाए! और क्यों जाए! किसलिए जाए!
- ☞ महान् की अपेक्षा भले बनो!
- ☞ सरलता शिष्टाचार की जननी है।
- ☞ अन्तिम सत्य कितना सरल है।
- ☞ जब हम किसी व्यक्ति, विभूति को नमन करते हैं तो उस पूज्य करुणाभुवन द्वारा हमारा उद्धार हो चुका होता है।
- ☞ अक्षय पात्र की प्राप्ति की विधि बताते हुए आचार्य धौम्य ने सूर्य के १०८ नामों में सत्ययुग-मृत्यु-यम-धन्वन्तरि-कालपति-मुक्तिद्वार-स्वर्गद्वार-धर्म इत्यादि को गिनाया है।
- ☞ व्यक्ति भावना-प्रधान होता है। बुद्धि की अपेक्षा हृदय सत्य के अधिक निकट होता है।

८१. वे दिव्य स्मृतियाँ.....

• श्री महाराज का कहना है कि मनुष्य के अन्दर जो भी बीज होते हैं वे अपने पोषण के लिए बाहरी दुनिया से, शास्त्र से, अनुभवी गुरु-आचार्यों से, उच्च से या हीन से, विविध घटनाओं व परिस्थितियों से जो आवश्यक पोषक तत्त्व चाहिएँ खींच लेते हैं। वे अपने गुरुदेव के बारे में कहते हैं कि जहाँ संसार के लोग उनके फौलादी, बहादुरी, वीर, दृढ़ता से ओत-प्रोत व्यक्तित्व से परिचित हैं वहीं मैंने उनमें अत्यन्त कोमल मातृहृदय को भी पाया। उनके संवेदनशील हृदय की एक घटना सुनाते हुए महाराज ने लेखक को बताया- 'एक बार वृक्ष से वे दाँतुन तोड़ रहे थे, वृक्ष की शाखा बीचों-बीच फट गयी, इससे उनके हृदय पर ऐसी चोट लगी कि एक वर्ष तक दाँतुन ही नहीं की'।

• मैं सैकड़ों बार आश्रम गया। एक बार मुझे इच्छा हुई कि इस बार ट्रक आदि पकड़कर बिना पैसे ही आश्रम जाऊँ। महाराज ने कभी भी मुझसे किराये के लिए नहीं पूछा। किन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि इस बार प्रणाम करके जैसे ही चलने लगा, बीस कदम ही गया था कि पीछे से आवाज लगाई कि सुनो यह किराया तो ले जाओ।

• श्री रणधीर सिंह जी (कापड़ीवास) ने लेखक को श्री महाराज के देहत्याग करने के बाद की एक विचित्र घटना सुनायी। आश्रम में चिनाई का काम चल रहा था। एक दिन सायंकाल मिस्त्री ने बुआजी से कहा कि कल प्रातः रेती की आवश्यकता पड़ेगी। बुआजी ने कहा– भाई! जो भी आवश्यकता हो, पहले बताया करो। अब मैं एकदम कहाँ से प्रबन्ध करूँ। मिस्त्री तो बोलकर चला गया। रात को आश्रम के एक सेवक शेरपुर निवासी दयानन्द जी को १ बजे के लगभग स्वप्न आया कि श्री स्वामी जी उसे कह रहे हैं कि भाई! आश्रम में जीजी तंग हो रही हैं, प्रातः मिस्त्री को रेती चाहिए, अभी जाकर ले आओ। वह उसी समय उठा, अपने भाइयों को जगाया, रेती लाने के लिए ट्रैक्टर स्टार्ट किया और नदी में पहुँच गया। प्रातःकाल मिस्त्रियों के आने से पहले ही रेती लेकर आ गया। बुआजी ने पूछा– भाई! तेरे को रेती लाने के लिए किसने बता दिया? वह कहने लगा– मेरे को रात में ऐसे-ऐसे स्वामी जी महाराज स्वप्न में दिखाई दिये।

• महाराज एक बार साधना-आश्रम तपोवन देहरादून पहुँचे। वहाँ के अधिकारियों ने महाराज से पूछा कि क्या कुछ बोलेंगे? महाराज ने उत्तर दिया कि हम तो बोलने में भी आनन्द लेते हैं और सुनने में भी।

• महाराज एक बार किसी आश्रम में पहुँचे। वहाँ के अधिकारियों ने पूछा कि कितने दिन रुकेंगे? महाराज ने कहा– अपने नियम के अनुसार केवल ५ मिनट पहले बता देना।

• महाराज कहीं जा रहे थे। किसी ने पूछा– कहाँ रहते हैं? महाराज का उत्तर था– **'मिशाल-ए-गर्द-ए-रह-ए-मश्कन कहाँ है हम गरीबों का, घड़ी भर के लिये थक कर जहाँ बैठे वहीं घर है'।** हम तो पक्षियों की तरह हैं। शान्ति है तो पक्षिगण वृक्ष पर बैठ जाते हैं। कोई उड़ा दे तो तत्काल उड़ जाते हैं।

८२. सहज उपदेश

- निरोध का अर्थ मारण नहीं, स्वायत्तीकरण है।
- धारणा के द्वारा देशाकार (देशरूप) वृत्ति का और ध्यान के द्वारा कालाकार (कालरूप) वृत्ति का संकोच किया जाता है।
- जब वृत्ति अणुदेश में स्थित होती है, तो देश का विस्तार लुप्त हो जाता है और केवल वृत्ति ही रहती है। इसी प्रकार अणु दशा में जाकर काल अपने अस्तित्व को खो देता है और वृत्ति कालाकार परिणाम को छोड़कर लक्ष्याकार हो जाती है। फिर काल का बोध नहीं होता या बोध नहीं रहता।
- वृत्ति जब चित्त सत्त्व में लीन हो जाती है तब द्रष्टा किसी का द्रष्टा नहीं (अर्थात् वृत्तिसारूप्य नहीं) अपितु दृङ्मात्र ही रहता है– इसी को कैवल्य कहते हैं। वृत्ति का चित्तसत्त्व में शान्त होना ही समाधि है।
- चित्तसत्त्व का साम्योन्मुख या वैषम्योन्मुख स्पन्दन ही वृत्ति है।
- प्रमादं वै मृत्युं ब्रवीमि। (उद्योग पर्व ४२.४) अपने जीवन में जो प्रमाद है, भूल है, सावधान न रहना है, यही मृत्यु है।
- अनुगत = घुसा हुआ – रमा हुआ – सगुण
  व्यावृत्त = परे – असंग – निर्गुण
- कलियुग की माँ का नाम है दुरुक्ति (दुर्वचन)। दुरुक्तो कलिमाधत्ते। दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः।(श्रीमद्भा० ३.४.१)
- कभी-कभी अध्यास से दो चीजों को एक मान लिया जाता है जैसे देहोऽहम्।
- माया इसी का नाम है कि जो युक्ति से सिद्ध न हो और देखने में साफ आये, जैसे जादू का खेल, जैसे स्वप्न का संसार। हिलता है जल और कम्पन चन्द्रमा में आरोपित हो जाता है। इसी प्रकार प्रतीति का कम्पन अपने में आरोपित हो जाता है। इसका समाधान है– ऋतम्भरा प्रज्ञा, प्रज्ञानेत्र, दिव्यनेत्र।
- सम्पूर्ण सृष्टि का जो बीजभूत है (शेष है), वह भगवान् की शेष शैय्या है। सबको यहीं से जीवन पोषण मिलता है। प्रकृति माँ का यह रूप कितना कल्याणकारी है, करुणामय है, इसी कारणार्णव में भगवान् योगनिद्रा में शयन कर रहे हैं। ऐसी पूर्वावस्था में स्थित भगवान् की नाभि (नभ) में से जगत्रूप कमल निकला और उसमें से ब्रह्मा।
- आलस्य और प्रमाद में थोड़ा फर्क रहता है–
  आलस्य में काम तो याद रहता है, पर मनुष्य उसे टाल देता है।
  प्रमाद उसे कहते हैं कि समय पर याद ही नहीं रहता कि क्या करना है।
- **'कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्'** किसी प्राणी का तिरस्कार करके जो मेरी पूजा करता है वह ढोंग है, क्योंकि मैं हर एक के हृदय में बैठा हूँ।

- **अर्हयेद् दानमानाभ्याम्।** दान में वस्तु, सत्कार में क्रिया, मैत्री में भाव, अभिन्नदृष्टि में ज्ञान। इन चारों से हमें समग्र प्रपञ्च की पूजा करनी है।
- यह नहीं देखना चाहिए कि कौन बोल रहा है बल्कि यह देखना चाहिए कि क्या बोल रहा है। जहाँ कहीं अच्छी बात कही जा रही हो वहाँ **सत्युग,** जहाँ बुरी बात वहाँ कलियुग। अच्छापन सत्युग और बुरापन कलियुग।
- श्रद्धा ही संस्कारधानी है (जैसे राजा की राजधानी)।
- बुद्ध ने मार (काम) से कहा– दूर हटो क्योंकि मेरे पास श्रद्धा-वीर्य और प्रज्ञा हैं!
- चरित्र भगवान् का प्रत्यक्ष स्वरूप। चरित्र आचरण का आन्तरिकरूप है।
- **कबीर– शीलवन्त सबसे बड़ो सबै रतन की खान।**
  तीन लोक की सम्पदा रही शील में आन।।
- **ज्ञानी-ध्यानी संयमी दाता शूर अनेक। जपिया तपिया बहुत हैं शीलवन्त कोई एक।।**
- जो आके न जाये वह अपना अंग।
- हमारी अचल सम्पत्ति हमारा स्वभाव है– शील है।
- जो विपरीत परिस्थितियों में भी अचल रहे, वह अपना शील 'शीलं हि शरणं सौम्य', 'शीलगन्धोऽनुत्तरः' (धम्मपद)।
- सगुण के साथ जो सम्बन्ध होता है वह भावात्मक होता है और निर्गुण के साथ जो ऐक्य होता है वह बोधात्मक होता है।
- किसी भी शरीर को मैं के रूप में मान लेने का नाम जन्म और किसी भी कारण से पूर्वजन्म की विस्मृति हो जाने का नाम मृत्यु है।
- तीन सजावत देश को सती सन्त और शूर।
  तीन लजावत देश को कपटी कायर क्रूर।।
- जीवन का बँटवारा– स्वमहिमानमायजताम्। श्राद्ध= जीवन का भुगतान।
  जीवन का भुगतान हो रहा है– देवभाव!
  जीवन का भुगतान होना चाहिये– मनुष्य भाव!
  जीवन का भुगतान करना ही पड़ेगा– प्रायश्चित्त।
- मौन धारण करके बोलने वालों को देखो! अकिञ्चन होकर दानवीरों को देखो!
- इन्द्रियाँ नीरव होने से हम भगवान् को जान सकेंगे।
  मस्तिष्क नीरव होने से हम भगवान् को समझ सकेंगे।
  आवेग नीरव होने से हम भगवान् से प्रेम कर सकेंगे।
  इच्छायें नीरव होने से हम भगवान् को प्राप्त कर सकेंगे।

- यह शरीर दाता ने हमारे अभिनय के लिए हमको दिया है,
  अपना खेल खेलें और इसे प्रकृति माँ को वापस सौंप दें।
- जीवन में दुःख की प्राप्ति बड़े सौभाग्य की बात है। पर लोकव्यवहार में इसका कोई समर्थक नहीं मिलेगा (**दुःखं जन्तोः परमं धनम्**)।
- **पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।**
  स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति।।
  अजन्मा पुराण पुरुष के इस त्रिभुवन में भूत, भविष्य और वर्तमान की जितनी वार्ता हैं, महर्षि अपने अप्रतिहत ज्ञान नेत्र से उन सबको देखते हैं।
- यह मत सोचो कि तुम्हारे पास क्या नहीं है बल्कि यह देखो कि तुम्हारे पास क्या है, बस इसी से निकट दुःखी जीव सृष्टि की सेवा साधना द्वारा अपने हृदय को पवित्र करो। ऐसा शुद्ध हृदय प्रभु मिलन का खुला महाद्वार है।
- संयम ही सब निधियों का आधार है और संयम का प्रथम सोपान है वचोगुप्ति अर्थात् वाक्-संयम। अनावश्यक शब्द हमारी प्राण शक्ति को सोख लेते हैं।
- सच्चा व्यक्तित्व समष्टि की सेवा द्वारा अपने को शून्य बना देने में है। ऐसे पावन-व्यक्तित्व का अहं सेवक बन जायेगा।
- धन्य हैं वे तपोनिष्ठ पावन व्यक्तित्व जिनके घर गुणलुब्धा सम्पदा की अविरल वर्षा हो रही है। परन्तु पाँच यज्ञों के भुगतान द्वारा गरीब हैं।
- धन्य हैं वे उदार गरीब जो सब कुछ लुटाकर सम्पन्न हो गये हैं।
- श्रद्धा महावृक्ष है, भक्ति उसका फल है और प्रेम उसका रस तथा शील उसका सौरभ है। धन्य हैं वे जो इस बोधिवृक्ष की छत्रछाया में भक्ति (सेवा) रूपी रसीला फल खाकर अपने शील से विश्व को सुरभित कर रहे हैं।
- बुरे आदमियों का रोष पत्थर की रेखा होता है। मध्यम कोटि के व्यक्तियों का रोष बालू पर पड़ी रेखा के समान और श्रेष्ठ व्यक्तियों का रोष पानी की लकीर की भाँति होता है। किन्तु प्रेम में यही क्रम उलटा होता है– सत्पुरुषों का प्रेम पत्थर की रेखा, मध्यम कोटि के व्यक्तियों का प्रेम बालू की लकीर और निकृष्ट व्यक्तियों का प्रेम पानी की लकीर के समान।
- निर्गुण निराकार को सगुण साकार में लाना शब्द, कविता या नाम का कार्य है। इस तरह नाम दुभाषिये का काम करता है।
- यज्ञ की सार्थकता तभी है जब दाता को ऐसा प्रतीत हो कि ईश्वर स्वयं याचक बनकर अपनी ही वस्तु माँगने आया है। ऐसी स्थिति में दाता स्वयं धन्य हो जाता है।
- आत्मा पुस्तकों में नहीं है, आत्मा तुममें है, अतः अपने में खोजो कि **कोऽहम्**।

- आन्तरिक चिन्तन (ध्यान) से भूख बढ़ती है। शुद्ध चिन्तन से शुद्ध भूख और अशुद्ध चिन्तन से अशुद्ध भूख।
- आत्मा स्वयं रसीला प्रकाश है, ऐसा स्वप्न व सुषुप्ति में भी अनुभव होना चाहिए। इसकी साधना यह है कि वर्तमान जाग्रत् अवस्था भी ऐसे ही प्रकाश और रस से भरी होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में आत्मा समस्त अज्ञानान्धकार की भ्रान्तियों से चित्रपट के पर्दे की तरह अप्रभावित रहता है।
- 'मैं कौन' के प्रसंग में चित्रपट (सिनेमा) के पर्दे का उदाहरण।
- उदासीन अर्थात् राग-द्वेष, दृश्य-श्रव्य, विधि-निषेध से अप्रभावित; जैसे सिनेमा का चित्रपट।
- हम सिनेमा के दृश्य (भाति-सिद्ध) को ही देखते रहते हैं परन्तु चद्दर (अस्ति-सिद्ध) जिस पर कि यह सब कुछ भासमान है विचार नहीं करते।
- वासनायें बन्धन-हेतु और भोग-हेतु। बन्धन-हेतु जो अज्ञानियों को दुःखदायी प्रतीत हों, भोग-हेतु जो अज्ञानियों को सुखदायी प्रतीत हों।
- शास्त्र– ज्ञानियों को इसकी आवश्यकता नहीं, अज्ञानियों को इसकी इच्छा नहीं, यह तो जिज्ञासुओं या मुमुक्षुओं के लिए है।
- अहंकार सहित वैराग्य वृथा है और यदि अहंकार नहीं है तो समस्त परिग्रह का भी कोई डर नहीं।
- फादर दामियान के जीवन का भी यही हाल था– उन्होंने अनुभव किया कि जीवन बटोर कर रखने के लिए नहीं, बल्कि ईश्वर और उसकी दुःखियारी सन्तान की सेवा में लुटा देने के लिए मिला है।
- शान्त और द्वेष रहित मन हमारा दिव्य मनोहर महल है।
- हजरत मुहम्मद ने देवदूत से पूछा– ये स्वर्गीय महल किसके लिए हैं? देवदूत ने उत्तर दिया– 'जिब्राइल ने कहा है कि जो द्वेष रहित हैं, जिन्होंने अपना अपमान करने वालों को क्षमा कर दिया है– ये भव्य भवन उनके लिए हैं'। अतः ऐसा मन ही हमारा स्वर्गीय भव्य भवन है।
- हर अवस्था में यह अनुभूति होती रहे कि मैं वही हूँ न कि जो आपाततः दिखाई दे रहा हूँ जैसे रंगमंच पर अभिनय करने वाले को अन्दर से अनुभूति होती है कि मैं राजा या भंगी नहीं हूँ।
- मुक्ति= पेन्शन। सच्चे भक्त को मुक्ति रूप पेन्शन नहीं– सेवा चाहिये।
- आँख जब बन्द किया करते हैं– सामने आप हुआ करते हैं।
- **तद्दूरे तद्वन्तिके!**
  भगवान् भाव से निकट और विचारों से दूर! भगवान् भूखे के निकट और धापे से दूर!
  भगवान् दुःखी के निकट और सुखी से दूर! भगवान् जागे के निकट और सोये हुए से दूर!
  तरी (श्रद्धा) के मार्ग के निकट और खुश्की (रूक्षता) के मार्ग से दूर!

- शैशव की आत्मा सोम्यता और सरलता में। युवा की आत्मा शालीनता में। वृद्ध की आत्मा कुलीनता में। शाश्वत शैशव में आँख-मिचौनी और रस और हास सहज-भाव से नित्य होता रहता है।
- **नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।**
  एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः। (चैतन्य महाप्रभु)
- **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
  अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। (श्रीमद् भा० ७.५.२३)
- **वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तान्तु स्तनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः।।**
- **तत्र मा धेहि पवमान!**
  पवमान= शिक्षक! पवमान= जो रूपान्तरण कर दे! पवमान= पेबन्द (प्योंद) चढ़ा दे! पवमान= जामुन (दूध से दही)! पवमान= रोकड़ छाँट दे! पवमान= छान दें! पवमान= निर्मली (निर्मली वृक्ष के समान गन्दे को निर्मल कर दे)! पवमान= भृङ्गी (जो अपना रूप दे दे)!
- सहज योग से सहजानन्द! जीवन यज्ञ में सबसे मूल्यवान् है शुद्ध-बोध!
- जब हम हृदय में प्रवेश करेंगे तो यह सारी सृष्टि हमारी धर्म पुस्तक और इसके निवासी हमारे धर्म भाई दिखेंगे, ऊँच-नीच का भेद मिट जाएगा।
- **मिथ्या मिथःसिद्धत्वम्–** जो परस्पर दो से मिलकर सिद्ध हो वह मिथ्या, जैसे भोजन और रसना से मिलकर स्वाद।
- कृपाजीवी! प्रकृतिजीवी! बुद्धिजीवी! बलजीवी! धनजीवी!
- तुममें से अनेक अकेलेपन से डरकर किसी बातूनी की तलाश करते हैं, क्योंकि एकान्त की नीरवता तुम्हारी आँखों के सामने तुम्हारा नग्न रूप प्रकट करती है और तुम उससे भागना चाहते हो।
- मौन उच्चतम वाणी है। निश्चलता नीरवता उच्चतम कर्म है। सरलता उच्चतम शिष्टाचार है। आत्मजागरण उच्चतम समाधान है क्योंकि इस अवस्था में मनुष्य अपने मूल में अवस्थित रहता है।
- शुभेच्छा (जिज्ञासा) आत्म-साक्षात्कार का द्वार है।
- तुर्यपद= कोरापन= शुद्धबोध की अनावरण स्थिति= विद्ययाऽमृतम्= यत्र ज्योतिरजस्रम्= निरपेक्ष सत्य में निवास की स्थिति= यद् वै भूमा तदमृतम्।
- सहस्रों प्रश्नों का उत्तर चाहने से पहले यह जानो कि जो प्रश्न कर रहा है वह है कौन? उसके मूल को खोजो।
- मन का हृदय में लय होना ही पुण्यकर्म है, भक्ति है, योग है, ज्ञान है। संक्षेप में यही पूर्ण सत्य है।
- **मन** यह एक रस+बलात्मक तत्त्व है। ज्ञान शक्तिमय तत्त्व है। अपने स्वरूप में निर्मल और सरल

है। शंसनीय और शासनीय है। शिवसंकल्पमय है। (यजु० ३४) यह समष्टिचित्त का अंश है। (ऋ० १०.१६१)

- 'प्रेम पूर्ण जीवन के अतिरिक्त और कोई धन नहीं है'। (रस्किन)
- मरने जीने की अपेक्षा ये जिक्र करो कि सत्य क्या असत्य क्या? (प्रिं० ओ०)
- न करने से उसकी सेवा होगी, न जानने से उसका स्वरूप दीखेगा और मूकभाव से उसकी योग्य स्तुतियाँ होंगी। (सन्त ज्ञाने०)
- चित्तशुद्धि के बाद ऋत का सहारा। ऋत प्रकार है। ऋत के मूल में सोम है।
- 'दुःखं जन्तोः परमं धनम्'। अपना घर है यह हृदय, अपनी प्रकृति ही अपना घर है।
- भक्तों की दृष्टि– **१.** अपने लिए न्याय दूसरों के लिए– क्षमा! **२.** अपने लिए अकृत दूसरों के लिए कृतज्ञता! **३.** अपने लिए दोष दृष्टि दूसरों के लिए गुणदृष्टि! **४.** अपने लिए कंजूसी दूसरों के लिए उदारता!
- 'शरीर' आत्मा का विस्तार, जैसे विद्युत् का बल्ब और सद्गुण हैं किरणों के समान फैलने के साधन।
- चित्त शुद्ध है, पवित्र है; जब है इसमें ज्ञान, प्रेम, दयालुता, निर्विकारता और विशालता। वरुण देव अर्थात् पवित्रता-विशालता अनिमिषन्तः।
- किसी व्यक्ति का सब कुछ चला गया है, पर उसने अपना उत्साह बचा लिया है, तो वह सफलता प्राप्त कर लेगा। (एच० डब्ल्यु० अरनाल्ड)।
- वह भीतर है उसे देखना मात्र है, वह विस्मृत है उसे पुनः स्मृति में लाना मात्र है। चित्त की शान्त एवं जाग्रत् अवस्था ही उसे पाने का उपाय है।
- यह कार्य उन्हीं का है! और अगर उन्हीं का होगा तो जीवित रहेगा और मेरा होगा तो मेरे बाद समाप्त हो जायेगा।
- हुक्म से, धौंस से नहीं बल्कि शाबाशी से उत्साह बढ़ता है।
- सत्य की खोज सहज स्वतन्त्रता में होती है।
- सम्पूर्ण जीवन ही योग है (All life is yoga) श्री अरविन्द।
- करने से करने का न करने से न करने का अभ्यास होता है।
- बलपूर्वक लगी हुई ठोकर मनुष्य की आँखें खोल देती है, इसकी पहुँच वहाँ भी है जहाँ विज्ञान व उपदेश दोनों की दाल नहीं गलती।
- योग में प्रगति अभ्यास व वैराग्य से होती है। वैराग्य में भगवान की सहायता नहीं मिलती अभ्यास में अवश्य मिलती है।
- यह सोम रूपी गंगा भी स्वामी स्वतन्त्रानन्द रूपी गंगोत्री से प्रवाहित है।

८३. श्री महाराज के स्वरचित भजनों का संग्रह

१.

जाऊँ कहाँ तज चरण तुम्हारे।
भूमि जल अनल नभ वायु सूर चन्द्र तारे, हेम रत्न मणिमय माला तख्तो ताज सारे,
ओ विश्व के विधाता ये सब चरण रज तुम्हारे ।। जाऊँ कहाँ तज चरण तुम्हारे.....

विश्व इक पिटारा, जो दिक् काल में सजाया, खोल विधि-निषेधों में दी नाम रूप माया।
ओहो विश्वनाथ नटवर ये सब खेल और खिलारे! जाऊँ कहाँ तज चरण तुम्हारे.....
सत्य तू सुपथ्य तू शिव तू सर्वरूप धारे, परम तू गहन तू सम तू कौन तुझसे न्यारे।
ओहो सर्वमय स्वयम्भू तुझमें अपुन पहारे, जाऊँ कहाँ तज चरण तुम्हारे.....

२.

जीवन को मिला सहारा जब मेरी कुछ नहीं पार बसाई,
जिनको अपना कहता था उनकी भली बुरी सहता था,
उन सब ने किया किनारा जब मेरी नाव भँवर में आईं जीवन को मिला सहारा -------

भुज बल का लिया सहारा बल खाय अपन पहारा,
भव निधि की ताप तरंगों से भय खाए मति चकराईं जीवन को मिला सहारा-----
अब डूब मरण के डर से पतवार छूट गई कर से,
अब घोर विपद् में करुणा कर तेरे बिन कौन सहाईं जीवन को मिला सहारा----------

तू ने पापी पार उतारे अब मैं आया तेरे द्वारे,
अरु दिए प्राण ज्यूँ तार नाथ ऐसी तेरी शरणाईं जीवन को मिला सहारा--------

३.

जाग हे मेरी सुरत सुहागन जाग हे,
शैशव असन-बसन बिच बीत्यो, पग-पग विघ्न कभी नहीं चेत्यो,
छाया प्रेम पराग हे। मेरी सुरत सुहागन जाग हे--------

प्रेम पन्थ तो बुधजन जाणे, चली अपनपे तू अनजाने,
पहुँची विविध विमार्ग हे। मेरी सुरत सुहागन जाग हे।
स्वप्न मोह के जाल फँसी क्यों, भूल भूलकर डाल चली क्यों,
ये कैसा अनुराग हे। मेरी सुरत सुहागन जाग हे---------

चौथे याम बीत रही रजनी, उठ पहचान अपन को सजनी (प्रकृति),
चलो अचल सुहाग हे। मेरी सुरत सुहागन जाग हे--------

४.

ओम् की धुन को सुनता है सन्त सुजान।
बैठे इकन्त जमा कर आसन मूँद लिए दोऊ कान,
झीनी धुन में सुरत लगावे करता नाद पिछाण। ओम् की धुन को ----------
घण्टा शंख बंसुरी वीणा बाजे मधुरी तान,
ताल मृदङ्ग नगाड़ा पीछे गर्जन मेघ समान। ओम् की धुन को---------
दिन-दिन सुन नाद-ध्वनि, ओहो मन गलतान (बेसुध),
ब्रह्मज्योति घट में दर्शावे बिसरे काया मान। ओम् की धुन को----------
तन मन की दुविधा सब मेटे करे निरन्तर ध्यान,
सोम सुधा मिटे भव बन्धन, पावे पद निर्वाण। ओम् की धुन को--------

५.

श्रमिक जन जीवित पीर फकीर!
जीवन जिसका बना पसीना, नित्य बहे तन तीर
यज्ञ दान तप से पावन, जैसे सुर सरिता का नीर,
एक ही धर्म एक व्रत नेमा, हरना भव की पीर। श्रमिक जन जीवित------
लखे तरङ्गित हित कोई तापस, हृदय घाट गम्भीर,
बहती जिसमें भक्ति भावना, सुरभित सौम्य समीर। श्रमिक जन जीवन-----
श्रम सरिता के तट पर देखी, सुर पादप की भीड़,
फल सन्तोष लगे उनके पर, चाखे हरिजन धीर। श्रमिक जन जीवित-----

६.

ओम् की माला घट में फिरे दिन रात।
ऊपर आवे नीचे जावे श्वाँस-श्वाँस चल जात,
संसारी नर समझै नाहीं वृथा अमर विहात। ओम् की माला--------
ओम् मन्त्र जपै नित प्राणी बिन जिह्वा बिन दाँत,
अष्ट प्रहर में सोवत जागत कबहुँ न पलक रुकात। ओम् की माला----
हंसा ओम् ओम् हंसा बार-बार उल्टात,
सद्गुरु पूरा भेद बतावै निश्चल मन ठहरात। ओम् की माला--------
जो योगी जन ध्यान लगावै बैठ सदा प्रभात,
सोम सदा मोक्ष पद पावै फेर जन्म नहीं आत। ओम् की माला-------

७.

चदरिया प्रेम की कोई ओढै सन्त सुजान
सबसे ऊँची प्रेम सगाई बढ़ती दिन अनुदिन अधिकाई,
सहज सुलभ परिधान। चदरिया------
जिन ओढी वह जुग-जुग जीया, प्रेम पीयूष उन छिक-छिक पीया,
हो गये नाम निशान । चदरिया------
इड़ा पिङ्गला ताना भरनी सुख मन तार विहार विहरनी,
फैला विश्व-वितान । चदरिया-------
अगन-निगम के रंग रंगी है, सुरत निरत की गोट लगी है,
पुण्य पर्व पवमान । चदरिया--------

८.

ओम् के हम हो चुके हैं, देव पथ के पथिक हैं हम, ओम् के हम हो चुके हैं।
जितने विकारी पाश हैं, भय मरण व्याधि त्रास हैं,
सब मानसिक उपहास हैं, हम सजग हैं बस सो चुके हैं। ओम् के हम हो चुके हैं।
व्याधियाँ तन की मिटीं, अरु प्राण सीमायें कटीं,
मन की निराशायें हटीं, सम मार्ग अपना जो चुके हैं। ओम् के हम हो चुके हैं।
पावन त्रिवेणी नाम है, स्वर्गीय धन ध्रुव धाम है।
अध्यात्म में विश्राम है, मल ताप-त्रय को धो चुके हैं। ओम् के हम हो चुके हैं।
अब आत्म निर्मल गंग में, निःसीम प्रेम तरंग में,
उस अज अनामय अंग में, अस्तित्व अपना खो चुके हैं। ओम् के हम हो चुके हैं।

९.

म्हारे गुरु ने ऐसी सीख सिखाईं
तप से तन की रहनी रसनी श्रद्धा की अधिकाई,
सत् सम्बल की बाँध गठरिया ऊँची चढ़ी चढ़ाईं हमारे गुरु ने ------
अनजाने मन से मत खाना विषयों की मधुराई,
सूझ-बूझ बिन कौन बावरे ऊँचीं चढ़ चढ़ाईं हमारे गुरु ने-------
बुद्धि से दी आँख खोल और भिन्न-भिन्न समझाई,
नेति-नेति से करुणा करने तत्त्व बात समझाईं हमारे गुरु ने-------
अपने को अपने में खोजो भाव गंग में निशिदिन नहाकर,

मेटो जीवन काई सहज साध दरशाईं हमारे गुरु ने-------
परम ज्योति में ज्योति समाई, धन्य-धन्य शरणाईं हमारे गुरु ने --------

१०.

म्हारी थारी सहज बनी हो मनीराम, म्हारी थारी खूब बनी हो मनीराम।
नित निर्मल रसधार नई है, देश काल परिणाम जई हो,
पावन पूरण काम। म्हारी थारी सहज------
भावी भूत भुवन संगम हो, अगम निगम के तुम संगम हो,
अमर ज्योति धूप धाम। म्हारी थारी सहज-------
सर्व रसों की खान तुम्हीं हो, जन्म-जन्म के भान तुम्हीं हो,
पुण्य पर्व ध्रुव धाम। म्हारी थारी सहज-------
यज्ञ याग तुम्हारे द्वारा है, बिना यज्ञ जीवन हारा है
सब विधि पूर्ण काम। म्हारी थारी सहज------

११.

सुरत लागी राम में वह तो आप मिले भगवान्,
मात हमारी प्रभु जी यों मिली दीना जिन जीवन दान। सुरत लागी राम में------
पितर हमारे प्रभु जी यों मिले रक्षा कर राख्यो म्हारो राम। सुरत लागी राम में------
गुरुदेव हमारे प्रभु जी यों मिले दीना जिन आत्मज्ञान। सुरत लागी राम में------
हम धन्य हुए धरा धाम में, कर त्रिवेणी में स्नान। सुरत लागी राम में-------

१२.

अगम नाहीं गुरु बिन सूझ पड़े।
भव उस पार है देश हमारा, गहन गम्भीर तमोगुण धारा,
सूझ बूझ बिन 'अलख किनारा', कोई कैसे उतरे। अगम नाहीं गुरु बिनु सूझ पड़े-------
जग जंगल है पन्थ घनेरे, रज झञ्झा बहुरूप लुटेरे,
तन-मन बैठे तृष्णा घेरे, कैसे विपत् टरे। अगम नाहीं गुरु बिन सूझ पड़े------
जन्म-मरण के ताने-बाने, अहंकार के ठोर-ठिकाने,
कहो कब किसने कैसे जाने, धर-धर देह मरे। अगम नहीं गुरु बिन सूझ पड़े--------
कामधेनु सुर तरुवर म्हारे, जन्म-जन्म के काम संवारे,
ओ अन्तिम अवलम्ब तुम्हारे, चरण कमल पकड़े। अगम नाहीं गुरु बिन सूझ पड़े----

१३.

डगमग डोले दीनानाथ नैय्या भवसागर में मेरी।
मैंने भर-भर जीवन भार, पहुँचा एक नहीं उस पार,
यह भी कालचक्र ने घेरी। डगमग डोले-------
उलझे अधजल नक्र भुजंग, झटके पटके ताप तरंग,
पड़कर कर्म पवन के संग, माँगें भरती है चकफेरी। डगमग डोले--------
मुड़का मेरु दण्ड पतवार, कर पग पाते चले न चार,
सकुचा मन माझी लिए हार, बसे दुर्गति रात अंधेरी। डगमग डोले---------
ठोकर मरणासन की खाय, फटकर डूब जायेगी हार,
स्वामी अब तो पार लगाये, तेरी मार सही बहुतेरी। डगमग डोले----------

१४.

घर आये दीनदयाल दीन घर रंग छाये।
पय पृथिवी और पवन प्यारे, तेज पुञ्ज आकाश दुलारे।
सर्वभूत हित आप पधारे, कैसे सज धज कर आये। घर आये दीनदाल -------
आ भव भीषण ताप नसाया, सर्व सुधा शीतल बरसाया।
विश्व प्रेम अंकुर उपजाया, निकट दूर सब हर्षाये। घर आये दीनदाल-------
मन मन्दिर में ज्योति जला दो, पूजा की हमें विधि बता दो।
जो चाहो सो भेंट मंगा दो, यह सुन करुणामय मुस्काये। घर आए दीनदयाल -------
तज विषमय पहचान अपुन को, एक तू ही तू त्याग अहं को।
सोम सुधा कर धाम मिलन को, गाए-गाए कवि हर्षाए।। घर आए दीनदयाल-------

१५.

अनोखा लाड़ला रे राई भर अजली-मजली चाल।
अन्न कूट तेरी पहली मञ्जिल हित-मित-ऋत की चाल। अनोखा लाड़ला रे-----
प्राण पवन जग जीवन मानो यह समता का ताल। अनोखा लाड़ला रे-----
मन-मौजी छट रस का चातक इसकी चाल-विचाल। अनोखा लाड़ला रे-----
अगनी मञ्जिल ज्ञान अर्णव की नहावो नवल निहाल। अनोखा लाड़ला रे----
अन्तिम धाम नाम सुख सागर सुख भोगो चिरकाल। अनोखा लाड़ला रे-----

१६.

बहती नवल नशीली धार, झूम-झूम मदमाती लाती सुख जीवन की सार,
रोम-रोम बन ओठ चूसता, ऐसा सरस खुँमार। बहती नवल ------
मेरे देह पुरी के राजा करो भेंट स्वीकार। मेरा जीवन सार। बहती नवल-----

ॐॐॐ

☞ **श्रीरामः (आत्मा) शरणं मम! न ह्यात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।**
☞ जहाँ तक विभक्ति है, वहीं तक भक्ति की आवश्यकता है।
☞ जहाँ तक वियोग है, वहीं तक योग की आवश्यकता है।
☞ प्रेम की भाषा है संगीत और गति है नृत्य। प्रेम=संगीत+नृत्य।
☞ संन्यासी के लिए अप्रतिरोध ही धर्म है। (स्वा० विवेकानन्द)
☞ मानव जीवन की अन्तिम उपलब्धि– 'कालातीत प्रज्ञा'।(जे. कृष्णमूर्त्ति)
☞ अज्ञान में विलीन, जगत् के बोध से रहित स्थिति सुषुप्ति है।
☞ सत्य पर टिकना समाधि है। प्रयास सहित सत्य पर टिकना सविकल्प समाधि है।
☞ सत्य में विलीन हो जगत् के बोध से रहित होना निर्विकल्प समाधि है।
☞ असली शुद्ध अवस्था में बिना प्रयास के रहना सहज निर्विकल्प समाधि है।
☞ लक्ष्य के विरोधी की उपेक्षा कर देना वैराग्य है।
☞ लक्ष्य के विरोधी के प्रति भी स्पर्द्धा, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या नहीं होने चाहिएँ।
☞ संसार के कष्ट क्यों? कष्ट ही ईश्वर के साक्षात्कार के मार्ग हैं।
☞ रूढ़ियों के ताले स्नेह से खुलेंगे।
☞ चित्तसत्त्व में शान्त होना समाधि है।

ॐॐॐ ✻ ॐॐॐ